सत्य के प्रयोग

अथवा

आत्मकथा

मोहनदास करमचंद गांधी

●

अनुवादक

महाबीरप्रसाद पोद्दार

१९६०

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रस्तावना

चार या पांच साल पहले नजदीकी साथियों के आग्रह पर मैंने आत्म-कथा लिखना स्वीकार किया था और आरंभ भी किया था; लेकिन फुलस्केपका एक पन्ना पूरा न कर पाया कि बंबईकी आग सुलगी और मेरा आरंभ अधूरा रह गया। फिर तो मैं एकके बाद दूसरे ऐसे कामोंमें फंसा कि अंतमें मुझे यरवडामें जगह मिली। भाई जयरामदास भी वहां थे। उन्होंने मुझसे मांग की कि और सब कामोंको किनारे रखकर मुझे अताम-कथा पहले लिख डालनी चाहिए। मैंने जवाब दिया कि मेरा अभ्यास-क्रम बन चुका है और उसके पूरा होनेके पहले मैं आत्म-कथा शुरू नही कर सकता। मुझे यदि पूरी मियाद यरवडामें बितानेका सौभाग्य मिला होता तो मैं अवश्य वहीं आत्म-कथा लिख सकता। पर उसकी समाप्तिमें अभी साल भर बाकी था। इसके पहले मैं आत्म-कथा किसी तरह भी आरंभ न कर सकता था। इसलिए वह काम रह ही गया। अब फिर स्वामी आनंदने वही मांग की है और मैं दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास पूरा कर चुका हूं, इसलिए आत्म-कथा लिखनेको ललचाया हूं। स्वामीकी मांग तो यह थी कि मैं पूरी आत्म-कथा लिख जाऊं और फिर वह पुस्तकाकार छपे। मेरे पास इकट्ठा इतना वक्त नहीं है। यदि लिखना हो तो 'नवजीवन' के लिए ही लिखा जा सकता है। मुझे 'नवजीवन' के लिए कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता ही है और फिर आत्म-कथा ही क्यों न लिखूं। स्वामीने यह निर्णय मान लिया और आत्म-कथा लिखने का मुझे अब मौका मिला है।

पर यह निर्णय करते ही एक निर्मल साथीने, मेरे मौन दिन सोमवारको आकर मुझसे धीरे-से-कहा,

"आप आत्म-कथा क्यों लिखना चाहते है ? यह तो पश्चिमकी प्रथा है। पूर्वमें तो किसीके अपनी जीवनी लिखनेका पता नहीं मिलता। और क्या लिखिएगा ? आज आप जिस चीजको सिद्धांतरूप मानते हैं, कल यदि वैसा मानना छोड़ दे तो ? या सिद्धान्तरूपसे जो-जो काम आज कर रहे हैं, उनमें आगे परिवर्तन करना पड़ा तो ? आपके लिखेको बहुत-से लोग प्रमाण समझकर अपना आचरण गढ़ते हैं, वे गलत रास्तेपर चल पड़े तो ? इसलिए क्या यह बेहतर न होगा कि अभी आत्म-कथा-जैसी कोई चीज न लिखें।"

इस दलीलका मेरे मनपर थोड़ा-बहुत असर हुआ; पर मुझे आत्म-कथा कहां लिखनी है ? मुझे तो आत्म-कथाके बहाने मैंने सत्यके जो अनेक प्रयोग किए हैं उनकी कथा लिखनी है। यह जरूर है कि उसमें मेरा जीवन ओत-प्रोत होनेके कारण वह एक जीवन-वृत्तांत बन जायगी। पर यदि उसके हर पन्नेमें मेरे प्रयोग ही झलके तो इस कथाको मै स्वयं निर्दोष मानूंगा। मैं मानता हूँ कि मेरे सब प्रयोग इकट्ठे जनताको मिलना लाभदायक होगा। इसे मेरा मोह भी कहा जा सकता है। मेरे राजनैतिक क्षेत्रके प्रयोगोंको आज तो हिंदुस्तान ही नही, बल्कि कुछ अंशोंमें 'सभ्य' जगत् भी जानता है। इसकी कीमत मेरी नजरों में कम-से-कम है और इन प्रयोगोंकी बदौलत मुझे जो 'महात्मा' की पदवी प्राप्त हुई है, उसकी कीमत भी बहुत थोड़ी ही है। कई बार तो इस विशेषणने मुझे अत्यधिक दुःख भी दिया है। इस विशेषण से मैं फूल गया होऊं, ऐसा एक क्षण भी मुझे याद नहीं है। मुझे अपने आध्यात्मिक प्रयोगोंको, जिन्हे मैं ही जान सकता हूं और जिनमेंसे मेरी राजनैतिक जीवन-सम्बन्धी शक्ति पैदा हुई है, वर्णन करना अवश्य भाएगा। यदि ये वास्तव में आध्यात्मिक हों तो इनसे गर्वित होनेकी कोई गुंजाइश ही न होनी चाहिए। बढ़े तो नम्रता बढ़ सकती है। ज्यों-ज्यों मै विचार करता हूं, अपने अतीतपर दृष्टि डालता हूं, त्यों-त्यों अपनी अल्पता मुझे साफ दिखाई देती है। मेरा कर्तव्य तो, जिसके लिए मैं तीस वर्ष से झीख रहा हूं, आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाएं

इसी दृष्टिसे होती हैं। मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनैतिक क्षेत्रमें आना भी इसी वस्तुके अधीन है।

पर भले ही भूलसे हो, मेरा यह अभिप्राय रहा है कि जो एकके लिए शक्य है, वह सबके लिए शक्य है। इसलिए मेरे प्रयोग निजी नहीं हुए, न निजी रहे। मुझे नहीं लगता कि उन प्रयोगों को सबके सामने प्रकट करनेसे उनकी आध्यात्मिकता कम होती है। ऐसी कुछ वस्तुएं अवश्य हैं, जिन्हें आत्मा ही जानती है और वे आत्मा में ही शांत हो जाती हैं। पर ऐसी वस्तुका देना मेरे बूतेके बाहर है। मेरे प्रयोगोंमें तो आध्यात्मिक अर्थात् नैतिक, धर्म अर्थात् नीति, आत्माकी दृष्टिसे अवलंबन की हुई नीति धर्म है। अतः जिन वस्तुओं का निर्णय बालक, युवा और वृद्ध करते हैं और कर सकते हैं, उन्ही वस्तुओंका समावेश इस कथामें होगा। ऐसी कथा यदि मैं तटस्थ रूपसे निरभिमान रहकर लिख सकूं तो उससे दूसरे प्रयोग करनेवालोंको कुछ सामग्री मिल सकती है।

अपने प्रयोगोंके संबंधमें मै किसी तरहकी संपूर्णताका दावा नहीं करता। जसे विज्ञान-शास्त्री अपने प्रयोग अत्यन्त नियम, विचार-सहित और सूक्ष्मता-पूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामोंको वह अन्तिम नहीं कहता, अथवा यह नहीं कहता कि यही सच्चे परिणाम हैं, इस संबंधमें यह संशय नहीं तटस्थ रहता है, वैसे ही अपने प्रयोगोंके विषय में मेरा भी मानना है। मैंने खूब आत्म-निरीक्षण किया है, प्रत्येक भावको जांचा है, उसका विश्लेषण किया है, पर उससे पैदा हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं अथवा यही सही है, ऐसा दावा मै कभी करना नहीं चाहता। हां, एक दावा जरूर करता हूं कि मेरी नजरोंमें ये सही हैं और इस समय तो आखिरी-से लगते हैं। यदि ऐसा न लगे तो मुझे इनकी बुनियादपर कोई इमारत खड़ी नहीं करनी चाहिए। मै तो हर पदपर जिन वस्तुओंको देखता हूं, उनके त्याज्य और ग्राह्य, दो हिस्से कर लेता हूं और ग्राह्यके अनुसार अपना आचरण बनाता हूं और इस प्रकार बनाया हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धिको और आत्माको जबतक संतोष दे तबतक मुझे उसके शुभ परिणामोंके

विषयमें अटट विश्वास रखना ही चाहिए।

यदि मुझे केवल सिद्धांतों अर्थात् तत्वोंका ही वर्णन करना हो तो इस आत्म-कथाके लिखनेकी जरूरत न रह जाय। पर मुझे तो उनके ऊपर रचे हुए कार्योंका इतिहास देना है और इसीलिए मैंने इस प्रयत्नको पहला नाम 'सत्यके प्रयोग' दिया। इसमें सत्यसे अलग समझे जानेवाले अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियमोंके प्रयोग भी आ जा ंगे। पर मेरे खयालसे सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अनगिनत वस्तुओंका समावेश हो जाता है। यह सत्य वह स्थूल—वाणीका—सत्य नही है। यह तो जैसे वाणीका है, वैसे विचारका भी है। यह सत्य हमारा कल्पित सत्य ही नहीं है; बल्कि स्वतंत्र और चिरस्थायी सत्य है, अर्थात् परमेश्वर ही है।

परमेश्वर की व्याख्याएं अनगिनत है; क्योंकि उसकी विभूतियां भी अनगिनत है। ये विभूतियां मुझे आश्चर्यमें डाल देती हैं। मुझे तनिक देरके लिए मोह भी लेती हैं। पर मै पुजारी तो सत्य-रूपी परमेश्वर का ही हूं। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं; पर मैं इसका शोधक हूं। इसकी शोधमें मै अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी त्यागनेको तैयार हूं। इस शोध-रूपी यज्ञमें इस शरीरको भी होमनेकी मेरी तैयारी है और शक्ति है, ऐसा मुझे विश्वास है। पर इस सत्यका साक्षात् न कर लेने तक मेरी अंतरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्यको अपना आधार मानकर, अपना दीपक समझकर, उसके आश्रयमें अपना जीवन बिताता हूं।

यह मार्ग यद्यपि खांडेकी धारपर चलनेके समान है, तथापि मुझे यह सरल-से-सरल लगा। इस मार्गपर चलकर अपनी भयंकर भूलें भी मुझे तुच्छ-सी लगती हैं; क्योंकि ये भूलें करते हुए भी मै बच गया हूं और अपनी समझके अनुसार आगे भी बढ़ा हूं। दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी—ईश्वरकी—झांकी भी हो रही है। सत्य ही है, इसके सिवा दूसरा कुछ भी इस जगत् में नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह किस प्रकार बढ़ता गया है, यह मेरे जगत् अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादि के पाठक जानकर,

चाहें तो मेरे प्रयोगोंके, हिस्सेदार बनें और उसकी झांकी भी मेरे साथ-साथ करें। उसके सिवा जितना मेरे लिए शक्य है, उतना एक बालकके लिए भी शक्य है, यह मैं अधिकाधिक मानने लगा हूं और इसके लिए मेरे पास सबल कारण है। सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन हैं, उतने ही आसान हैं। ये अभिमानीको अशक्य लगते हैं और एक निर्दोष बालकको शक्य लगते हैं। सत्यके शोधकको रजकणसे भी छोटा होकर रहना पड़ता है। सारा जगत रजकणको कुचलता है, पर सत्यके पुजारीके लिए तो स्वतंत्र सत्यकी झांकी तबतक दुर्लभ है, जबतक कि वह इतना अल्प न बन जाय कि रजकण उसे कुचल सके। यह वस्तु वसिष्ठ-विश्वामित्रके आख्यानमें स्पष्ट रूपसे बतलाई गई है। क्रिस्तान धर्म और इस्लाम भी इसी वस्तुको सिद्ध करते हैं।

जो प्रकरण मैं लिखनेवाला हूं उनमें यदि पाठकको अभिमानकी गंध आए तो उसे अवश्य समझ लेना चाहिए कि मेरी शोधमें त्रुटि है और मेरी झांकी मृगतृष्णाके जल के समान है। भले ही मेरे जैसे अनेकानेकका क्षय हो; पर सत्यकी जय हो! अल्पात्माको नापनेके लिए सत्यके गजको कभी छोटा होनेका अवसर न आए। मैं चाहता हूं कि मेरे लेखोंको कोई प्रमाणभूत न समझे, यह मेरी विनय है। मैं इतना ही चाहता हूं कि उनमें मैंने जिन प्रयोगोंकी चर्चाकी है, उनको दृष्टांत रूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें। इस संकुचित क्षेत्रमें मेरी आत्म-कथा के लेखोंमें से बहुत-कुछ मिल सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है; क्योंकि जो कहने योग्य है, ऐसी एक भी बात मैं छिपानेवाला नहीं हूं। मैं पाठकों को अपने दोषोंका भान पूरी तरह करानेकी आशा करता हूं। मुझे सत्यके शास्त्रीय प्रयोगोंका वर्णन करना है, अपने गुण बखाननेकी तिलमात्र भी इच्छा नहीं है। जिस गजसे मैं अपनेको नापना चाहता हूं और जिसे हम सबको अपने लिए काममें लाना चाहिए, उसके अनुसार तो मैं अवश्य कहूंगा कि—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जिन तन दियो ताहि बिसरायो
ऐसो निमकहरामी।

क्योंकि, जिसे मैं संपूर्ण विश्वासके साथ अपने श्वासोच्छ्वासका मालिक मानता हूं और जिसे मैं अपने नमकका देनेवाला मानता हूं उससे अब भी मैं दूर हूं, यह बात हर क्षण मुझे सालती है। इसके कारणरूप अपने विकारोंको मैं देख सकता हूं, पर उन्हें अभी निकाल नहीं सकता।

पर अब बस करता हूं। प्रस्तावनामेंसे प्रयोग की कथामें नहीं उतरूँगा। यह कथा तो प्रकरणोंमें ही मिलेगी।

आश्रम, साबरमती
मार्गशीर्ष शु० ११, १९८२

—मोहनदास करमचंद गांधी

विषय-सूची

सत्यके प्रयोग

अथवा

आत्म-कथा

कनु गांधीके सौजन्यसे

पहला भाग

: १ :

जन्म

गांधी-कुटुंब, जान पड़ता है, पहले पन्सारीका धंधा करता था, पर मेरे दादासे लगाकर तीन पीढ़ियोंसे तो वह दीवानगिरी करता आया है। मेरे दादा उत्तमचंद गांधी उर्फ ओता गांधी टेकवाले आदमी रहे होंगे। दरबारी साजिशोंके कारण उन्हें पोरबंदर छोड़ना पड़ा। वहांसे जाकर उन्होंने जूनागढ़ राज्यमें आश्रय लिया। उन्होंने नवाबसाहबको सलाम बायें हाथसे किया। किसीने इस स्पष्ट अविनयका कारण पूछा तो जवाब मिला, "दाहिना हाथ तो पोरबंदरको दिया जा चुका है।"

ओता गांधीके दो ब्याह हुए। पहलीके मर जानेपर दूसरा हुआ। पहली पत्नीसे चार लड़के थे, दूसरीसे दो। अपने बचपनको याद करते हुए यह बात मेरे खयालमें भी नहीं आती कि ये भाई सौतेले थे। इनमें पांचवें कर्मचंद उर्फ कबा गांधी और अंतिम तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाइयोंने बारी-बारीसे पोरबंदरकी दीवानगिरी की। कबा गांधी मेरे पितृदेव थे। पोरबंदरका प्रधानमंत्रित्व छोड़नेके बाद वह राजस्थानिक कोर्टके सभासद रहे। फिर राजकोटमें और कुछ समय बीकानेरमें दीवान रहे। मृत्युके समय राजकोट दरबारके पेंशनर थे।

कबा गांधीकी भी चार शादियां हुई थीं। पहली स्त्रीके मरनेपर दूसरी हुई, इसी तरह तीसरी और फिर चौथी। पहली दो

पत्नियोंसे दो लड़कियां हुईं। अंतिम पुतलीबाईसे एक लड़की और तीन लड़के। सबसे छोटा मैं हूं।

पिताजी कुटुंबप्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार किंतु क्रोधी थे। कुछ विषयासक्त भी रहे होंगे। उनका अंतिम विवाह चालीसकी उम्रके बाद हुआ था। वह रिश्वतसे दूर भागते थे, इसलिए शुद्ध न्याय करते थे। उनकी यह प्रसिद्धि हमारे परिवारमें और बाहर भी थी। वह राज्यके बड़े वफादार थे। एकबार नायब पोलिटिकल एजेंटने राजकोटके ठाकुर साहबके विषयमें अपमानजनक शब्द कहे। कबा गांधीने उसका विरोध किया। साहब खफा हो गए। कबा गांधीको माफी मांगनेका हुक्म हुआ। उन्होंने माफी मांगनेसे इंकार किया, जिससे उन्हें कुछ घंटे हवालातमें भी रहना पड़ा, पर वह डिगे नहीं। इससे अंतमें साहबने उन्हें छोड़ देनेका हुक्म दिया।

पिताजीको पैसे बटोरनेकी हवस कभी नहीं थी। इस कारण हम लोगोंके लिए थोड़ी ही संपत्ति छोड़ गए।

पिताजीकी शिक्षा केवल अनुभवकी थी। जिसे आज हम गुजरातीकी पांचवीं पोथीकी पढ़ाई कहते हैं उतनी शिक्षा उन्हें मिली होगी। इतिहास-भूगोलके ज्ञानसे तो बिलकुल कोरे थे। फिरभी उनका व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दर्जेका था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नोंको सुलझाने या हजार आदमियोंसे काम लेनेमें उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहींके बराबर थी; पर मंदिरोंमें जाने और कथा आदि सुननेसे जो धर्मज्ञान असंख्य हिंदुओंको सहजमें मिल जाता है वह उन्हें मिला था। अंतिम वर्षमें हमारे कुटुंबके मित्र एक विद्वान् ब्राह्मणकी सलाहसे उन्होंने गीतापाठ आरंभ किया था और नित्य कुछ श्लोक अपनी पूजाके समय ऊंचे स्वरसे पाठ कर लेते थे।

मेरे मनपर यह छाप है कि माताजी साध्वी स्त्री थीं। बड़ी भावुक, पूजापाठके बिना कभी भोजन न करतीं। हवेली (वैष्णव-मंदिर) पर रोज जातीं। मैंने जबसे होश संभाला, याद नहीं पड़ता कि उन्होंने चातुर्मास्यका व्रत कभी छोड़ा हो। कठिन-से-

कठिन व्रत लेतीं और उन्हें दृढ़तासे पूरा करतीं। बीमार पड़ जानेपर भी लिये हुए व्रतको न छोड़तीं। एक बारकी बात मुझे याद है कि उन्होंने चांद्रायण व्रत आरम्भ किया था। उसमें बीमार पड़ गईं; पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास्यमें एक समयके भोजनका व्रत तो उनके लिए साधारण बात थी। इतनेसे संतोष न मानकर एक चौमासेमें उन्होंने बीचमें एक दिन छोड़कर भोजन करनेका नियम लिया था। लगातार दो-तीन उपवास उनके लिए मामूली बात थी। एक चौमासेमें उन्होंने सूर्यनारायणके दर्शन करनेके बाद ही भोजन करनेका व्रत लिया था। उस चौमासेमें हम बच्चे बादलोंकी ओर देखते ही रहते कि कब सूर्यके दर्शन हों और कब मां भोजन करें। यह तो सभी जानते हैं कि चौमासेमें अक्सर सूर्य-दर्शन दुर्लभ होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं कि जब सूर्यको हम देखते और चिल्लाते, "मां-मां, सूर्य निकला," मां जल्दी-जल्दी आतीं, तबतक सूर्य भाग जाता। वह यह कहते हुए लौट जातीं, "कोई बात नहीं आज खाना बदा नहीं है।" और जाकर अपने काममें लग जातीं।

माताजी व्यवहार-कुशल थीं। दरबारकी सब बातें जानती थीं। रनिवासमें वह बुद्धिमती समझी जाती थीं। बचपनमें मां मुझे कभी-कभी अपने साथ राजमहलमें ले जाया करती थीं। मांजीसाहिबासे उनकी जो बातचीत होती उसमेंसे कुछ मुझे अब तक याद है।

इन माता-पिताके यहां संवत् १९२५ की भादों बदी द्वादशीके दिन, अर्थात् सन् १८६९ के अक्तूबरकी दूसरी तारीखको, पोरबंदर अथवा सुदामापुरीमें मेरा जन्म हुआ।

बचपन पोरबंदरमें ही बीता। ऐसा याद है कि मैं किसी पाठशालामें बैठाया गया था। मुश्किलसे कुछ पहाड़े सीखे होंगे। उस समय दूसरे लड़कोंके साथ मैंने गुरुजीको गालियां देना भर सीखा, इतनेके सिवा और कुछ भी याद नहीं है। इससे मैं अनुमान करता हूं कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरणशक्ति नीचेकी कड़ीके, जिसे कि हम लड़के वहां गाया करते, कच्चे पापड़की तरह।

वे कड़ियां मुझे यहां जरूर देनी चाहिए :

एकड़े एक, पापड़ सेक;
पापड़ कच्चो,——मारो——

पहली खाली जगहमें मास्टरका नाम होता था। उसे मैं अमर करना नही चाहता। दूसरी खाली जगहमें गाली होती, जिसे भरनेकी जरूरत नहीं।

: २ :

बचपन

पोरबंदरसे पिताजी राजस्थानिक कोर्टके सदस्य होकर राजकोट गये। तब मेरी उम्र कोई सात बरसकी रही होगी। मैं राजकोटकी ग्राम-पाठशालामें पढ़ने भेजा गया। उस मदरसेके दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरोंके नाम-धाम भी। पोरबंदरकी भांति ही वहांकी पढ़ाईके बारेमें भी कुछ विशेष जानने योग्य नहीं है। मेरी गिनती शायद साधारण श्रेणीके विद्यार्थियोंमें रही होगी। गांवकी पाठशालासे कस्बेकी पाठशालामें और वहांसे हाईस्कूलतक पहुंचनेमें मेरा बारहवां वर्ष बीत गया। तबतक मैंने कभी शिक्षकोंको धोखा दिया हो, ऐसा याद नहीं आता। न तबतक कोई दोस्त बनानेका स्मरण है। मैं बहुत ही झेंपू लड़का था। पाठशालामें मुझे बस काम-से-काम रहता था। घंटा बजते पहुंच जाना और पाठशाला बंद होते ही घर भागना। 'भागना' शब्द मैं जानबूझकर इस्तैमाल कर रहा हूं। कारण यह है कि मुझे किसीसे बातें करना नहीं रुचता था। कोई मेरा मजाक न उड़ाये, यह डर भी बना रहता था।

हाईस्कूलके पहले ही सालकी, परीक्षा-कालकी, एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षाविभागके इन्सपेक्टर जाइल्स स्कूलके मुआइनेके लिए आये थे। उन्होंने पहले दरजेके लड़कोंको पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द 'केटल' (Kettle) था। उसके

हिज्जे मैंने गलत लिखे। मास्टरने मुझे अपने बूटकी नोकसे चेताया; पर मैं क्यों चेतने लगा! मैं यह सोच भी न सका कि मास्टर मुझे सामनेके लड़केकी स्लेट देखकर हिज्जे दुरुस्त कर लेनेका इशारा कर रहे हैं। मैंने तो यह मान रखा था कि मास्टर वहां इसके लिए तैनात है कि हम एक-दूसरेकी नकल न कर सकें। सब लड़कोंके पांचों शब्द सही निकले, अकेला मैं बेवकूफ बना। मेरी 'मूर्खता' मास्टरने मुझे बादको बतलाई, पर मेरे मनपर उसका कोई असर न हुआ। मुझे दूसरे लड़कोंकी नकल करना कभी न आया।

इतनेपर भी मास्टरके प्रति मेरा आदर कभी घटा नहीं। बड़ोंके दोष न देखनेका गुण मुझमें स्वाभाविक था। इन मास्टरके अन्य दोष भी मुझे बादको मालूम हुए। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर ज्यों-का-त्यों बना रहा। मैंने समझ रखा था कि बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। जो वे कहें वह करना चाहिए। जो करें उसका काजी मुझे नहीं बनना चाहिए।

इसी समयके दो और प्रसंग सदा मुझे याद रहे हैं। मुझे साधारणतः स्कूली किताबोंके सिवा और कुछ पढ़नेका शोक नहीं था। सबक पूरा करना चाहिए, क्योंकि डांट सही नहीं जाती थी; मास्टरको धोखा देना नहीं था, इसलिए पाठ पढ़ता था। पर मन अलसाता था। इससे सबक अक्सर कच्चा रह जाता। उस दशामें और कोई चीज पढ़नेकी कहां सूझती! पर पिताजीकी खरीदी हुई एक किताबपर मेरी नजर पड़ी। वह था 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटक। उसे पढ़नेकी इच्छा हुई और मैं उसे बड़े चावसे पढ़ गया। उन दिनों काठके बक्समें शीशेसे चित्र दिखानेवाले भी दरवाजे-दरवाजे फिरा करते थे। उनसे मैंने श्रवणके अपने माता-पिताको कांवरमें बिठाकर यात्राके लिए ले जाने का चित्र भी देखा। दोनों चीजोंका मुझपर गहरा असर पड़ा। मुझे भी श्रवणके समान होना चाहिए, यह भाव मनमें उठने लगा। श्रवणकी मृत्युपर उसके माता-पिताका विलाप आज भी याद है। इस ललित छंदको मैंने

बजाना भी सीख लिया। मुझे बाजा सीखनेका शौक था और पिताजीने एक बाजा दिला भी दिया था।

इसी बीच कोई नाटक-कंपनी आई। मुझे उसका नाटक देखनेकी इजाजत मिली। उसमें हरिश्चंद्रकी कथा थी। यह नाटक देखनेसे मेरी तृप्ति ही न होती थी। उसे बार-बार देखनेको जी चाहता; पर बार-बार जाने कौन देता? किंतु अपने मनमें इस नाटकको सैकड़ों बार दोहराया होगा। हरिश्चंद्रके सपने आया करते। "हरिश्चंद्र-जैसे सत्यवादी सब क्यों नहीं हो जाते?" यह धुन रहती। हरिश्चंद्रपर जैसी विपत्तियां पड़ी थीं वैसी विपत्तियों-को भोगना और सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने तो मान लिया था कि नाटकमें लिखी विपदाएं हरिश्चंद्रपर अवश्य पड़ी होंगी। हरिश्चंद्रका दुःख देखकर, उसे याद कर, मैं खूब रोया हूं। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चंद्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। फिर भी मेरे मनमें हरिश्चंद्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मेरा खयाल है कि मैं आज इन नाटकों को पढ़ूं तो आज भी मुझे आंसू आ जायंगे।

: ३ :

बाल-विवाह

मैं चाहता हूं कि मुझे यह प्रकरण न लिखना पड़े, पर इस कथामें मुझे ऐसी कितनी ही कड़वी घूटें पीनी पड़ेंगी। सत्यका पुजारी होनेका दावा करनेवालेके लिए दूसरा रास्ता हो भी नहीं सकता।

यह लिखते मन आकुल हो उठता है कि तेरह वर्षकी उम्रमें मेरा विवाह हो गया। आज मेरी नजरोंके सामने बारह-तेरह बरसके बालक मौजूद हैं। उन्हें देखता हूं और अपने विवाहका स्मरण करता हूं तो मुझे अपने ऊपर दया आती है और उन बालकोंको इसके लिए बधाई देनेको जी चाहता है कि वे मेरी-सी

हालत से बच गये । तेरह बरसकी उम्रमें हुए अपने ब्याहके समर्थनमें एक भी नैतिक दलील मुझे नहीं सूझती ।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाईकी बात कर रहा हूं । काठियावाड़में विवाहके माने सगाई नहीं है । दो बच्चोंको ब्याहनेके लिए मां-बापके बीच हुए कौल-करारको सगाई कहते हैं । सगाई टूट सकती है । सगाईकी हालत में वरके मर जानेपर कन्या विधवा नहीं होती । सगाईमें वर-कन्याका कोई संबंध नहीं रहता । अक्सर दोनोंको उसका पता तक नहीं रहता । सगाइयां तो मेरी एक-एक करके तीन हुई थीं । वे कब हुईं, इसका मुझे पता नहीं । दो कन्याएं क्रमशः मर गई, यह मुझसे कहा गया था । इसीसे मुझे मालूम हुआ कि मेरी तीन सगाइयां हुई थीं । तीसरी सगाई कोई सात बरस की उम्रमें हुई होगी, ऐसा कुछ याद है । पर सगाईके समय मुझसे कुछ कहा गया, इसकी याद नहीं है । विवाहमें वर-कन्याकी आवश्यकता पड़ती है, उसमें कुछ रस्में होती हैं, और मैं वैसे विवाहके विषयमें ही लिख रहा हूं । ब्याहकी पूरी-पूरी याद मुझे है ।

पाठक पीछे पढ़ आये हैं कि हम तीन भाई थे । उनमें सबसे जेठे ब्याहे जा चुके थे । मंझले मुझसे दो या तीन साल बड़े थे । उनका और मेरे चाचाके छोटे लड़केका, जिसकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल अधिक रही होगी, और मेरा, यों तीन विवाह एक साथ करनेका निश्चय बड़ोंने किया । इसमें हमारे भलेका कोई खयाल नहीं था । हमारी इच्छाका तो हो ही नहीं सकता था । खयाल था तो महज बड़ोंके सुभीते और खर्चकी बचतका ।

हिंदू-संसारमें विवाह कोई ऐसी-वैसी वस्तु नहीं है । वर-कन्याके मां-बाप उसके पीछे मिट जाते हैं, पैसा और समय दोनों बरबाद करते हैं । महीनों पहलेसे तैयारियां होती हैं । कपड़े-गहने बनते हैं, बिरादरी-भोजके खर्चके हिसाब बनते हैं । पकवानके प्रकारोंकी प्रतिद्वंद्विता होती है । गला हो या न हो, गीत गा-गाकर स्त्रियां अपना गला बैठा लेती हैं और बीमार तक पड़ जाती हैं ।

पड़ोसियोंकी शांतिमें खलल डालती हैं। बेचारे पड़ोसियोंको खुद भी तो मौका पड़नेपर यही सब करना पड़ता है। इसलिए शोर-गुल, जूठ-जाठ और दूसरी गंदगियां सब चुपचाप सह लेते हैं।

इतना झंझट-झमेला तीन बारके बजाय एक ही बार कर लिया जाय तो कितना सुभीता हो? पैसे कम खर्च होनेपर भी ब्याह ठाट-से होंगे। तीन विवाह एक साथ होनेकी वजहसे पैसा खुले हाथों खर्च किया जा सकेगा। पिताजी और चाचाजी बूढ़े थे। हम उनके आखिरी लड़के थे। अतः हमारे विवाहका आनन्द लूटनेकी हवस उनके लिए स्वाभाविक थी। इसी तरहके विचारोंके कारण ये तीनों ब्याह एक साथ ही करनेका निश्चय हुआ और जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूं, इनकी तैयारी और सामान जुटाना तो कई महीने पहलेसे शुरू हो गया था।

हम तीनों भाइयोंने तो सिर्फ तैयारियोंसे ही जाना कि हमारा ब्याह होनेवाला है। उस समय अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, बाजे-गाजे, घोड़ेपर चढ़ने, बढ़िया भोजन मिलने और एक नई लड़की विनोदके लिए पाने इत्यादि हौसलोंके सिवा मनमें और कोई बात रही हो, इसकी मुझे याद नहीं है। विषय-भोगकी वृत्ति तो बाद-में आई। मैं बता सकता हूं कि वह कैसे आई, पर पाठक इस जिज्ञासाको जाने दें। अपनी शर्म मैं छिपा रखना चाहता हूं। बतलाने-योग्य जो कुछ है वह आगे आ जायगा। पर इन बातोंके ब्यौरोंका उस मध्यबिंदुसे थोड़ा ही संबंध है, जो यह कहानी लिखने-में मैंने अपनी निगाहके सामने रखा है।

हम दो भाइयोंको लोग राजकोटसे पोरबंदर ले गये। वहां जो तेल, हल्दी इत्यादिकी रस्में हुई उनका विवरण मनोरंजक होनेपर भी छोड़ देने लायक है।

पिताजी दीवान थे, पर थे तो नौकर ही न! फिर राजप्रिय थे। अतः अधिक पराधीन थे। ठाकुरसाहब आखिरी घड़ीतक जाने न देते थे। अंतमें दो दिन बाद जाने दिया, और उनके जाने के लिए खास डाक बिठाई गई; पर विधनाके मन कुछ और ही था।

राजकोटसे पोरबंदरका फासला साठ कोस है। बैलगाड़ीसे पांच दिनका रास्ता था। पिताजी तीन दिनमें पहुंचे। आखिरी मंजिलमें तांगा उलट गया। पिताजीको सख्त चोट आई। हाथपर पट्टी, पीठपर पट्टी बांधे पहुंचे। विवाहका उनका और हमारा आधा आनंद चला गया। पर ब्याह तो हुए ही। लिखा मुहूर्त कहीं टल सकता है? मैं तो ब्याहके बाल-उल्लासमें पिताजीका दुःख भूल गया!

पितृभक्त तो मैं अवश्य था, पर वैसा ही विषय-भक्त भी तो था! यहां विषयका तात्पर्य केवल एक इंद्रियके विषयसे नहीं है, बल्कि भोगमात्रसे है। माता-पिताकी भक्तिके लिए सब सुख छोड़ना चाहिए, यह ज्ञान तो आगे चलकर होनेवाला था। फिर भी कौन जाने, मुझे इस भोगेच्छाका दंड भोगनेके लिए ही इस तरहसे मेरे जीवनमें एक प्रतिकूल घटना हो गई, जो मुझे आजतक सालती है। जब-जब निष्कुलानंदका—

त्याग न टके रे वैराग विना, करीए कोटि उपाय जी

गाता हूं या सुनता हूं तब-तब यह प्रतिकूल और कटु प्रसंग मुझे याद आता है और लज्जामें डुबो देता है।

पिताजीने तमाचा मारकर मुंह लाल रखा। शरीरसे पीड़ा भोगते हुए भी उन्होंने विवाहमें पूरा योग दिया। पिताजी किस-किस अवसर पर कहां-कहां बैठे थे, मुझे आज भी यह सब ज्यों-का-त्यों याद है। बाल-विवाहपर विचार करते हुए पिताके कामकी जो टीका मैंने आज की है कुछ मेरे मन ने उस समय थोड़े ही की थी? उस वक्त तो सब ठीक और मनभावन ही लगता था। ब्याहे जानेका शौक था और जान पड़ता था कि पिताजी जो कुछ कर रहे हैं सो सब ठीक ही कर रहे हैं। इसीसे उस समयकी याद ताजा है।

मंडवेमें बैठे, भांवर घूमे, कसार[1] खाया-खिलाया और वर-वधू तभीसे साथ रहने लगे। वह पहली रात! दो मासूम बच्चे

[1] गेहूंके आटे का घी, चीनी, मेवा डालकर बनाया हुआ मलीदा।

अनजाने संसार-सागरमें कूद पड़े। भाभीने सिखलाया कि मुझे पहली रातमें कैसे बरतना चाहिए। धर्मपत्नीको किसने सिखलाया, इसे पूछने की बात याद नहीं है। अब भी पूछा जा सकता है, पर पूछनेकी इच्छा तक नहीं होती। पाठक इतना जान लें कि हम दोनों एक-दूसरेसे डरते थे, ऐसा खयाल आता है। एक-दूसरेसे शरमाते तो थे ही। मैं क्या जानू कि बातें कैसे और क्या करनी चाहिएं? दी गई सिखावन भी क्या मदद देती? ये बातें क्या सीखनी पड़ती हैं? जहां संस्कार बलवान है वहां सिखावन फालतू चीज होती है। धीरे-धीरे हम एक-दूसरे को पहचानने लगे, बोलने लगे। हम दोनों समवयस्क हैं, पर मैंने पतिका अधिकार जताना आरंभ कर दिया।

: ४ :

पतिरूपमें

जब मेरा विवाह हुआ उन दिनों, निबंधोंके छोटे-छोटे परचे—पैसे-पैसे या पाई-पाईके, यह याद नहीं है—निकला करते थे। उनमें दंपती-प्रेम, किफायतशारी, बालविवाह आदि विषयोंकी चर्चा रहती थी। उनमेंसे कोई-कोई निबंध मेरे हाथ पड़ जाता और मैं उसे पढ़ जाता था। जो पढ़ा वह न रुचा तो उसे भूल जाना और रुचा तो उसपर अमल करना, यह तो मेरा अभ्यास ही था। मैंने पढ़ा कि एकपत्नीव्रतका पालन करना पतिका धर्म है, और बात दिलमें बैठ गई। सत्यका प्रेम तो था ही। अतः पत्नीसे छल-कपट तो कर सकता ही न था। इसीसे दूसरी स्त्रीसे लगाव न होना चाहिए, यह भी समझमें आ गया था। छोटी उम्रमें एकपत्नीव्रत-के भंगकी संभावना बहुत कम ही रहती है।

पर इन सद्विचारोंका एक अनिष्ट परिणाम हुआ। अगर मेरे लिए एकपत्नीव्रतका पालन कर्त्तव्य है तो पत्नीको भी एकपति-व्रतका पालन करना चाहिए, इस विचारने मुझे ईर्ष्यालु पति बना दिया। मैं 'पालन करना चाहिए' से 'पालन करवाना चाहिए'

पर जा पहुंचा। और पालन करवाना है तो मुझे खबरदारी रखनी चाहिए। मेरे लिए पत्नीकी पवित्रतामें शंका करनेका कोई कारण नहीं था। पर जलन कारण ढूंढ़ने कब बैठती है ? मेरी स्त्री कहां जाती है, यह मुझे सदा जानना ही चाहिए। इसलिए मेरी अनुमतिके बिना वह कहीं जा ही नहीं सकती। यह बात हमारे बीच दुःखद झगड़ेकी जड़ हो गई। अनुमतिके बिना कहीं न जा सकना तो एक तरहकी कैद ही हुई; पर कस्तूरबाई ऐसी कैद सहन करने-वाली स्त्री न थी। जहां जी चाहता वहां जरूर, बिना मुझसे पूछे, जाती। मैं ज्यों-ज्यों दबाव डालता त्यों-त्यों वह अधिक स्वतंत्रता दिखाती, और त्यों-त्यों मैं अधिक चिढ़ता। इससे हम बालकोंमें बोलचाल बंद हो जाना मामूली बात हो गई। कस्तूरबाईकी इस स्वतंत्रताको मैं निर्दोष मानता हूं। एक लड़की, जिसके मनमें पाप नहीं है, वह देवदर्शनके लिए या किसीसे मिलने जानेपर दाब कैसे सह सकती है ? यदि मैं उस पर दाब रखता हूं तो वह मुझपर क्यों न रखे ? पर यह तो अब समझ में आ रहा है। उस समय तो पतिका अधिकार स्थापित करना था।

पर पाठक यह न मान बैठें कि हमारे इस गृहजीवनमें कहीं भी मिठास नहीं थी। मेरी वक्रताके मूलमें प्रेम था। मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरी यह भावना थी कि वह स्वच्छ हो जाय, स्वच्छ रहे, मैं जो सीखता हूं वह सीखे, मैं जो पढ़ता हूं वह पढ़े, और हम दोनों एक दूसरेमें ओतप्रोत रहें।

कस्तूरबाईकी भी यह भावना थी या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। वह निरक्षर थी। स्वभावसे सीधी, स्वतंत्र, मेहनती और मेरे साथ तो मितभाषिणी थी। उसे अपने अज्ञानसे असंतोष नहीं था। मैंने अपने बचपनमें कभी उसकी यह इच्छा नहीं पाई कि मैं पढ़ता हूं तो उसे भी पढ़ना चाहिए। इससे मानता हूं कि मेरी भावना एकपक्षीय थी। मेरा विषय-सुख एक स्त्रीपर ही आश्रित था और मैं उस सुखकी प्रतिध्वनि चाहता था। प्रेम जहां एक पक्षकी ओरसे भी होता है वहां सर्वांशमें तो दुःख हो ही नहीं

सकता। मुझे कहना चाहिए कि अपनी स्त्रीके प्रति मैं विषयासक्त था। स्कूलमें भी उसका खयाल आता रहता। कब रात हो और कब हम मिलें, यह विचार बना ही रहता। वियोग असह्य था। अपनी निकम्मी बकवासोंसे मै कस्तूरबाईको जगाये ही रखता। मै समझता हूँ कि इस आसक्तिके साथ यदि मुझमें कर्त्तव्यपरायणता न होती तो मैं रोगका शिकार बनकर मृत्युके पंजेमें पड़ गया होता या इस जगतमें भारभूत बनकर रहता। सवेरा होते ही रोजके काम तो करने ही चाहिए, किसीको छल-ठग सकता ही नहीं, अपने ऐसे विचारोंकी बदौलत अनेक संकटोंसे मेरी रक्षा हुई।

कस्तूरबाई निरक्षर थी, यह बात लिख चुका हूं। उसे पढ़ानेकी मुझे बड़ी हवस थी, पर मेरी विषय-वासना पढ़ानेके मार्ग-में बाधक थी। एक तो जबर्दस्ती पढ़ाना था, वह भी रातको एकांतमें ही संभव था। गुरुजनोंके सामने तो स्त्रीकी ओर निहारना भी नामुमकिन था, बात करनेकी तो बात ही दरकिनार! काठियावाड़में घूघटका निकम्मा और जंगली रिवाज उस समय था। आज भी बहुत-कुछ बना हुआ है। इससे पढ़नेके संयोग भी मेरे लिए प्रतिकूल थे। अतः मुझे कबूल करना होगा कि युवावस्था में पढ़ानेके मेरे सारे यत्न करीब-करीब व्यर्थ हुए, और जब विषय-निद्रासे जागा तब तो मैं सार्वजनिक जीवनमें पड़ चुका था। इस-लिए अधिक समय दे सकूं, यह स्थिति ही न रह गई थी। शिक्षकके द्वारा पढ़वानेकी कोशिश भी बेकार रही। नतीजा यह हुआ कि आज कस्तूरबाई मुश्किलसे चिट्ठीभर लिख और साधारण गुजराती समझ सकती है। मैं समझता हूं कि मेरा प्रेम विषय-दूषित न होता तो आज वह विदुषी स्त्री होती। उसके पढ़नेके आलस्य को मै जीत सकता था। मैं जानता हूं कि शुद्ध प्रेमके लिए कुछ भी अशक्य नही है।

स्वपत्नीके प्रति विषयासक्त होते हुए भी उसका पूरा फल भोगनेसे मै अपेक्षाकृत कैसे बच सका, इसका एक कारण बता चुका हूं। दूसरा भी बताने लायक है। सैकड़ों अनुभवोंके आधारपर

मैं यह सार निकाल पाया हूं कि सच्ची निष्ठावालेको भगवान् बचा लेते हैं। हिंदूसंसारमें बाल-विवाहका घातक रिवाज है तो उसके साथ-साथ उससे कुछ उबारनेवाला रिवाज भी है। बालक वर-वधूको मां-बाप अधिक दिन साथ नहीं रहने देते। बाल-पत्नी-का आधेसे अधिक समय उसके मैकेमें बीतता है। यही हमारे विषयमें भी हुआ। यानी १३ से १८ सालकी उम्रतक हम कुल मिलाकर तीन वर्षसे अधिक साथ न रहे होंगे। पांच-सात महीने साथ रहते कि कस्तूरबाई के मां-बापका बुलावा आ जाता। उस समय तो यह बुलावा बहुत बुरा लगता था पर उसीने हम दोनों को बचा लिया। १८ वर्षकी उम्रमें मैं विलायत चला गया, जिससे हममें सुंदर और लंबा वियोग हो गया। विलायतसे लौटनेपर भी साथ तो कोई छः महीने ही रहे होंगे। कारण यह कि राजकोट और बंबईके बीच मेरी आवा-जाही लगी रहती थी। तबतक दक्षिण अफ्रीकाका न्यौता आ गया। इस बीच मैं भलीभांति जाग चुका था।

: ५ :

हाईस्कूलमें

पहले लिख चुका हूं कि ब्याहके समय मैं हाईस्कूलमें पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूलमें पढ़ते थे। बड़े भाई कई दर्जा ऊपर थे और जिस भाईका ब्याह मेरे साथ हुआ वह मुझसे एक दर्जा आगे थे। विवाहके परिणामस्वरूप हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाईके लिए तो नतीजा इससे भी बुरा रहा। ब्याहके बाद उन्हें स्कूल छोड़ ही देना पड़ा। भगवान् जानें, ऐसा अनिष्ट परिणाम कितने युवकोंको भोगना पड़ता होगा। विद्याभ्यास और विवाह, दोनों साथ-साथ हिंदूसंसारमें ही चलते हैं।

मेरी पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूलमें मैं मंदबुद्धि विद्यार्थी

नहीं माना जाता था। शिक्षकोंका प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया। हर साल माता-पिताके पास विद्यार्थीकी पढ़ाईके साथ-साथ चाल-चलनके बारेमें भी प्रमाणपत्र भेजा जाता था। उसमें कभी मेरे चाल-चलन या पढ़ाईके खराब होनेकी शिकायत नहीं गई। दूसरे दर्जेके बाद मैंने इनाम भी पाये और पांचवें, छठे दर्जेमें क्रमशः चार तथा दस रुपये मासिककी छात्रवृत्ति भी मिली थी। इस सफलतामें मेरी होशियारीकी अपेक्षा भाग्यका हिस्सा ज्यादा था। ये वृत्तियां सब विद्यार्थियोंके लिए नहीं; बल्कि सौराष्ट्र प्रांतके विद्यार्थियोंमें प्रथम आनेवालेके लिए थीं। चालीस-पचास विद्यार्थियोंके दर्जेमें उस समय सौराष्ट्र प्रांतके विद्यार्थी हो ही कितने सकते थे?

मेरी निजी स्मृति यह है कि मुझे अपनी होशियारीका कोई गर्व नहीं था; इनाम या छात्रवृत्ति पानेपर मुझे आश्चर्य होता था; लेकिन अपने चाल-चलनकी मुझे बड़ी चिन्ता रहती थी। आचरण-में दोष आनेसे तो मुझे रुलाई ही आ जाती थी। मेरे हाथों कोई ऐसी बात हो या शिक्षकोंको ऐसा मालूम हो कि उन्हें मेरी भर्त्सना करनी पड़े, यह मेरे लिए असह्य था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मारका दुःख नहीं था; पर मैं दंडका पात्र माना गया, इस बातका बड़ा दुःख था। मैं खूब रोया। यह बात पहले या दूसरे दर्जेकी है। दूसरा प्रसंग सातवें दर्जेका है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह विद्यार्थीप्रिय थे, क्योंकि वह नियमोंकी पाबंदी कराते थे, बाकायदा काम करते और लेते थे, और पढ़ाते अच्छा थे। ऊपरके दर्जोंके विद्यार्थियोंके लिए उन्होंने कसरत, क्रिकेट अनिवार्य कर दिया था। मुझे इन चीजों से अरुचि थी। अनिवार्य होनेके पहले तो मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबालमें गया ही न था। न जानेमें मेरा झेंपू स्वभाव भी एक कारण था। आज इस अरुचिमें मैं अपनी गलती देखता हूं। उस समय मेरी यह गलत धारणा थी कि कसरतका शिक्षणके साथ कोई संबंध नहीं है। बादको समझमें

आया कि विद्याभ्यासमें व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षाका मानसिक शिक्षाके बराबर ही स्थान होना चाहिए।

फिर भी मैं कहना चाहता हूं कि कसरत में शामिल न होनेसे मेरी हानि नहीं हुई। कारण यह कि पुस्तकोंमें मैंने खुली हवामें घूमनेकी सलाह पढ़ी थी और वह मुझे रुचती थी और इससे हाईस्कूलके ऊंचे दर्जोंसे ही मुझे घूमने जानेकी आदत पड़ गई थी। वह अंततक बनी रही। घूमना भी व्यायाम तो है ही, इससे मेरे शरीरमें थोड़ा कसाव आ गया।

व्यायामकी अरुचिका दूसरा कारण था पिताजीकी सेवा करनेकी तीव्र इच्छा। स्कूल बंद होते ही तुरंत घर जाकर उनकी सेवामें लग जाता। कसरत अनिवार्य हो जानेसे इस सेवामें विघ्न पड़ने लगा। पिताजीकी सेवाके लिए कसरतसे माफी पानेकी दरख्वास्त दी। पर गीमीसाहब कब माफी देनेवाले थे? एक शनिवारको स्कूल सवेरेका था। शामको चार बजे कसरतमें जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाशमें बादल थे, इससे समयका कुछ पता न चला। बादलोंसे धोखा खा गया। कसरत के लिए जब पहुंचा तो सब जा चुके थे। दूसरे दिन जब गीमीसाहबने हाजिरी देखी तो मैं गैरहाजिर निकला। मुझसे वजह पूछी गई। मैंने जो बात थी बता दी। उन्होंने उसे सही नहीं माना और मुझपर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हुआ। मैं झूठा बना। मुझे भारी दुःख हुआ। मैं झूठा नहीं हूं, यह कैसे साबित करूं? कोई उपाय नहीं था। मन मसोसकर रह गया। रोया। पीछे ध्यानमें आया कि सही बोलने और सही करनेवालेको गाफिल भी नहीं रहना चाहिए। इस तरहकी गफलत मेरे अध्ययन-कालमें यही पहली और आखिरी भी थी। मुझे कुछ-कुछ खयाल है कि अंतमें मैंने यह जुर्माना माफ करा लिया था।

अंतमें कसरतसे मैंने मुक्ति पा ली; पर तब जबकि पिताजीने हेडमास्टरको पत्र लिखा कि स्कूलके समयके बाद वह मेरी उपस्थिति अपनी सेवाके लिए चाहते हैं।

कसरतके बदले घूमना जारी रखनेकी वजहसे शरीरका व्यायाम न करनेकी गलतीके लिए तो मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी; पर दूसरी एक भूलकी सजा मैं आजतक भोग रहा हूं। पता नहीं, कहांसे यह गलत खयाल मेरे दिमागमें घुस गया था कि पढ़ाईमें सुंदर लिखावटकी जरूरत नहीं है, जो विलायत जाने तक बना रहा। बादको, और खासकर दक्षिण अफ्रीकामें, जब वकीलोंके, और दक्षिण अफ्रीकामें जन्मे और पढ़े हुए नवयुवकोंके, मोतीके दानोंके-से अक्षर देखे तब मैं लजाया और पछताया। मैंने समझा कि खराब अक्षर अधूरी शिक्षाकी निशानी माने जाने चाहिए। पीछे मैंने अपने अक्षर सुधारनेकी कोशिश की; पर पके घड़ेपर कहीं गला जुडता है? युवावस्थामें जिसकी अवहेलना की, उसे आजतक न कर पाया। प्रत्येक युवक और युवतीको मेरे उदाहरणसे यह सबक लेना चाहिए कि अच्छे अक्षर लिखना विद्याका आवश्यक अंग है। सुंदर लिखावट सीखनेके लिए चित्रकलाका ज्ञान आवश्यक है। मैं तो इस नतीजेपर पहुंचा हूं कि बालकोंको चित्रकला पहले सिखलानी चाहिए। जैसे पक्षी, वस्तु आदिको देखकर बालक उन्हें याद रखता और सहजमें पहचान सकता है वैसे ही अक्षर पहचानना भी सीखे और चित्रकला सीखकर चित्र आदि बनाना सीख लेनेके बाद अक्षर लिखना सीखेगा तो उसके अक्षर छापे-जैसे होंगे।

इस समयकी पढ़ाईके दूसरे दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं। विवाहके कारण जो एक साल खराब गया था, दूसरे दर्जेमें मास्टरने उसे बचा लेनेका मुझसे उद्योग कराया। परिश्रमी विद्यार्थीको इसकी इजाजत उन दिनों मिल जाती थी। इससे तीसरे दर्जे में छः महीने रहा और गर्मीकी छुट्टियोंके पहलेके इम्तहानके बाद मैं चौथे दर्जेमें ले लिया गया। यहांसे कई विषयोंकी पढ़ाई अंग्रेजीके द्वारा शुरू होती थी। मैं कुछ समझ ही न सकता था। रेखागणित भी चौथे दर्जेसे शुरू होता था। उसमें तो मैं यों ही पीछे था। अंग्रेजीमें पढ़ाये जानेकी वजहसे मैं उसे बिलकुल

ही न समझ पाता था। रेखागणित के अध्यापक समझानेवाले अच्छे थे; पर मेरे दिमागमें कुछ घुसता ही न था। अक्सर मैं निराश हो जाता। कभी-कभी सोचता कि दो दर्जे सालभरमें पास करनेका इरादा छोड़ दूं और तीसरे दर्जेमें लौट जाऊं; पर इसमें मेरी लाज जानेके साथ ही जिस शिक्षकने मेरी श्रमशीलतापर विश्वास करके दर्जा चढानेकी सिफारिश की थी उसकी भी लाज जाती। इस डरसे नीचे उतरनेका विचार त्याग दिया। कोशिश करते-करते जब मैं रेखागणितकी तेरहवीं शक्लतक पहुंचा तो यकायक मुझे जान पड़ा कि यह तो आसान-से-आसान विषय है। जिसमें केवल बुद्धिका सीधा और सरल प्रयोग ही करना है, उसमें कठिनाईकी क्या बात है? इसके बाद तो हमेशा रेखागणित मेरे लिए आसान और रोचक विषय रहा।

संस्कृत मेरे लिए रेखागणितकी अपेक्षा अधिक कठिन सिद्ध हुई। रेखागणितमें कुछ रटना नहीं रहता, पर संस्कृतमें तो मेरी दृष्टिसे अधिक काम रटनेका ही था। यह भी चौथी कक्षासे चली थी। छठे दर्जेमें मैं हिम्मत हार गया। संस्कृतके अध्यापक बहुत सख्त थे। उन्हें विद्यार्थियोंको बहुत-सा पढ़ा देनेका लोभ था। संस्कृत और फारसीके दर्जोंमें एक प्रकारकी प्रतिद्वंद्विता-सी थी। फारसीके मौलवीसाहब नरम थे। विद्यार्थी आपसमें बातें किया करते कि फारसी तो बहुत सहज है और उसके अध्यापक बड़े सज्जन हैं। विद्यार्थी जितना काम कर लाते हैं उतने से ही निबाह लेते हैं। आसान सुनकर मैं भी ललचाया और एक दिन फारसीके दर्जेमें जा बैठा। संस्कृतशिक्षकको यह अखरा। उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "तुम सोचो तो कि तुम किसके लड़के हो। अपने धर्मकी भाषा नहीं सीखोगे? अपनी कठिनाई मुझसे कहो। मैं तो चाहता हूं कि सभी विद्यार्थी अच्छी संस्कृत सीख लें। आगे चलनेपर तो उसमें रस-ही-रस है। तुम्हें इस तरह हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। तुम फिर मेरे दर्जेमें आ जाओ!" मैं शर्माया। शिक्षकके प्रेमकी अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर

मास्टरकी कृतज्ञ हूं; क्योंकि जितनी संस्कृत उस समय मैंने पढ़ी यदि उतनी भी न पढ़ी होती तो आज मैं संस्कृत शास्त्रोंमें जो रस ले सकता हूं वह न ले पाता। मुझे तो संस्कृत अधिक न पढ़ सकनेका पछतावा होता ह, क्योंकि आगे चलकर मेरे ध्यानमें यह बात आई कि किसी भी हिंदू बालकको संस्कृतके अच्छे अभ्याससे वंचित नहीं रहना चाहिए।

आज तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्षके उच्च शिक्षणक्रममें अपनी भाषाके सिवा राष्ट्रभाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजीको स्थान मिलना चाहिए। इतनी भाषाओंकी संख्यासे डरनेका कारण नहीं है। यदि भाषाएं ढंगसे सिखाई जायं और सब विषय अंग्रेजी द्वारा ही पढ़ने-समझनेका बोझ हमपर न हो तो उपर्युक्त भाषाओंकी शिक्षा भार रूप न होगी, बल्कि उनमें बहुत रस मिलेगा। इसके सिवा एक भाषा शास्त्रीय पद्धतिसे सीख लेनेवालेके लिए दूसरी भाषाका ज्ञान सुलभ हो जाता है। सच पूछिए तो हिंदी, गुजराती और संस्कृतकी एक भाषामें गणना की जा सकती है। उसी प्रकार फारसी और अरबीको एक माना जा सकता है। फारसी यद्यपि संस्कृत के निकट है और अरबी हिब्रूके, फिर भी दोनों इस्लामके उदयके बाद विकसित हुई हैं। इससे दोनोंमें निकटका संबंध है। उर्दूको मैंने अलग भाषा नहीं माना है, क्योंकि उसके व्याकरणका समावेश हिंदीमें हो जाता है। उसके शब्द तो फारसी और अरबीके ही हैं। अच्छी उर्दू जाननेवालेके लिए अरबी और फारसी जानना जरूरी है, वैसे ही जैसे अच्छी गुजराती, हिंदी, बंगला, मराठी, जाननेवालेके लिए संस्कृत जानना।

: ६ :

दुःखद प्रसंग—१

मैं कह चुका हूं कि हाईस्कूलमें मेरे थोड़े ही खास मित्र थे। मित्र कहे जा सकनेवाले ऐसे मेरे दो मित्र भिन्न-भिन्न समयोंमें थे।

एक मित्रता तो दूरतक नहीं निभी, यद्यपि मेरी ओरसे उस मित्रका त्याग नहीं हुआ। मेरे दूसरेका साथ करनेके कारण पहलेने मुझे छोड़ दिया। दूसरा साथ मेरे जीवनका दुःखद अध्याय है। यह संग बहुत वर्षोंतक चला। उस मित्रतामें मेरी सुधारक दृष्टि थी। पहले उस साथीकी मित्रता मेरे मंझले भाईसे थी। वह मेरे भाई-का सहपाठी था। उसमें कई दोष थे, जिन्हें मैं देख पा रहा था; पर मैंने उसे सच्चा वफादार माना था। माताजी, बड़े भाई और मेरी धर्मपत्नी तीनोंको यह संगत बुरी लगती थी। पत्नीकी चेतावनीकी तो मुझ-जैसा घमंडी पति कब परवाह करता था। हां, माताजीकी आज्ञाका उल्लंघन कर सकना मेरे लिए कठिन था। बड़े भाईकी सीख भी सुननी ही थी; पर यह कहकर मैंने उन लोगोंको तसल्ली करा दी, "आप लोग उसके जो दोष बताते हैं उन्हें मैं जानता हूं। आप लोगोंको उसके गुणोंका पता नहीं है। मुझे वह गलत रास्तेपर नहीं ले जा सकता, क्योंकि मैंने उसका साथ सिर्फ उसे सुधारनेकी नीयतसे किया है। मेरा विश्वास है कि वह सुधर जाय तो बड़ा अच्छा आदमी निकलेगा। मेरी प्रार्थना है कि आप लोग मेरे बारेमें बेफिक्र रहें।" मैं यह तो नहीं मानता कि इन बातोंसे उनका समाधान हो गया, पर उन्होंने मेरा विश्वास किया और मुझे अपनी राह जाने दिया।

मुझे आगे चलकर मालूम हुआ कि मेरा अनुमान सही नहीं था। सुधार करनेके लिए भी आदमीको गहरे पानीमें नहीं उतरना चाहिए। हम जिसका सुधार करना चाहते हों उसके साथ मित्रता नहीं चल सकती। मित्रतामें अद्वैत भावना होती है। ऐसी मित्रता दुनियामें बहुत कम देखनेमें आती है। मित्रता समान गुणवालोंकी ही शोभती और निभती है। मित्रोंका एक-दूसरेपर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसलिए मित्रतामें सुधारकी गुंजाइश बहुत थोड़ी होती है। मेरा मत है कि अंतरंग मित्रता अनिष्टकारक है, क्योंकि मनुष्य दोषको बड़ी जल्दी अपनाता है। गुण ग्रहण करनेमें प्रयासकी आवश्यकता है। आत्मा और ईश्वर-

की मित्रताकी चाह रखनेवालेको एकाकी रहना चाहिए, या फिर अखिल विश्वके साथ मैत्री करनी चाहिए। ये विचार ठीक हों या बेठीक, इतना सही है कि मेरा व्यक्तिगत मित्रता-संपादनका प्रयास निष्फल रहा।

जिन दिनों इस मित्रसे मेरा संबंध था उन दिनों राजकोटमें 'सुधारपंथ' का बोलबाला था। अनेक हिंदू शिक्षक गुप्तरूपसे मांस और मद्यका सेवन करते थे, उसी मित्रसे यह बात मालूम हुई। राजकोटके अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम भी उसने बतलाये। हाईस्कूलके कुछ विद्यार्थियोंके नाम भी मुझे बताये गये। मुझे आश्चर्य हुआ और दुःख भी। कारण पूछनेपर यह दलील सामने आई, "मांसाहार न करनेके कारण ही हम लोग निर्बल राष्ट्र हैं। अंग्रेज जो हमपर राज्य कर रहे हैं उसका कारण उनका मांसाहार ही है। मेरी देह कैसी दृढ़ है और मैं कितना दौड़ सकता हूं यह तो तुम्हें मालूम ही है। इसका कारण भी मेरा मांसाहार ही है। मासांहारीको फोड़े नहीं होते और हुए तो झटपट भर जाते हैं। हमारे अध्यापक मांस खाते हैं, इतने नामी-गिरामी लोग खाते हैं, ये सब क्या बिना समझे-बूझे खाते हैं। तुम्हें भी जरूर खाना चाहिए। खाकर देखो तो पता चलेगा कि तुममें कितना बल आ जाता है।"

ये सारी दलीलें कुछ एक दिनमें ही सामने नहीं आ गई थीं। ऐसी दलीलें भांति-भांतिके उदाहरणोंसे सजाकर अनेक बार सामने रखी गईं। मेरे मंझले भाई तो फिसल चुके थे। उन्होंने इन दलीलोंका समर्थन किया। अपने भाई और इस मित्रकी तुलनामें मैं कहीं कमजोर था। उनका बदन अधिक गठीला और शारीरिक बल मुझसे बहुत अधिक था। वह साहसी थे। इस मित्रके पराक्रमके कार्य मुझे मोह लेते थे। वह चाहे जितना दौड़ सकता था और बड़ी तेजीके साथ। लंबी और ऊंची कुदानमें उसे कमाल हासिल था। मार सहनेकी शक्ति भी उस में वैसी ही थी। इस शक्तिका प्रदर्शन भी जब-तब मेरे सामने करता था। अपनेमें

जिस शक्तिका अभाव होता है उसे दूसरेमें देखकर मनुष्यका चकित होना स्वाभाविक है। मैं भी हुआ। आश्चर्यसे मोह उत्पन्न हुआ। मुझमें दौड़नेकी शक्ति नहींके बराबर थी। मैं भी इस मित्रकी भांति बलवान हो जाऊं तो कैसा अच्छा हो !

इसके सिवा मैं बड़ा डरपोक था। चोर, भूत, सांप आदिके भय मुझे घेरे ही रहते। ये डर मुझे बहुत सताते थे। रातको अकेले कहीं जानेकी हिम्मत न होती थी। अंधेरेमें तो कहीं न जा सकता था। दीपकके बिना सोना भी नामुमकिन-सा था। इधरसे भूत आ जाय, उधरसे चोर आ जाय और तीसरी दिशासे सांप निकल आये तो ! इसलिए रोशनी तो रहनी ही चाहिए। पास सोई हुई और किंचित् युवावस्था-प्राप्त स्त्रीपर भी अपने इस भयकी बात कैसे प्रकट करता ? मैं जान गया था कि मुझसे वह अधिक हिम्मतवाली है, और इससे मैं लज्जित था। उसने सांप वगैरहका डर तो कभी जाना ही नहीं। अंधेरेमें अकेली जाती थी। मेरी इन कमजोरियोंका उक्त मित्रको पता था। वह मुझसे कहता—मैं तो जीते सांपको भी हाथसे पकड़ लेता हूं। चोरसे नहीं डरता। भूत-प्रेत तो मानता ही नहीं। यह सब मांसाहारका प्रताप है, यह बात उसने मेरे मनमें जमा दी।

इन्हीं दिनों नर्मद कविका निम्नलिखित पद पाठशालाओंमें गाया जाता था :

> **अंग्रेजो राज्य करे, देशी रहे दबाई।**
> **देशी रहे दबाई जोने बेनां शरीर भाई।**
> **ेलो पांच हाथ पूरो, पू ो पांचसें ने।'[1]**

इन सबका मेरे मनपर पूरा असर हुआ। मैं पिघला। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है, इससे मुझमें बल और

---

[1] हिंदुस्तानी तो दबकर रहते हैं अंग्रेज राज्य करते हैं। दोनोंके शरीरका मुकाबला करो। वह पांचहत्था जवान अकेला पांच सौ के लिए काफी है।

साहस आयगा। यदि सारा देश मासांहार करने लगे तो अंग्रेजोंको हराया जा सकता है।

मांसाहार आरंभ करनेका दिन नियत हुआ।

इस निश्चयका—इस आरंभका—अर्थ शायद बहुतेरे पाठक न समझ पायं। गांधी-कुटुंब वैष्णव-संप्रदायी था। माता-पिता बड़े पक्के वैष्णव थे। 'हवेली' नित्य जाते थे। अनेक मंदिर तो हमारे कुटुंबके ही कहे जा सकते हैं। इसके सिवा गुजरातमें जैन-संप्रदायका बड़ा जोर था। उसका प्रभाव हर जगह, हर प्रवृत्तिमें, पाया जाता है। इसलिए मांसाहारका जो विरोध, जैसा तिरस्कार गुजरातमें और जैनों तथा वैष्णवोंमें दिखाई देता है वैसा हिंदुस्तान या सारी दुनियामें और कहीं न दिखाई देगा। मैं इन्हीं संस्कारोंमें पला था।

माता-पिताका मैं परम भक्त था। मैं समझता था कि उन्हें मांसाहारकी बातका पता चल जाय तो वे तुरंत बेमौत मर जायंगे। जाने या बिना जाने, सत्यका सेवक तो मैं था ही। यह नहीं कह सकता कि मांसाहार करनेपर माता-पिताको धोखा देना होगा, यह ज्ञान मुझे उस समय नहीं था।

ऐसी स्थितिमें मांसाहार करनेका निश्चय मेरे लिए बड़ा गंभीर और भयानक काम था।

पर मुझे तो सुधार करना था। मांसाहारका शौक नहीं था। स्वादके खयालसे मुझे मांसाहार आरंभ नहीं करना था। मुझे तो बलवान और साहसी बनना था, दूसरोंसे वैसा बननेको कहना था और फिर अंग्रेजोंको हटाकर हिंदुस्तानको स्वतंत्र करना था। 'स्वराज्य' शब्द तो तबतक मेरे कानमें नहीं पड़ा था। इस सुधार-के जोशमें मैं होश खो बैठा।

: ७ :

दुःखद प्रसंग—२

नियत दिन आया। अपनी स्थितिका पूरा-पूरा वर्णन करना कठिन है। एक ओर था सुधारका उत्साह, जीवनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करनेकी नवीनता और दूसरी ओर थी चोरकी भांति छिपकर काम करनेकी शर्म। दोनोंमें कौन प्रधान था, यह मुझे याद नहीं है। हम लोग नदीकी ओर एकांतकी खोजमें चले। दूर जाकर ऐसा कोना ढूंढ निकाला जहां कोई हमें देख न सके। वहां मैंने कभी न देखी हुई चीज—मांस—देखी! साथमें भटियारेके यहांकी डबल रोटी थी। दोनोंमेंसे एक भी चीज रुच नहीं रही थी। मांस चमड़े-सा लग रहा था। निगलना अशक्य हो गया। उलटी आने लगी। खाना छोड़ देना पड़ा।

मेरी वह रात बड़ी कठिनाईसे कटी। किसी तरह नींद न आती थी। सपनेमें ऐसा लग रहा था मानों शरीरके भीतर बकरा जिंदा हो और रो रहा हो। मैं चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मेरा तो मांसाहार किये ही छुटकारा है इसलिए हिम्मत नहीं हारनी है! मित्र भी हार माननेवाला न था। अब उसने मांसको भांति-भांतिसे पकाना, सजाना और उसकी बूको छिपा देना शुरू किया। नदी-किनारेके बजाय किसी बावर्चीसे सांठ-गांठ करके गुप्त रूपसे राज्यकी एक अतिथिशालामें ले जाने का प्रबंध किया और वहां कुर्सी, मेज आदि सामानके प्रलोभनमें मुझे फंसाया। इसका असर हुआ। रोटीसे जो नफरत थी, वह हल्की पड़ गई, बकरेपरकी दया दूर हो गई, और मांसका तो नहीं कह सकता; लेकिन मांसमिश्रित पदार्थोंका जीभको चस्का लग गया। यों एक साल बीता होगा और इस बीच पांच-छः बार मांसाहारका मौका मिला होगा; क्योंकि अतिथिशाला सदा न मिल सकती थी और न सदा मांसकी स्वादिष्ट मानी जानेवाली

बढ़िया चीजें ही बन सकती थीं। इसके सिवा ऐसे खानोंपर पैसा भी लगता था। मेरे पास झंझी कौड़ी भी न थी, इसलिए मेरी गांठ-से तो कुछ निकलनेवाला ही न था। इस खर्चका प्रबंध तो उक्त मित्रको ही करना पड़ता था। वह पैसे कहांसे लाता, इसका पता मुझे आजतक नहीं लगा। वह मुझे मांसकी चाट लगा देना, मुझे फंसा देना चाहता था। इसलिए खुद पैसे खर्च करता था। पर उसके पास भी कोई कारूंका खजाना थोड़े ही था। इसलिए ऐसे खाने तो कभी-कभी ही मिल सकते थे।

ऐसे भोजनोंके बाद घरपर खाना कठिन होता। मां खानेको बुलातीं तो 'आज भूख नहीं है, पहलेका खाया पचा नहीं है', ऐसे बहाने बनाने पड़ते। ऐसा कहते हुए हर बार मेरे दिलको चोट लगती। यह झूठ, और सो भी मांके सामने! और इसके सिवा यदि माता-पिता जान पायं कि लड़का मांसाहारी हो गया है तब तो उनपर वज्र ही गिर जायगा। ये विचार मेरे हृदयको कुतर रहे थे। अतः मैंने निश्चय किया कि यद्यपि मांस खाना आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिंदुस्तानका सुधार करना है; पर मां-बाप-से झूठ बोलना और उन्हें धोखा देना मांसाहारसे भी बुरा है। इस-लिए उनके जीते-जी मैं मांस नहीं खा सकता। उनके मरनेके बाद स्वतंत्र होनेपर खुले-खजाने खाऊंगा। तबतक मांसाहार मुल्तवी रहे"। अपना यह निश्चय मैंने मित्रको सुना दिया और तबसे मांसाहार छूटा सो छूटा। मां-बापको कभी पता न चला कि उनके दो पुत्र मांस खा चुके हैं।

माता-पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारसे मैंने मांसाहार तो छोड़ा, पर उक्त मित्रसे मित्रता न छोड़ी। मैं चला था दूसरेको सुधारने और खुद गड्ढेमें गिर गया और इस पतनका मुझे भान तक न रहा।

उसी संगके कारण मैं व्यभिचारमें गिरनेसे बाल-बाल बचा। एक बार यह मित्र मुझे चकलेमें ले गया। वहां एक औरतके कमरेमें मुझे सिखा-पढ़ाकर भेजा। मुझे उसे पैसा आदि नहीं

देना था, उसका हिसाब पहले चुका दिया गया था। मेरे लिए तो गड्ढेमें गिरनाभर बाकी था।

मैं घरमें घुस तो गया, पर जिसे भगवान उबारना चाहता है वह गिरना चाहते हुए भी पवित्र बना रह सकता है। उस कमरेमें जाकर मैं तो अंधा ही हो गया। मुझे बोलनेका होश न रहा। लज्जासे स्तब्ध होकर मैं उस स्त्रीके पास चारपाईपर बैठ गया; पर बोली न निकली। स्त्री रुष्ट हुई और मुझे दो-चार गालियां देकर दरवाजेकी राह दिखाई।

मुझे उस समय तो जान पड़ा कि मेरी मर्दानगीको बट्टा लगा और जी चाहा कि धरती फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊं; पर इस तरह बच जानेके लिए ईश्वरका मैं सदा कृतज्ञ रहा हूं। ऐसे ही चार अवसर मेरे जीवनमें और आये हैं। उनमेंसे अधिकतरमें—अपने प्रयत्नके बिना, संयोगोंके कारण ही मैं बच गया, यह माना जा सकता है। विशुद्ध दृष्टिसे तो इन प्रसंगोंमें मेरा पतन हुआ ही समझना चाहिए, क्योंकि विषय-भोगकी जब मैंने इच्छा की, तो उसे कर चुका; फिर भी लौकिक दृष्टिसे इच्छा करके भी प्रत्यक्ष कर्मसे बच जानेवालेको हम बचा हुआ मानते हैं। इन प्रसंगोंमें इसी रीतिसे और इतने ही अंशोंमें मैं बचा माना जा सकता हूं। इसके सिवा कुछ काम ऐसे हैं जिन्हें करनेसे बचना उस व्यक्तिके और उसके संपर्कमें आनेवालोंके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होता है और विचारशुद्धि होनेपर उस कार्यसे बच जाना वह ईश्वरका अनुग्रह मानता है। जैसे हम यह देखते हैं कि न गिरनेका यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर जाता है, वैसे ही अनेक संयोगों के कारण वह गिरना चाहते हुए बच जाता है, यह भी अनुभवसिद्ध बात है। इसमें पुरुषार्थका कितना भाग है, कितना दैवका, और किन नियमोंके अधीन होकर मनुष्य अंतमें गिरता या बचता है, ये प्रश्न गूढ़ हैं। इनका निर्णय अभीतक नहीं हुआ है और अंतिम निर्णय कभी हो सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है।

पर हम आगे चलें।

उक्त मित्रकी मित्रताकी अनिष्टताका ज्ञान मुझे अब भी नहीं हुआ था। उसके पहले तो अभी मुझे और भी कटु अनुभव होने बाकी थे। मेरी आंखें तो तब खुलीं जब मैंने उसमें वे दोष प्रत्यक्ष देखे जिनसे मैं उसे अलिप्त मानता था। पर मैं यथासंभव कालक्रमसे अपने अनुभव लिख रहा हूं, इसलिए दूसरे अनुभव आगे आयंगे।

इसी समय की एक बातका कह देना आवश्यक जान पड़ता है। हम दंपतीके बीच होनेवाले मतभेद और कलहका कारण यह मित्रता भी थी। मैं पहले कह आया हूं कि मैं जितनाप्रेमी पति था उतना ही वहमी। मेरा शक बढ़ानेवाली यह मित्रता ही थी, क्योंकि मित्रकी सच्चाईमें मुझे तनिक भी संदेह न था। इस मित्रकी बात मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नीको कितने ही कष्ट दिये। उस हिंसाके लिए मैंने अपने आपको कभी क्षमा नहीं किया। ऐसे दुःख हिंदू-स्त्री ही सह सकती है और इसलिए मैंने सदा स्त्रीको सहनशीलताकी मूर्ति माना है। नौकरपर झूठा शक किया जाय तो वह नौकरी छोड़ देता है, पुत्रपर किया जाय तो वह पितृगृह त्याग देता है, मित्रोंमें परस्पर संदेह उत्पन्न हो तो मित्रता टूट जाती है, स्त्रीको पतिपर संदेह हो तो उसे मन-ही-मन कुढ़ते रहना होगा; पर यदि पतिको पत्नीपर संदेह हो जाय तो उस बेचारीका तो मानों दैव ही रूठ गया। वह कहां जाय? उच्च माने जानेवाले वर्णकी हिंदू-स्त्री अदालतमें जाकर तलाक भी नहीं दे सकती। उसके बारेमें ऐसा एकतरफा न्याय रखा गया है। मैंने भी वही न्याय किया, इसका दुःख मेरे मनसे कभी जानेका नहीं। इस संशय-वृत्तिका सर्वथा नाश तो मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान होनेपर ही हुआ, अर्थात् जब मैंने ब्रह्मचर्यकी महिमा समझी और यह जाना कि पत्नी पतिकी दासी नहीं, बल्कि उसकी सहचारिणी, सहधर्मिणी है, दोनों एक-दूसरेके सुख-दुःखमें बराबरके हिस्सेदार हैं, और जितनी स्वतंत्रता भला-बुरा करनेकी पतिको है उतनी ही स्त्रीको है। इस संशयकालकी याद आनेपर तो मुझे

अपनी मूर्खता और विषयांध निर्दयता पर क्रोध आता है और मित्रता-विषयक अपने मोहपर दया।

: ८ :

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहार-कालके और उसके पहलेके भी कुछ दोषोंका वर्णन करना अभी बाकी है। वे विवाहके पूर्वके या उसके कुछ ही बाद के हैं।

अपने एक रिश्तेदारकी सोहबतमें मुझे सिगरेट पीनेका शौक हुआ। हमारे पास पैसे न थे। सिगरेट पीनेमें कोई फायदा या उसकी गंधमें कोई मजा तो हम दोनोंमेंसे किसीको भी मालूम न होता था; पर हमें धुआं उड़ानेमें ही कुछ मजा आता था। मेरे चाचाको इसकी आदत थी। उन्हें तथा औरोंको धुंआ उड़ाते देखकर हमें भी 'कश' खींचनेका शौक लगा। पैसा पास न होनेके कारण हमने चाचाके पीकर फेंके हुए सिगरेटके टुकड़े चुराना शुरू किया।

पर टुकड़े हर वक्त तो न मिल सकते थे और उनसे धुआं भी ज्यादा न निकलता था। अतः नौकरकी जेबमें पड़े दो-चार पैसोंमेंसे हम बीच-बीचमें एक-आध पैसा चुराने और उससे सिगरेट खरीदने लगे। पर उन्हें रखें कहां, यह समस्या सामने आई। यह भी समझता था कि बड़ोंके सामने सिगरेट नहीं पीनी चाहिए। ज्यों-त्यों दो-चार धेले-पैसे चुराकर कुछ हफ्ते काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक पौधा (उसका नाम भूल गया हूं) होता है, जिसका डंठल सिगरेटकी भांति जलता है और पिया जा सकता है। हमने उसे लाकर धुआं उड़ाना शुरू किया।

पर हमें संतोष न हुआ। अपनी पराधीनता हमें खलने लगी। बड़ोंकी आज्ञा बिना कुछ भी न हो सके, यह विशेष कष्टदायक हो गया। हम ऊब गये और आत्महत्या करनेकी ठान ली।

पर आत्महत्या करें कैसे ? जहर कहांसे लायें ? हमने सुना कि धतूरेके बीज खानेसे मृत्यु होती है। हम जंगलमें जाकर बीज ले आये। खानेके लिए शामका समय निकाला। केदारजीके मंदिरकी दीपमालामें घी चढ़ाया, दर्शन किये और फिर एकांत ढूंढा। पर जहर खानेकी हिम्मत न हुई। तत्काल मृत्यु न हो तो ? मरनेसे क्या लाभ होगा ? पराधीनता भोग ही क्यों न लें ? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खानेकी हिम्मत ही न पड़ी। हम दोनों मृत्युसे डरे। निश्चय किया कि चलकर रामजीके मंदिरमें दर्शन करें और चुपचाप बैठें, आत्महत्याकी बात मनसे निकाल दें। मैंने समझ लिया कि आत्मघातका विचार करना सहज है, आत्म-घात करना सहज नहीं। इससे जब कोई आत्महत्या करनेकी धमकी देता है तो उसका मुझपर बहुतकम असर होता है, या कह सकता हूं कि बिलकुल नहीं होता।

इस आत्महत्याके निश्चयका एक परिणाम यह हुआ कि हम दोनोंकी जूठी सिगरेट चुराकर पीने और साथ ही नौकरके पैसे चुराने तथा उससे सिगरेट खरीदकर पीनेकी आदत ही जाती रही। बड़े होनेपर मुझे कभी सिगरेट पीनेकी इच्छा ही नहीं हुई और सदैव मेरी यह धारणा रही कि यह आदत जंगली, गंदी और हानि-कारक है। सिगरेट-बीड़ीका इतना जबरदस्त शौक दुनियामें क्यों है, इसे मैं कभी समझ ही न सका। जिस रेलके डिब्बेमें बीड़ी-सिगरेटका अधिक धुंआं उड़ता है वहां बैठना मेरे लिए कठिन हो जाता है, उस धुएंसे मेरा दम घुटने लगता है।

सिगरेटके टुकड़े और उसके लिए नौकरके पैसे चुरानेके अपराधकी अपेक्षा एक दूसरी चोरीका अपराध जो मेरे हाथों हुआ उसे मैं ज्यादा बड़ा समझता हूं। सिगरेटके दोषके समय तो उम्र बारह-तेरह बरसकी रही होगी, शायद इससे भी कम। पर दूसरी चोरीके समय पंद्रह सालका रहा हूंगा। यह चोरी मेरे मांसाहारी भाईके सोनेके कड़ेके टुकड़ेकी थी। उन्होंने छोटा-सा कोई पच्चीस रुपयेका कर्ज कर लिया था। हम दोनों भाई इसे चुकानेके

चक्करमें थे। भाईके हाथमें सोनेका ठोस कड़ा था। उसमेंसे तोलाभर सोना काट लेना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज पट गया; पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गई। इसके बाद मैंने कभी चोरी न करनेका निश्चय किया। यह भी सोचा कि पिताजी के सामने इसे कबूल लेना चाहिए; पर जबान न खुलती थी। पिताजी मुझे पीटेंगे, इसका डर तो नहीं था। उन्होंने किसी दिन हममेंसे किसी भी भाईको मारा हो यह याद नहीं। पर स्वयं क्लेश करेंगे, कहीं अपना सिर पीट लें तो? पर मनने कहा यह खतरा लेकर भी दोष स्वीकार करना ही उचित है, इसके बिना शुद्धि नहीं होनेकी।

अंतमें मैंने पत्र लिखकर दोष स्वीकारकर लेने और माफी मांगनेका निश्चय किया। मैंने पत्र लिखकर अपने हाथसे उन्हें दिया। पत्रमें सब दोष स्वीकार किया और उसका दंड मांगा। यह विनती की कि मेरे अपराधके लिए वह अपनेको कष्टमें न डालें और प्रतिज्ञा की कि भविष्यमें फिर ऐसा अपराध न करूंगा।

मैंने कांपते हाथों यह पत्र पिताजीके हाथमें दिया। मैं उनके तख्तके सामने बैठ गया। इन दिनों वह भगंदर रोगसे पीड़ित थे। इससे बिस्तरेपर ही पड़े रहते थे। खाटके बदले तख्त काममें लाते थे।

उन्होंने पत्र पढ़ा। आंखोंसे मोतीकी बूंदें टपकीं। पत्र भीग गया। उन्होंने क्षणभर आंखें मूंद लीं, पत्र फाड़ डाला, और खुद पढ़नेको बैठे हुए थे सो पुनः लेट गए।

मैं भी रोया। पिताजीकी पीड़ाका मैं अनुभव कर सका। म चित्रकार होता तो आज भी उस दृश्यकी पूरी तस्वीर खींच सकता था। आज भी इस तरह वह मेरी आंखोंके सामने नाच रहा है।

इन मुक्ताबिंदुओंके प्रेमबाणने मुझे बेध दिया। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेमको तो अनुभवी ही जान सकता है:

'रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे'[1]

---

[1] राम का बाण जिसे लगा हो वही जान सकता है।

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मैं उसमें सिवा पितृ-प्रेमके और कुछ न देख सका था, पर आज मैं उसे शुद्ध अहिंसाका नाम दे सकता हूं। ऐसी अहिंसाके व्यापक रूप धारण कर लेनेपर उसक स्पर्शसे कौन अछूता रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसाकी शक्तिकी नाप-तोल करना अशक्य है।

ऐसी शांत क्षमा पिताजीके स्वभावके प्रतिकूल थी। मैंने सोचा था कि वह क्रुद्ध होंगे, खरी-खोटी सुनायेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। मैं समझता हूं कि उनके ऐसी अपार शांति रख सकनेका कारण मेरा दोषको स्पष्ट रूपसे स्वीकार कर लेना था। अधिकारीके सामने जो आदमी स्वेच्छापूर्वक खुले दिलसे और फिर कभी न करनेकी प्रतिज्ञाके साथ अपना दोष स्वीकार कर लेता है वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मैं जानता हूं कि मेरे कबूल कर लेनेसे पिताजी मेरे विषयमें निर्भय हो गये और उनका महान् प्रेम और बढ़ गया।

: ९ :

पिताकी मृत्यु और मेरी नालायकी

उस समय मेरा सोलहवां वर्ष था। भगंदरकी बीमारीसे पिताजीके एकदम खाट पकड़ लेनेकी बात कह चुका हूं। उनकी सेवामें माताजी, घरका एक पुराना नौकर और मैं—ये तीन जने अधिकतर रहते थे। मेरा काम नर्सका—शुश्रूषा करनेका था। उनका घाव धोना, उसपर मलहम लगाना, दवा पिलाना और दवाको घरपर तैयार करना, मेरा खास काम था। रोज रातको उनके पैर दबाना और अनुज्ञा मिलने या उन्हें नींद आ जानेपर मेरा सोने जाना—यह मेरा नियम था। मुझे यह सेवा बहुत ही प्रिय थी। याद नहीं कि किसी दिन मैंने उसमें चूक की हो। ये दिन हाईस्कूलके तो थे ही, अतः खाने-पीनेके बाद बचा हुआ मेरा समय स्कूलमें अथवा पिताजीकी सेवामें ही लगता था। उनकी

आज्ञा मिलती और उनकी तबीयत ठीक दिखाई देती तो शामको टहलने जाता था।

इसी साल पत्नी गर्भवती हुई। यह मेरे लिए दोहरी लज्जाकी बात थी। इसे मैं आज समझ सकता हूं। एक तो यह कि विद्याभ्यासका काल होते हुए भी मैंने संयम न रखा; दूसरी यह कि मैं विद्याभ्यासके धर्मको समझता था और उससे भी अधिक माता-पिताकी भक्तिके धर्मको समझता था—वह यहांतक कि इस विषयमें बचपनसे ही श्रवण मेरा आदर्श हो रहा था—फिर भी मुझपर विषय-वासना सवार हो सकती थी! यहांतक कि रोज रातको इधर तो पिताजी के पांव दबाता रहता, उधर मन सोनेके कमरेकी ओर दौड़ा करता और सो भी ऐसे समय जब स्त्री का संग धर्मशास्त्र, वैद्यकशास्त्र और व्यवहार-शास्त्र तीनोंके अनुसार त्याज्य था। सेवासे छुट्टी पानेपर मुझे प्रसन्नता होती और पिताजी के पांव छूकर सीधा शयनगृहमें पहुंच जाता।

पिताजीकी बीमारी बढ़ती जा रही थी। वैद्योंने अपने लेप आजमाये, हकीमोंने मरहम-पट्टी, मामूली हज्जाम वगैरहने घरेलू दवाइयां। अंग्रेज डाक्टरने भी अपनी अक्ल लड़ाई। उसने बतलाया कि नश्तरके सिवा दूसरा इलाज नहीं है। कुटुंबके मित्र वैद्यने रोका। इस ढलती उम्रमें पिताजीके नश्तर लगाना उन्होंने नापसंद किया। अनेक प्रकारकी दवाइयोंकी बोतलें जो मंगाई गई थीं व्यर्थ गईं और नश्तर न लगा। वैद्यराज होशियार थे, विख्यात थे। मेरा खयाल है कि उन्होंने नश्तर लगने दिया होता तो घाव भरनेमें अड़चन न होती। नश्तर बंबईके उस समयके एक विख्यात सर्जन लगानेवाले थे। पर अंत निकट आ गया था, इसलिए ठीक कदम कैसे उठता? पिताजी बंबईसे बिना नश्तर लगवाये तथा तदर्थ खरीदा हुआ सामान साथ लिये वापस लौटे। उन्होंने अधिक जीनेकी आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती गई और सब काम बिस्तरपर ही होनेकी नौबत आ गई। पर उन्होंने अंततक इसका विरोध ही

किया और उठने-बैठने का कष्ट सहनेका आग्रह करते रहे। वैष्णव धर्मका यह कठोर शासन है। बाह्य शुद्धि अति आवश्यक है, पर पाश्चात्य वैद्यक शास्त्रने हमें सिखाया है कि मल-त्याग और स्नानादिकी सारी क्रियाएं बिछौनेमें पड़े-पड़े ही पूरी सफाईसे हो सकती हैं और रोगीको तनिक भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। बिस्तर जब देखो तब साफ ही मिलेगा। इस तरहकी सफाईको मैं तो वैष्णवधर्मका नाम ही दूंगा; पर इस समय भी पिताजीका स्नानादिके लिए बिछौनेसे उतरनेका आग्रह देखकर मैं तो आश्चर्य-चकित ही रह जाता और मन-ही-मन उनकी स्तुति किया करता।

अवसानकी काल-रात्रि निकट आ गई। उस समय मेरे चाचाजी राजकोट में थे। मुझे कुछ ऐसा स्मरण है कि पिताजीकी बीमारी बढ़ती जानेके समाचार पाकर वह आये थे। दोनों भाइयों-में गाढ़ा प्रेमभाव था। चाचाजी सारे दिन पिताजीकी खाटके पास ही बैठे रहते और हम सबको सोनेकी इजाजत देकर खुद वहीं पड़ जाते। किसीको यह आशंका तो थी ही नहीं कि यही उनकी आखिरी रात होगी, यों तो डर हमेशा ही बना रहता था। रातके साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजीने मुझसे कहा, "तू जा, अब मैं बैठूंगा।" मैं खुश हुआ और सीधा शयनगृहमें पहुंचा। स्त्री बेचारी तो गाढ़ी नींदमें थी; पर मैं कब सोने देता। जगाया। पांच-सात मिनट गुजरे होंगे कि ऊपर मैं जिस नौकरका जिक्र कर चुका हूं उसने किवाड़ खटखटाये। मैं धक्-से रह गया। चौंक उठा। नौकर बोला, "उठो, बापूजी ज्यादा बीमार हैं।" ज्यादा बीमार तो थे ही, यह मैं जानता था। इसलिए इस 'ज्यादा बीमारका' खास मतलब मैं समझ गया। बिछौनेसे एकदम कूद पड़ा।

"ठीक बताओ, क्या हुआ ?"

जवाब मिला, "पिताजी गुजर गये।"

अब मेरे पछतानेसे क्या होता था ? मैं बहुत शर्माया, बहुत दुःखी हुआ। पिताजीके कमरेमें दौड़ा गया। सोचा कि म विषयांध

न होता तो इस आखिरी घड़ीमें वियोग मेरे नसीबमें न आता और मैं पिताजीकी अंतिम घड़ीमें उनके पैर दबाता होता। अब तो मुझे चाचाजीके मुंहसे ही सुनना था कि "बापू तो हमें छोड़कर चल दिये।" अपने बड़े भाईके परम भक्त चाचाने अंतिम सेवाका सम्मान प्राप्त किया। पिताजीको अपने अवसानका संकेत मिल चुका था। उन्होंने इशारेसे लिखनेका सामान मांगा। कागजपर उन्होंने लिखा, "तैयारी की जाय।" यह लिखनेके बाद अपनी बांहपर बंधा तावीज तोड़कर फेंक दिया और सोनेकी कंठी-को भी तोड़कर अलग कर दिया। क्षणभरमें आत्मा उड़ गई।

अपनी जिस शर्मका संकेत मैंने पिछले प्रकरणमें किया है वह यही है—सेवाके समय भी विषयकी इच्छा। इस काले धब्बेको मैं आजतक न धो सका, भूल न सका और सदा यह मानता रहा हूं कि यद्यपि माता-पिताके प्रति मेरी भक्ति असीम थी, उसके लिए मैं सब कुछ छोड़ सकता था, पर उस सेवाके समय भी मेरा मन विषयको नहीं छोड़ सकता था, यह उस सेवामें अक्षम्य त्रुटि थी। इसीसे मैंने अपनेको एकपत्नीव्रतका पालक मानते हुए भी विषयांध माना है। इससे छूटनेमें बहुत समय लगा और छूटनेके पहले बहुत धर्मसंकट भी सहने पड़े।

अपनी इस दोहरी शर्मके प्रकरणको पूरा करनेके पहले यह भी कह देना चाहता हूं कि पत्नीको जो बच्चा पैदा हुआ वह दुनिया-में दो-चार दिन ही रहकर चल बसा। दूसरा परिणाम हो भी क्या सकता था? जो माता-पिता या बाल-दंपती चेतना चाहें वे इस दृष्टांतसे सबक लें।

: १० :

धर्मकी झांकी

छठे-सातवें से शुरू करके सोलह सालका होनेतक पढ़ा, पर पाठशालामें कहीं भी धर्मशिक्षा न मिली। कहना चाहिए कि जो

वस्तु शिक्षकोंसे अनायास ही मिलनी चाहिए थी वह न मिली, पर वातावरणसे कुछ-न-कुछ तो मिलती ही रही। यहां धर्मका उदार अर्थ लेना चाहिए। धर्म अर्थात् आत्मबोध, आत्मज्ञान।

वैष्णव-संप्रदायमें जन्म होनेके कारण मुझे हवेली जानेका मौका अक्सर मिला करता था; पर उसके लिए मेरे मनमें श्रद्धा न उपजी। मंदिरका वैभव मुझे न रुचा। वहां चलनेवाली अनीतिकी कथाएं सुनकर उससे मन हट गया। वहां से मुझे कुछ न मिला।

पर मंदिरसे न मिलनेवाली चीज दाईसे मिली। वह कुटुंबकी पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। पहले कह आया हूं कि मैं भूत-प्रेत आदिसे डरता था। रंभाने मुझे बताया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनामकी अपेक्षा रंभापर अधिक श्रद्धा थी, इसलिए मैंने बचपनमें भूत-प्रेतके भयसे बचनेको रामनामका जप आरंभ किया। वह अधिक दिन न चला। पर बचपनमें बोया हुआ बीज व्यर्थ नहीं गया। आज मेरे लिए रामनाम अमोघ शक्ति है, उसका कारण मैं रंभाबाईके बोये बीजको मानता हूं।

इसी बीच मेरे एक चचेरे भाईने, जो रामायणके भक्त थे, हम दोनों भाइयोंके लिए रामरक्षास्तोत्रका पाठ सीखनेका प्रबंध कर दिया। हमने उसे कंठ कर लिया और प्रात:काल स्नानके बाद नित्य पाठका नियम बनाया। पोरबंदरमें रहनेतक तो यह निभा, राजकोटके वातावरण में जाता रहा। इस क्रियामें भी विशेष श्रद्धा नहीं थी। उक्त बड़े भाईके प्रति आदर और कुछ रामरक्षास्तोत्रको शुद्ध उच्चारणके साथ पढ़नेके अभिमानके कारण उसका पाठ चलता रहा था।

पर जिस चीजका मेरे मनपर गहरा असर पड़ा वह था रामायणका पारायण। पिताजीकी बीमारीका कुछ काल पोरबंदरमें बीता था। यहां वह रामजीके मंदिरमें नित्य रातको रामायण सुना करते थे। सुनानेवाले थे रामचन्द्रजीके एक परमभक्त—बीलेश्वरके लाधा महाराज। उनके विषयमें कहा जाता था कि उन्हें कोढ़

हो गया था। उसकी दवा करनेके बदले उन्होंने बीलेश्वरके बिल्व-पत्र, जो महादेवजीपरसे उतरते थे, कोढ़वाले अंगपर बांधे और केवल रामनामका जप चलाया। इससे उनका कोढ़ जड़से जाता रहा। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालोंने उसे सच माना। यह भी सही है कि लाधा महाराजने जब कथा आरंभ की थी तब उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराजका कंठ मधुर था। वह दोहे-चौपाई गाकर उनका मतलब समझाते थे। स्वयं उसके रसमें लीन हो जाते थे और श्रोताओंको भी लीन कर देते थे। मेरी अवस्था इस समय कोई तेरह सालकी रही होगी, पर यह याद है कि मुझे उनकी कथामें खूब रस मिलता था। यह रामा-यण-श्रवण रामायणपर मेरे आत्यंतिक प्रेमकी बुनियाद है। मैं आज तुलसीदासकी रामायणको भक्तिमार्गका सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहां ऐसी कथाका प्रबंध नहीं था। अलबत्ता एकादशीको भागवतकी कथा हुआ करती थी। मैं उसमें कभी-कभी बैठता था, पर कथावाचक उसमें रस न उपजा सके। आज मैं देखता हूं कि भागवत ऐसा ग्रंथ है कि जिसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुज-रातीमें बड़े रसके साथ पढ़ा है। पर मेरे इक्कीस दिनोंके उपवासमें जब भारतभूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजीके श्रीमुखसे मूल संस्कृतके कितने ही अंश सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मुझे मालूम हुआ कि बचपनमें उन जैसे भगवद्भक्तके मुंहसे भागवत सुना होता तो उसपर भी मेरी गाढ़ प्रीति बचपनमें ही जम जाती। उस वयमें पड़े शुभाशुभ संस्कारोंकी जड़ बड़ी गहराईतक पहुंच जाती है इसे मैं खूब अनुभव करता हूं और इस कारण कितने ही उत्तम ग्रंथोंके सुननेका सौभाग्य मुझे उस उम्रमें प्राप्त न होना आज खलता है।

राजकोटमें मुझे अनायास सब संप्रदायोंके प्रति समान भाव रखनेकी शिक्षा मिली। हिंदूधर्मके प्रत्येक संप्रदायके प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता हवेली जाते, शिवालय

जाते और राममंदिर भी जाते और हम भाइयोंको भी ले जाते या भेजा करते।

इसके सिवा पिताजीके पास जैन धर्माचारियोंमें से कोई-न-कोई सदा आते रहते। पिताजी उन्हें भिक्षा देकर सत्कार करते थे। वह पिताजीसे धर्म-संबंधी तथा व्यावहारिक चर्चा किया करते थे। इसके सिवा पिताजीके मुसलमान और पारसी मित्र भी थे जो अपने-अपने धर्मके बारमें चर्चा किया करते और पिताजी उनकी बातें आदर और अक्सर रस लेकर सुनते थे। इन चर्चाओंके समय 'नर्स' होनेके कारण मैं प्रायः उपस्थित रहता था। इस सारे वातावरणका असर मेरे ऊपर यह हुआ कि सब धर्मोंके प्रति मेरे मनमें समभाव उत्पन्न हो गया।

इसमें केवल ईसाई-धर्म अपवाद था। उसके प्रति कुछ अरुचि उत्पन्न हुई। उन दिनों हाईस्कूलके कोनेपर कोई ईसाई सज्जन व्याख्यान दिया करते थे। वह हिंदू देवताओंकी और हिंदूधर्मियों-की निन्दा किया करते थे। यह मुझे असह्य लगा। मैं एकाध बार ही उनका व्याख्यान सुननेको खड़ा हुआ होऊंगा, पर दुबारा वहां खड़े होनेको जी ही न चाहा। इन्हीं दिनों एक नामी हिंदूके ईसाई होनेकी बात सुनी। गांवमें यह चर्चा थी कि उसे ईसाई धर्ममें प्रवेश कराते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उसकी पोशाक भी बदलवा दी गई और वह भाई क्रिस्तान होनेके बाद, कोट, पतलून और टोप पहनने लगा। ये बातें मुझे चुभीं। मनने कहा कि जिसके लिए गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपना पहनावा बदलना पड़े, वह धर्म कैसे माना जा सकता है? इसके सिवा यह भी सुना कि जो भाई ईसाई हो गये हैं वह अपने पूर्वजोंके धर्मकी, रीति-रिवाज और देशकी निन्दा करने लगे हैं। इन सब बातों से मेरे मनमें ईसाई धर्मके प्रति अरुचि पैदा हो गई।

इस प्रकार मेरे मनमें अन्य धर्मोंके प्रति समभाव तो आया, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वरके प्रति कुछ

आस्था थी। इसी समय पिताजीकी पुस्तकोंमें मुझे मनुस्मृतिका उलथा मिला। उसमें जगतकी उत्पत्ति आदिकी बातें पढ़ीं। उन पर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे कुछ नास्तिकता आई। मेरे दूसरे चाचाके लड़केकी, जो अभी जीवित हैं, बुद्धिपर मुझे विश्वास था। उनसे मैंने अपनी शंकाएं कहीं; पर वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—"बड़े होनेपर तुम स्वयं इन प्रश्नोंको हल कर लोगे। बालकोंको ऐसे प्रश्न न करने चाहिए।" मैं चुप रहा। मनको शांति न हुई। मनुस्मृतिके खाद्याखाद्य तथा अन्य प्रकरणोंमें भी मैंने प्रचलित प्रथाका विरोध पाया। इस शंकाका उत्तर भी लगभग वैसा ही मिला। मैंने यह कहकर मनको समझा लिया कि किसी दिन बुद्धि खुलेगी तब अधिक पढ़ूंगा और समझूंगा।

मनुस्मृतिके पढ़नेसे मुझे उस समय अहिंसाकी शिक्षा तो नहीं ही मिली। मांसाहारकी बात कह चुका हूं। उसे तो मनुस्मृतिका समर्थन मिला। सर्पादि और खटमल आदिका वध नीतियुक्त भी लगा। उस समय धर्म समझकर खटमल आदिके मारनेका मुझे स्मरण है।

पर एक बातने मनमें जड़ जमा ली—यह संसार नीतिपर टिका हुआ है। नीतिमात्रका समावेश सत्यमें है। सत्यकी खोज तो करनी ही है। दिन-दिन सत्यकी महिमा मेरी निगाहमें बढ़ती गई। सत्यकी व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

नीति-विषयक एक छप्पयने भी दिलमें घर कर लिया। अपकारका बदला अपकार नहीं; बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवनसूत्र बन गई। उसने मेरे मनपर राज करना आरंभ कर दिया। अपकारीका भला चाहना और करना, इसका मैं अनुरागी बन गया। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है :

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे।

आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए।
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही।[1]

: ११ :

विलायतकी तैयारी

सन् १८८७ में मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। देशकी और वैसे ही गांधी-कुटुंबकी भी गरीबीका यह हाल था कि अहमदाबाद और बम्बई ये दो परीक्षा-केंद्र होनेपर उस स्थितिका काठियावाड़ी नजदीक और सस्ते अहमदाबादको पसंद करता। मैंने भी यही किया। राजकोटसे अहमदाबादका अकेले किया हुआ यह मेरा पहला सफर था।

बड़ोंकी इच्छा थी कि पास होनेपर कालेजमें जाकर आगे पढ़ूं। कालेज बंबईमें भी था और भावनगरमें भी। भावनगरका खर्च कम था। इसलिए वहांके शामलदास कालेजमें भर्ती होना निश्चित हुआ। वहां मैं कुछ समझ न पाता था, सबकुछ कठिन लगता था। अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें न रस आता था, न वे समझमें आते थे। इसमें दोष अध्यापकोंका नहीं, मेरी कचाईका ही था। उस समयके शामलदास कालेजके अध्यापक तो प्रथम श्रेणीके समझे जाते थे। पहला सत्र (टर्म) पूरा करके घर आया।

कुटुंबके पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहार-

---

[1]**जल प्यावत जो, भला उसे भोजन तो दीजै,**
आय नवावे शीश, दंडवत वाको कीजै।
पाईका उपकार किये, मोहरका करिये,
प्रान उबारै जो, वाके दुःख पहले मरिये।
गुन के बदले दस गुनो, कीजै मन-वच-कर्मसे;
अवगुन करते गुण करे, सोई जीतै जग धर्मसे।

कुशल ब्राह्मण मावजी दवे थे। उन्होंने पिताजीके स्वर्गवासके बाद भी हमारे साथ अपना संबंध बनाये रखा। वह इस छुट्टीमें हमारे यहां आये। माताजी और बड़े भाईसे बातोंके सिलसिलेमें मेरी पढ़ाईके बारेमें पूछताछ की। मैं शामलदास कालेजमें पढ़ रहा हूं यह सुनकर बोले, "जमाना बदल गया। तुम लोगोंमेंसे अगर कोई कबा गांधीकी गद्दी लेना चाहे तो वह बिना पढ़ाईके नहीं मिलने की। यह लड़का अभी पढ़ता है। अत: गद्दी संभालनेका भार इसीपर डालना चाहिए। इसे अभी तो चार-पांच साल बी० ए० होनेमें लगेंगे और इतना वक्त लगाकर भी पचास-साठ रुपयेकी नौकरी मिलेगी, दीवानगिरी नहीं मिलेगी। इसके बाद मेरे लड़के-की तरह वकालत पास कराई जाय तो कुछ साल और लग जायंगे और तबतक तो दीवान-पदके लिए कितने ही वकील भी तैयार मिलेंगे। तुम लोगोंको इसे विलायत भेजना चाहिए। केवलराम (मावजी दवेके लड़केका नाम) कहता है कि वहां पढ़ाई आसान है। तीन बरसमें पढ़कर वापस आ जायगा। खर्च भी चार-पांच हजारसे अधिक न लगेगा। देखो न, वह जो नया बारिस्टर आया है, कैसी शानसे रहता है। वह दीवानगिरी चाहे तो आज पा सकता है। मेरी सलाह तो यह है कि मोहनदासको तुम लोग इसी साल विलायत भेज दो। केवलरामके विलायतमें बहुत-से दोस्त हैं। उनके नाम वह सिफारिशी चिट्ठियां लिख देगा, फिर इसे वहां कोई कठिनाई न होगी।"

जोशीजीने (हम लोग मावजी दवेको इसी नामसे पुकारते थे) इस भावसे मेरी ओर देखकर पूछा, मानों उनकी सलाह मान ली जानेके संबंधमें उन्हें कोई शंका ही न हो।

"क्यों तुम्हें विलायत जाना पसंद है या यहीं पढ़ते रहना?"

मुझे तो जो भाता था सोई बैदने बताया! मैं कालेजकी कठिनाइयोंसे डरा हुआ तो था ही। मैंने कहा, "मुझे विलायत भेजा जाय तो बहुत ही अच्छा है। कालेजमें झट-पट पास होता जाऊं ऐसा तो नहीं दिखाई देता; पर क्या मैं डाक्टरी पढ़ने नहीं

भेजा जा सकता ?"

मेरे भाई बीचमें ही बोल उठे :

"यह तो पिताजीको नहीं रुचता था। जब कभी तुम्हारी बातें करते तो कहा करते थे कि हम वैष्णवोंको हाड़-मांस नोचनेका काम नहीं करना चाहिए। पिताजीका विचार तो तुम्हें वकील बनानेका था।"

जोशीजीने भी इसका समर्थन किया :

"मुझे गांधीजीकी तरह डाक्टरी पेशेसे नफरत नहीं है। हमारे शास्त्रोंने इस पेशेको बुरा नहीं बताया है ; पर डाक्टर बनकर तुम दीवान नहीं बन सकोगे। मुझे तो तुम्हारे लिए दीवानगिरी या इससे भी बड़ा पद चाहिए। तभी तुम्हारे इतने बड़े कुटुंबका निर्वाह हो सकेगा। जमाना दिन-दिन बदलता और कठिन होता जा रहा है। अतः बुद्धिमानी बारिस्टर होनेमें ही है।"

माताजीकी ओर फिरकर बोले, "आज तो मैं जा रहा हूं। मेरी बातोंपर विचार करके देखियेगा। दुबारा आनेपर तैयारीका समाचार सुननेकी आशा रखता हूं। कुछ अड़चन हो तो मुझसे कहियेगा।"

जोशीजी चले गये। मैं हवाई किला बनानेमें लग गया।

बड़े भाई उलझनमें पड़े। पैसेका क्या प्रबंध हो ? फिर मुझ-जैसे नवयुवकको इतनी दूर कैसे भेजा जाय ?

माताजीको कुछ न सूझा। उन्हें वियोगकी बात ही न रुची; पर पहले तो उन्होंने यही कहा, "अपने कुटुंबमें अब तो चाचाजी ही बड़े हैं। अतः सबसे पहले तो उनसे पूछना चाहिए। वह अनुमति दें तो फिर सोचा जायगा।"

बड़े भाईको दूसरी बात सूझी, "पोरबंदर राज्यपर अपना हक है। लेलीसाहब वहां एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे कुटुंबके बारेमें उनका खयाल अच्छा है। चाचाजीपर उनकी खास मेहरबानी है। वह शायद राज्यकी ओरसे तुम्हें थोड़ी-बहुत मदद भी दे दें।"

मुझे यह सारी बात पसंद आई। मैं पोरबंदर जानेको तैयार

हो गया। उस समय रेल नहीं थी, बैलगाड़ीसे जाना था। पांच दिनका रास्ता था। अपने डरपोक होनेकी बात तो कह ही चुका हूं ; पर इस मौकेपर मेरा डरपोकपन चला गया। विलायत जानेकी इच्छा मेरे सिरपर सवार हो गई। मैंने धोराजी-तकके लिए बैलगाड़ी की। धोराजीसे एक दिन पहले पहुंचनेके खयालसे ऊंट किया। ऊंटकी सवारीका यह पहला अनुभव था।

पोरबंदर पहुंचा। चाचाजीको साष्टांग प्रणाम किया। सब बातें सुनाईं। उन्होंने सोचकर जवाब दिया,

"मुझे मालूम नहीं कि विलायत जाकर हम धर्म बचा सकते हैं या नहीं। जो सब बातें सुनता हूं उनसे तो मुझे शंका ही होती है। देखो न, बड़े बारिस्टरोंसे जब मुझे मिलनेका काम पड़ता है तब मैं उनके और साहबोंके रहन-सहनमें कोई फर्क नहीं पाता। उन्हें खाने-पीनेका कोई बराव नहीं होता। सिगार तो मुंहसे छूटता ही नहीं। पहनावा भी देखो तो नंगा। यह सब अपने कुटुंबको फबेगा नहीं; पर मैं तुम्हारे साहसमें विघ्न डालना नहीं चाहता। मैं तो कुछ ही दिनोंमें यात्रार्थ जानेवाला हूं। दुनियामें मुझे अधिक दिन रहना भी नहीं है। किनारेपर पहुंचा हुआ आदमी तुम्हें विलायत जानेकी, समुद्रपार करनेकी, इजाजत कैसे दे ? पर मैं बाधक न बनूंगा। असली इजाजत तो तुम्हारी मांकी है। उनकी अनुमति मिल जाय तो तुम खुशी से जाओ। कह देना कि मैं तुम्हें रोकता नहीं। मेरा आशीर्वाद तो तुम्हें प्राप्त ही है।"

मैंने कहा, "इससे अधिककी आशा मैं आपसे नहीं रख सकता। मुझे अब अपनी मां को राजी करना है; पर लेलीसाहबके लिए, सिफारिशी खत तो देंगे न ?"

चाचाजी बोले, "यह मुझसे कैसे हो सकता है ? पर साहब भले आदमी हैं। तुम पत्र लिखो। कुटुंब का परिचय देने पर वह अवश्य तुम्हें मिलनेका समय देंगे और उन्हें बात जंच गई तो मदद भी करेंगे।" मुझे खयाल नहीं कि चाचाने साहबको सिफारिशी पत्र क्यों नहीं दिया। कुछ अस्पष्ट-सा स्मरण है कि विलायत जानेके

धर्मविरुद्ध कार्यमें ऐसी सीधी मदद देते उन्हें संकोच हुआ।

मैंने लेलीसाहबको पत्र लिखा। उन्होंने अपने बंगलेपर मिलनेको बुलाया। बंगलेकी सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते ही साहब मुझे मिले और 'तुम बी० ए० हो लो, फिर मुझसे मिलना। अभी कोई मदद नहीं दी जा सकती।'—इतना ही कहकर ऊपर चले गये। मैं खूब तैयारी करके, बहुतेरे वाक्य रटकर गया था। झुक-कर दोनों हाथोंसे सलाम किया था; पर मेरी सारी मेहनत अकारथ गई!

मेरी नजर स्त्रीके गहनोंपर गई। बड़े भाईपर मुझे अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारताकी सीमा न थी। उनका प्रेम पिताके तुल्य था।

मैं पोरबंदरसे बिदा हुआ। राजकोट आकर सारी कथा सुना दी। जोशीजीसे मशविरा किया। उन्होंने कर्ज करके भी मेरे भेजनेकी सलाह दी? मैंने अपनी स्त्रीके हिस्से के जेवर बेच डालने की बात सामने रखी। उनके दो-तीन हजार रुपयेसे अधिक नहीं उठ सकते थे। भाईने जैसे भी हो, रुपये जुटा देनेका बीड़ा उठाया।

माताको तसल्ली कैसे हो? उसने सब तरहसे जांच शुरू की। कोई कहता, युवक विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं। कोई कहता, मांस खाते हैं। कोई कहता, वहां शराबके बिना काम ही नहीं चलता। माताने यह सब मुझे सुनाया। मैंने कहा, "पर तू मेरा विश्वास नहीं करती? मैं तुझसे विश्वासघात नहीं करूंगा। कसम खाकर कहता हूं कि इन तीनों चीजोंसे बचूंगा। ऐसी जोखिम होती तो जोशीजी भला कैसे जानेको कहते?"

मां बोली, "मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देशमें कैसे क्या होगा? मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूंगी।" बेचरजी स्वामी पहले मोढ बनिये थे, फिर जैन साधु हो गए थे। जोशीजीकी भांति सलाहकार भी थे। उन्होंने मेरी मदद की। कहा, "मैं इस लड़केसे इन तीनों चीजोंके बारेमें प्रतिज्ञा कराऊंगा, फिर उसे जाने देनेमें हर्ज न होगा।" उन्होंने प्रतिज्ञा

करवाई। मैंने मांस, मदिरा और स्त्री-संगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा की। माताने जानेकी अनुमति दे दी।

हाईस्कूलमें सभा हुई। राजकोटके एक युवक का विलायत जाना आश्चर्यजनक समझा गया। जवाबमें मैं कुछ लिखकर ले गया था। वह जवाब भी मैं कठिनाईसे पढ़ सका। इतना याद है कि सिर चकरा रहा था, बदन कांप रहा था।

बड़ोंका आशीर्वाद लेकर बंबईके लिए रवाना हुआ। बंबई-की यह पहली यात्रा थी। बड़े भाई साथ आये।

पर अच्छे कामोंमें सौ विघ्न पड़ते हैं। बंबई बंदरसे झट छुटकारा मिलनेवाला नहीं था।

: १२ :

बिरादरीसे बाहर

माताकी अनुज्ञा और आशीर्वाद लेकर और कुछ महीनोंका बच्चा स्त्रीकी गोदमें छोड़कर मैं बड़ी उमंगोंके साथ बंबई पहुंचा। पहुंचा तो जरूर, पर वहां मित्रोंने भाईसे कहा कि जून-जुलाईमें हिंदमहासागरमें तूफान उठते रहते हैं और इसकी यह पहली ही समुद्र-यात्रा है। इसलिए दिवाली बाद अर्थात् नवंबरमें भेजना चाहिए। किसीने तूफान में किसी जहाजके डूब जानेकी बात भी कही। इससे बड़े भाई चिंतित हुए। उन्होंने इस प्रकार जोखिम लेकर मुझे तुरंत भेजनेसे इन्कार किया और मुझे बंबईके मित्रके यहां छोड़कर खुद वापस अपनी नौकरीपर राजकोट लौट गये। एक बहनोईके यहां रुपये रख गये और अनेक मित्रोंसे मेरी मदद करनेकी सिफारिश करते गये।

बंबईमें मेरे दिन कटना कठिन हो गया। मुझे विलायतके ही सपने आया करते।

इसी बीच बिरादरीमें खलबली मची। पंचायत बुलाई गई। कोई मोढ बनिया अबतक विलायत नहीं गया था और मैं जा रहा

हूं तो मुझसे जवाबतलब होना ही चाहिए। मुझे पंचायतमें हाजिर होनेका हुक्म हुआ। मैं गया। मुझे पता नहीं कि मुझमें कहांसे यकायक हिम्मत आ गई। मुझे हाजिर होनेमें न हिचक हुई, न डर लगा। बिरादरीके सरपंचसे दूरकी कोई रिश्तेदारी भी थी। पिताजीके साथ उनके संबंध अच्छे थे। उन्होंने मुझसे कहा,

"बिरादरी समझती है कि तुम्हारा विलायत जानेका विचार ठीक नहीं है। हमारे धर्ममें समुद्र-यात्राकी मनाही है। फिर, हम यह भी सुनते हैं कि विलायतमें धर्मकी रक्षा नहीं हो सकती। वहां साहबोंके साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने उत्तर दिया, "मुझे तो ऐसा लगता है कि विलायत जाने में तनिक भी अधर्म नहीं है। मुझे तो वहां जाकर विद्याभ्यास ही करना है। फिर, जिन चीजोंका आपको डर है उनसे दूर रहनेकी मैं अपनी माताके सामने प्रतिज्ञा कर चुका हूं। अतः उनसे मैं दूर रह सकूंगा।"

मुखियाजी बोले, "पर हम तुमसे कहते हैं कि वहां धर्म नहीं बच सकता। तुम जानते हो कि तुम्हारे पिताजी के साथ मेरा कैसा संबंध था। तुम्हें हमारा कहना मानना चाहिए।"

मैंने उत्तरमें कहा, "पिताजीके साथ आपके संबंधका मुझे पता है। आप मेरे लिए बड़े हैं, पर इस मामलेमें मैं लाचार हूं। विलायत जानेका निश्चय मैं नहीं पलट सकता। पिताजीके मित्र और सलाहकार, जो विद्वान् ब्राह्मण हैं, मानते हैं कि मेरे विलायत जानेमें कोई दोष नहीं है। माताजी और भाई साहबकी अनुमति भी मुझे मिल चुकी है।"

"पर बिरादरीका हुक्म तुम न मानोगे?"

"मैं लाचार हूं। मेरा खयाल है कि इस मामलेमें बिरादरीको दखल नहीं देना चाहिए।"

इस जवाबसे मुखियाको गुस्सा आ गया। मुझे दो-चार खरी-खोटी सुना दीं। मैं शांत बैठा रहा। मुखियाने हुक्म दिया,

"यह लड़का आजसे बिरादरीसे बाहर माना जायगा। जो

कोई इसे मदद देगा या बिदा करने जायगा, बिरादरी उससे जवाब तलब करेगी और उसपर सवा रुपया जुर्माना होगा।"

मुझपर इस निश्चयका कोई असर न हुआ। मैंने मुखिया महाशयसे बिदा ली। अब देखना यह था कि भाईसाहबपर इस फैसलेका क्या असर होता है। वह डर गये तो? सौभाग्यवश वह दृढ़ रहे और मुझे लिख भेजा कि बिरादरीके विचारके उपरांत भी में तुम्हें विलायत जानेसे न रोकूंगा।

इस घटनाके बाद मैं अधिक अधीर हो गया। भाईसाहबपर दबाव डाला गया तो? और कोई विघ्न आ पड़ा तो? इन चिंताओंमें दिन गुजर रहा था कि इतने में पता लगा कि चौथी सितबरको रवाना होनेवाले जहाजमें जूनागढ़के एक वकील बारिस्टरी पास करनेके लिए विलायत जानेवाले हैं। जिन मित्रोंसे भाईसाहबने मेरे लिए सिफारिश की थी उनसे मिला। उनकी भी यह सलाह हुई कि यह साथ छोड़ना न चाहिए। समय बहुत थोड़ा था। भाईसाहब को तार दिया, जानेकी इजाजत मांगी। उन्होंने दे दी। मैंने बहनोईसे रुपये मांगे। उन्होंने बिरादरीके हुक्मकी बात कही। वह जातिबहिष्कारकी जोखिम उठाते डरते थे। मैं कुटुंबके एक मित्रके यहां पहुंचा और प्रार्थना की कि आप किराये आदिके लिए आवश्यक रुपये दे दें, पीछे भाईसाहबसे ले लीजियेगा। इन मित्रने प्रार्थना स्वीकार कर ली। इतना ही नहीं, मुझे हिम्मत भी दिलाई। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया, रुपये लिये और टिकट कटाया।

विलायतकी यात्राका सब सामान तैयार कराना था। एक दूसरे अनुभवी मित्र थे, उन्होंने सामान तैयार कराया। मुझे सब विचित्र लगा। कुछ रुचा, कुछ बिलकुल न रुचा। नेकटाई तो, जिसे बादको मैं शौकसे पहनने लगा था, तनिक भी न रुचती थी। अधकटी जाकेट नंगी पोशाक लगी, पर विलायत जानेकी शौकके सामने इस अरुचिका कोई महत्त्व न था। राहमें खानेका यथेष्ट सामान भी साथ रख लिया था।

मेरे लिए जगह भी मित्रोंने त्र्यंबकराय मजूमदार (उपर्युक्त जूनागढ़वाले वकील) के कमरेमें ही ठीक की थी। उनसे मेरे बारे-में सिफारिश भी की। वह प्रौढ़ अवस्थाके अनुभवी गृहस्थ थे। मैं अठारह सालका, दुनियाके अनुभवोंसे शून्य युवक था। मजूमदारने मित्रोंसे मेरे बारेमें बेफिक्र रहनेको कहा।

इस प्रकार मैंने सन् १८८८ की ४थी सितम्बरको बंबई बंदर छोड़ा।

: १३ :

विलायत पहुंच ही गया

मुझे जहाजपर समुद्र-यात्रामें होनेवाला कष्ट तो तनिक भी न हुआ ; पर ज्यों-ज्यों दिन बीतते थे मैं ज्यादा परेशान होता जा रहा था। 'स्टुअर्ट'[१] से बोलते झेंप लगती थी। अंग्रेजीमें बात करनेकी मुझे आदत ही न थी। मजूमदारके सिवा अन्य सभी यात्री अंग्रेज थे। उनसे बातें करते न बनता। वे मुझसे बोलनेकी कोशिश करते तो मैं समझ ही न पाता था, और समझ भी लेता तो जवाब क्या दूं, यह न सूझता था। प्रत्येक वाक्य बोलनेसे पहले मनमें जोड़ना पड़ता था। कांटे-चम्मचसे खाना न आता था और कौन-सी वस्तु बिना मांसकी होती है यह पूछनेकी हिम्मत न होती थी। इसलिए मैं खानेकी मेजपर तो कभी गया ही नहीं। अपनी कोठरीमें ही खाता था। मेरे साथ जो मिठाइयां आदि थीं, ज्यादा-तर उन्हींपर गुजर किया। मजूमदारको तो कोई झिझक न थी। वह तो सबके साथ हिलमिल गये थे। डेकपर भी आजादी से जाते थे। मैं तो सारा दिन कोठरीमें ही पड़ा रहता। कभी डेकपर आदमी कम रहे तो थोड़ी देर वहां बैठ आता। मजूमदार मुझे सबसे हिलने-मिलनेको, आजादीसे बातें करनेको, समझाते।

---

[१] जहाजके मुसाफिरोंका चाकर।

यह भी कहते कि वकीलकी जीभ 'चरपर' होनी चाहिए। अपनी वकालतके अनुभव सुनाते। कहते कि अंग्रेजी हमारी भाषा न होनेके कारण उसमें भूल तो होगी ही, फिर भी डटकर बोलते जाना चाहिए। पर मेरी भीरुता जाती न थी।

मुझपर दया करके एक भले अंग्रेजने मुझसे बातें करना आरंभ किया। वह पक्की उम्रके थे। मैं क्या खाता हूं, कौन हूं, कहां जाता हूं, क्यों किसीसे बातचीत नहीं करता, इत्यादि पूछा। मुझे खानेकी मेजपर जानेकी सलाह दी। मांस न खानेके मेरे आग्रहकी बात सुनकर वह हंसे और मुझपर तरस खाकर बोले, "यहांतक तो (सईदबंदर पहुंचनेके पहले) ठीक ही है, पर बिस्केकी खाड़ीमें पहुंचनेपर तुम अपने विचार बदल डालोगे। इंगलैंड में तो ऐसी ठंड पड़ती है कि मांस खाये बिना चलता ही नहीं।"

मैंने कहा, "मैंने सुना है कि वहां लोग बिना मांसाहारके रह सकते हैं।"

वह बोले, "इसे गलत समझो। अपने परिचितोंमें मैं एक आदमीको भी नहीं जानता जो मांसाहार न करता हो। देखो, मैं शराब पीता हूं, पर तुमसे शराब पीनेको नहीं कहता; किंतु मैं समझता हूं कि मांस तो तुम्हें खाना ही चाहिए।"

मैंने कहा, "आपकी सम्मतिके लिए धन्यवाद देता हूं; पर मांस न खानेकी मैं अपनी मातासे प्रतिज्ञा कर चुका हूं। इसलिए नहीं खा सकता। यदि उसके बिना निर्वाह हो ही नहीं सकता तो मैं हिंदुस्तान लौट जाऊंगा; पर मांस तो नहीं ही खाऊंगा।"

बिस्केकी खाड़ी आई। पर वहां भी मुझे तो न मांसकी जरूरत जान पड़ी, न मदिराकी। मुझको मांस न खानेके प्रमाणपत्र इकट्ठे करनेकी सलाह दी गई थी। अतः इस अंग्रेज दोस्तसे मैंने प्रमाण-पत्र मांगा। उसने प्रसन्नतापूर्वक दिया। उसे मैंने कुछ कालतक धनकी भांति संभालकर रखा। पीछे यह मालूम होनेपर कि प्रमाण-पत्र तो मांस खाते हुए भी लिये जा सकते हैं, उसपर मेरा मोह नष्ट हो गया। यदि मेरे शब्दोंपर विश्वास न किया जाय

तो ऐसे विषयमें प्रमाण-पत्र पेश करनेसे मुझे क्या लाभ हो सकता है ?

दु:ख-सुख सहते यात्रा पूरी करके हम साउदेम्पटन बंदरपर आ पहुंचे। मुझे याद है कि वह शनिवार था। मैं स्टीमरपर काले कपड़े पहनता था। मित्रोंने मेरे लिए एक सफेद फलालैनका सूट—कोट-पतलून—भी बनवा दिया था। मैंने विलायतमें उतरनेपर उसे पहननेका निश्चय कर रखा था, इस खयालसे कि सफेद कपड़े अच्छे लगेंगे! मैं यह फलालैनका सूट पहनकर उतरा। अखीर सितंबर के दिन थे। ऐसे कपड़ोंमें मैंने अकेले अपनेको ही पाया। मेरे बक्स और उनकी कुंजियां तो ग्रिंडले कंपनीका एजेंट ले गया था। सब जैसा करें वैसा मुझे भी करना चाहिए, यह सोचकर मैंने तो अपनी कुंजियां भी उसे देदी थीं।

मेरे पास चार सिफारिशी पत्र थे। डाक्टर प्राणजीवन मेहता, दलपतराय शुक्ल, प्रिंस रणजीतसिंह और दादाभाई नौरोजीके नाम। मैंने डाक्टर मेहताको साउदेम्पटनसे तार दिया। जहाजमें किसीने विक्टोरिया होटलमें उतरनेकी सलाह दी थी। तदनुसार मैं और मजूमदार उस होटलमें गये। मैं तो अपने सफेद कपड़ोंकी शर्मसे ही दबा जा रहा था। होटलमें पहुंचनेपर जब यह मालूम हुआ कि कल रविवार होनेकी बजहसे सोमवार तक ग्रिंडलेके यहांसे सामान न आयेगा तो मैं परेशान हो उठा।

सात-आठ बजेके लगभग डाक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेम-पूर्ण विनोद किया। मैंने अनजाने उनकी रेशमी रोयेंदार टोपी देखनेको उठा ली और उसपर उलटा हाथ फेर दिया। इससे टोपी के रोंये सीधे हो गये। डाक्टर मेहताने देखा। तुरंत मुझे रोका, पर अपराध तो हो चुका था। उनके रोकनेका इतना ही नतीजा हुआ कि फिर कभी वह न हो।

यहींसे यूरोपीय रीति-रिवाजकी मेरी शिक्षाका श्रीगणेश समझना चाहिए। डाक्टर मेहता हँसते-हँसते बहुत-सी बातें समझाते जाते थे—किसीकी चीज नहीं छूनी चाहिए; किसीसे

जान-पहचान होनेपर हिंदुस्तानमें योंही जो सवाल किये जा सकते हैं वैसे यहां नहीं किये जा सकते ; बातें करते हुए जोरसे नहीं बोला जाता ; हिंदुस्तानमें अंग्रेजोंसे बातें करते हुए 'सर' कहनेका जो रिवाज है वह अनावश्यक है ; 'सर' तो नौकर अपने मालिकको या अपनेसे बड़े अधिकारी को कहता है। फिर उन्होंने होटलमें रहनेके खर्चपर भी बातें कीं और कहा कि किसी निजी कुटुंबमें रहना ठीक होगा। इस विषयमें अधिक विचार सोमवारतक स्थगित रहा। कितनी ही सलाहें देकर डाक्टर मेहता विदा हुए।

होटलमें तो हम दोनोंको यही जान पड़ा कि हम बुरी जगह आ फंसे। वह महंगा भी था। माल्टासे एक सिंधी सज्जन भी जहाजपर सवार हुए थे, उनसे मजूमदारकी अच्छी पट गई थी। यह सिंधी सज्जन लंदनके अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे किराएपर ले देनेका भार उठाया। हमने स्वीकृति दी और सोमवारको सामान मिलते ही बिल चुकाकर उक्त सिंधी भाईके ठीक किये हुए कमरोंमें चले गये। मुझे याद है कि मेरे हिस्सेका होटलका बिल तीन पौंडके लगभग हुआ था। मैं तो देखकर भौंचक रह गया। तीन पौंड चुकाकर भी भूखा रहा। होटलका कोई खाना न रुचा। एक चीज ली, नहीं रुची, दूसरी ली। पर पैसे तो दोनोंके ही चुकाने चाहिए। कह सकता हूं कि अभी बंबईसे लाये हुए खानेके सामानपर ही मेरे दिन कट रहे थे।

इस कमरेमें भी मैं तो बहुत परेशान-हाल रहा। देश बहुत याद आता था। माताका प्रेम आंखोंके सामने नाचा करता। रात हुई कि रोना शुरू हुआ। घरकी अनेक प्रकारकी स्मृतियोंकी चढ़ाईके कारण नींद कहांसे आ पाती ? यह दु:ख-गाथा किसीसे कह भी न सकता था। कहनेसे फायदा भी क्या था ? मैं स्वयं नहीं जानता था कि क्या करनेसे मेरा चित्त शांत होगा। मनुष्य विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर भी विचित्र। घरोंमें रहनेकी रीति-नीति भी वैसी ही विचित्र। क्या बोलने और क्या करनेमें यहांके शिष्टाचारका भंग होता है, इसका भी बहुत कम पता था। तिसपरसे

खाने-पीनेका बराव-बचाव । जो चीजें खा सकता वे रूखी और नीरस लगती थीं। इससे मेरी दशा सरौतेमें सुपारी-की-सी हो गई। विलायत रुच नहीं रहा था और देशको लौटा नहीं जा सकता ! विलायत आया था तो तीन साल पूरे करने ही थे।

: १४ :

मेरी पसंद

डाक्टर मेहता सोमवारको मुझसे मिलने विक्टोरिया होटल गये। वहांसे हम लोगोंका पता लेकर नये ठिकानेपर पहुंचे।

जहाजपर मूर्खतावश मैंने दादका रोग लगा लिया। वहां खारे पानीमें नहाना पड़ता। उसमें साबुन घुलता नहीं और इधर मैंने साबुन लगानेमें सभ्यता मान रखी थी। नतीजा यह हुआ कि शरीर साफ होनेके बदले और चीकट होता गया। इससे दाद-की शिकायत हो गई। डाक्टर मेहताको दिखाया। उन्होंने मुझे जला देनेवाली दवा 'एसेटिक एसिड' दी। इस दवाने मुझे खूब रुलाया।

डाक्टर मेहताने हमारा कमरा वगैरह देखा और गर्दन हिलाई "यहां नहीं चल सकता। इस देशमें आकर पढ़नेके बजाय यहांके जीवनका अनुभव प्राप्त करना ही अधिक आवश्यक है। इसके लिए किसी कुटुंबमें रहनेकी जरूरत है। पर फिलहाल तो तुम कुछ गढ़े-बनाए जाओ, इसके लिए——के यहां तुम्हारे रहनेकी बात सोची है। वहां तुम्हें ले चलूंगा।"

मैंने उनकी सूचना धन्यवादपूर्वक स्वीकार की। उन मित्रके यहां गया। उनकी ओरसे मेरी खातिरमें कोई कसर नहीं थी। उन्होंने मुझे अपने छोटे भाईकी तरह रखा, अंग्रेजी रीति-रिवाज सिखलाये। यह कह सकता हूं कि अंग्रेजी थोड़ी बोल लेनेकी आदत उन्होंने ही डलवाई।

मेरे भोजनका प्रश्न बहुत टेढ़ा हो गया। बिना नमक-मसालों-की तरकारियां नहीं रुचती थीं। घरकी मालकिन बेचारी मेरे लिए और क्या बनाती? सवेरे तो जईके आटेकी लपसी बनाती, इसलिए थोड़ा पेट भर जाता, पर दोपहर और शामको सदा भूखा रहता। मित्र मांसाहार करनेको नित्य समझाते थे। मैं प्रतिज्ञाकी बाधा बताकर चुप हो रहता था। उनकी दलीलोंका जवाब देना कठिन था। दोपहरको केवल रोटी, साग और मुरब्बेपर गुजर करता। शामको भी यही खुराक थी। रोटीके तो दो-तीन टुकड़े ही लेता था, अधिक मांगते शर्म लगती थी। मुझे डटकर खानेकी आदत थी। भूख तेज लगती थी और ज्यादा मांगती थी। दोपहर या शामको दूधका तो काम ही क्या? मेरी यह दशा देखकर मित्र एक दिन चिढ़कर बोले, "अगर तुम मेरे मां-जाए भाई होते तो मैं अवश्य तुम्हें वापस भेज देता। निरक्षर मातासे, यहांकी परिस्थिति जाने बिना, की हुई प्रतिज्ञाकी भी कोई कीमत है! इसे प्रतिज्ञा कह ही नहीं सकते। मै तुमसे कहता हूं कि कानून इसे प्रतिज्ञा नहीं मान सकता। ऐसी प्रतिज्ञाका आग्रह तो केवल एक वहम है। और ऐसे वहमसे चिपटे रहकर तुम इस मुल्कसे अपने देशको कुछ भी न ले जा सकोगे। तुम तो कहते हो कि तुमने मांस खाया है। तुम्हें वह रुचा भी था। जहां खानेकी कोई आवश्यकता न थी वहां तो खाया और जहां खानेकी खासतौरसे जरूरत है वहां त्याग! कैसी विचित्र बात है!"

मैं टस-से-मस न हुआ।

ऐसी दलीलें रोज होतीं। सौ रोगोंकी एक दवा 'नाहीं' मेरे पास थी। मित्र मुझे जितना समझाते, मेरी दृढ़ता उतनी ही बढ़ती जाती थी। नित्य ईश्वरसे रक्षाकी प्रार्थना करता और वह पूरी होती। ईश्वर कौन है, यह मैं नहीं जानता था; पर उस रंभा-की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्रने मेरे सामने बेंथमकी पुस्तक पढ़ना आरम्भ किया। उपयोगितावादका विषय पढ़ने लगे। मैं घबराया। भाषा

ऊंची थी, मैं बड़ी कठिनतासे समझता था। उन्होंने उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया,

"मैं क्षमा चाहता हूं। ऐसी बारीक बातें मेरी समझमें नहीं आतीं। मांस खानेकी उपयोगिता मैं स्वीकार करता हूं पर अपनी प्रतिज्ञाका बंधन मैं नहीं तोड़ सकता। इसके बारेमें बहस-दलील मै नहीं कर सकता। मैं जानता हूं कि तर्कमें मैं आपको नहीं जीत सकता। पर मुझे मूर्ख या हठी मानकर इस बारेमें क्षमा कीजिए। मैं आपके प्रेमका कायल हूं। आपका उद्देश्य समझता हूं। आपको मैं अपना परम हितेच्छु मानता हूं। यह भी देखता हूं कि आपको दु:ख होता है, इससे आप मुझसे इतना आग्रह करते हैं। पर मैं लाचार हूं। प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।"

मित्र देखते रह गये। उन्होंने किताब बंद कर दी। "बस, अब मै दलील न करूंगा।" कहकर चुप हो रहे। मै खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने तर्क करना त्याग दिया।

पर मेरे विषयमें उनकी चिंता न गई। वह सिगरेट पीते थे, शराब पीते थे। इनमेंसे एकके लिए भी मुझे कभी न कहा। उलटे उनसे बचनेको ही कहते। उन्हें चिंता यही थी कि मांसाहार के बिना मै कमजोर हो जाऊंगा और इंगलैंडमें आजादीसे न रह सकूंगा।

यों एक महीना मैं नौसिखुआ बनकर रहा। उक्त मित्रका घर रिचमंडमें था। अत: लंदन जाना हफ्तेमें एक-दो बार ही होता था। अब मुझे डाक्टर मेहता तथा भाई दलपतरामने किसी कुटुंब-के साथ रखनेका विचार किया। भाई शुक्लने वेस्ट केंसिंगटनमें एक ऐंग्लो इंडियनका घर तलाशकर मुझे वहां टिकाया। घरकी मालिकिन विधवा थी। उसे अपने मांस-त्यागकी बात बताई। बुढ़ियाने मेरी देखरेख करना स्वीकार किया। मैं वहां रहा। यहां भी भूखा रहना पड़ता। घरसे मंगाई हुई मिठाई आदि अभी आई नहीं थी। यहांका सब खाना बेमजा लगता था। बुढ़िया सदा पूछती, पर वह करती क्या? दूसरे मैं अब भी शर्मीला तो उतना

ही था। इसलिए अधिक मांगते सकुचाता था। बुढ़ियाके दो लड़कियां थीं। वे आग्रह करके थोड़ी रोटी अधिक दे देती थीं, पर उन बेचारियोंको क्या मालूम कि उनकी सारी रोटियां मैं खा जाऊं तब कहीं मेरा पेट भरे!

पर अब मेरे पैर जमने लगे थे। अभी पढ़ाई तो आरंभ हुई न थी। ज्यों-त्यों अखबार बांचने लगा था। यह भाई शुक्लका प्रताप था। हिन्दुस्तानमें मैंने कभी अखबार नहीं पढ़ा था; पर सदा पढ़ते रहनेके अभ्यासके कारण उन्हें पढ़नेका शौक पैदा कर सका। 'डेली न्यूज', 'डेली टेलीग्राफ' और 'पेलमेल गजट' पत्रोंपर नजर डाल लेता। पर इसमें तो पहले मुश्किलसे घंटाभर लगता रहा होगा।

मैंने अब घूमाई शुरू की। मुझे निरामिष अर्थात् अन्नाहारी होटल तलाश करना था। घरकी मालकिनने भी बतलाया था कि लंदनमें ऐसे भोजनगृह हैं। मैं रोज दस-बारह मीलका चक्कर लगाता। किसी साधारण भोजनालयमें जाकर पेटभर रोटी खा लिया करता था; पर तृप्ति न होती थी। यों भटकते-भटकते मैं एक दिन फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुंचा और 'वेजिटेरियन रेस्तरां' (अन्नाहारी होटल) का साइनबोर्ड पढ़ा। मनचाही वस्तु पाकर बच्चेको जो खुशी होती है वही मुझे हुई। खुशीसे भरा मैं अंदर घुसने ही को था कि दरवाजेके पास लगी शीशेकी अलमारीमें बिकाऊ पुस्तकोंपर निगाह पड़ी। उनमें मुझे साल्टकी 'अन्नाहारकी हिमायत' Plea for vegetarianism नामक पुस्तक दिखाई दी। एक शिलिंग देकर खरीदी। फिर खाने बैठा। विलायत आनेके बाद आज पहली बार यहीं पेटभर भोजन मिला। ईश्वरने मेरी भूख मिटाई।

साल्टकी किताब पढ़ी। मुझपर उसका अच्छा असर पड़ा। यह पुस्तक पढ़नेके बाद मैं स्वेच्छासे अर्थात् विचारपूर्वक अन्नाहारका कायल हुआ। मातासे की हुई प्रतिज्ञा अब मेरे लिए विशेष आनंददायक हो गई, और जैसे अबतक यह मानता था कि सब मांसाहारी हो जायं तो अच्छा है, और पहले केवल सत्यकी और

पीछे प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए ही मांस त्याग कर रखा था, तथा 'आगे चलकर किसी दिन स्वयं स्वतंत्रतासे खुल्लमखुल्ला मांस खाकर दूसरोंको' मांस-पार्टीमें मिलानेका हौसला रखता था, वैसे ही अब स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरोंको भी वैसा बनानेका लोभ उत्पन्न हुआ।

: १५ :

'सभ्य' वेशमें

अन्नाहारपर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती गई। साल्टकी किताबसे आहारके विषयमें पढ़नेकी भूख तेज हो गई। जितनी पुस्तकें मिलीं, खरीदकर पढ़ डालीं। उनमें हावर्ड विलियम्सकी 'आहारनीति' (The Ethics of Diet) नामकी पुस्तकमें विभिन्न युगोंके ज्ञानियों, अवतारों और पैगंबरोंके आहार और आहार-विषयक विचारोंका वर्णन मिला। पाइथागोरस, ईसा इत्यादिको उसने केवल अन्नाहार करनेवाला सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। डाक्टर श्रीमती अना किंग्सफर्डकी 'उतम आहारकी रीति' (The perfect way in Diet) नामक पुस्तक भी आकर्षक थी। इसके सिवा डाक्टर एलिन्सनके आरोग्य-विषयक लेखोंसे भी अच्छी मदद मिली। वह दवाके बजाय केवल भोजनके फेरफारसे ही रोगीको चंगा करनेकी पद्धतिका समर्थन करते हैं। डाक्टर एलिन्सन स्वयं अन्नाहारी थे और रोगियोंके लिए केवल अन्नाहारकी ही सलाह देते थे। इन सारी पुस्तकोंके पढ़नेका परिणाम यह हुआ कि मेरे जीवनमें भोजनके प्रयोगोंने महत्त्वपूर्ण स्थान ले लिया। उन प्रयोगोंमें पहले आरोग्य-दृष्टिकी प्रधानता थी, बादको धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि हो गई।

मेरे बारेमें उपर्युक्त मित्रकी चिंता अबतक दूर नहीं हुई थी। उन्होंने प्रेमके वश यह मान लिया था कि मांसाहार न करनेसे मैं कमजोर हो जाऊंगा। इतना ही नहीं, बल्कि 'भोंदू' रह जाऊंगा;

क्योंकि मांसाहार न करनेसे अंग्रेज समाजमें हिल-मिल न सकूंगा। मेरे अन्नाहार-विषयक पुस्तकें पढ़नेका उनको पता था। उन्हें शंका हुई कि इस तरहकी पुस्तकें पढ़कर मैं सनक जाऊंगा, प्रयोगोंमें ही मेरा जन्म जायगा, जो कुछ करना है उसे भूल जाऊंगा और पढ़ा-लिखा मूर्ख बना रहूंगा। अत: उन्होंने मेरे सुधारका एक अंतिम प्रयत्न किया। मुझे अपने साथ थियेटर चलनेका न्यौता दिया। वहां जानेके पहले मुझे उनके साथ हाबर्न होटलमें भोजन करना था। यह होटल मेरी नजरोंमें महल था। ऐसे होटलमें जानेका, विक्टोरिया होटल छोड़नेके बाद, यह पहला ही मौका था। विक्टोरिया होटलका अनुभव बेकार था; क्योंकि यह मान लिया जा सकता है कि वहां मै अचेत था। सैकड़ोंके बीचमें हम दो मित्र एक मेजपर बैठे। मित्रने पहला परोसा मंगाया। वह 'सूप' (शोरबा) था। मैं उलझनमें पड़ गया। मित्रसे क्या पूछता ? परोसनेवालेको पास बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर मुझसे पूछा, "क्या बात है ?"

मैंने धीरे-से संकोचसहित कहा, "मैं जानना चाहता हूं कि इसमें मांस तो नहीं है ?"

"यह जंगलीपन इस होटलमें नहीं चल सकता। यदि अब भी तुम्हें यह किचकिच करनी है तो तुम बाहर जाकर किसी छोटे-मोटे होटलमें खा लो और वहीं मेरी बाट जोहना।"

मुझे इस प्रस्तावसे प्रसन्नता हुई। उठकर दूसरे होटलकी खोजमें निकला। पास ही एक अन्नाहारी भोजनगृह था, पर उस समय वह बंद हो चुका था। समझमें न आया कि अब क्या करूं। मैं भूखा रहा। हम थियेटर गये। मित्रने इस घटनाके बारेमें एक शब्द भी न कहा। मेरे लिए तो कहनेको था ही क्या !

पर हम लोगोंके बीच यह अंतिम प्रेम-युद्ध था। हमारा संबंध नहीं टूटा, न उसमें कटुता आई। उनके सारे प्रयत्नोंकी जड़में जो प्रेम-भाव था उसे मैं समझ रहा था। इससे आचार और विचारमें विभिन्नता होते हुए भी उनके लिए मेरे मनमें

आदर बढ़ा ।

मुझे उनका भय दूर कर देना जरूरी मालूम हुआ । मैंने निश्चय किया कि जंगली नहीं रहूंगा, सभ्योंके तौर-तरीके सीखूंगा और दूसरी तरहसे समाजमें सम्मिलित होने योग्य बनकर अपनी अन्नाहारकी विचित्रतापर पर्दा डालूंगा ।

मैंने 'सभ्यता' सीखनेका अपने सामर्थ्यसे बाहरका और छिछला रास्ता पकड़ा ।

विलायती होते हुए भी बंबई काटके कपड़ोंके उच्च अंग्रेज समाजमें न फबनेके खयालसे मैंने 'आर्मी और नेवी' स्टोरमें कपड़े बनवाये । उन्नीस शिलिंगकी (यह कीमत उस जमानेमें तो बड़ी ही समझी जाती थी) 'चिम्नी' हैट (टोपी) ली । इतनेसे संतोष न होनेपर बांड स्ट्रीट-में, जहां शौकीनोंके कपड़े सिलते थे, दस पौंडको दियासलाई दिखलाकर शामको पहननेका सूट बनवाया । सीधे और बादशाही दिलवाले बड़े भाईसे दो जेबोंमें लटकाई जानेवाली असली सोनेकी चैन मंगवाई और वह आई भी । तैयार बंधी हुई टाईका लगाना शिष्टतासूचक नहीं था । अतः मैंने टाई बांधनेकी कला सीखी । देशमें तो आईना हजामतके दिन ही देखनेका काम पड़ता था । पर यहां तो बड़े शीशेके सामने खड़े होकर टाई ठीक बांधने, बालोंकी ठीक पटियां पारने और मांग काढ़नेमें रोज कोई दस मिनट तो नष्ट हो ही जाते थे । मेरे बाल मुलायम नहीं थे इसलिए उन्हें ठीक घुमा रखनेके लिए ब्रुशके साथ नित्य लड़ाई होती । टोपी पहनते और उतारते समय हाथ तो मानों मांग संवारनेको सिरपर पहुंचा ही रहता । इसके सिवा जब समाजमें बैठता तो हाथोंसे मांग संवारते हुए बालोंको ठीक-ठिकाने रखनेकी सभ्य क्रिया चलती ही रहती थी ।

पर इतनी टीम-टाम ही बस न थी । अकेली सभ्य पोशाकसे थोड़े ही सभ्य बना जा सकता है ? सभ्यताके अन्य कई बाह्य लक्षण भी जान और सीख लिये थे । सभ्य पुरुषको नाचना जानना चाहिए । उसे फ्रेंच अच्छी आनी चाहिए, क्योंकि फ्रेंच इंगलैंडके

पड़ोसी फ्रांसकी भाषा थी और सारे यूरोपकी राष्ट्रभाषा भी थी, और मेरी यूरोप भ्रमण करनेकी इच्छा थी। इसके सिवा सभ्य पुरुष को लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेनेका निश्चय किया। एक क्लासमें भर्ती हुआ। एक सत्रके तीन पौंड फीसके दिये। तीन हफ्तेमें कोई छः सबक लिये होंगे। ठीक तालपर पांव न पड़ते थे। पियानो बजता था, पर वह क्या कह रहा है, यह समझमें न आता था। 'एक, दो, तीन' चलता, पर उनके बीचके अन्तरका पता तो उस बाजेसे ही चलता था जो मेरे लिए अगम्य था। तब कैसे बने ? फिर तो 'बाबाजीकी बिल्ली' वाली बात हो गई। चूहेको भगानेको बिल्ली, बिल्ली के लिए गाय, इस तरह बाबाजीका कुनबा बढ़ा। इसी प्रकार मेरे लोभका परिवार भी बढ़ता गया। सोचा, वायोलिन् बजाना सीख लूं तो ताल-सुरका पता चलने लगे। तीन पौंड वायोलिन खरीदनेमें खोये और कुछ उसकी तालीमके लिए भी! भाषण-कला सीखनेको तीसरे उस्तादका घर ढूंढा। उन्हें भी एक गिन्नीकी भेंट तो चढ़ानी ही पड़ी। बेल का 'स्टैंडर्ड एलोक्यूशनिस्ट' लिया। पिटका भाषण शुरू किया।

इन बेलसाहबने मेरे कानमें घंटी (बेल) बजाई। मैं जागा।

मुझे इंगलैंडमें जिन्दगी कहां बितानी है? लच्छेदार भाषण करना सीखकर क्या होगा? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूंगा? वायोलिन तो अपने देशमें भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूं। मुझे तो विद्या-धन जोड़ना चाहिए। मुझे अपने धंधेके लिए जरूरी तैयारी करनी चाहिए। मैं अपने सदाचारसे सभ्य समझा जा सकूं तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोडना चाहिए।

इन्हीं विचारोंकी धुनमें उपर्युक्त उद्गारोंसे पूर्ण एक पत्र मैंने भाषण-शिक्षकको लिख भेजा। उनसे मैंने दो या तीन पाठ ही लिये थे। नृत्य-शिक्षकको भी वैसा ही पत्र लिख दिया। वायोलिन-शिक्षिकाके यहां वायोलिन लेकर पहुंचा। उससे यह बाजा जितनेमें बिके बेच देनेको कहा। उसके साथ कुछ मित्रताका-

सा संबंध हो गया था। इससे उसके सामने मैंने अपने मोहकी बात कही। मेरे नाच आदिके जंजालमेंसे निकल जानेकी बात उसने पसंद की।

सभ्य बननेकी मेरी सनक कोई तीन महीने चली होगी। पोशाककी टीम-टाम बरसों चली। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया।

: १६ :

फेरफार

कोई यह न समझे कि नाच आदिके मेरे प्रयोगोंके मानी यह हैं कि मैं उस समय स्वच्छंद बन गया था। ध्यानसे देखनेपर पाठकोंको उनमें कुछ बुद्धि-विचार भी मिलेगा। इस मोह-कालमें भी मैं कुछ अंशमें सावधान था। पाई-पाईका हिसाब रखता था। खर्च नपा-तुला था। महीनेमें पंद्रह पौंडसे अधिक खर्च नहीं करना है, यह निश्चय कर रखा था। बस (मोटर) की सवारीका और डाकका खर्च भी रोज लिखता था और सोनेके पहले सदा अपनी रोकड मिला लेता था। यह आदत अंततक कायम रही। मैं समझता हूं कि इसी कारण सार्वजनिक जीवनमें मेरे हाथोंसे लाखों रुपयोंका उलट-फेर होनेपर भी मैं मुनासिब किफायतशारी रख सका। मेरी देख-रेखमें जितने आंदोलन चले हैं उनमें कभी मैंने कर्ज नहीं किया, बल्कि हरएकमें जमाकी और कुछ-न-कुछ बचता ही रहा है। यदि प्रत्येक नवयुवक उसे मिलनेवाले थोड़े रुपयोंका भी हिसाब सावधानीसे रखे तो उसका लाभ जैसे भविष्यमें मुझे और जनताको मिला वैसे ही उसे भी मिलेगा।

अपनी रहन-सहनपर मेरा अंकुश होनेके कारण मैं तै कर पाया कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर डालनेका विचार किया। हिसाबसे मालूम हुआ कि गाड़ी-भाड़ेपर मेरा काफी खर्च हो जाता था। इसके सिवा कुटुंबमें रहने-

के कारण एक बंधी रकम तो हर हफ्ते जाती ही थी। कुटुंबके व्यक्तियोंको कभी-कभी खिलाने-पिलानेके लिए बाहर ले जानेकी भलमनसी बरतना जरूरी था। फिर उनके साथ दावतमें कभी जाना पड़ता तो गाड़ी-भाड़ा लग ही जाता। कोई लड़की साथ होती तो उसके पैसे चुकाना भी भलमनसी के नाते फर्ज होता था। जब बाहर जाता तो घर खानेके लिए न पहुंच पाता; पर पैसे तो देने ही होते और बाहर खानेमें अलगसे पैसे खर्चने पड़ते। मैंने देखा कि ऐसे खर्चोंसे बचा जा सकता है। 'शर्मंहुजूरी' में होनेवाले कुछ खर्चोंसे भी बचनेकी बात समझमें आई।

अबतक कुटुंबमें रहता था। उसके बदले अपना कमरा लेकर रहने और कार्यकी सुविधा तथा अनुभव-प्राप्तिके लिए जुदा-जुदा मुहल्लोंमें घर बदलते रहनेका भी निश्चय किया। घर ऐसी जगह पसंद किया जहांसे कामके स्थानपर आधे घंटेमें पैदल चलकर पहुंचा जा सके और गाड़ी-भाड़ेके पैसे बच जायं। पहले सदा जहां जाना होता वहांका गाड़ी-भाड़ा खर्चना पड़ता और घूमनेके लिए अलग समय निकालना पड़ता। अब कामसे जाने में ही घुमाई हो जाती। इस योजनामें रोज आठ-दस मीलका चक्कर अनायास ही लग जाता। खासकर इस एक आदतकी बदौलत मैं विलायत में शायद ही बीमार पड़ा हूंगा। शरीर काफी कस गया। कुटुंबमें रहना छोड़नेपर दो कमरे किरायेपर लिये; एक सोनेके लिए, दूसरा बैठक-के रूपमें। यह फेर-फारका दूसरा खंड माना जा सकता है। तीसरा परिवर्तन अभी आगे होनेको था।

यों खर्च आधा बच गया। पर समय? मुझे मालूम था कि बारिस्टरीके इम्तहानके लिए अधिक पढ़नेकी जरूरत नहीं होती, इससे मनमें धीरज था। पर मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे कोंचती थी। लेलीसाहबके शब्द—'तुम बी० ए० हो जाओ फिर आना'—चुभ रहे थे। मुझे बारिस्टर होनेके सिवा कुछ और भी पढ़ना चाहिए। आक्सफोर्ड-केम्ब्रिजके कोर्सोंका पता लगाया। कितने ही मित्रोंस मिला। देखा कि वहां जानेमें खर्च बहुत बढ़ जायगा और वहांका

शिक्षण-क्रम भी लंबा है। तीन वर्षसे अधिक रहना मेरे लिए संभव न था। एक मित्रने कहा, "तुम्हें कोई कठिन परीक्षा ही देनी हो तो तुम लंदनका मैट्रिक्युलेशन पास कर लो। उसमें मेहनत अच्छी करनी पड़ेगी और साधारण ज्ञान बढ़ेगा। खर्च बिल्कुल न बढ़ेगा।" यह सलाह मुझे पसंद आई। परीक्षा की विषय-सूची देखकर डरा। लैटिन और एक अन्य भाषा अनिवार्य ! लैटिन कैसे चलेगी ? पर उस मित्रने कहा, "वकीलके लिए लैटिन बड़े कामकी चीज है। जो लैटिन जानता है वह कानूनी किताबें आसानीसे समझ लेता है। इसके सिवा 'रोमन ला' की परीक्षामें एक सवाल तो केवल लैटिन भाषामें ही होता है। लैटिन जाननेसे अंग्रेजी भाषापर अधिकार भी बढ़ता है।" मुझपर इन सब दलीलोंका असर पड़ा। कठिन हो या सरल, पर लैटिन तो सीखनी है। फ्रेंच पहलेसे ले रखी थी, उसे पूरा करना था। इसलिए दूसरी भाषा फ्रेंच होगी, यह भी निश्चय किया। खानगी तौरपर चलनेवाले एक मैट्रिक्युलेशन क्लासमें शामिल हो गया। परीक्षा हर छठे महीने होती थी, मेरे पास मुश्किलसे पांच महीनेका समय था। यह काम मेरे बूतेसे बाहर का था। नतीजा यह हुआ कि कहां तो मैं सभ्य बनने चला था और कहां अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबुल बनाया। एक-एक मिनट बचाने लगा; पर मेरी बुद्धि या स्मरणशक्ति ऐसी न थी कि मैं और विषयोंके उपरांत लैटिन और फ्रेंचकी पढ़ाई पूरी कर सकूं। इम्तहानमें बैठनेपर लैटिनमें फेल हो गया। दुःखी हुआ, पर हिम्मत न हारी। लैटिनमें रस आने लगा था। सोचा, फ्रेंच ज्यादा मजबूत हो जायगी और विज्ञानमें नया विषय लूंगा। रसायनशास्त्र, जिसमें आज मैं देखता हूं कि मुझे खूब रस आना चाहिए था, प्रयोगोंके अभावमें मुझे रुचता ही न था। देशमें तो यह विषय मेरी शिक्षामें था ही, अतः लंदन-मैट्रिकके लिए भी पहली बार मैंने इसीको पसंद किया था। इस बार प्रकाश और उष्णता (लाइट एंड हीट) लिये। ये विषय सरल समझे जाते थे। मुझे भी सरल लगे।

परीक्षाकी तैयारीके साथ ही रहन-सहनमें और अधिक सादगी लानेकी कोशिश शुरू की। मैंने देखा कि अभी मेरी सादगी अपने कुटुंबकी गरीबीसे मेल नहीं खाती। भाईकी तंगदस्ती और उनकी उदारताको सोचकर मन खिन्न हो उठा। आठ और पंद्रह पौंड मासिक खर्च करनेवालोंको तो छात्रवृत्तियां मिलती थीं। अपनेसे अधिक सादगीसे रहनेवाले भी मुझे दिखाई देते थे। ऐसे बहुत-से गरीब विद्यार्थियोंसे मेरा परिचय हो गया था। एक गरीब विद्यार्थी लंदनके 'कंगाल-महाल' में दो शिलिंग प्रति सप्ताह किराएपर एक कमरा लेकर रहता था और लोकार्टकी सस्ती कोकोकी दूकान में दो पेनीका कोको और रोटी खाकर गुजर करता था। उसका मुकाबला करनेकी तो मुझमें हिम्मत न थी, पर यह देखा कि मैं अवश्य दोके बजाय एक कमरेमें गुजर कर सकता हूं और आधा खाना अपने आप भी पका सकता हूं। इस तरह चार या पांच पौंड माहवारमें रह सकता हूं। सादी रहन-सहनपर मैंने किताबें भी पढ़ी थी। दो कमरे छोड़े और आठ शिलिंग प्रति सप्ताहपर एक कमरा लिया। एक अंगीठी खरीदी और सवेरेका खाना हाथसे पकाना शुरू कर दिया। पकानेमें मुश्किलसे बीस मिनट लगते थे। जईका दलिया और कोकोके लिए पानी उबालनेमें और लगते ही कितने? दोपहरको बाहर खा लेता और शामको फिर कोको बनाकर रोटीके साथ लेता। यों एक-सवा शिलिग रोजमें पेट भर लेना सीख लिया। यह मेरा अधिक-से-अधिक पढ़ाईका समय था। जीवन सादा हो जानेसे समय अधिक बचा। दूसरी बार इम्तहानमें बैठनेपर पास हो गया।

पाठक यह न समझें कि सादगीके कारण मेरे जीवनमें कोई नीरसता आ गई। इसके विपरीत, फेरफारके कारण मेरी आंतरिक और बाहरी स्थितिमें एकता हो गई; कौटुंबिक स्थितिके साथ मेरे रहन-सहनका मेल हो गया; जीवन अधिक सत्यमय हो गया। आत्मिक आनंदकी सीमा न रही।

: १७ :

खुराकके प्रयोग

क्रमश: जीवनमें ज्यों-ज्यों मैं गहरा उतरता गया त्यों-त्यों मुझे बाह्य और आंतरिक आचारमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता अनुभव होने लगी। जिस गतिसे रहन-सहन तथा खर्चमें परिवर्तन किया उसी गतिसे अथवा और भी वेगसे भोजनमें फेरफार करना आरंभ किया। अन्नाहार-विषयक अंग्रेजी पुस्तकोंमें मैंने देखा कि लेखकों ने बड़ा सूक्ष्म विचार किया है। अन्नाहारकी उन्होंने धर्म, विज्ञान, व्यवहार तथा आरोग्यकी दृष्टियोंसे जांच की है। नैतिक दृष्टिसे उन्होंने देखा कि मनुष्यको पशु-पक्षियोंपर जो साम्राज्य मिला है वह उन्हें मारकर खा जानेके लिए नहीं बल्कि उनकी रक्षाके लिए मिला है, अथवा जैसे मनुष्य एक-दूसरेका उपयोग करता है, पर खाता नहीं, उसी तरह पशु-पक्षी भी वैसे उपयोगके लिए हैं, खानेके लिए नहीं। उन्होंने यह भी देखा कि भोजन भोगके लिए नहीं, बल्कि जीनेके लिए ही है। इस दृष्टिसे कितनोंने खुराकमें मांस ही नहीं, अंडे और दूधके भी त्यागकी सलाह दी है और किया है। विज्ञानकी दृष्टिसे तथा मनुष्यकी शरीर-रचनाको देखकर कुछ इस नतीजेपर पहुंचे कि मनुष्यको खाना पकानेकी आवश्यकता ही नहीं। वह पेड़परके पके फल ही खानेके लिए बना है। दूध पिये तो माताका ही पी सकता है, दांत निकलनेपर जो चबाया जा सके, वही भोजन करना चाहिए। आरोग्यकी दृष्टिसे उन्होंने मिर्च-मसाला छोड़ देनेकी सलाह दी है। व्यावहारिक अथवा आर्थिक दृष्टिसे अन्नाहारको ही उन्होंने सस्ती-से-सस्ती खुराक बताया है। मुझपर इन चारों दृष्टियोंका असर पड़ा और अन्नाहारी होटलोंमें चारों दृष्टियोंके मनुष्योंसे मेरा परिचय हुआ। विलायतमें अन्नाहारियोंका एक मंडल था और उसकी ओरसे एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मैं उस साप्ताहिकका ग्राहक बन गया और मंडलका सदस्य भी। कुछ ही दिनोंमें मैं उसकी कमेटीमें

ले लिया गया। यहां अन्नाहारियोंमें स्तंभस्वरूप माने जानेवालोंसे मेरा परिचय हुआ। मैं प्रयोगोंके प्रवाहमें पड़ा।

घरसे मंगाई हुई मिठाइयों, मसाले आदिका व्यवहार बंद कर दिया। मनका झुकाव दूसरी ओर हो गया, इससे मिर्च-मसालोंका शौक जाता रहा। जो साग-सब्जी रिचमंडमें बिना मसालेके फीकी लगती, वह अब सिर्फ उबाली हुई स्वादिष्ट लगने लगी। ऐसे अनेक अनुभवोंसे मैंने सीखा कि स्वादका वास्तविक स्थान जीभ नहीं, मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उस समय एक पंथ ऐसा भी था जो चाय-कहवेको हानिकारक मानता और कोकोका समर्थन करता था। केवल शरीर-यात्राके लिए आवश्यक वस्तु ही लेनी चाहिए, यह मैंने समझ लिया था। इससे चाय, कहवेका इस्तेमाल एक तरहसे बंद करके उनकी जगह कोको लेना शुरू किया।

होटलके दो विभाग थे। एक विभागमें जितनी चीजें खाइए, उतनीके पैसे देने होते थे। इसमें एक वक्तके एकसे दो शिलिंगतक पड़ जाते थे। इसमें अच्छी स्थितिवाले लोग आते थे। दूसरे विभागमें छ: पेनीमें तीन सालन और एक टुकड़ा रोटी मिलती थी। जब मैं खूब किफायतशारी बरतने लगा तो प्रायः छः पेनीवाले विभागमें ही जाता था।

इन प्रयोगोंके साथ बहुतेरे उपप्रयोग भी चलते रहे। कभी स्टार्च वाली खुराक छोड़ देना, कभी सिर्फ रोटी और फलपर रहना, तो कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेना।

अंतिम प्रयोग उल्लेखनीय है। यह पंद्रह दिन भी न चला। स्टार्चरहित खुराकके समर्थनकर्त्ताने अंडेकी बड़ी तारीफ की है और यह सिद्ध किया है कि अंडा मांस नहीं है। यह तो ठीक ही है कि उसे इस्तेमाल करके हम किसी जीवित प्राणीको पीड़ा नहीं पहुंचाते। इस दलीलके भुलावेमें पड़कर मैंने प्रतिज्ञाके रहते भी अंडे खाये। पर मेरा मोह क्षणिक था। प्रतिज्ञाका नया अर्थ करने-का मुझे अधिकार नहीं था। अर्थ तो वही लेना चाहिए, जो प्रतिज्ञा

लिवानेवाला करता हो। मैं जानता था कि मांस न खानेकी प्रतिज्ञा करानेवाली मांको अंडोंका तो खयाल भी न रहा होगा। अत: मैंने प्रतिज्ञाके रहस्यका ध्यान आते ही अंडे छोड़ दिये और वह प्रयोग भी।

यह रहस्य सूक्ष्म है और ध्यानमें रखने योग्य है। विलायतमें मैंने मांसकी तीन व्याख्याएं पढ़ीं। एकमें मांसका अर्थ पशु-पक्षीका मांस माना गया है। इसलिए ऐसी व्याख्या करनेवाले पशु-पक्षियों के मांसका तो त्याग करते हैं, पर मछली खाते हैं, अंडे तो खाते ही हैं। दूसरी व्याख्याके अनुसार साधारण मनुष्य जिसे जीव मानते हैं उनका मांस त्याज्य है। अर्थात् मछली त्याज्य है; पर अंडा ग्राह्य है। तीसरी व्याख्यामें सामान्यत: जीवधारी माने जानेवाले प्राणिमात्र और उनसे पैदा होनेवाली वस्तुएं त्याज्य हैं। इस व्याख्याके अनुसार अंडों और दूधका भी त्याग आवश्यक है। इनमें-से पहली व्याख्याको मानकर तो मैं मछली भी खा सकता था; पर मेरी समझमें आ गया कि मेरे लिए तो माताजीकी व्याख्या ही मान्य है। अत: यदि उनके सामने की हुई प्रतिज्ञाका पालन करना हो तो मैं अंडे नहीं ले सकता। इससे अंडे छोड़ दिये। इसमें मुझे बड़ी कठिनाई हुई, क्योंकि बारीकीसे जांच करनेपर मालूम हुआ कि अन्नाहारी होटलोंमें भी अंडेवाली बहुत चीजें बनती हैं। फलत: वहां भी पूरा जानकार होनेतक मुझे परोसनेवालेसे पूछ-ताछ करते रहना पड़ा, क्योंकि अधिकांश 'पुडिंग' और बहुतेरी केकोंमें तो अंडे पड़े होते ही थे। उससे एक तरहसे तो मैं जंजालसे छूट गया, क्योंकि थोड़ी और बिलकुल सादी चीजें ही ले सकता था। दूसरी ओरसे यह थोड़ा कष्टकर भी हुआ, क्योंकि ऐसी अनेक चीजें छोड़नी पड़ीं जिनका चस्का जबानको लग गया था। पर यह कष्ट क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालनका स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वादसे अधिक प्रिय लगा।

पर सच्ची परीक्षा तो अभी दूसरे व्रतके सिलसिलेमें होनेको थी।

'जाको राखै साइयां मार न सक्कै कोय'

इस प्रकरणको समाप्त करनेके पहले प्रतिज्ञाके अर्थके संबंधम कुछ कहना जरूरी मालूम होता है। मेरी प्रतिज्ञा माताके सामने किया हुआ इकरार था। दुनियाके बहुतेरे झगड़े इकरारके अनर्थसे ही पैदा होते हैं। चाहे जितनी स्पष्ट भाषामें इकरारनामा लिखा जाय, शब्द-शास्त्री 'काग' का 'बाघ' बना ही देगा। इसमें सभ्या-सभ्यका भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अंधा कर देता है। राजासे लेकर रंकतक इकरारोंका अपनेको ठीक जंचनेवाला अर्थ निकाल-कर संसारको, अपनेको और प्रभुको ठगते रहते है। इस प्रकार जिस शब्द अथवा वाक्यका पक्षकार अपनको अनुकूल पड़नेवाला अर्थ करते हैं उसे न्यायशास्त्र 'द्विअर्थी मध्यमपद' कहता ह। उत्तम पक्ष तो यह है कि प्रतिपक्षीने हमारे कथनका जो अर्थ लिया हो उसको ही सही मानें, जो अर्थ अपने मनमें हो उसे झूठा या अधूरा समझें। ऐसा ही दूसरा 'सुनहरा न्याय' यह है कि जहां दो अर्थ निकलते हों वहां निर्बल पक्ष जो अर्थ करता है वह सही माना जाय। इन दो 'सुवर्ण मार्गोंके' त्यागके कारण ही अधिकांश झगड़े होते है और अधर्म चलता है। और इस अन्यायकी जड़ असत्य है। जिसे सत्यके रास्ते ही जाना है उसे सुवर्णमार्ग सहज ही मिल जाता है। उसे शास्त्र नही खोजने पड़ते। माताने 'मांस' शब्दका जो अर्थ लिया और जो मैंने उस समय समझा वह मेरे लिए सही था। जो मैंने अधिक अनुभवसे या अपनी विद्वत्ताके मदमें सीखा और समझा, वह नहीं।

इस समयतकके मेरे प्रयोग आर्थिक तथा आरोग्यकी दृष्टिसे होते थे। विलायतमें उन्होंने धार्मिक रूप नहीं पकड़ा था। धार्मिक दृष्टिसे मेरे कठोर प्रयोग दक्षिण अफ्रीकामें हुए जिनकी छानबीन आगे करनी होगी। पर यह कह सकता हूं कि उनका बीजारोपण विलायतमें ही हुआ था।

नया धर्म स्वीकार करनेवाले में धर्मप्रचारका उत्साह उस धर्ममें जन्मे हुए जनोंकी अपेक्षा कहीं अधिक होता है। अन्नाहार

विलायतवालोंके लिए तो नया धर्म था ही, मेरे लिए भी वैसा ही माना जा सकता है, क्योंकि बुद्धिसे तो मैं मांसाहारका हिमायती हो जानेके बाद ही विलायत गया था। अन्नाहारकी नीतिका ज्ञान-पूर्वक स्वीकार तो मैंने विलायतमें ही किया। अतः मेरे लिए यह बात नये धर्ममें प्रवेश करने-जैसी ही थी। नवधर्मीमें जो जोश आ जाता है वह मुझमें आ गया था। इसलिए मैंने अपने मुहल्लेमें, जहां मैं उस समय रहता था, अन्नाहारी-मंडल स्थापित करनेका प्रस्ताव किया। यह मुहल्ला बेज़वाटर था। उस मुहल्लेमें सर एडविन आर्नल्ड रहते थे। उनसे उपसभापति बननेकी प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार किया। डाक्टर ओल्डफील्ड सभापति बने। मैं मंत्री बना। कुछ ही महीने चलकर उस संस्थाका अंत हो गया, क्योंकि अपने नियमके अनुसार मैंने एक निश्चित अवधिके बाद वह मुहल्ला छोड़ दिया। पर इस छोटे-से अल्पकालिक अनुभवसे मुझे संस्थाओंके स्थापन और संचालनका कुछ अनुभव हो गया।

: १८ :

लज्जाशीलता—मेरी ढाल

अन्नाहारी-मंडलकी कार्यकारिणी समितिमें मैं चुना तो गया और उसकी हर बैठक में जाता भी था, पर बोलनेको जबान ही न खुलती थी। मुझसे डाक्टर ओल्डफील्ड कहते, "तुम मुझसे तो मजेसे बातें करते हो, पर समितिकी बैठकमें कभी जबान ही नहीं खोलते। तुम्हें 'नर-मक्खी' की उपमा मिलनी चाहिए।" मैंने इस मजाकको समझा। मादा मक्खियां सदा उद्यम करती रहती हैं, पर नर खाता-पीता है और कामके नाम ठनठन गोपाल। समितिमें सब अपनी-अपनी राय प्रकट करते और मैं गूंगा ही बना बैठा रहता। बोलनेकी इच्छा न होती हो सो बात नहीं थी। पर बोलूं तो क्या? मुझसे सब सदस्य अधिक जानकार लगते थे। कभी किसी विषयमें बोलनेकी आवश्यकता मालूम होती और मैं बोलनेका

साहस संग्रह करता कि इतनेमें दूसर विषय छिड़ जाता।

यह स्थिति अरसेतक रही। इसी बीच समितिमें एक गंभीर विषय उपस्थित हुआ। उसमें 'भाग न लेना' मुझे अन्याय होने देने-जैसा लगा। चुपचाप मत देकर शांत रहना नामर्दी जान पड़ी। मंडलके सभापति 'टेम्स आयरन वर्क्स' के मालिक मि० हिल्स थे। वह पक्के नीति-पालक थे। कह सकते हैं कि मंडल उन्हीके पैसेसे चलता था। समितिके अनेक सदस्य तो उन्हींकी छत्र-छायामें रहते थे। डाक्टर एलिन्सन भी इस समितिमें थे। इन दिनों कृत्रिम उपायोंद्वारा संतति-निग्रहका आंदोलन जारी था। डाक्टर एलिन्सन उन उपायोंके पक्षपाती थे और मजदूरोंमें उनका प्रचार करते थे। श्री हिल्सको ये उपाय नीति-नाशक लगे। उनकी समझमें अन्नाहारी मंडल केवल खुराकके सुधारके लिए ही न था, वह नीति-वर्धक मंडल भी था। इसलिए उनकी रायमें डाक्टर एलिन्सन-जैसे समाज-घातक विचार रखनेवालोंके लिए इस मंडलमें स्थान न था। फलतः डाक्टर एलिन्सनको समितिमेंसे अलग करनेका प्रस्ताव किया गया। चर्चामें मैं रस लिया करता था। डाक्टर एलिन्सन के कृत्रिम उपायोंवाले विचार मुझे भयंकर लगते थे। उनके मुकाबलेमें श्री हिल्सके विरोधको मैं शुद्ध नीति मानता था। उनके लिए मेरे मनमें बड़ा सम्मान था, उनकी उदारताका भी आदर करता था। पर अन्नाहार-संवर्द्धक मंडलसे एक शुद्ध नीतिके नियमोंको न माननेवालेका, उसकी अश्रद्धाके कारण, बहिष्कार हो, यह मुझे स्पष्ट अन्याय जान पड़ा। मेरी समझसे अन्नाहार-मंडलके स्त्री-पुरुष-संबंध-विषयक विचार श्री हिल्सके निजी थे। मंडलके सिद्धांतोंसे उनका कोई संबंध न था। मंडलका उद्देश्य केवल अन्नाहारका प्रचार करना था, दूसरी नीतिका नहीं। अतः मेरा मत था कि अन्य अनेक नीतियोंका अनादर करनेवालेके लिए भी मंडलमें स्थान हो सकता है।

समितिमें और लोग भी मेरे विचारके थे। लेकिन मुझे अपन विचार प्रकट करनेकी धुन सवार हो गई थी। पर उन्हें लोगोंके

सामने रखूं कैसे, यह मेरे लिए अति विकट प्रश्न हो रहा था। बोलनेका साहस न होता था। अत: मैंने अपने विचार लिखकर सभापतिको देनेका निश्चय किया। मैं अपना लिखित वक्तव्य ले गया। पर जहांतक मुझे याद है यह वक्तव्य पढ़ जानेकी भी मेरी हिम्मत न पड़ी। सभापतिने उसे दूसरे सदस्यसे पढ़वाया। डाक्टर एलिन्सनका पक्ष हार गया। अर्थात् इस प्रकारके मेरेलिए इस पहले युद्धमें मै हारनेवाले पक्षमें था। पर वह पक्ष सच्चा था। इसका मुझे विश्वास था, इसलिए मुझे पूर्ण संतोष था। मुझे कुछ ऐसा स्मरण है कि इसके बाद मैंने समितिसे इस्तीफा दे दिया।

मेरी लज्जाशीलता विलायतमें अंततक बनी रही। किसीके यहां मिलने जाता तो भी जहां पांच-सात आदमियोंकी मंडली जुटी कि मैं गूंगा बन जाता।

एक बार मैं वेंटनर गया। वहां मजूमदार भी थे। वहां एक अन्नाहारी कुटुंब था उसीमें हम दोनों रहते थे। 'एथिक्स ऑव् डायट' (आहार-नीति)के लेखक इसी बंदरगाहमें रहते थे। हम उनसे मिले। यहां अन्नाहारके प्रचारके लिए एक सभा हुई थी, जिसमें हम दोनोंको बोलनेका निमंत्रण था। दोनोंने स्वीकृति दी। मैं जान लिया था कि लिखित भाषण पढ़नेमें कोई कठिनाई न होगी। अपने विचारोंको सिलसिलेसे और संक्षेपमें व्यक्त करनेकी दृष्टिसे बहुतोंको मैं लिखित भाषण पढ़ते देखता था। मैंने अपना भाषण लिख डाला। बोलनेकी हिम्मत न थी। पढ़ने खड़ा हुआ तो पढ़ भी न सका। आंखोंके सामने अंधेरा छा गया, हाथ-पैर कांपने लगे। मेरा भाषण मुश्किलसे एक फुलस्केपका रहा होगा। उसे मजूमदारने पढ़कर सुनाया। मजूमदार तो सुंदर बोले, श्रोताओंने उनके वचनोंको तालियां पीटकर सराहा। मैं शर्माया और अपने न बोल सकनेपर खिन्न हुआ।

विलायतमें सभामें बोलनेका अंतिम प्रयत्न मैंने विलायत छोड़ते समय किया था। विलायत छोड़नेके पूर्व मैंने अन्नाहारी मित्रोंको हावर्न भोजनालयमें न्यौता दिया था। मैंने सोचा कि

अन्नाहारी होटलोंमें तो अन्नाहार मिलता ही है, पर मांसाहारी होटलमें अन्नाहारका प्रवेश कराया जाय तो अच्छा हो। इसी विचारसे इस होटलके मैनेजरसे विशेष प्रबंध करके वहां भोज दिया अन्नाहारियोंमें इस नये प्रयोगकी तारीफ हुई, पर मेरी तो फजीहत ही हुई। भोजमात्र भोगके लिए ही होते हैं, पर पश्चिममें तो उसे एक कलाका रूप दे दिया गया है। भोजोंके समय खास तरहकी सजावट, खास तरहका ठाट-बाट होता है। बाजे बजते हैं, भाषण होते हैं। इस नन्हें-से भोजमें भी सारा आडंबर मौजूद था। मेरे भाषण करनेका समय आया। मैं खड़ा हुआ। खूब सोचकर बोलनेकी तैयारी करके गया था। थोड़े ही वाक्य बनाये थे। पर पहले वाक्यसे आगे बढ़ ही न सका। एडीसनके संकोची स्वभावके बारेमें मैं पढ़ चुका था। आम सभा (हाउस ऑव कामंस) में उसके पहले भाषणके बारेमें कहा जाता है कि वह 'मेरी धारणा है, मेरी धारणा है, मेरी धारणा है,' बस तीनबार यही कहकर रह गया, इससे आगे न बढ़ सका। जिस अंग्रेजी शब्दके मानी 'धारणा' है, उसका अर्थ 'गर्भधारण' भी है। अतः जब एडीसन आगे न बढ़ सका तो सभामेंसे एक मसखरे सदस्यने कहा, "इन महाशय ने तीन बार गर्भ-धारण किया, पर जना कुछ नहीं!" यह कहानी मैंने सोच रखी थी और संक्षिप्त विनोदमय भाषण करनेकी इच्छा थी। इससे मैंने अपने भाषणका आरम्भ इस कहानीसे किया, पर गाड़ी वहीं रुक गई। सोचा-विचारा सब भूल गया और विनोदपूर्ण तथा गूढ़ार्थभरा भाषण करनेके बजाय मैं ही विनोदका पात्र बन गया। "सज्जनो, आपने मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया, इसके लिए आपका कृतज्ञ हूं।" इतना ही कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा।

कह सकता हूं कि मेरा यह 'झेंपूपन' दक्षिण अफ्रीका पहुंचनेपर ही गया। बिलकुल छूट गया तो आज भी नहीं कहा जा सकता। बोलते समय सोचना तो पड़ता ही है। नये समाजमें बोलते सकुचाता हूं। बोलनेसे बचा जा सकता हो तो जरूर बचता हूं। और यह तो आज भी नहीं ही है कि दस आदमियोंके बीच बैठा होऊं

तो कोई खास बात कर ही सकं या करनेकी इच्छा होती हो।

इस शर्मीली प्रकृतिके कारण मेरी फजीहत तो हुई, पर मेरा नुकसान कुछ न हुआ; बल्कि आज तो देखता हूं कि इससे कुछ फायदा हुआ। बोलनेका जो संकोच मुझे पहले दु:खकर था वह अब सुखकर है। एक बड़ा लाभ तो यह हुआ कि मैंने शब्दोंकी मितव्ययता सीखी, अपने विचारोंपर काबू रखनेकी आदत सहज ही पड़ गई। अपनेको मैं यह प्रमाणपत्र निस्संकोच दे सकता हूं कि मेरी जीभ या कलमसे बिना विचारे या तौले शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेखके किसी अंशके लिए मुझे कभी शर्माना या पछताना पड़ा हो, उल्टा अनेक खतरोंसे बचा हूं, और जो बहुत-सा समय बचा वह लाभ घलुएमें हुआ।

अनुभवने मुझे यह भी सिखाया है कि सत्यके पुजारीके लिए मौनका सेवन उचित है। जाने-अनजाने भी मनुष्य अक्सर अतिशयोक्ति करता है अथवा जो कहने योग्य है उसे छिपाता है या भिन्न रूपमें कहता है। ऐसे संकटोंसे बचनेके लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलनेवाला बिना विचारे न बोलेगा, अपने प्रत्येक शब्दको तौलेगा। अक्सर आदमी बोलनेके लिए अधीर हो जाता है। 'मुझे भी कुछ कहना है' ऐसी चिटोंसे किस सभापतिको पाला न पड़ा होगा? समय मिल गया तो वह उसके लिए नाकाफी होता है, अधिक बोलने देनेकी मांग करता है और अन्तमें बिना इजाजतके भी बोलता रहता है। इस सारे बोलनेसे शायद ही दुनियाका कोई लाभ हुआ हो। उतने समयका नाश होना तो प्रत्यक्ष ही है। अत: आरम्भमें यद्यपि अपनी लज्जाशीलता मुझे चुभती थी; पर आज उसका स्मरण मेरे लिए आनन्ददायक है। यह लज्जाशीलता मेरी ढाल थी। उससे मुझे परिपक्व होनेका लाभ मिला। अपनी सत्यकी पूजामें मुझे उससे सहायता मिली।

: १९ :

असत्यरूपी विष

चालीस साल पहले विलायत जानेवालोंकी संख्या आजकी अपेक्षा कम थी। उनमें यह रिवाज-सा पड़ा हुआ था कि ब्याहे भी अपनेको कुमार बताएं। विलायतमें स्कूल या कालेजमें पढ़नेवाला कोई विद्यार्थी ब्याहा नहीं रहता, विवाहितके लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहां तो प्राचीन कालमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी ही कहलाता था। बालविवाह इसी जमानेमें प्रचलित हुआ है। कह सकते हैं कि विलायतमें बाल-विवाह-सरीखी वस्तु नहीं है। अत: हिंदी युवकोंको वहां अपनेको ब्याहा बताते लाज लगती है। विवाह छिपानेका दूसरा एक कारण है कि यदि मालूम हो जाय कि विवाहित हैं तो जहां रहते हैं उस कुटुंबकी युवती लड़कियोंके साथ घूमना-फिरना और हँसी-मजाक नहीं चल सकता। यह हँसी-मजाक अधिकतर निर्दोष होता है। माता-पिता इस तरहका दोस्ताना पसंद भी करते हैं। युवक और युवतियोंमें ऐसे सहवासकी आवश्यकता भी मानी जाती है, क्योंकि वहां तो प्रत्येक युवकको अपनी सहधर्मिणी ढूंढ लेनी पड़ती है। अत: विलायतमें स्वाभाविक समझा जानेवाला संबंध हिंदुस्तानका नवयुवक वहां पहुंचते ही जोड़ना आरम्भ कर दे तो परिणाम अवश्य भयंकर होगा अनेक बार ऐसे परिणाम प्रकट भी हुए हैं। तथापि इस मोहिनी मायामें हमारे युवक फंसते रहे हैं। उस संगके निमित्त, जो अंग्रेजोंके लिए चाहे जितना निर्दोष होते हुए हमारे लिए त्याज्य है, हमारे नवयुवक असत्याचरण पसंद करते रहे। इस जालमें मैं भी घिसटा। पांच-छ: वर्ष पहलेसे विवाहित और एक लड़केका बाप होते हुए भी अपनेको कुंवारा बताते मैं नहीं हिचका। इसका स्वाद तो मैंने थोड़ा ही चखा। मेरे संकोची स्वभावने, मेरे चुप्पेपनने, मुझे बहुत बचाया। मैं बोल नहीं पाता तो कौन लड़की फालतू बैठी थी जो मेरे साथ बातें करे! मेरे साथ घूमने भी शायद ही कोई

लड़की निकलती थी।

मैं जितना झेंपू, उतना ही डरपोक भी था। वेंटनरमें जिस कुनबेमें मैं रहता था वैसे कुटुंबोंमें, सभ्यताकी खातिर भी, घरकी लड़की हो तो मुझ-जैसे परदेशीको घुमाने ले जायगी। इसी कर्तव्यके अनुरोधस इस घरकी मालकिनकी लड़की मुझे एक दिन वेंटनरके आसपासकी सुंदर पहाड़ियोंपर ले गई। मेरी चाल कोई वैसी धीमी न थी, पर उसकी चाल मुझसे भी तेज थी। इसलिए मुझे तो उसके पीछे घिसटना पड़ रहा था। वह तो भर रास्ते बातोंका फव्वारा छोड़ती चल रही थी और मेरे मुंहसे कभी सिर्फ 'हां' या 'ना' निकल पाता। बहुत बढ़ गया तो 'कैसा सुन्दर है!' इतना और कह पाता! वह तो हवामें उड़ी जा रही है और मैं सोचता था, कब घर लौटें। लेकिन 'चलो, लौटें' कहनेकी हिम्मत नहीं होती। इतनेमें हम एक पहाड़ीकी चोटीपर जा खड़े होते हैं। पर उतरें कैसे? ऊंची एड़ीके बूट पहने होनेपर भी वह बीस-पच्चीस बरसकी युवती बिजलीकी तरह ऊपरसे उतर गई। मैं तबतक लजाया हुआ ढाल कैसे उतरूं, यही सोच रहा हूं। वह नीचे खड़ी हँस रही है; मुझे हिम्मत बंधा रही है, कहती है—आऊं, हाथ पकड़कर उतार लाऊं? इतना बेशऊर साबित होना मैं कैसे मंजूर करता। बड़ी मुश्किलोंसे पैर धरते और कहीं-कहीं बैठकर सरकते हुए उतरा। उसने मजाकमें "शा...ब्बा...श" कहकर मुझे और गहरी लज्जामें डाला और पानी-पानी कर दिया। ऐसी फब्ती कसकर मुझे शरमिंदा करनेका उसे पूरा हक था।

पर हर जगह मैं इस तरह कैसे बच पाता? असत्यका जहर भगवानको मुझमेंसे निकालना मंजूर था। वेंटनरकी भांति ही ब्राइटन भी समुद्रतटपर हवाखोरीका मुकाम है। वहां एक बार मैं गया। जिस होटलमें टिका वहां एक औसत दरजेकी खुशहाल विधवा बढ़िया भी हवाखोरीके लिए आकर ठहरी हुई थी। विलायतमें यह मेरा पहला ही साल था—वेंटनरके पहलेका। यहां सूचीमें खानेकी सभी चीजोंके नाम फ्रेंच भाषामें लिखे थे। मैं

उन्हें समझ न पाता था। वह बुढ़िया जिस मेजपर बैठी थी उसीपर मैं भी था। वृद्धाने देखा कि यह नया आदमी है और कुछ परेशान भी है। उसने बातें शुरू कीं,

"तुम अजनबी-से जान पड़ते हो और किसी परेशानीमें हो। तुमने अबतक कुछ खानेको नहीं मंगवाया।"

मैं भोज्य पदार्थोंकी सूची पढ़ और परोसनेवालेसे पूछनेकी तैयारी कर रहा था। मैंने उस भद्र महिलाको धन्यवाद दिया और कहा, "इस सूचीको मैं समझ नही पा रहा हूं। मैं निरामिष भोजी हूं। इसलिए इसमें कौन-कौन-सी वस्तुएं निर्दोष हैं, मुझे यह जाननेकी जरूरत है।"

उस महिलाने कहा, "तो लो, मै तुम्हारी मदद करती हूं, और सूची समझाती हूं। मैं तुम्हें बता सकती हूं कि इसमेंसे तुम क्या खा सकते हो।"

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की। यहांसे हमारा जो संबंध जुड़ा, मैं जबतक विलायत रहा तबतक, तथा उसके बाद भी, बरसोंतक बना रहा। उसने मुझे अपना लन्दनका पता दिया और साथही हर रविवारको अपने यहां खानेका न्यौता भी। अन्य अवसरोंपर भी अपने यहां मुझे बुलाती, कोशिश करके मेरा शर्मीलापन छुड़वाती, जवान लड़कियोंसे परिचय कराती और उनके साथ बातें करनेको प्रोत्साहन देती। एक स्त्री जो उसीके यहां रहती थी, उससे बहुत बातें कराती। कभी-कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहले मुझे यह सब बहुत अखरा। क्या बातें करना, यह न सूझता। हंसी-मजाक भी क्या करूं? पर वृद्धा मुझे पक्का करती रहती। मैं 'गढ़ा' जाने लगा। हर रविवारकी राह देखने लगा। उक्त स्त्रीसे बातें करना भी रुचने लगा।

बुढ़िया भी मुझे लुभाती जाती। उसे इस सोहबतमें रस पड़ गया। उसने तो हम दोनोंका भला ही चाहा होगा।

अब मैं क्या करूं? मैंने सोचा, मैंने इस भद्रमहिलाको अपने

ब्याहकी बात बता दी होती तो कितना अच्छा था ? तब वह मेरे किसीके साथ ब्याह करनेकी बात सोचती क्या ? अब भी क्या बिगड़ा है। मैं सच कह दू तो सारे संकटोंसे बच जाऊंगा। यह तय करके मैंने उसे पत्र लिखा। जैसा कि मुझे याद है, उसका सार दे रहा हूं :

"ब्राइटनमें भेंट होनेके बादसे आप मुझपर प्रेम रखती आई हैं। मां अपने लड़केका जैसे खयाल रखती है वैसे ही आप मेरा खयाल रखती हैं। आप तो यह भी मानती हैं कि मेरा ब्याह हो जाना चाहिए और इसीलिए युवतियोंसे मेरा परिचय कराती हैं। ऐसे संबंधके अधिक आगे बढ़नेके पहले मुझे आपको बता देना चाहिए कि मैं आपके प्रेमके योग्य नहीं हूं। मुझे आपके यहां मेरा आना-जाना शुरू हुआ उसी समय बता देना चाहिए था कि मेरा विवाह हो चुका है। हिन्दुस्तानके विद्यार्थी जो विवाहित होते हैं वे इस देशमें अपने विवाहकी बात प्रकट नहीं करते, यह मुझे मालूम है। इसीसे मैंने भी उस रीतिका अनुसरण किया। अब देख रहा हूं कि मुझे अपने विवाहकी बात बिल्कुल छिपानी न चाहिए थी। मुझे तो इतना और कह देना चाहिए कि मेरा ब्याह बचपनमें हुआ था और मेरे एक लड़का भी है। आपसे यह बात छिपा रखनेका मुझे अब बड़ा दु:ख हो रहा है। पर सत्य कहनेका अब मुझे ईश्वरने साहस दिया, इससे मुझे आनन्द हो रहा है। आप मुझे माफ करेंगी। जिस बहनसे आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मेरा कोई अनुचित संबंध नहीं रहा है, इसका मैं आपको इतमीनान दिलाता हूं। मुझे मर्यादासे आगे नहीं जाना चाहिए, इसका मुझे पूरा खयाल है। पर आपकी इच्छा तो स्वभावत: यह होगी कि किसीके साथ मेरा गठबंधन हो जाय। आपके मनमें यह बात और आगे न बढ़े, इसके लिए भी मुझे आपके सामने सत्यको प्रकट कर देना चाहिए।

"यह पत्र मिलनेके बाद आप मुझे अपने यहां आनेके अयोग्य समझें तो मुझे तनिक भी बुरा न लगेगा। आपके स्नेहका ऋण

मुझपर सदा रहेगा। यह तो मुझे कहना चाहिए कि आप मेरा त्याग न करें तो मुझे खुशी होगी। अब भी मुझेअपने यहां आने देने लायक समझेंगी तो मेरे लिए यह आपके प्रेमकी एक नई निशानी होगी और उस प्रेमका पात्र बननेके लिए सदा प्रयत्न करता रहूंगा।"

पाठक जान लें कि यह पत्र मैंने कोई क्षणभरमें नहीं लिख लिया था। न मालूम कितने मसौदे बनाये-बिगाड़े होंगे। पर यह पत्र भेजकर मैंने अपने सिरका भारी बोझ उतार दिया।

लगभग लौटती डाकसे ही उक्त विधवा बहनका उत्तर मिला। उसमें उसने लिखा—

"तुम्हारा साफ हृदयका पत्र मिला। हम दोनोंको खुशी हुई और खूब हंसी। तुमने जैसे असत्यका आश्रय लिया था वह तो क्षमाके योग्य ही है। पर तुम्हारा अपनी असलियत बतला देना अच्छा हुआ। मेरा न्यौता कायम है। अगले रविवारको हम तुम्हारी बाट देखेंगी। तुम्हारे बाल-विवाहकी बातें सुनूंगी और तुम्हारा मजाक उड़ानेका आनन्द भी लूंगी। हमारी मित्रता तो जैसी थी वैसी ही रहेगी, इसका विश्वास रखना।"

इस प्रकार अपने भीतर असत्यका जो विष भर गया था उसे मैंने निकाल बाहर किया, इसके बाद तो और कहीं भी अपने विवाह इत्यादिकी बातें करनेमें मुझे घबराहट न होती थी।

: २० :

धार्मिक परिचय

विलायतमें रहते करीब एक साल हुआ होगा कि दो थियासोफिस्ट सज्जनोंसे परिचय हुआ। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताके विषयमें बातें कीं। वे एडविन आर्नल्डका गीताका अनुवाद पढ़ते थे, लेकिन मुझे उन्होंने गीता अपने साथ संस्कृतमें पढ़नेको निमन्त्रित किया। मैं शरमाया, क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृतमें पढ़ी थी, न भाषामें ही। मुझे

उनसे कहना पड़ा, "मैंने गीता पढ़ी नहीं है, पर आप लोगोंके साथ मैं गीता पढ़नेको तैयार हूं। मेरा संस्कृतका अभ्यास भी नहींके बराबर ही है। मैं उसे इतना ही समझ सकूंगा कि अनुवादमें गलत अर्थ किया गया हो तो सुधार सकें।" इस प्रकार इन भाइयोंके साथ मैंने गीता पढ़ना आरम्भ किया। दूसरे अध्यायके आखिरी श्लोकोंमेंके

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।[१]

इन श्लोकोंका मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। उनकी ध्वनि मेरे कानोंमें गूंजती ही रहती। भगवद्गीता अमूल्य ग्रंथ है, यह मुझे उस समय प्रतीत हुआ। वह मान्यता धीरे-धीरे बढ़ती गई और आज मैं तत्त्वज्ञानके लिए उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशाके समयोंमें उस ग्रंथने मेरी अमूल्य सहायता की है। उसके अंग्रेजी अनुवाद लगभग सब पढ़ गया हूं, पर एडविन आर्नल्डका अनुवाद मुझे सबसे अच्छा लगता है। मूल ग्रंथके भावोंकी रक्षा की गई है, फिर भी वह ग्रंथ उलथा-जैसा नहीं लगता। उस समयका यह वाचन मेरा गीता अभ्यास करना नहीं कहला सकता। मेरे नित्य-वाचनका ग्रंथ तो वह कई बरस बाद हुआ।

इन्हीं भाइयोंने मुझसे आर्नल्डका बुद्ध-चरित (लाइट ऑव एशिया) पढ़नेकी सिफारिश की। अबतक तो सर एडविन आर्नल्ड-के गीताके अनुवादका ही मुझे पता था। बुद्ध-चरितको मैंने गीताकी

---

[१] विषयोंका चिंतन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति उपजती है, आसक्तिसे कामना होती है और कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधमेंसे मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़तासे स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होनेसे ज्ञानका नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया, वह मृतकतुल्य है।

अपेक्षा भी अधिक चावसे पढ़ा। पुस्तक हाथमें लेनेके बाद पूरी करके ही रख सका।

ये भाई मुझे एक बार ब्लैवट्स्की लाजमें भी ले गये। वहां मुझे मैडम ब्लवट्स्कीके और मिसेज बेसंटके दर्शन कराये। मिसेज बेसेंट हालमें ही थियासोफिकल सोसाइटीमें दाखिल हुई थीं। अतः पत्रोंमें इस विषयकी जो चर्चा जारी थी में उसे शौकसे पढ़ता था। इन भाइयोंने मुझे सोसाइटीमें दाखिल हो जानेको भी कहा। मैंने विनयपूर्वक 'ना' की और कहा, 'मैं धर्मज्ञानसे बिल्कुल कोरा हूं। इसलिए मैं किसी पंथमें सम्मिलित नहीं होना चाहता।'' मुझे ऐसा स्मरण है कि उन्हीं भाइयोंके कहनेसे मैंने मैडम ब्लैवट्स्की की पुस्तक 'की टू थियासोफी' (थियासफीकी कुंजी) पढ़ी। उससे हिन्दूधर्मकी पुस्तकें पढ़नेकी इच्छा हुई और यह मत, जो पादरियों-के मुंहसे सुना करता था, कि हिंदूधर्म वहमोंसे ही भरा है, वह मनसे निकल गया।

इन्हीं दिनों एक अन्नाहारी छात्रावासमें मुझे मांचेस्टरके एक भद्र ईसाई मिले। उन्होंने मुझसे ईसाई धर्मकी चर्चा की। मैंने उन्हें अपना राजकोटका स्मरण सुनाया। सुनकर वह दुःखी हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वयं अन्नाहारी हूं, शराब भी नही पीता। यह सही है कि बहुतेरे ईसाई मांस खाते और शराब पीते हैं, पर दोनों-मेंसे किसी चीजका इस्तेमाल इस मजहबमें फर्ज नहीं है। मैं आपसे बाइबिल पढ़नेकी सिफारिश करता हूं।'' मैंने यह सलाह मान ली। बाइबिल उन्होंने ही खरीद दी। मुझे कुछ ऐसा खयाल है कि ये सज्जन स्वयं ही बाइबिल बेचते थे। उन्होंने नक्शे, अनुक्रमणिका आदिसे युक्त बाइबिल मुझे दी। मैंने उसे आरंभ किया। पर मैं 'पुराना इकरार' (ओल्ड टेस्टामेंट) ही न पढ़ सका। 'जेनेसिस' —सृष्टिरचना—के प्रकरणके बाद तो पढ़नेमें ऊंघने ही लगता। मुझे याद है कि 'पढ़ा' कहनेभरको, बिना रसके और बिना समझे, मैं अन्य प्रकरण बड़े कष्टसे पढ़ पाया। 'नंबर्स' नामक प्रकरण पढ़ते हुए मुझे अरुचि हो गई।

जब 'नये इकरार' (न्यू टेस्टामेंट) पर आया तो दूसरा ही असर हुआ। ईसाके 'गिरी-प्रवचन' का बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। वह हृदयमें पैठ गया। बुद्धिने गीताके साथ उसकी तुलना की। "जो तेरा कुर्ता मांगे उसे अंगरखा भी दे दे, जो तेरे दाहिने गालपर तमाचा मारे, बायां गाल भी उसके सामने कर दे", यह पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। श्यामलभट्टका छप्पय याद आया। मेरे बालक मनने गीता, आर्नल्डकृत बुद्धचरित और ईसाके वचनोंका एकीकरण किया। त्यागमें धर्म है, यह बात मनको रुची।

इस वाचनसे अन्य धर्माचार्योंके जीवन-चरित पढ़नेकी इच्छा हुई। किसी मित्रने कार्लाइलकी 'विभूतियां और विभूतिपूजा' (हीरोज़ ऐंड हीरो वर्शिप) पुस्तक पढ़नेकी सिफारिश की। उसमें मैंने पैगम्बर (हजरत मुहम्मद) साहबके बारेमें पढ़ा, जिससे उनकी महत्ता, वीरता और तपश्चर्याकी मुझे कल्पना हो सकी।

पर इस परिचयसे आगे न बढ़ सका। अपनी परीक्षाकी पुस्तकोंके सिवा और कुछ पढ़नेकी फुर्सत न निकाल सका। पर मेरे मनमें गांठ बंधी कि मुझे धर्म-पुस्तकें पढ़नी हैं और सब मुख्य धर्मोंका उचित परिचय प्राप्त कर लेना है।

नास्तिकताके बारेमें भी कुछ जाने बिना कैसे काम चलता? ब्रेडलाका नाम सब भारतीयोंके कानपर था ही। वह नास्तिक समझे जाते थे। इसलिए नास्तिकवादके बारे में एक किताब पढ़ी। नाम याद नहीं रहा। उसका मुझपर कोई असर न पड़ा। नास्तिकतारूपी सहाराका रेगिस्तान में पार कर गया था। मिसेज बेसेंटकी ख्याति तो उस समय भी खूब थी ही। उनके नास्तिकसे आस्तिक होनेकी बातने भी नास्तिकवादकी ओरसे मुझे उदासीन बनाया। मिसेज बेसेंटकी "मैं थियासोफिस्ट कैसे बनी?" पुस्तिका मैंने पढ़ ली थी। ब्रेडलका देहान्त इसी समयके लगभग हुआ। वोकिंगमें उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया की गई। मैं भी वहां उपस्थित था। मेरा खयाल है कि (विलायतमें मौजूद) हिंदुस्तानियोंमें तो एक भी बाकी न रहा होगा। उनके प्रति आदर प्रकट करने कितने

ही पादरी भी आये थे। वापसीमें एक जगह हम सब ट्रेनको राह देख रहे थे। उस मजमेमेंके किसी दंगली नास्तिकने पादरियोंमेंसे एकसे जिरह शुरू की—"क्यों साहब, आप फर्माते हैं न, कि ईश्वर है ?"

उस भले आदमीने धीरे-से जवाब दिया, "जी हां, कहता तो हूं।"

नास्तिक भाई हँसा और मानों पादरीको मात दे रहा हो, ऐसे ढंगसे बोला, "अच्छा जी, पृथिवीकी परिधि अट्ठाईस हजार मील है, यह तो कबूल करते हैं न ?"

"बेशक।"

"तो बतलाइये कि ईश्वर कदमें कितना होगा और वह कहां होगा ?"

"हम समझ पायें तो हम दोनोंके हृदयमें वह बसता है।"

"बच्चोंको फुसलाइये बच्चोंको !" कहकर उक्त योद्धाने आसपास खड़े हम लोगोंकी ओर विजय-सूचक दृष्टिसे देखा। पादरीने नम्रतापूर्वक मौन धारण कर लिया।

इस संवादने नास्तिकवादकी ओर मेरी अरुचि और बढ़ा दी।

: २१ :

"निर्बलके बल राम"

धर्मशास्त्रकी तथा दुनियाके धर्मोंकी थोड़ी जानकारी तो हुई पर उतना ज्ञान मनुष्यके बचावके लिए काफी नहीं साबित होता। आपत्ति-कालमें मनुष्यको जो वस्तु बचाती है, उसका उस समय उसे न भान होता है, न ज्ञान। नास्तिक बच जानेपर कहता है कि मैं संयोगवश बच गया। आस्तिक ऐसे अवसरपर कहेगा कि मुझे ईश्वरने बचाया। परिणामके उपरांत वह यह अनुमान कर लेगा कि धर्मोंके अभ्याससे, संयमसे ईश्वर उसके हृदयमें प्रकट होता है। ऐसा माननेका उसे अधिकार है, पर बचते समय वह नहीं जानता

कि उसे उसका संयम बचाता है या कौन बचाता है। जिसे अपने संयमके बलका अभिमान रहता है उसके संयमको मिट्टीमें मिलते किसने नहीं देखा है ? शास्त्र-ज्ञान तो ऐसे अवसरपर खोखला सिद्ध होता है।

इस बौद्धिक धर्मज्ञानके मिथ्यात्वका अनुभव मुझे विलायतमें हुआ। पहले जो ऐसे भयमेंसे मैं बचा, उसका विश्लेषण करना संभव नहीं। मेरी उम्र उस समय बहुत कच्ची थी; पर अब तो मैं बीस सालका था। गृहस्थाश्रमका काफी अनुभव हो चुका था।

बहुत करके मेरे विलायतवासके आखिरी सालमें, अर्थात् सन् १८९० में, पोर्टस्मथमें अन्नाहारियोंका सम्मेलन हुआ था। उसमें मुझे और मेरे एक हिन्दुस्तानी दोस्तको निमंत्रित किया गया था। हम दोनों गये। हम दोनोंको एक स्त्रीके यहां टिकाया गया था।

पोर्टस्मथ खलासियोंका बन्दरगाह कहलाता है। वहां बहुत-से घर दुराचारिणी स्त्रियोंके हैं। वे स्त्रियां वेश्या तो नहीं थीं, पर शुद्धाचारिणी भी न थीं। ऐसे ही एक घरमें हम टिके थे। कहनेका मतलब यह नहीं है कि स्वागत-समितिने जान-बूझकर ऐसा घर ढूंढ़ा था। पर पोर्टस्मथ-जैसे बन्दरगाहमें यात्रियोंको ठहरानेके लिए घर तलाशना हो तो कौन घर अच्छा है, कौन बुरा, यह कहना कठिन ही होगा।

रात हुई। हम सम्मेलनसे डेरेपर लौटे। खा-पीकर ताश खेलने बैठे। विलायतमें अच्छे घरोंमें भी इस प्रकार मेहमानोंके साथ गृहिणी ताश खेलने बैठती है। ताश खेलते समय सभी निर्दोष विनोद करते हैं, पर यहां बीभत्स विनोद आरम्भ हुआ। मुझे मालूम नहीं था कि मेरे साथी इसमें पक्के हैं। मुझे इस विनोदमें रस मिला। मैं भी शामिल हुआ। वचनसे कर्ममें उतर पड़नेकी तयारी थी। ताश किनारे धर ही रहे थे, पर मेरे भले साथीके मनमें राम बसे। वह बोले, "अरे, तुझमें यह कलियुग क्यों ? तेरा यह काम नहीं है। भाग यहां से !"

मैं शरमाया। होशमें आया। हृदयमें उस मित्रका उपकार माना। माताके सामने की हुई प्रतिज्ञा याद आई। मैं भगा। अपनी कोठरीमें कांपता-कांपता पहुंचा। छाती धड़क रही थी मेरी वही हालत थी जो कातिलके हाथसे बच जानेवाले शिकार की होती है।

मुझे ऐसा खयाल है कि पर-स्त्रीको देखकर विकारवश होने और उसके साथ रंगरलियां करनेकी इच्छा होनेका यह पहला मौका था। मेरी वह रात आँखोंमें कटी। तरह-तरहके विचारोंने मुझपर हमला बोला। घर छोड़ूं? भागूं? मैं कहां हूं? सचेत न रहूं तो मेरा क्या हाल होगा? मैंने खूब सावधान रहकर चलनेका निश्चय किया। यह तय किया कि घर तो नहीं, पर जैसे भी हो पोर्टस्मथ जल्दी से-जल्दी छोड़ देना है। सम्मेलन दो दिन ही चलनेवाला था। अत: मुझे जहांतक याद है मैंने दूसरे ही दिन पोर्टस्मथ छोड़ दिया। मेरे साथी वहां कुछ दिन ठहरे।

धर्म क्या है, ईश्वर क्या है, वह हममें किस तरह काम करता है, यह सब मैं उस समय नहीं जानता था। साधारण रूपमें मैंने उस समय यही समझा कि ईश्वरने मुझे बचा लिया; पर ऐसे अनुभव मुझे विविध क्षेत्रोंमें हुए हैं। मैं अनुभव करता हूं कि 'ईश्वरने उबारा' इस वाक्यका अर्थ आज मैं बहुत ज्यादा समझने लग गया हूं। पर साथ ही यह भी जानता हूं कि इस वाक्यकी पूरी कीमत आज भी नहीं आंक सका हूं। वह अनुभवसे ही आंकी जा सकती है। पर अनेक आध्यात्मिक प्रसंगोंमें, वकालत करते हुए, संस्थाएं चलानेमें, राजनीतिमें, 'मुझे ईश्वरने बचाया है,' यह कह सकता हूं। मैंने देखा है कि जब सारी आशा जवाब दे देती है, कुछ करते-धरते नहीं बनता, तब कहीं-न-कहींसे मदद आ पहुंचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना ये वहम नहीं हैं, बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना आदि जितना सत्य है उससे भी ये चीजें अधिक सत्य हैं। यह कहनेमें भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यही सत्य है, और सब मिथ्या है।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना कोई वाणीका विलास नही है। उसका मूल कंठ नहीं, हृदय है। अतः यदि हमारा हृदय निर्मल हो जाय, हृत्तंत्रीके तारोंको हम सुसंगठित रखें तो उससे निकलनेवाला सुर गगनगामी होता है। उसके लिए जिह्वाकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वभावतः ही अद्भुत वस्तु है। विकाररूपी मलोंकी शुद्धिके लिए हार्दिक उपासना औषधरूप है, इस विषयमें मुझे शंका ही नहीं है। पर उस प्रसादकी प्राप्तिके लिए हममें पूरी-पूरी नम्रता होनी चाहिए।

: २२ :

नारायण हेमचंद्र

इन्ही दिनों स्वर्गीय नारायण हेमचंद्र विलायत आये थे। लेखक-रूपमें उनका नाम मैंने सुना था। उनसे मैं नेशनल-इंडियन एसोसियेशनवाली मिस मैनिगके यहां मिला। मिस मैनिगको मालूम था कि मुझे सबसे मिलना-जुलना नहीं आता। मैं उनके यहां जाया करता तो मुंह बंद किये बैठा रहता। कोई बुलवाता तभी बोलता था।

उसने नारायण हेमचंद्रसे मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचंद्रको अंग्रेजी नहीं आती थी। उनका पहनावा विचित्र था। बेढंगा पतलून पहने हुए थे। ऊपर सिकुड़ा हुआ, गलेपर मैला, बादामी रंगका कोट था। न नेकटाई, न कालर। कोट पारसी तर्जका था, पर बेढंगा। सिरपर झब्बेदार ऊनी गुंथी हुई टोपी थी। उन्होंने लम्बी दाढ़ी बढ़ा रखी थी।

इकहरा बदन, ठिंगना कद। मुहपर चेचकके दाग थे। चेहरा गोल। नाक न नुकीली, न चपटी। दाढ़ीपर हाथ फिरा करता।

सारे सूटेड-बूटेड लोगोंके बीच नारायण हेमचंद्र विचित्र लगते और सबसे अलगसे पड़ जाते थे।

मैंने कहा, "आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। क्या आप मेरे यहां आयेंगे?"

नारायण हेमचंद्रकी आवाज कुछ मोटी थी। उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा,

"आप कहां रहते हैं ?"

"स्टोर स्ट्रीटमें।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखनी है। आप मुझे सिखायेंगे ?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं आपकी कोई सहायता कर सकूं तो मुझे प्रसन्नता होगी। मुझसे जो कुछ हो सकेगा अवश्य करूंगा। आप कहें तो आपके डेरेपर आ जाया करूं।"

"नहीं-नहीं, मैं ही आपके यहां आऊंगा। मेरे पास पाठमाला है, उसे लेता आऊंगा।"

हमने समय नियत कर लिया। हममें गहरा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचंद्र व्याकरण बिल्कुल न जानते थे। 'घोड़े' को क्रियापद बना देते और 'दौड़ना' को संज्ञा। ऐसी मजेदार मिसालें तो मुझे कई याद हैं। पर वह तो मुझ-जैसोंको घोंटकर पी जानेवाले आदमी थे। मेरे साधारण व्याकरण ज्ञानसे वह प्रभावित होनेवाले न थे। व्याकरण न जाननेकी उन्हें कोई शर्म ही न थी।

"मैं कोई तुम्हारी तरह पाठशालामें नहीं पढ़ा हूं। मुझे अपने विचार प्रकट करनेमें व्याकरणकी जरूरत नहीं जान पड़ी। बोलो, तुम्हें बंगला आती है ? मुझे तो आती है। मैं बंगालमें घूमा हूं। महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुरकी पुस्तकोंका अनुवाद तो गुजराती जनताको मैंने ही दिया है न ? मुझे तो बहुतेरी भाषाओंमेंसे गुजराती जनताको उलथा देना है। उलथा करनेमें मैं शब्दार्थसे नहीं चिपकता। भावार्थ दे दिया और मेरा काम बन गया। मेरे बाद दूसरे भले ही अधिक देते रहें। मैं तो बिना व्याकरणके मराठी जानता हूं, हिंदी जानता हूं और अब अंग्रेजी भी समझने लगा हूं। मुझे तो शब्द-भंडार चाहिए। तुम नहीं जानते होगे कि सिर्फ अंग्रेजीसे मेरा संतोष होनेवाला नहीं है। मुझे तो फ्रांस जाना है और फ्रेंच भी सीखनी है। मझे मालम है कि फ्रेंच साहित्य संपन्न है।

हो सका तो जर्मनी भी जाऊंगा और जर्मन भी सीखूंगा।"

नारायण हेमचंद्रकी वाग्धारा इस तरह चलती ही रही। भाषाएं जानने और यात्रा करनेका उन्हें बेहद शौक था।

"तब तो आप अमेरिका भी जायंगे ही ?"

"अवश्य। इस नई दुनियाको देखे बिना मैं कैसे लौट सकता हूं ?"

"पर आपके पास इतने पैसे कहां हैं ?"

"मुझे पैसोंका क्या काम है ? मुझे कहां तुम्हारी-जैसी टीम-टाम करनी है ? मेरे खाने-पहननेमें लगता ही कितना है ? अपनी पुस्तकोंसे मुझे कुछ मिल जाता है, थोड़ा दोस्तोंसे मिल जाता है। इतना मेरे लिए बस हो जाता है। मैं तो सब जगह तीसरे दर्जेमें जाता हूं। अमेरिका डेकमें जाऊंगा।"

नारायण हेमचंद्रकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। बस ही वह निखालिस भी थे। अभिमान तो छू नहीं गया था। लेखकके रूपमें अपनी शक्तिपर उन्हें आवश्यकतासे भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिला करते। विचारकी भांति आचारकी समता भी हममें यथेष्ट थी। दोनों अन्नाहारी थे। अक्सर दोपहरको साथ खाते। यह मेरे साप्ताहिक सत्रह शिलिंगमें गुजर करने और अपने हाथसे खाना पकानेके दिन थे। कभी मैं उनके डेरेपर जाता, कभी वह मेरे डेरेपर आते। मैं अंग्रेजी ढंगका खाना पकाता था। उन्हें देशी ढंगके भोजनके बिना तृप्ति न होती। दाल होनी ही चाहिए। मैं गाजर आदिका झोल (सूप) बनाया करता, इसपर वह मुझपर तरस खाते। वह कहींसे थोड़े मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये और मैंने उन्हें बड़े चावसे खाया। फिर तो हमारा यह लेन-देनका व्यवहार बढ़ा। मैं अपनी बनाई चीजें उन्हें चखाता और वह अपनी पकाई चीजें मुझे।

इन दिनों कार्डिनल मैनिंगका नाम सबकी जबानपर था। डकके मजदूरोंकी हड़ताल हुई थी, जो जानबर्न्स और कार्डिनल-

की कोशिशसे जल्दी ही खतम हो गई थी। कार्डिनल मैनिंगकी सादगीके बारेमें डिजरायेलीने लिखा था, जिसे मैंने नारायण हेमचंद्रको सुनाया।

"तब तो मुझे इस साधु पुरुषसे मिलना चाहिए।"

"वह तो बहुत बड़े आदमी हैं। आपसे कैसे मिलेंगे?"

"मैं बतलाता हूं वैसे। तुम मेरे नामसे पत्र लिखो। उसमें लिखो कि मैं लेखक हूं और उनके परोपकारके कार्योंके लिए स्वयं उपस्थित होकर अभिनंदन करना चाहता हूं। और यह भी लिख देना कि मुझे अंग्रेजी बोलना नहीं आता, इसलिए दुभाषियेका काम करनेके लिए तुम्हें साथ ले जाना होगा।"

मैंने ऐसा पत्र लिखा। दो-तीन दिनोंमें एक कार्डमें कार्डिनल मैनिंगका जवाब आ गया। उन्होंने मिलनेका समय दिया।

हम दोनों गये। मैंने तो रिवाजके मुताबिक मुलाकाती कपड़े पहन लिये थे। पर नारायण हेमचंद्र तो जैसे रहते थे वैसे ही थे। वही कोट और वही पतलून। मैंने मजाक किया। उन्होंने मेरी बात हँसकर उड़ा दी और बोले,

"अरे, तुम सुधरे हुए लोग बड़े डरपोक हो। महापुरुष किसी-का पहनावा नहीं देखा करते। वे तो उसका दिल परखते हैं।"

हम कार्डिनलके महलमें दाखिल हुए। उनका मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि तुरंत एक सूखी लकड़ी-सरीखे ऊंचे लंबे कदके वृद्ध पुरुषने कमरेमें प्रवेश किया। हम दोनोंसे हाथ मिलाया। नारायण हेमचंद्र का स्वागत किया।

"मुझे आपका समय नहीं लेना है। मैंने आपके बारेमें सुना था। हड़तालमें आपने जो काम किया उसके लिए आपका अभिनंदन करना चाहता था। दुनियाके साधु पुरुषोंके दर्शन करना मेरा नियम है, इसलिए मैंने आपको इतना कष्ट दिया।"

नारायण हेमचंद्रने मुझे इन वाक्योंका उलथा कर देनेकी आज्ञा की।

"आपके आगमनसे मुझे प्रसन्नता हुई। आशा है, आप इस

नगरमें सुखी होंगे और यहांवालोंका परिचय प्राप्त करेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करे।" यह कहकर कार्डिनल खड़े हो गये।

नारायण हेमचंद्र एक बार मेरे यहां धोती-कुरता पहनकर आए। भली घरवाली दरवाजा खोलने गई तो देखकर घबराई। मेरे पास आकर (पाठकोंको याद होगा कि अपना डेरा मैं बदलता ही रहता था) बोली, "कोई पागल-सा आदमी तुमसे मिलना चाहता है।" मैं दरवाजेपर गया तो नारायण हेमचंद्रको खड़ा पाया। मै तो भौंचक रह गया। पर उनके चेहरेपर तो हमेशा रहनेवाली मुस्कराहटके सिवा और कुछ न था।

"अरे, लड़कोंने आपको तंग नहीं किया ?"

जवाब मिला, "मेरे पीछे दौड़ते रहे। मैंने कुछ खयाल न किया तो शांत हो गये।"

नारायण हेमचंद्र कुछ महीने विलायतमें रहकर पेरिस चले गये। वहां फ्रेंचका अभ्यास करके फ्रेंच पुस्तकोंका उलथा आरंभ कर दिया। उनका अनुवाद देख लेनेभरको फ्रेंच मुझे आती थी, अत: उन्होंने उसे देख जानेको कहा। देखनेपर मालूम हुआ कि वह उलथा नहीं, भावार्थभर था।

अंतमें उन्होंने अपना अमेरिका जानेका निश्चय पूरा किया। बड़ी कठिनाईसे डेक या तीसरे दर्जेका टिकट पा सके थे। अमेरिका-में धोती-कुर्ता पहनकर निकलनेके कारण 'असभ्यपोशाक पहनने' के जुर्ममें पकड़ लिये गए थे और; मुझे ऐसा खयाल है कि, बादको छोड़ दिये गए थे।

: २३ :

महाप्रदर्शनी

सन् १८९० में पेरिसमें एक बड़ी नुमाइश हुई थी। उसकी तैयारियोंकी खबरें मैं पढ़ता रहता था। पेरिस देखनेकी तो तीव्र इच्छा थी ही। सोचा, चलो, प्रदर्शनी देखने जानेसे एक पंथ दो

काज होगा। प्रदर्शनीमें एफिल टावर देखनेका बड़ा आकर्षण था। यह टावर केवल लोहेका बना है और एक हजार फुट ऊंचा है। उसके पहले कल्पना थी कि एक हजार फुट ऊंचा मकान खड़ा रह ही नहीं सकता। प्रदर्शनीमें और भी बहुत-कुछ देखनेको था।

मैंने पेरिसमें एक अन्नाहारी भोजनालय होनेकी बात पढ़ी थी। वहां एक कमरा लिया। गरीबीसे यात्रा करके पेरिस पहुंचा। सात दिन रहा। देखने योग्य अधिकतर वस्तुएं पैदल घूमकर ही देखीं। पेरिसकी, उस प्रदर्शनीकी 'गाइड' और नक्शा साथ ले रखा था। उनके सहारे रास्ते खोजकर खास-खास चीजें देख लीं।

प्रदर्शनीकी विशालता और विविधताके सिवा मुझे अब और कुछ याद नहीं है। एफिल टावरपर तो दो-तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी अच्छी तरह याद है। पहली मंजिलपर खाने-पीनेका इंतजाम भी था। इतने ऊंचेपर भोजन किया कह सकनेके लिए वहां साढ़े सात शिलिंग फूककर खाना खाया।

पेरिसके प्राचीन गिरजाघरोंकी याद बनी है। उनकी भव्यता और उनके अंदर मिलनेवाली शांति भूलनेवाली नहीं है। नोत्र-दामकी कारीगरी और अंदरकी चित्रकारीकी याद बाकी है। उन्हें देखकर ऐसा लगा था कि जिन्होंने लाखों रुपये लगाकर ऐसे स्वर्गीय मंदिर बनवाये उनके अंतस्तलमें ईश्वर-प्रेम तो रहा ही होगा।

पेरिसके फैशन, पेरिसके स्वेच्छाचार और वहांके भोग-विलासके बारेमें काफी पढ़ा था। उसके सबूत तो गली-गलीमें मौजूद थे। पर ये गिरजे उन भोग-विलासोंसे बिलकुल अलगसे लगते थे। मंदिरमें प्रवेश करते ही बाहरकी अशांति बिसर जाती। लोगोंका व्यवहार बदल जाता था। लोग वहां अदबके साथ व्यवहार करते थे। शोर-गुलका नाम नहीं। कुमारी मरियमकी मूर्तिके सामने कोई-न-कोई प्रार्थना करता ही रहता था। यह सब अंधविश्वास नहीं, बल्कि हार्दिक भावना है, यह प्रभाव उस समय मेरे मनपर पड़ा और वह बढ़ता ही गया। कुमारी मरियमकी

मूर्तिके सामने घुटने टेककर प्रार्थना करनेवाले उपासक संगमरमर-को नहीं, उसमें विद्यमान अपनी कल्पनाकी शक्तिको पूजते थे, इससे वे ईश्वरीय महिमा को घटाते नहीं बल्कि बढ़ाते हे ; यह असर मेरे मनपर पड़नेका धुंधला स्मरण मुझे आज भी है ।

एफिल टावरके विषयमें दो शब्द कहना आवश्यक है । मुझे पता नहीं कि एफिल टावर आज क्या काम देता है । प्रदर्शनीमें जानेके बाद उसके बारेमें वर्णन पढ़ते रहना तो स्वाभाविक ही है । उनमें उसकी स्तुति और निन्दा दोनों थीं । मुझे कुछ ऐसा याद है कि निंदा करनेवालोंके अगुआ टाल्स्टाय थे । उन्होंने लिखा था कि एफिल टावर मनुष्यकी मूर्खताका निदर्शन है, उसके ज्ञानका परिणाम नहीं । अपने लेखमें उन्होंने दिखाया था कि दुनियाके आजके नशोंमें तंबाकूका व्यसन एक तरहसे सबसे खराब है । कुकर्म करनेकी हिम्मत शराब पीनेसे नहीं होती, वह सिगरेट पीनेसे हो जाती है । शराबीमें पागलपन आता है और तंबाकूके व्यसनीकी अक्ल धुआं जाती है, इससे वह हवाई किले बनाने लगता है । टाल्स्टाय का कहना था कि एफिल टावर ऐसे ही व्यसनका परिणाम है ।

एफिल टावरमें कोई सौंदर्य न था । प्रदर्शनीकी उससे कोई शोभा बढ़ी हो यह नहीं कह सकते । एक नई चीज, एक बड़ी चीज होनेके खयालसे हजारों आदमी उसे देखनेको चढ़े । यह टावर प्रदर्शनीका एक खिलौना था । वह इस बातको भलीभांति सिद्ध करता था कि जबतक हम मोहके वश हैं तबतक हम भी बच्चे हैं। यही उसकी उपयोगिता मानना चाहें तो मान सकते हैं ।

: २४ :

बारिस्टर तो बने लेकिन आगे ?

जिस कामके—बारिस्टर बननेके—लिए मैं विलायत गया था उसका मैंने क्या किया, इसकी चर्चा मैंने अबतक छोड़ रखी थी ।

अब इस बारेमें कुछ लिखनेका अवसर आ गया है।

बारिस्टर होनेके लिए दो बातोंकी जरूरत थी। एक तो थी 'टर्म पूरा करना', अर्थात् सत्रोंमें उपस्थिति। वर्षमें चार सत्र होते हैं। ऐसे बारह सत्र पूरे करने होते हैं। दूसरी बात है, कानून-की परीक्षा देना। सत्र पूरे करनेके मानी हैं, 'दावतें खाना' अर्थात् हरएक सत्रमें लगभग चौबीस भोज होते हैं, उनमेंसे छः में खाना। 'दावत खाने' के मानी सचमुच खाना ही हो ऐसी बात नहीं है। जरूरी है नियत समयपर हाजिर हो जाना और भोज समाप्त होने-तक बैठे रहना। साधारणतः तो सब खाते-पीते ही हैं। खानेमें अच्छी-अच्छी चीजें होती हैं, पीनेके लिए बढ़िया मानी जानेवाली शराब। उनके दाम अलबत्ता चुकाने होते हैं। वे ढाईसे तीन शिलिंगतक होते हैं, यानी दो-तीन रुपयेका खर्च होता है। वहां यह कीमत बहुत कम समझी जाती है; क्योंकि बाहरके होटलमें ऐसे खाने लेनेवालेको करीब-करीब इतने पैसे सिर्फ शराबके ही देने पड़ जाते हैं। खानेके खर्चसे शराब पीनेवालोंका पीनेका खर्च ज्यादा बैठता है। हिन्दुस्तानमें हम लोगोंको—यदि 'सभ्य' न हुए तो—इस बातपर अचरज हो सकता है। विलायत जानेपर यह जानकर मेरे दिलको गहरा धक्का लगा था; शराब पीनेके पीछे लोग कैसे इतने पैसे बर्बाद कर देते होंगे, यह समझ न पाता था। पीछे समझ-में आया। दावतोंमें पहले मैं कुछ भी नहीं खाया करता था, क्योंकि मेरे लायक तो वहां सिर्फ रोटी, उबले आलू और गोभी ही होती थी। शुरूमें तो न रुचनेके कारण नहीं खाया; पर पीछे जब उनमें स्वाद देखा तब तो और भी चीजें मांग लेनेकी शक्ति मुझमें आ गई थी।

विद्यार्थियोंके लिए एक तरहका भोजन होता था और 'बेंचरों' (विद्यामंदिरके 'महंतों') के लिए दूसरे अमीरी खाने। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी था, वह भी अन्नाहारी हो गया था। हम दोनोंने अन्नाहारके प्रचारके लिए बेंचरोंके भोजनमेंसे अन्नाहारीके खाने लायक चीजोंकी मांग की। वह मंजूर हुई। अतः

हमें बेंचरोंके खानेमेंसे फल तथा दूसरी शाकभाजियां मिलने लगीं।

शराबसे मुझे कोई मतलब नही था। चार आदमियोंके बीच शराबकी दो बोतलें मिला करती थीं। इसलिए अनेक चौकड़ियां मुझे अपने साथ खानेको बुलातीं। मेरे न पीनेसे बाकी तीनको दो बोतलें उड़ानेको जो मिल जातीं! इसके सिवा इन सत्रोंमें एक 'महारात्रि' (ग्रैंड नाइट) होती है। उस दिन 'पोर्ट', 'शेरी' के अलावा 'शैंपेन' शराब भी मिलती है। 'शैंपेन' की लज्जत कुछ और ही मानी जाती है। इसलिए इस 'बड़ी' रातको मेरी कीमत बढ़ जाती थी और उस रातकी उपस्थितिके लिए मुझे न्यौता भी मिलता था।

इस खान-पानसे बारिस्टरीकी योग्यतामें क्या वृद्धि हो सकती है, यह न उस समय मेरी समझमें आया, न पीछे ही। अवश्य ही एक ऐसा समय था जब इन भोजोंमें थोड़े ही विद्यार्थी शरीक होते थे और उनमें तथा 'बेंचरों' में बातचीत होती थी और भाषण भी होते थे। इससे उन्हें व्यवहार-ज्ञान मिल सकता था। अच्छी हो, बुरी हो, एक प्रकारकी सभ्यता सीखते और भाषण करनेकी शक्ति कुछ बढ़ा लेते थे। पर मेरे समयमें तो यह सब अशक्य ही था। बेंचर तो एक किनारे अछूत बने बैठे रहते है। इस पुराने रिवाजका आगे चलकर कोई मतलब न रह जानेपर भी प्राचीनता-प्रेमी—धीमी चालवाले इंगलैंडमें वह बना रहा।

कानूनकी पढ़ाई आसान थी। बारिस्टरोंको मजाकमें 'डिनर (दावतके) बारिस्टर' ही कहा जाता था। सबको पता था कि परीक्षाका मूल्य नहींके बराबर है। मेरे समयमें दो परीक्षाएं थीं—रोमन ला और इंग्लैंडका कानून। दो भागोंमें दी जानेवाली इन परीक्षाओंकी पुस्तकें नियत थीं; पर उन्हें तो शायद ही कोई पढ़ता हो। रोमन लापर लिखे हुए संक्षिप्त नोटोंको पंद्रह दिनोंमें पढ़कर पास होनेवालोंको मैंने देखा। यही बात इंग्लैंडके कानूनके बारेमें भी थी। उसके नोट दो-तीन महीनेमें पढ़ डालनेवाले विद्यार्थी भी मैंने देखे। परीक्षाके प्रश्न आसान होते थे, परीक्षक उदार। रोमन

लामें ९५से ९९ प्रतिशत परीक्षार्थी पास होते थे और अंतिम परीक्षामें ७५ या इससे अधिक। यानी 'नापास' होनेका डर बहुत कम रहता है। इसके सिवा परीक्षा सालमें एक नहीं, बल्कि चार बार होती है। इतने सुभीतेकी परीक्षा किसीके लिए बोझ नही हो सकती।

पर मैंने उसे बोझ बना लिया। मैंने सोचा कि मुझे मूल पुस्तकें पढ़ ही जानी चाहिएं। उन्हें न पढ़ना मुझे धोखा देना जान पड़ा। अत: मैंने मूल पुस्तकें खरीदीं, जिसमें मेरे काफी रुपये खर्च हुए। 'रोमन ला' को लैटिनमें पढ़ जानेका निश्चय किया। विलायतकी मैट्रिक्युलेशन परीक्षामें मैंने लैटिन पढ़ी थी। वह यहां काम आई। यह पढ़ाई व्यर्थ न गई। दक्षिण अफ्रीकामें रोमन-डच ला प्रमाणभूत माना जाता है। 'उसे समझनेमें मुझे जस्टिनियनका अध्ययन बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

इंग्लैंडके कानूनकी पढ़ाई मैं नौ महीने काफी मेहनत करके पूरी कर सका। कारण यह कि ब्रूमकी 'कामन ला' की मोटी लेकिन रोचक पुस्तक पढ़नेमें ही काफी समय लग गया। स्नेलकी 'ईक्विटी' में रस मिला, पर समझनेमें दम निकल गया। व्हाइट और ट्यूडरके 'नजीर मुकदमें' (लीडिंग केसेज) मेंसे जो पढ़ने थे, उन्हें पढ़नेमें मुझे रस मिला और ज्ञान भी बढ़ा। विलियम्स और एडवर्ड्सकी अचल संपत्ति-विषयक और गुडीवकी चल-संपत्ति-विषयक पुस्तक मैंने रुचिपूर्वक पढ़ी। विलियम्सकी पुस्तक तो मुझे उपन्यास-सी लगी। उसे पढ़ना तनिक भी न अखरा। कानूनकी किताबोंमें इतनी ही रुचिसे हिंदुस्तान आनेपर मैंने मेइनका 'हिंदू ला' पढ़ा। पर हिन्दुस्तानके कानूनकी चर्चा यहां करनी नहीं है।

परीक्षाएं पास करके १८९१ की १०वीं जूनको मैं बारिस्टर बन गया, ११को इंग्लैंडके हाईकोर्टमें ढाई शिलिंग देकर अपना नाम दर्ज कराया, १२ जूनको हिन्दुस्तानकी ओर वापस लौटा।

पर मेरी निराशा और भयका अंत न था। मैंने देखा कि कानून तो मैंने जरूर पढ़ लिया, पर ऐसी एक भी बात नहीं सीखी

जिससे वकालत करनी आये।

इस व्यथाके वर्णनके लिए अलग प्रकरणकी दरकार है।

: २५ :

मेरी परेशानी

बारिस्टर कहलाना आसान लगा, लेकिन बारिस्टरी करना कठिन। कानून पढ़ा, लेकिन वकालत करना न सीखा। कानूनमें मैंने कई धर्म-सिद्धांत पढ़े; वे मुझे रुचे। लेकिन पेशेमें उनका अमल कैसे किया जा सकेगा, यह समझमें न आया। 'अपना जो कुछ हो उसका इस प्रकार उपयोग करो जिससे दूसरेकी मिलकियत को नुकसान न पहुंचे'—यह तो धर्म-वचन है; पर वकालतका पेशा करते हुए मुवक्किलके मामलेमें उसका किस तरह उपयोग हो सकता है, यह बात अक्लमें न आई। जिन मुकदमोंमें इस सिद्धांत-का उपयोग हुआ था, उन्हें पढ़ गया था, पर उनमें इन सिद्धांतोंको काममें लानेका उपाय मुझे न मिला।

इसके सिवा हिन्दुस्तानके कानूनोंका तो मेरे पढ़े कानूनोंमें नामतक न था। हिंदूशास्त्र, इस्लामी कानून कैसे होते हैं, यहतक न जाना। अर्जीदावा बनाना न सीखा। मैं बहुत घबराया। मैंने फिरोजशाह मेहताका नाम सुना था। वह अदालतोंमें शेरकी तरह गरजते हैं, विलायतमें उन्होंने किस तरीकेसे पढ़ा होगा? उनके जितनी होशियारी तो इस जिंदगीमें ही नहीं आ सकती। मुझे तो इसमें भी गहरी शंका होने लगी कि एक वकीलकी हैसियतसे रोजी कमानेकी शक्ति भी मुझमें आयेगी या नहीं।

यह उलझन तो कानूनकी पढ़ाईके समयसे ही मेरे मनको लग रही थी। अपनी कठिनाइयां मैंने एक-दो मित्रोंके सामने रखीं। उन्होंने दादाभाईसे सलाह लेनेको कहा। यह तो लिख चुका हूं कि मेरे पास दादाभाईके नाम पत्र था। इस पत्रका उपयोग मैंने देरसे किया। ऐसे महान् पुरुषसे मिलने जानेका मुझे क्या हक है? उनका

भाषण कहीं होता तो सुनने जाता और एक कोनेमें बैठकर आंखों और कानोंको तृप्त करके चला आता। विद्यार्थियोंके संपर्कमें आनेके लिए उन्होंने एक मंडल भी स्थापित कर रखा था। उसमें मैं जाया करता। विद्यार्थियोंके प्रति दादाभाईकी चिंता और वैसे ही विद्यार्थियोंका उनके प्रति आदर देखकर मुझे खुशी होती थी। अंतमें उक्त सिफारिशी पत्र उन्हें देनेकी हिम्मत तो मैंने की। उनसे मिला। उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हें मुझसे मिलना हो और किसी सलाहकी जरूरत हो तो जरूर मिलना।" पर मैंने उन्हें कभी तकलीफ न दी। किसी भारी कठिनाईके सिवा उनका समय लेना मुझे अपराध जान पड़ा। अतः उक्त मित्रकी सलाह मानकर दादाभाईके सामने अपनी कठिनाइयां रखनेकी मुझे हिम्मत न हुई।

उन्हीं मित्रने या किसी दूसरेने मुझे मि० फ्रेडरिक पिंकटसे मिलनेकी सलाह दी। मि० पिंकट कंजर्वेटिव दलके थे पर हिंदुस्तानियोंके प्रति उनका प्रेम निर्मल और निस्वार्थ था। कितने ही विद्यार्थी उनकी सलाह लिया करते थे। अतः पत्र लिखकर मैंने उनसे मिलनेको समय मांगा। वह मिल गया और मैं उनसे मिला। यह मुलाकात मुझे कभी न भूली। वह मुझसे मित्रकी भांति मिले। मेरी निराशाको तो उन्होंने हँसकर उड़ा दिया। "तुम समझते हो कि सबका फिरोजशाह मेहता होना जरूरी है? फिरोजशाह या बदरुद्दीन तो एक-दो ही हुआ करते हैं। तुम निश्चय समझो कि साधारण वकील होनेके लिए ज्यादा होशियारीकी जरूरत नहीं होती। साधारण ईमानदारी और लगनके बलपर आदमी वकालतका धंधा मजेमें चला सकता है। सब मुकदमे पेचीदा नहीं होते।

"अच्छा बताओ, तुम्हारी साधारण (पाठ्यविषयके अतिरिक्त) पढ़ाई क्या है?"

मैंने देखा कि मेरी अपनी पढ़ाईकी बात कहनेपर वह कुछ निराश हुए। पर वह निराशा क्षणिक थी। तुरंत उनके चेहरेपर फिर मुस्कराहट आ गई और बोले,

"अब मैं तुम्हारी कठिनाईको समझ गया। तुम्हारी साधारण

पढ़ाई बहुत थोड़ी है। तुम्हें सांसारिक ज्ञान नहीं है। वकीलका काम उसके बिना नही चल सकता। तुमने तो हिंदुस्तानका इतिहास भी नहीं पढ़ा है। वकीलको मनुष्य-स्वभावका ज्ञान होना आवश्यक है। उसे चेहरा देखकर मनुष्यकी परख करना आना चाहिए। इसके सिवा, हरएक हिंदुस्तानीको हिंदुस्तानके इतिहासकी भी जानकारी होनी चाहिए। वकालतसे इसका लगाव न होनेपर भी तुम्हें उसका ज्ञान होना जरूरी है। मैं देखता हूं कि तुमने तो 'के और मैलेसन' का लिखा १८५७ के गदरका इतिहास भी नहीं पढ़ा है। उसे तो तुरंत पढ़ डालो। अन्य दो और पुस्तकोंके नाम बतला रहा हूं उन्हें आदमीकी पहचानके लिए पढ़ जाना।" यह कहकर उन्होंने लेवेटर और शेमल पेनिककी मुख-सामुद्रिक-विद्या (फिजियाग्नमी) की दो पुस्तकोंके नाम लिख दिये।

मैंने इन वयोवृद्ध मित्रका बड़ा अहसान माना। उनके सामने तो मेरा भय क्षणभरके लिए भाग गया था; पर बाहर निकलते ही फिर वही घबराहट सवार हो गई। "चेहरा देखकर आदमीको पहचान लेना होगा।" इस वाक्यको घोखते और उक्त दोनों पुस्तकोंके बारेमें सोचते हुए डेरेपर पहुंचा। दूसरे दिन लेवेटरकी पुस्तक खरीदी। शेमल पेनिककी पुस्तक उस दुकानपर न मिली। लेवेटरकी पुस्तक पढ़ी; पर वह तो स्नेलकी पुस्तकसे भी कठिन लगी। रस भी न मिला। शेक्सपियरके चेहरेका अध्ययन किया; पर लंदनकी सड़कोंपर फिरते हुए शेक्सपियरोंको पहचाननेकी शक्ति तो नहीं ही आई।

लेवेटरकी पुस्तकसे मैंने कुछ पाया नहीं। मि० पिंकटकी सलाहका सीधा उपयोग तो मुझे थोड़ा ही हुआ, पर उनके स्नेहका बहुत उपयोग हुआ। उनका हँसमुख, उदार चेहरा स्मृतिमें अंकित हो गया। उनके वचन मैंने गांठ बांध लिये कि वकालत करनेको फिरोजशाह मेहताकी-सी चतुराई, स्मरण-शक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं होती; ईमानदारी और लगनसे काम चल जाता है।

इन दोनोंकी पूंजी तो मेरे पास यथेष्ट थी। इससे भीतर कुछ भरोसा हुआ।

के और मैलेसनकी किताब तो मैं विलायतमें न पढ़ पाया; पर अवसर मिलते ही उसे पढ़ डालनेका निश्चय कर लिया। यह मुराद दक्षिण अफ्रीकामें बर आई।

यों निराशामें तनिक-सी आशाका आश्वासन लेकर कांपते पैरों 'आसाम' स्टीमरसे बंबई बंदरमें उतरा। बंदरमें समुद्र उस समय क्षुब्ध था, इससे लांचपर किनारे आना पड़ा।

पहला भाग समाप्त

दूसरा भाग

: १ :

रायचंदभाई

पिछले प्रकरणमें मैं बंबई बंदरसे समुद्रके क्षुब्ध होनेकी बात लिख चुका हूं। जून-जुलाईके महीनोंमें हिंदमहासागरके लिए यह कोई नई बात नहीं समझी जा सकती। अदनसे ही समुद्र वैसा हो रहा था। सब बीमार थे, अकेला मैं ही मौज ले रहा था। तूफान देखनेको डेकपर खड़ा रहता, भीगा भी करता। सवेरेके नाश्तेमें यात्रियोंमेंसे हम दो-एक ही होते थे। जईकी लपसी हमें रकाबीको गोदमें रखकर खानी पड़ती थी, वर्ना हालत यह थी कि लपसी ही गोदमें छितरा जाय।

यह बाहरी तूफान मेरे विचारसे तो भीतरी तूफानका चिन्ह-रूप था। पर बाहरी तूफानके रहते हुए भी जैसे मैं शान्त रह सका, जान पड़ता है भीतरके तूफानके लिए भी वही बात कही जा सकती है। बिरादरीका सवाल तो था ही। धंधेकी चिन्ताके बारेमें लिख ही चुका हूं। इसके सिवा सुधारक होनेके कारण मनमें जो कितने ही सुधार सोच रखे थे उनकी भी चिंता थी। कुछ और अनसोची चिंता भी पैदा हो गई।

माताके दर्शनोंके लिए मैं अधीर हो रहा था। हम डेकपर पहुंचे तब मेरे बड़े भाई वहां मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता और उनके बड़े भाईसे जान-पहचान कर ली थी। डाक्टर मेहताका मुझे अपने यहां ही उतारनेका आग्रह था। अतः मुझे वहीं ले गये। इस प्रकार विलायतमें जो संबंध जुड़ा था वह स्वदेशमें भी कायम रहा और अधिक दृढ़ हुआ तथा दोनों कुटुंबोंमें फैल गया।

माताके स्वर्गवासके विषयमें मुझे कुछ पता न था। घर

पहुंचनेपर इसकी सूचना मुझे दी गई और स्नान कराया गया। मुझे यह खबर विलायतमें ही मिल सकती थी; पर आघात हल्का हो, इस विचारसे बंबई पहुंचनेतक बड़े भाईने मुझे यह सूचना न देनेका निश्चय कर रखा था। अपनी इस पीड़ापर में पर्दा ही डाले रखना चाहता हूं। पिताकी मृत्युसे मुझे जो चोट पहुंची थी उससे बहुत अधिक इस मृत्यु-समाचारसे पहुंची। मेरे बहुत-से मनोरथ धूलमें मिल गये। पर मुझे याद है कि इस निधन-समाचारको सुनकर में फूटकर नहीं रोया। आंसुओंको पी-सा गया और इस तरह काम-काज करने लगा जैसे माताकी मृत्यु हुई ही न हो।

डाक्टर मेहताने अपने घर जिन लोगोंसे मेरा परिचय कराया उनमेंसे एककी चर्चा किये बिना काम नही चल सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवनसे तो जन्मभरका गठबंधन हो गया; पर मुझे जिस परिचयकी बात कहनी है, वह तो है कवि रायचंद अथवा राजचंद्रकी। डाक्टरके बड़े भाईके वह दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवन फर्मके हिस्सेदार और कर्ता-धर्ता थे। उनकी उम्र उस समय पच्चीससे अधिक न थी। फिर भी पहली हो भेंटमें मैं यह देख सका कि वह चरित्रवान और ज्ञानी हैं। वह शताव-धानी माने जाते थे। डाक्टर मेहताने मुझसे उनके शतावधानके नमूने देखनेको कहा। मैंने अपना भाषा-ज्ञानका खजाना खाली कर दिया और कविने मेरे कहे हुए शब्दोंको उसी सिलसिलेमें कह सुनाया कि जिस तरतीबमें मैंने उन्हें कहा था! इस शक्तिपर मुझे ईर्ष्या हुई; पर उसपर मैं मुग्ध नहीं हुआ। जिसपर मैं मुग्ध हुआ उस वस्तुका परिचय मुझे पीछे हुआ। वह था उनका गंभीर शास्त्र-ज्ञान, उनका शुद्ध चारित्र्य और उनकी आत्मदर्शनकी उत्कट लगन। बादको मैंने पाया कि वह आत्मदर्शनके लिए ही जीते थे।

हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे,[1]
मारुं जीव्यूं सफळ तव लेखुरे;

---

[1] जब हंसते-खेलते प्रत्येक कृत्यमें हरिके दर्शन मुझे हों तब अपना

मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवनदोरी अमारी रे।

मुक्तानंदका यह वचन उनकी जबानपर तो था ही, उनके हृदयमें भी वह अंकित था।

खुद हजारोंका रोजगार करते, हीरे-मोतियोंकी परख करत, व्यापारकी समस्याएं हल करते, पर उनका विषय यह नहीं था। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो आत्माकी परख--हरि-दर्शन--था। उनकी गद्दीपर और कोई चीज हो या न हो, पर कोई-न-कोई धर्मपुस्तक और रोजनामचा तो होता ही। रोजगारकी बात खत्म होते ही धर्मपुस्तक अथवा उक्त नोटबुक खुल जाती। उनके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश तो उस नोट-बुकसे ही लिया हुआ है। जो आदमी लाखोंके सौदेकी बात करनेके बाद तुरन्त आत्मज्ञानकी गूढ़ बातें लिखने बैठ जाय उसकी जाति व्यापारीकी नही, बल्कि शुद्ध ज्ञानीकी है। उनकी इस विशेषताका अनुभव मुझे एक बार नहीं, अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी मूर्छित स्थिति में नहीं पाया। मेरे साथ उनका कोई स्वार्थ न था। मैंने उन्हें बहुत नजदीकसे देखा है। मैं उस समय, भिखारी बारिस्टर था। पर जब मैं उनकी दूकानपर पहुंचता, मुझसे धर्म-चर्चाके सिवा दूसरी बात न करते। यद्यपि मैं उस समय अपना रास्ता नहीं पहचान पाया था, यह नहीं कहा जा सकता कि मुझे साधारणतः धर्मचर्चामें रस था, फिर भी रायचंदभाईकी धर्मचर्चामें मुझे रस आता था। उसके बाद अनेक धर्माचार्योंके संपर्कमें आनेका-सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। हर धर्मके आचार्योंसे मिलने का प्रयत्न मैंने किया है, पर जो छाप मुझपर रायचंदभाईने डाली वह दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे मेरे अन्तरमें उतर जाते। उनकी बुद्धिके लिए मेरे मनमें आदर था। उनकी सचाईके लिए भी उतना ही आदर था और इसलिए मैं जानता था कि वह

जीवन सफल मानूं। मुक्तानंद कहते हैं, मेरे मालिक तो भगवान हैं और वही मेरे जीवनकी डोर हैं।

वह जान-बूझकर मुझे गलत रास्तेपर न ले जायंगे और जो उनके मनमें होगा वही कहेंगे। इससे अपने आध्यात्मिक संकटमें में उनका आश्रय लिया करता था।

रायचंदभाईके लिए मेरे मनमें इतना आदर होत हुए भी मैं उन्हें धर्मगुरुके रूपमें अपने हृदयमें स्थान न दे सका। गुरुकी खोज तो आज भी जारी है।

हिंदुधर्ममें गुरुपदको जो महत्त्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूं। 'गुरु बिन ज्ञान न होय' यह वचन बहुत अंशोंमें सही है। अक्षर-ज्ञान देनेवाले अधकचरे शिक्षकसे काम चलाया जा सकता है, पर आत्म-दर्शन करानेवाले अपूर्ण शिक्षकसे नहीं चलाया जा सकता। गुरुपद तो संपूर्ण ज्ञानीको ही दिया जा सकता है। गुरुकी खोजमें ही सफलता समाई हुई है; क्योंकि शिष्यकी योग्यताके अनुसार ही गुरु मिलता है। इसका अर्थ यह है कि योग्यता-प्राप्तिके लिए पूर्ण प्रयत्नका प्रत्येक साधकको अधिकार है। इस प्रयत्नका फल ईश्वर-के अधीन है।

अत: यद्यपि मैं रायचंदभाईको अपने हृदयका स्वामी न बता सका, तथापि मुझे उनका सहारा समय-समयपर कैसे मिलता रहा, यह हम आगे चलकर देखेंगे। यहां तो इतना ही कहना काफी होगा कि मेरे जीवनपर गहरी छाप डालनेवाले आधुनिक मनुष्य तीन हैं—रायचंदभाईने अपने सजीव संपर्कसे, टाल्स्टायने अपनी 'बैकुंठ तेरे हृदयमें है' नामक पुस्तकसे, और रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामक पुस्तकसे मुझे मुग्ध कर दिया। पर इन प्रसंगोंकी चर्चा यथास्थान होगी।

: २ :

संसार-प्रवेश

बड़े भाईने तो मुझपर बड़ी-बड़ी आशाएं बांध रखीं थीं। उनको पैसेका, कीर्तिका और पदका लोभ बहुत अधिक था। उनका दिल

बादशाही था। उदारता उड़ाऊपनकी हदतक पहुंच जाती थी। इससे और अपनी सरलताकी वजहसे उन्हें दोस्त बनाते देर न लगती थी। इस मित्रसमुदायके जरिये वह मेरे लिए मुकदमें जुटा लानेकी आशा रखते थे। उन्होंने मान लिया था कि मैं खूब कमाऊंगा, इससे घरका खर्च बढ़ा लिया था। मेरे लिए वकालतका मैदान तैयार करनेमें भी अपनी ओरसे कुछ उठा न रखा था।

जातिका झगड़ा खड़ा ही था। दो दल हो गये थे। एक पक्षने मुझे तुरन्त बिरादरीमें मिला लिया, दूसरा न लेनेपर अड़ा रहा। बिरादरीमें मिलानेवाले पक्षके संतोषके लिए राजकोट ले जानेके पहले भाई मुझे नासिक ले गये। वहां गंगास्नान कराया और राजकोट पहुंचकर बिरादरी-भोज किया। मुझे इस काममें कोई रस न आया। बड़े भाईका मेरे प्रति अगाध प्रेम था और मेरा विश्वास है कि मेरी भक्ति भी उनके प्रति वैसी ही थी। इसलिए उनकी इच्छाको आज्ञारूप मानकर मैं यंत्रवत् बिना समझे उसका अनुसरण करता रहा। बिरादरीका मसला इतनेसे हल हो गया।

जाति-च्युत कर रखनेवाले तड़में प्रवेश करनेका मैंने कभी यत्न न किया। न मनमें बिरादरीके किसी भी मुखियाके प्रति रोष लाया। उनमें मुझे तिरस्कार-दृष्टिसे देखनेवाले भी थे। उनके साथ नम्रतासे बरतता था। जाति-बहिष्कारके नियमोंको पूरा मान देता था। अपनी ससुराल या अपनी बहनके यहां पानीतक न पीता। वे छिपे-छिपे खिलाने-पिलानेको तैयार होते, पर जो बात खुले तौरपर न की जा सकती हो उसे छिपकर करना मेरा मन ही स्वीकार न करता था।

मेरे इस बर्तावका फल यह हुआ कि बिरादरीकी ओरसे मुझे कभी कोई कष्ट दिया गया हो यह मुझे याद नहीं है। इतना ही नहीं, यद्यपि मैं आज भी बिरादरीके एक विभागसे बाकायदा बहिष्कृत माना जाता हूं, फिर भी उससे मुझे मान और उदार व्यवहार पानेका ही अनुभव है। उन लोगोंने मेरे काममें मदद भी की है और बिरादरीके लिए मैं कुछ करूं, इसकी मुझसे उम्मीद-

तक न की । मै इस मधुर फलको केवल अप्रतिकारका प्रसाद मानता हूं । यदि मैंने बिरादरीमें मिलनेकी खटपट की होती, अधिक तड़ बनानेका यत्न किया होता, उन्हें छेड़ा-चिढ़ाया होता, तो वे अवश्य मेरा विरोध करते और मैं विलायतसे लौटते ही उदासीन और अलिप्त हो जानेके बजाय खटपटके जालमें फंसकर केवल मिथ्यात्वका पोषण करनेवाला बन जाता ।

स्त्रीसे मेरा संबंध अब भी जैसा मै चाहता था वैसा न हुआ । अपना ईर्ष्यालु, संशयी स्वभाव विलायत जाकर भी में न छोड़ सका । हर बातमे मेरी खोद-खाद और मेरा शक बना रहा । इससे मै अपनी मनोकामनाएं पूरी न कर सका । पत्नीको अक्षर-ज्ञान अवश्य होना चाहिए और वह मुझे ही कराना है यह मैंने सोच रखा था, पर मेरी विषयासक्तिने मुझे यह काम न करने दिया और मैने अपनी कमजोरीका गुस्सा पत्नीपर उतारा । एक बार तो यहांतक नौबत पहुंच गई कि मैंने उसे उसके मायके भेज दिया और बड़े कष्ट देनेके बाद फिर साथ रहने देना मंजूर किया । पीछे समझमे आया कि इसमें सिर्फ मेरी नादानीके सिवा कुछ नहीं था ।

बच्चोंकी शिक्षाके संबंधमें भी मुझे सुधार करने थे । बड़े भाईके लड़के थे और मैं भी एक लड़का छोड़ गया था, जो अब चार सालका हो रहा था । इन बच्चोंको कसरत कराने, उन्हें बलवान बनाने और अपने साथ रखनेका विचार था । इस काममें भाईकी सहानुभूति थी । इस यत्नमें थोड़ी-बहुत सफलता मैं प्राप्त कर सका । बच्चोंका साथ मुझे बहुत प्रिय लगा । बच्चोंके साथ मजाककी आदत तो आजतक बनी हुई है । तभीसे मेरा खयाल है कि मैं बच्चोंके शिक्षकका काम अच्छा कर सकता हूं ।

खानपानमें भी सुधार करनेकी आवश्यकता तो स्पष्ट ही थी । घरमें चाय-कहवेको स्थान मिल ही चुका था । बड़े भाईने सोचा कि भाईके विलायतसे घर आनेके पहले विलायतकी कुछ हवा तो घरमें पहुंच ही जानी चाहिए । अत: चीनी मिट्टीके बर्तन, चाय

आदि चीजें जो पहले घरमें दवाके तौरपर या 'सभ्य' मेहमानोंके लिए रहती थीं अब सबके लिए काममें आने लगीं। इस वातावरण में मैं अपने 'सुधार' लाया। जईकी लपसी घरमें दाखिल हुई, चाय-कहवेके बदल कोको। पर परिवर्तन तो नामका ही था। चाय-कहवेके साथ कोको और भी बढ़ गया। बूट और मोजे तो पहुंच ही चुके थे। मैंने कोट-पतलूनसे घरको पवित्र किया!

इस प्रकार खर्च बढ़ा। नवीनतामें वृद्धि हुई। घरपर सफेद हाथी बंध गया। पर खर्च आये कहां से? राजकोटमें तुरन्त वकालत शुरू करना तो हँसी ही कराना था। ज्ञानकी पूंजी तो अपन पास इतनी भी न थी कि राजकोटमें पास हुए वकीलके मुकाबलेमें खड़ा हो सकूं और फीस उससे दसगुनी लेनेका दावा! कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे रखता? और कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाय तो मेरे लिए क्या यह मुनासिब होता कि मैं अपने अज्ञानमें औद्धत्य तथा दगाबाजीको शामिल करके अपने ऊपरका दुनियाका कर्ज और बढ़ा लूं?

मित्रोंकी राय यह हुई कि मुझे कुछ समयके लिए बंबई जाकर हाईकोर्टकी वकालतका अनुभव प्राप्त करना तथा हिंदुस्तानके कानूनोंका अध्ययन करना चाहिए और कोई मुकदमा मिल सके तो पानेकी कोशिश करनी चाहिए। अतः मैं बंबई जानेको निकला।

वहां घर बसाया। रसोइया रखा। रसोइया भी ठीक मुझ-जैसा ही मिला। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकरकी तरह तो रखा ही नहीं था। यह ब्राह्मण नहाता था, पर धोता न था। धोती मैली, जनेऊ मैला, शास्त्रके अभ्याससे कोसों दूर। पर अधिक अच्छा रसोइया कहांसे लाऊं?

"क्यों रविशंकर (यही उसका नाम था), रसोई बनाना तो तुम्हें नहीं आता, पर संध्या-गायत्रीका क्या हाल है?"

"साहब, हमारा संध्या-तर्पण तो हल है और कुदाल है खटकरम, अपने तो ऐसे ही बाम्हन हैं। कोई आप जैसा निबाहे

तो निभ जायं, नहीं तो अन्तमें खेती तो अपनी कहीं गई नहीं है।"

मैं समझ गया। मुझे रविशंकरका शिक्षक बनना है। वक्त तो बहुत था। पकानेका आधा काम रविशंकर करता, आधा मैं। विलायतके अन्नाहारी खुराकके प्रयोग यहां जारी किये गए। एक स्टोव खरीदा। मैं स्वयं तो पंक्तिभेद मानता ही न था, रविशंकरको भी उसका आग्रह न था। इससे हमारी पटरी ठीक बैठ गई। सिर्फ शर्त या मुसीबत कहिये इतनी थी कि रविशंकरने मैलसे नाता तोड़ने और रसोई साफ रखनेकी कसम खा ली थी!

पर मेरा बंबईमें चार-पांच महीनेसे अधिक रहना मुमकिन ही न था; क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी कुछ भी न थी।

इस प्रकार मैंने संसारमें प्रवेश किया। बारिस्टरी मुझे खलने लगी। आडम्बर बहुत, आय थोड़ी। जिम्मेदारीका खयाल मुझे कोंचने लगा।

: ३ :

पहला मुकदमा

बंबईमें एक ओर कानूनका अध्ययन आरम्भ हुआ, दूसरी ओर खुराकके प्रयोग, जिसमें वीरचंद गांधी मेरे साथी बने। तीसरी तरफसे भाईने मेरे लिए मुकदमें जुटानेकी कोशिश शुरू की।

कानूनकी पढ़ाईका काम धीमी चालसे चलता था। जाब्ता दीवानी (सिविल प्रोसीजर कोड) किसी तरह गले न उतरता था। कानून शहादतकी पढ़ाई ठीक चली। वीरचंद गांधी सालिसिटर बननेकी तैयारी कर रहे थे। इसलिए वकीलोंके बारेमें बहुत बातें किया करते थे। "फीरोजशाहकी होशियारीकी वजह उनका कानूनका अगाध ज्ञान है। 'एविडेंस एक्ट' (कानून शहादत) तो उनकी जबानपर ही है। बत्तीसवीं धाराका एक-एक मुकदमा वह जानते हैं। बदरुद्दीनकी होशियारी तो ऐसी है कि जज भी उसके

तेजसे चौंधिया जाते हैं। उनकी बहस करनेकी शक्ति अद्‌भुत है।"

ज्यों-ज्यों इन महारथियोंके बारेमें सुनता त्यों-त्यों मेरी हिम्मत छूटती जाती।

"पांच-सात सालतक बारिस्टरका अदालतमें ढेले फोड़ते रहना कोई असाधारण बात नहीं है। इसलिए मैंने सालिसिटर होना तै किया। तीन सालके बाद भी तुम अपना खर्च चलानेभर कमा लो तो कहना होगा कि बहुत किया।"

खर्च हर महीने बढ़ता ही जाता। बाहर बारिस्टरका साइन-बोर्ड लगा रखना और घरमें बारिस्टरी करनेकी तैयारी करना। मेरा मन किसी तरह इन दोनोंका मेल न बैठा पाता था। इससे कानूनकी मेरी पढ़ाई उद्विग्न चित्तसे होती थी। शहादतके कानून-में कुछ रस मिलनेकी बात कह चुका हूं। मेनका 'हिंदू ला' बड़ी रुचिसे पढ़ा। पर मुकदमेंकी पैरवीकी जिम्मेदारी उठानेकी हिम्मत न आई। अपनी पीड़ा किसे सुनाऊं? मेरी हालत ससुराल गई हुई नई बहूकी-सी हो गई।

इतनेमें ममीबाईका मामला मुझे मिला। स्मॉल काज कोर्ट —

इतनेमें ममीबाईका मामला मुझे मिला। खफीफा अदालतमें जाना था। दलालको कमीशन देनेकी बात उठी। मैंने साफ इन्कार किया।

"पर फौजदारी अदालतके नामी-गिरामी वकील श्री . . . जो महीनेमें तीन-चार हजार कमाते हैं वह भी दलाली देते ही हैं।"

"मैं कहां उनकी बराबरी करना चाहता हूं? मुझे तो हर महीने ३०० रु० मिल जायं तो बहुत हैं। पिताजीको इससे अधिक कहां मिलते थे?"

"पर वे दिन लद गये। बंबईका खर्च बड़ा है। व्यवहारकी बात भी सोचनी चाहिए।" मैं टस-से-मस न हुआ। दलाली नहीं ही दी। फिर भी ममीबाईका मामला तो मिला। मुकदमा आसान था। मुझे मेहनतानेमें ३०) मिले। मामला एक दिनसे अधिक चलनेवाला न था।

खफीफा अदालतकी देहली लांघनेका यह पहला ही मौका

था। मैं मुद्दालेहकी ओरसे था, अत: मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ, लेकिन पांव कांप रहे थे, सिर चकरा रहा था। जान पड़ता था, कचहरी घूम रही है। सवाल सूझते ही न थे। जज हँसा होगा। वकीलोंको तो मजा आया ही होगा। पर मेरी आंखें क्या कुछ देख पाती थीं!

मैं बैठ गया। दलालसे बोला, "मुझसे तो यह मुकदमा न चल सकेगा। पटेलको कर लीजिए। मुझे दिया हुआ मेहनताना वापस ले लीजिए।" पटेलको उसी दिनके ५१) देकर वकील किया। उनके लिए तो वह मामला खेल था।

मैं भागा। मुवक्किल जीता या हारा, इसकी मुझे याद नहीं है। मैं शरमाया। निश्चय किया कि जबतक पूरी हिम्मत नहीं आ जाती तबतक कोई मामला न लूंगा और दक्षिण अफ्रीका जानेतक कचहरी नहीं गया। इस निश्चयमें कोई बल न था। ऐसा कौन बेवकूफ था जो हारनेके लिए अपना मामला मुझे सौंपता? अत: मेरे बिना ऐसा निश्चय किये भी मुझे कचहरी जानेका कष्ट कोई न देता!

पर अभी एक और मामला बंबईमें मिलनेवाला था। इस मुकदमेमें अर्जीदावा बनाना था। एक गरीब मुसलमानकी जमीन पोरबंदरमें जब्त हुई थी। पिताजीका नाम जानकर वह उनके बारिस्टर लड़केके पास आया था। मुझे उसके मामलेमें कुछ दम न जान पड़ा, फिर भी मैंने अर्जीदावा लिख देना स्वीकार कर लिया। छपाईका खर्च मुवक्किलको देना था। मैंने अर्जीदावा बना दिया। दोस्तोंको दिखाया। वह अर्जीदावा पास हुआ। मनको कुछ विश्वास हुआ कि मैं अर्जीदावे लिखने लायक हो सकता हूं। वस्तुत: था भी।

मेरा काम बढ़ता गया। मुफ्तमें अर्जियां लिखनेका धंधा करनेसे अर्जियां लिखानेवालोंकी कमी तो न पड़ती, पर उससे रोटी-दाल-का ठिकाना तो न होता था!

मैंने सोचा कि मैं शिक्षकका काम जरूर कर सकता हूं।

अंग्रेजीका अभ्यास काफी कर लिया था। अतः किसी स्कूलमें मैट्रिक क्लासको अंग्रेजी पढ़ानेका काम मिल जाय तो कर लूं। गड्ढा कुछ तो भरे !

मैंने पत्रमें विज्ञापन पढ़ा। एक प्रसिद्ध हाईस्कूलका विज्ञापन था: "आवश्यकता है अंग्रेजी शिक्षककी। रोज एक घंटेके लिए। वेतन ७५)।" मैंने दरख्वास्त दी। मुझे रूबरू मिलनेका हुक्म हुआ। मैं बड़ी आशाएं लेकर गया। पर प्रिंसिपलको जब यह मालूम हुआ कि मैं बी० ए० नहीं हूं तो खेदके साथ मुझे लौटा दिया।

"पर मैंने लंदनकी मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की है। लैटिन मेरी दूसरी जबान थी।"

"यह सब ठीक है, पर हमें तो ग्रेजुएट ही चाहिए।"

मैं लाचार हो गया। हिम्मत छूट गई। बड़े भाई भी चिंतित हुए। हम दोनोंने सोचा कि बंबईमें अधिक समय बिताना बेकार है। मुझे राजकोटमें ही जमना चाहिए। भाई खुद छोटे वकील थे। मुझे अर्जीदावे लिखनेका कुछ-न-कुछ काम तो दे ही सकते हैं। फिर राजकोटमें तो घरका खर्च ही है। बंबईका खर्च निकाल देनेसे बड़ी बचत हो जाती है। सलाह मुझे जंची। यों कुल ५-६ महीने रहकर बंबईकी गहस्थी उजड़ गई।

बंबई रहा तबतक हाईकोर्ट रोज जाता था; पर वहां कुछ सीखा हो, यह नहीं कह सकता। सीखने जितनी समझ ही न थी। कितनी ही बार तो मुकदमा समझमें न आता और कार्रवाईमें रस न मिलता, तब बैठा झपकियां लेता रहता। झपकियां लेनेवाले और साथी भी मिल जाते थे, इससे लज्जाका बोझ कुछ हल्का हो जाता था। अंतमें समझने लगा कि हाईकोर्टमें बैठकर झपकियां लेना कोई फैशनके खिलाफ बात नहीं है। फिर तो लज्जा का कारण ही न रह गया।

इस युगमें भी मुझ-जैसे कोई बेकार बारिस्टर यदि बंबईमें हों तो उनके लिए एक छोटा-सा अनुभव यहां लिख देना चाहता हूं।

डेरा गिरगांवमें होते हुए भी हाईकोर्ट जाने-आनेमें गाड़ीके पैसे शायद ही कभी खर्चता था। ट्राममें भी यदा-कदा ही बैठता। गिरगांवसे प्रायः रोज पैदल ही जाता था। इसमें खासे ४५ मिनट लग जाते थे। घर वापस तो बिला नागा पैदल ही आता था। धूप सहनेकी आदत डाल ली थी। इससे मैंने काफी पैसे बचाये और बंबईमें मेरे बहुत-से साथी बीमार पड़े, पर मैं एक दिन भी बीमार पड़ा हूं, यह मुझे याद नहीं है। कमाने लगनेपर भी इस प्रकार दफ्तर पैदल जानेकी आदत मैंने कायम रखी। इसका लाभ आजतक उठा रहा हूं।

: ४ :

पहला आघात

बंबईसे निराश होकर राजकोट गया। अलग दफ्तर खोला। गाड़ी कुछ चली। अर्जीदावे लिखनेका काम मिलने लगा और महीनेमें मोटे हिसाबसे तीन सौ रुपयेकी आमदनी होने लगी। अर्जीदावे लिखनेका काम मेरी होशियारीकी वजहसे नहीं मिलने लगा था, उसका कारण था वसीला। बड़े भाईके साथ काम करनेवाले वकीलकी वकालत जमी हुई थी। उनके पास जो अधिक महत्त्वकी दरख्वास्तें लिखनेको आतीं या जिन्हें वह महत्त्वका समझते वे तो बड़े बारिस्टर के पास ही जाती थीं। उनके गरीब मुवक्किलोंकी अर्जियोंका मसौदा बनानेका काम मुझे मिलता था।

बंबईमें दलाली न देनेकी जो मेरी टेक थी वह यहां टूट गई, यह मान लिया जा सकता है। दोनों स्थितियोंका भेद मुझे समझाया गया। वह यह था कि बंबईमें मेरे केवल दलालको पैसे देनेका सवाल था। यहां वकीलको देना था। मुझे बतलाया गया कि बंबईकी तरह यहां भी सब बारिस्टर बिना अपवादके कुछ प्रतिशत कमीशन देते हैं। भाईकी दलीलोंका जवाब मेरे पास न था।

"तुम देखते हो कि मैं दूसरे वकीलके साझेमें काम करता हूं। मेरे पास जो मुकदमे आते हैं उनमें जो तुम्हें देने लायक होते हैं वह तुम्हें देनेकी ओर मेरा झुकाव रहना स्वाभाविक है; पर तुम अपने मेहनतानेका हिस्सा मेरे साझीको नहीं दो तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो जाती है ? हम साथ रहते हैं, इसलिए तुम्हारे मेहनताने-का लाभ मुझे तो मिल ही जाता है; पर मेरे साझीको ? और वही मामला वह किसी दूसरेको दें तो उन्हें उसके मेहनतानेमें हिस्सा मिलेगा ही।"

इस दलीलके भुलावेमें मैं आ गया और मैंने देखा कि अगर मुझे बारिस्टरी करनी है तो ऐसे मामलोंमें कमीशन न देनेका आग्रह मुझे छोड़ देना होगा। मैं पिघला। अपने मनको मनाया या साफ शब्दोंमें कहूं तो धोखा दिया; पर इसको छोड़कर और किसी मामलेमें कमीशन या दलाली देनेकी बात मुझे याद नहीं।

मेरी आर्थिक गाड़ी तो चल निकली; पर इस बीच मुझे अपने जीवनकी पहली ठेस लगी। अंग्रेज हाकिम क्या होते हैं यह कानसे तो सुना करता था, पर आंखों देखनेका मौका मुझे अब मिला।

पोरबंदरके भूतपूर्व राणासाहबको गद्दी मिलनेके पहले मेरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उस बीच राणासाहबको गलत सलाह देनेकी तोहमत उनपर लगाई गई थी तात्कालिक पोलि-टिकल एजेंटसे इसकी शिकायत होनेके कारण मेरे भाईके बारेमें उनका खयाल खराब हो रहा था। इस अफसरसे मै विलायतमें मिला था। बल्कि कह सकता हूं कि वहां उसने मुझसे मजेकी दोस्ती जोड़ी थी। भाईने सोचा कि इस परिचयका लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजेंटसे दो शब्द कहूं और उनपर जो खराब असर पड़ा है उसे मिटानेकी कोशिश करूं। मुझे यह बात तनिक भी न रुची। विलायतके तुच्छ परिचयका फायदा मुझे नहीं उठाना चाहिए। यदि मेरे भाईने कोई खराब काम किया हो तो सिफारिशसे फायदा ? यदि न किया हो तो बाकायदा दरख्वास्त दें या अपनी निर्दोषितापर भरोसा रखकर निश्शंक रहें। यह दलील भाईके गले न उतरी।

"तुम काठियावाड़को जानते नहीं। अभी तुमने दुनियाको समझा नहीं है। यहां तो जोर-जरियेसे काम चलता है। तुम्हारे-जैसा भाई अपने मुलाकाती हाकिमसे जरा-सी सिफारिश करनेका मौका आनेपर सटक जाय तो यह उचित नहीं कहा जा सकता।"

भाईकी बात मैं टाल न सका। अपनी इच्छाके विरुद्ध मैं गया। मुझे अफसरके पास जानेका कोई हक न था। जानेमें मेरा स्वाभिमान भंग होता था। इसका मुझे खयाल था। फिर भी मैंने मिलनेका समय मांगा। वह मिला और मै मिलने गया। मैंने पुराने परिचयकी याद दिलाई; पर मैंने तुरंत देखा कि विलायत और काठियावाड़में अंतर है। अपनी कुरसीपर बिराजते हुए अफसर और छुट्टीपर गये हुए अफसरोंमें भी भेद है। उक्त साहब-ने परिचय स्वीकार किया, पर इस स्वीकृतिके साथ ही वह अधिक तन गया। यह मैंने उसकी अकड़से देखा और उसकी नजरमें पढ़ा, मानो वह कह रही थी कि इस "परिचयका लाभ उठाने तो तुम नहीं आये हो न?" यह समझते हुए भी मैंने अपनी कहानी शुरू की। साहब धैर्यच्युत हो गया। "तुम्हारे भाई खटपटिये हैं। तुमसे मैं ज्यादा बातें नहीं सुनना चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाईको कुछ कहना हो तो बाकायदा दरख्वास्त दें।" यह जवाब काफी था, ठीक था; पर गरज तो बावली होती है। मै तो अपनी कहानी कहे जा रहा था। साहब उठे। "अब तुम्हें जाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए।"

साहब बहुत खीझ गया। "चपरासी, इसको दरवाजा बताओ।"

"हुजूर" कहकर चपरासी दौड़ा आया। मैं तो अब भी कुछ बड़बड़ा ही रहा था। चपरासीने मुझे हाथ लगाया और दरवाजेके बाहर कर दिया।

साहब चले गए, चपरासी गया। मैं चला, अकुलाया, खीझा। मैंने एक खत घसीटा—"आपने मेरा अपमान किया है, चपरासीके

जरिए मुझपर हमला किया है। आप माफी न मांगेंगे तो बाकायदा आपपर मानहानिकी नालिश करूंगा।" यह चिट्ठी मैंने भेजी। थोड़ी ही देरमें साहबका सवार जवाब दे गया, उसका आशय यह था—

"तुम मेरे साथ असभ्य रीतिसे पेश आये, जानेके लिए कहनेपर भी तुम नहीं गये, इससे मैंने जरूर अपने चपरासीको तुम्हें दरवाजा दिखानेको कहा। चपरासीके कहनेपर भी तुम दफ्तरसे बाहर न गये। तब उसने तुम्हें दफ्तरसे बाहर कर देनेके लिए, जितना जरूरी था उतना, बलप्रयोग किया। तुम्हें जो करना हो वह करनेको तुम आजाद हो।"

यह जवाब जेबमें डाले, मुंह लटकाये घर आया। भाईको सारा हाल सुनाया; वह दुःखी हुए। पर वह मुझे क्या सांत्वना देते? वकील मित्रोंसे चर्चा की। मुझे मामला दायर करना कहां आता था? उन दिनों सर फिरोजशाह मेहता किसी मुकदमेके सिलसिलेमें राजकोट आये हुए थे। उनसे मुझ-जैसा नया बारिस्टर कैसे मिल सकता था! पर उन्हें जिस वकीलने बुलाया था उसकी मार्फत पत्र भेजकर सलाह पुछवाई।

"गांधी से कहो, ऐसे अनुभव तो सभी वकील-बैरिस्टरोंको हुए होंगे। तुम अभी नये-नये हो। अभी विलायतकी हवा तुम्हारे दिमागमें भरी है। तुम अंग्रेज अधिकारीको पहचानते नहीं। तुम्हें चैनसे बैठना हो और दो पैसे कमाने हों तो उस जवाबको फाड़ फेंको और जो अपमान हुआ है उसे पी जाओ। मामला चलानेसे फूटी कौड़ी भी न मिलेगी, उल्टे तुम हैरान-बर्बाद होगे। जीवनका अनुभव तुम्हें होना बाकी है।"

मुझे यह सीख कड़वी जहर लगी, पर उस कड़वी घूंटको गले उतारनेके सिवा कोई चारा न था। मैं अपमानको भूल तो न सका, पर उसका सदुपयोग किया। "ऐसी स्थितिमें फिर कभी न पड़ूंगा, किसीकी सिफारश इस तरह न करूंगा।" इस नियमका कभी भंग नहीं किया। इस ठेसने मेरे जीवनकी दिशा बदल दी।

: ५ :

दक्षिण अफ्रीकाकी तैयारी

मेरा उक्त अफसरके यहां जाना अवश्य अनुचित था, पर उसकी अधीरता, रोष और उजड्डपनके सामने मेरा दोष छोटा हो गया। उस कसूरकी सजा धक्का दिलवाना नहीं था। मैं उसके पास पूरे पांच मिनट भी न बैठा होऊंगा। उसे तो मेरा बोलना ही नागवार गुजरा। वह विवेकपूर्वक मुझसे जानेको कह सकता था। पर उसके हुकूमतके नशेकी कोई हद न थी। बादको मुझे पता चला कि इस अफसरके पास धीरज नामकी चीज ही नहीं थी। उसके यहां जानेवालेका अपमान करना उसके लिए मामूली बात थी। उसे न रुचनेवाली बात मुंहसे निकली कि साहबका मिजाज बिगड़ा।

मेरा अधिक काम तो उसीकी कचहरीमें रहता था। खुशामद मुझसे होने ही वाली न थी। इस अधिकारीको अयोग्य रीतिसे रिझाना मुझे मंजूर न था। उसे नालिशकी धमकी देकर नालिश न करूं और उसे कुछ लिखूं भी नहीं, यह भी मुझे ठीक न लगा।

इसी बीच काठियावाड़के दरबारी दावपेचोंका भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ छोटे-छोटे राज्योंका प्रदेश है। यहां जोड़-तोड़ लगानेमें कुशल राजनीतिज्ञोंकी बहुतायत होनी स्वाभाविक ही थी। राज्योंमें परस्पर दावपेच, ओहदे हथियानेके लिए अधिकारियोंकी साजिशें चलती ही रहतीं। राजा कानके कच्चे और परवश थे। साहबके अर्दली तककी खुशामद होती; सरिश्तेदारकी बात ही क्या, वह तो साहबसे भी बड़ी चीज होता; क्योंकि वही तो साहबकी आंख, कान और उसका दुभाषिया होता है। सरिश्तेदारकी मर्जी ही कानून थी। उसकी आमदनी साहबकी आमदनीसे अधिक समझी जाती थी। इसमें अत्युक्तिकी संभावना जरूर है, पर सरिश्तेदारकी छोटी-सी तनख्वाहके मुकाबलेमें उसका खर्च निस्संदेह अधिक होता था।

यह वातावरण मुझे विष-सा लगा। अपनी स्वतन्त्रता कैसे

बचा सकूंगा, यह चिन्ता मनमें बनी ही रहती।

मैं उदासीन हो गया। भाईने मेरी उदासीनता देखी। सोचा कि कहीं नौकरी कर लूं तो इन कुचक्रोंसे मुक्ति मिले; पर जोड़-तोड़के बिना दीवान और न्यायाधीशका पद कहां मिल सकता था? वकालत करनेमें साहबके साथका झगड़ा बाधक होता था।

पोरबंदरमें उस समय सरकारी प्रबंध चल रहा था। वहां राणासाहबको कुछ अधिकार मिलनेका प्रयत्न करना था। मेरे लोगोंसे लगान उचितसे अधिक लिया जाता था। उसके लिए भी मुझे वहां एडमिनिस्ट्रेटरसे मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटर गो हिन्दुस्तानी हैं, पर उनके रोब-दाब साहबसे भी दो कदम आगे हैं। वह होशियार थे, पर उनकी होशियारीका अधिक लाभ प्रजाको मिलते न देखा। राणासाहबको थोड़े अख्तियार मिल गये। मेरे लोगोंको तो, कहना चाहिए कि, कुछ भी न मिला। उनके मामलेकी पूरी जांच हुई, यह भी मुझे न दिखाई दिया।

अतः यहां भी मुझे थोड़ी निराशा ही हुई। मुझे जान पड़ा कि न्याय नहीं हुआ। न्याय पानेके लिए मेरे पास साधन न थे। बहुत करें तो बड़े साहबके सामने अपील करें। उनका रिमार्क होगा, "हम इस मामलेमें दखल नहीं दे सकते।" ऐसा फैसला किसी कायदे-कानूनके आधार पर हो तो कुछ उम्मीद भी रखी जाय। यहां तो साहबकी मर्जी ही कानून थी।

मैं अकुला उठा।

इस बीच भाईके पास पोरबंदरके एक मेमन फर्मका संदेश आया, "हमारा व्यापार दक्षिण अफ्रीकामें है। हमारा फर्म बड़ा है। हमारा एक बड़ा मामला चल रहा है। दावा चालीस हजार पौंडका है। मामला बहुत दिनोंसे चलता है। हमारे पास अच्छे-से-अच्छे वकील-बारिस्टर हैं। अगर आप अपने भाईको भेज दें तो वह हमें मदद करेंगे और उन्हें भी कुछ मदद मिल जायगी। वह हमारा मामला हमारे वकीलको अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा, वह नया देस देखेंगे, और बहुत-से नये आदमियोंसे परिचयका

लाभ भी होगा।"

भाईने मुझसे जिक्र किया। मैं इन सारी बातोंका मतलब न समझ सका। मुझे सिर्फ वकीलको ही समझानेका काम करना होगा या कचहरी भी जाना पड़ेगा, यह न जान सका। पर मैं ललचाया।

दादा अब्दुल्लाके साझी स्व० सेठ अब्दुलकरीम जौहरीसे भाईने भेंट कराई। सेठने कहा, "आपको अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। हमारी बड़े-बड़े गोरोंसे दोस्ती है। इनसे आपका परिचय हो जायगा। हमारी दुकानमें भी आप मदद कर सकोगे। हमारे यहां अंग्रेजी पत्र-व्यवहार बहुत रहता है। उसमें भी आप सहायता कर सकेंगे। आप हमारे बंगलेमें ही रहेंगे, इससे आपका कुछ खर्च न पड़ेगा।"

मैंने पूछा, "मेरी सेवा आप कितने दिनोंके लिए चाहते हैं? मुझे तनख्वाह क्या मिलेगी?"

"आपका काम एक सालसे अधिक न रहेगा। आपको फर्स्ट क्लासका आने-जानेका भाड़ा और रहने-खानेके खर्चके अलावा १०५ पौंड दिये जायेंगे।"

यह कोई वकालत नहीं कही जा सकती, यह तो नौकरी थी। पर मुझे तो जैसे भी हो हिन्दुस्तान छोड़ना था। नया मुल्क देखनेको मिलेगा, अनुभव मिलेगा। वह अलग। १०५ पौंड भाईको भेज दूंगा, उससे घरके खर्चमें कुछ मदद तो मिल ही जायगी। यह सोचकर मैंने तो वेतनके बारेमें कुछ झिकझिक किये बिना ही सेठ अब्दुलकरीमका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और दक्षिण अफ्रीका जानेको तैयार हो गया।

: ६ :

नेटाल पहुंचा

विलायत जाते हुए जो वियोग-दुःख हुआ था वह दक्षिण अफ्रीका जाते समय नहीं हुआ। माता तो चल ही बसी थीं। मुझे

दुनिया और मुसाफिरीका कुछ तजरबा भी हो गया था। राजकोट और बंबईके बीच तो आवा-जाही लगी ही रहती थी। अतः इस समय दुःख केवल पत्नीसे वियोग का था। विलायतसे आनेपर एक और बच्चेकी प्राप्ति हुई थी। हमारे पारस्परिक प्रेममें अभी विषय-वासना तो थी ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। विलायतसे आनेके बाद हम एक साथ बहुत कम रहे थे। मैं स्वयं चाहे जैसा होते हुए भी शिक्षक बन गया था, इसलिए तथा पत्नीमें कई सुधार कराये थे, उन्हें कायम रखनेके लिए भी साथ रहनेकी आवश्यकता हम दोनोंको जान पड़ती थी। पर अफ्रीका मुझे खींच रहा था। उसने वियोगको सह्य बना दिया। "एक साल बाद तो हम मिलेंगे ही" कहकर मैंने पत्नीको दिलासा दिया, राजकोटसे विदा ली और बंबई पहुंचा।

दादा अब्दुल्लाके बंबईके गुमाश्तेकी मार्फत मुझे टिकट कटाना था। पर स्टीमरमें कोई केबिन खाली नहीं मिल रहा था। इस स्टीमरमें न जानेसे महीने भर बैठकर बंबईकी हवा खानी पड़ती। गुमाश्तेने कहा, "हमने तो बहुत मेहनत की, पर हमें टिकट नहीं मिल सकता। आप डेकमें जाना पसन्द करें तो जा सकते हैं। खाने-का इन्तजाम सलूनमें हो जायगा।" ये दिन मेरे फर्स्ट क्लासकी यात्राके थे। कोई बारिस्टर भला डेकका यात्री होकर जा सकता है? मैंने डेकमें जानेसे इन्कार किया। मुझे गुमाश्तेपर शक हुआ। इस बातपर मुझे यकीन न आया कि पहले दर्जेका टिकट मिल ही नहीं सकता। गुमाश्तेकी अनुमतिसे मैंने खुद टिकटके लिए कोशिश की। मैं स्टीमरपर पहुंचा और उसके बड़े अफसरसे मिला। दरियाफ्त करनेपर उसने सरल भावसे उत्तर दिया—"हमारे यहां शायद ही कभी इतनी भीड़ होती है। पर मोजांबिक-के गवर्नर-जनरल इसी स्टीमरसे जा रहे हैं। इसीसे सारी जगह भर गई है।"

"तो क्या किसी तरह आप मेरे लिए जगह नहीं निकाल सकते?"

उस अफसरने मेरी ओर देखा। फिर हँसा और बोला, "एक उपाय है। मेरी केबिनमें एक बर्थ खाली रहती है। उसमें हम यात्रीको नही लेते, पर आपको मैं वह जगह देनेको तैयार हूं।" मुझे खुशी हुई। अफसरको धन्यवाद दिया। सेठसे बात की और टिकट कटाया। १८९३के अप्रैल महीनेमें मै हौसलोंसे भरा हुआ दक्षिण अफ्रीकामें किस्मत आजमानेके लिए रवाना हो गया।

पहला बंदरगाह लामू था। यहां पहुंचनेमें लगभग तेरह दिन लगे। रास्तेमें कप्तानसे खासी दोस्ती हो गई। कप्तानको शतरंज खेलनेका शौक था। पर था वह अभी नौसिखुवा। उसे अपनेसे कच्चा खेलनेवाला साथी चाहिए था। इसलिए उसने मुझे खेलनेका न्यौता दिया। मैंने शतरंजका खेल कभी देखा न था। उसके बारेमें सुना तो काफी था। उसके खिलाड़ियोंसे सुना था कि इस खेलमें अक्ल खूब लगानी पड़ती है। कप्तानने कहा कि मैं तुम्हें शतरंज खेलना सिखा दूंगा। मैं उसे अच्छा शागिर्द मिला, क्योंकि मुझमें धीरज था। मै तो हारता ही रहता था। इससे कप्तानका सिखानेका हौसला बढ़ता जाता था। मुझे शतरंजका खेल रुचा; पर यह शौक कभी जहाजके नीचे न उतरा। न सीखना ही बादशाह-वजीरकी चाल जान लेनेसे आगे बढ़ सका।

लामू बंदर आया। स्टीमर वहां तीन-चार घंटे ठहरनेवाला था। मैं बंदर देखने नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। उसने मुझसे कहा, "यहांका बंदर (समुद्र) दगाबाज है। तुम जल्दी लौट आना।"

गांव तो बिलकुल छोटा-सा था। वहांके डाकखानेमें गया तो हिन्दुस्तानी नौकर दिखाई दिये। इससे मुझे खुशी हुई। मैंने उनसे बातें कीं। हब्शियोंसे मिला। उनकी रहन-सहन समझनेमें रस मिला। इसमें कुछ वक्त चला गया। डेकके कुछ और यात्री थे। उनसे मैंने जान-पहचान कर ली थी। वे खाना पकाकर इतमीनानसे भोजन करनेके इरादेसे नीचे उतरे थे। मैं भी उनकी नावमें बैठा। बंदरमें ज्वार काफी था। हमारी नावमें बोझ भर-

पूर था। बहाव इतना तेज था कि हमारी नावकी रस्सी स्टीमरकी सीढ़ीके साथ बंध ही न पाती थी। नाव सीढ़ीके पास जाती और हट जाती। स्टीमर खुलनेकी पहली सीटी हुई। मैं घबराया। कप्तान ऊपरसे देख रहा था। उसने पांच मिनट स्टीमर रोक देनेका हुक्म दिया। स्टीमरके पास एक मछली मारनेवाली नाव थी। उसे दस रुपये देकर एक मित्रने मेरे लिए तय किया और उस मछुएने मुझे पहली नावमेंसे ले लिया। स्टीमरकी सीढ़ी उठ चुकी थी। रस्सीसे मैं ऊपर खींच लिया गया और स्टीमर चल दिया। दूसरे यात्री छूट गये। कप्तानकी चेतावनीका अर्थ अब मेरी समझमें आया।

लामूसे मुंबासा और वहांसे जंजीबार पहुंचा। जंजीबारमें तो बहुत ठहरना था—आठ या दस दिन। यहां स्टीमर बदलना था। कप्तानका मुझपर असीम प्रेम था। इस प्रेमने मेरे लिए उलटा रूप ग्रहण कर लिया। उसने मुझे अपने साथ सैर करनेका निमन्त्रण दिया। एक अंग्रेज मित्रको भी निमन्त्रित किया था। हम तीनों कप्तान की नावमें चले। इस सैरका मतलब मैंने बिलकुल न समझा था। कप्तान क्या जाने कि मैं ऐसे मामलोंमें बिलकुल अनजान हूं ? हम हब्शी औरतोंके बाड़ेमें पहुंचे। एक दलाल हमें वहां ले गया। हममेंसे हर-एक एक कोठरीमें घुसा। पर मैं तो मारे शरम के वहां गठरी बना बैठा रहा। उस स्त्री बेचारीने क्या सोचा होगा, यह तो वही जाने। कप्तानने आवाज दी। मैं तो जैसा अन्दर घुसा था वैसा ही बाहर निकल आया। कप्तान मेरा भोलापन समझ गया। पहले तो मुझे बड़ी लज्जा मालूम हुई। पर यह काम मुझे किसी तरह भी पसन्द आनेवाला न था, इससे तुरन्त ही वह जाती रही और मैंने ईश्वरको धन्यवाद दिया कि उस बहनको देखकर मेरे मनमें विकार-जैसी कोई चीज पैदा तक न हुई। हां, मुझे अपनी इस कमजोरीपर घृणा अवश्य हुई कि मैं कोठरीमें घुसनेसे ही इन्कार करनेकी हिम्मत न कर सका।

यह मेरे जीवनकी इस तरहकी तीसरी परीक्षा थी। कितने ही युवक पहले निर्दोष होते हुए भी झूठी शरमके कारण बुराई-में पड़ जाते होंगे। मेरी रक्षा मेरे पुरुषार्थने नहीं की। यदि मैंने कोठरीमें जानेसे ही साफ नाहीं कर दी होती तब वह पुरुषार्थ माना जाता। मुझे तो अपने बचावके लिए भगवानका ही उपकार मानना चाहिए। इस घटनासे ईश्वरपर मेरी आस्था बढ़ी और मनमें झूठी शरम छोड़नेका कुछ बल भी आया।

जंजीबारमें एक सप्ताह बिताना था। इसलिए मैं एक मकान किरायेपर लेकर शहरमें रहा। शहरको खूब घूम-घूमकर देखा। जंजीबारकी हरियालीकी कल्पना केवल मलाबारको ही देखकर हो सकती है। वहांके विशाल वृक्ष, वहांके बड़े-बड़े फल, इत्यादि देखकर मै तो चकित हो गया।

जंजीबारसे मोजांबिक और वहांसे मईके लगभग अन्तमें नेटाल पहुंचा।

: ७ :

अनुभवोंके नमूने

नेटालका बंदरगाह, डरबन और नेटाल बंदर दोनों नामोंसे प्रसिद्ध है। वहां मुझे लेनेके लिए अब्दुल्ला सेठ आये थे। स्टीमर डेकमें पहुंचनेपर नेटालके लोग उसपर अपने मित्रोंको लेने आये। उसीसे मैं समझ गया कि यहां हिन्दुस्तानियोंकी ज्यादा इज्जत नहीं है। अब्दुल्ला सेठके परिचित जिस रीतिसे उनके साथ व्यवहार करते थे उसमें भी एक तरहकी तुच्छता मुझे नजर आती थी, जो मुझे चुभती थी। अब्दुल्ला सेठको यह तुच्छता बरदाश्त हो गई थी। मेरी ओर जो देखता वह कुछ कौतुककी दृष्टि से देखता था। अपनी पोशाकके कारण मैं दूसरे हिन्दुस्तानियोंसे कुछ अलग-सा हो जाता था। मैं उस समय फ्राककोट, आदि पहने था और सिरपर बंगाली ढंगकी पगड़ी।

'अब्दुल्ला सेठ मुझे अपने घर ले गये। उनके कमरेकी बगलमें एक कमरा था, वह उन्होंने मुझे दिया। वह मुझे नहीं समझते थे, मैं उन्हें नहीं समझता था। अपने भाईके दिये हुए कागज-पत्र उन्होंने पढ़े और बहुत घबराये। उन्हें जान पड़ा कि भाईने उनके यहां सफेद हाथी बांध दिया। मेरा साहबी रहन-सहन उन्हें खर्चीला लगा। मेरे लिए कोई खास काम उस समय था नहीं। उनका मुकदमा ट्रांसवालमें चल रहा था। तुरन्त मुझे वहां भेजकर क्या करते? इसके सिवा मेरी होशियारी और ईमानदारीका भरोसा भी किस हदतक करें? प्रिटोरियामें खुद मेरे साथ न रह सकते थे। प्रतिवादी प्रिटोरियामें ही रहता था। उसका मुझपर बेजा प्रभाव पड़ जाय तो? मुकदमेका काम मुझे न सौंपे तो दूसरे काम तो उनके मुनीम-गुमाश्ते मुझसे कहीं अच्छा कर सकते थे। गलती करनेपर मुनीमोंको तो डांटा जा सकता था। पर मैं गलती करूं तो?' या तो मुकदमेका काम था या फिर मुनीमका। इनके सिवा तीसरा कोई काम न था। इसलिए मुकदमेका काम न दें तो मुझे घर बिठाकर खिलाते रहें।

अब्दुल्ला सेठका अक्षर-ज्ञान बहुत कम था, पर अनुभव-ज्ञान भरपूर था। उनकी बुद्धि तीव्र थी और इसका अन्दाज खुद उन्हें भी था। अंग्रेजी सिर्फ बातचीत कर लेनेभर अभ्याससे सीख ली थी। पर इस तरहकी अंग्रेजीसे अपना कुल काम वे चला लेते थे। बैंकके मैनेजरोंसे बातचीत करते, युरोपियन व्यापारियोंसे सौदे पटाते, और वकीलोंको अपने मुकदमे समझा देते। हिन्दुस्तानियोंमें उनकी बड़ी इज्जत थी। उनका फर्म उस समय सब भारतीय फर्मोंमें बड़ा था, कम-से-कम बड़ोंमें से एक तो था ही। स्वभावके वह शक्की थे।

उन्हें इस्लामका अभिमान था। तत्त्वज्ञानकी चर्चा प्रिय थी। अरबी नहीं आती थी, फिर भी कुरान शरीफकी और साधारणतः इस्लामी धर्म-साहित्यकी अच्छी जानकारी थी। दृष्टांत तो जबानपर ही रहते थे। उनके सहवाससे मुझे इस्लामका

व्यावहारिक ज्ञान काफी मिला। हमारे एक दूसरेको पहचानने लगनेके बादसे वह मुझसे खूब धर्म-चर्चा किया करते थे।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबनकी कचहरी दिखाने ले गये। वहां कुछ लोगोंसे परिचय कराया। कचहरीमें अपने वकीलके पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट बराबर मेरी ओर ताक रहा था। उसने मुझसे पगड़ी उतार देनेको कहा। मैंने इन्कार किया और कचहरीसे निकल गया।

मेरे नसीबमें तो यहां भी लड़ाई ही बदी थी!

पगड़ी उतारनेका भेद अब्दुल्ला सेठने समझाया। मुसलमानी पहनावेके साथ तो अपनी मुसलमानी पगड़ी पहनी जा सकती थी। अन्य हिन्दुस्तनियोंको अदालतके कमरेमें दाखिल होनेपर अपनी पगड़ी उतारनी चाहिए।

इस सूक्ष्म भेदको समझानेके लिए कुछ ब्योरे बताने होंगे।

मैंने इन दो-तीन दिनोंमें ही देख लिया था कि हिन्दुस्तानी अपने-अपने गिरोह बनाकर बैठ गये हैं। एक भाग मुसलमान व्यापारियोंका था, जो अपनेको, 'अरब' कहते थे। दूसरा भाग हिन्दू या पारसी किरानियों, मुनीम-गुमाश्तोंका था। हिन्दू किरानी अधरमें लटकते थे। कोई 'अरब' में मिल जाते। कोई पारसी 'पर्शियन' कहकर अपना परिचय देते। इन तीनोंका व्यापारके सिवा भी आपसमें थोड़ा-बहुत संबंध अवश्य था। एक चौथा और बड़ा वर्ग था तमिल-तेलगू और उत्तरकी ओरके गिरमिटियों तथा गिरमिटमुक्त भारतीयों का। 'गिरमिट' के मानी हैं, इकरार-नामा लिखकर पांच बरसके लिए मजूरी करने जो गरीब हिन्दुस्तानी उस समय नेटाल जाते थे, वह इकरार अथवा 'एग्रिमेंट' बिगड़कर 'गिरमिट' हुआ और फिर उससे 'गिरमिटिया' बना। इस वर्गसे औरोंका व्यवहार बस काम भरका ही था। इन गिरमिटयोंको अंग्रेज लोग 'कुली' कहते थे, और उनकी तादाद बड़ी होनेके कारण दूसरे हिन्दुस्तानियोंको भी कुली ही कहते थे। 'कुली' के बदले 'सामी' भी कहते थे। 'सामी'

बहुत-से तमिल नामोंके अन्तमें आनेवाला प्रत्यय है। 'सामी' के मानी है स्वामी। स्वामीका अर्थ मालिक होता है। इससे कोई-कोई हिन्दुस्तानी सामी शब्दसे चिढ़ता, और जिसमें कुछ हिम्मत होती वह सामी कहनेवाले अंग्रेजसे कहता—"तुम मुझे 'सामी' कहते हो, पर जानते हो कि 'सामी' के मानी मालिक के होते हैं। मैं कुछ तुम्हारा मालिक नहीं हूं।" यह सुनकर कोई-कोई अंग्रेज शरमा जाता, कोई खीझता और अधिक गालियां देता तथा मौके-बे-मौके पीट भी देता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो 'सामी' शब्द निंदा-सूचक ही था, उसका मालिक अर्थ करना तो उसकी बेइज्जती करनेके बराबर था।

इसलिए मुझे 'कुली बारिस्टर' का खिताब मिला। व्यापारी 'कुली व्यापारी' कहलाते थे। कुलीका मूल अर्थ मजदूर तो जाता रहा। व्यापारी इस शब्दसे क्रुद्ध होते और कहते, "मैं कुली नहीं हूं, मैं तो अरब हूं" या कहते, "मैं व्यापारी हूं।" जरा विनयी अंग्रेज होता तो यह सुनकर माफी भी मांगता था।

इस स्थितिमें पगड़ी पहननेका प्रश्न मेरे लिए बड़ा मसला बन गया। पगड़ी उतारनेके मानी थे मानभंग सहना। मैंने तो हिन्दुस्तानी पगड़ीको बिदा करके अंग्रेजी टोप लगानेकी सोची, जिससे उतारनेमें बेइज्जती न जान पड़े और मुझे झगड़ेसे छुटकारा मिले।

पर अब्दुल्ला सेठको यह राय पसन्द न आई। उन्होंने कहा, "यदि आप इस समय यह फेरफार करेंगे तो उसका गलत अर्थ लगाया जायगा। दूसरे जो लोग देसी पगड़ी पहनना चाहते हैं उनकी स्थिति विषम हो जायगी। इसके सिवा आपको तो अपने देशकी पगड़ी ही फबती है। अंग्रेजी टोप पहननेपर तो आप 'वेटर' जैसे लगेंगे।"

इन वाक्योंमें दुनियावी समझदारी थी, देशाभिमान था, साथ ही कुछ संकीर्णता भी थी। दुनियावी समझदारी तो साफ ही है। देशाभिमानके बिना पगड़ीका आग्रह नहीं हो सकता था। संकीर्णता-के बिना 'वेटर' संबंधी टीका संभव नहीं थी। गिरमिटिया

हिंदियोंमें हिन्दू, मुसलमान, और ईसाई ये तीन भाग थे। गिरमिटिया हिंदियोंमें जो ईसाई हो गये थे उनकी संतान ईसाई थी। यह तादाद १८९३ में भी बड़ी थी। वे सब अंग्रेजी पोशाक ही पहनते थे। उनकी खासी तादाद होटलोंकी नौकरीपर गुजर करती थी। इस भागको लक्ष्य करके अंग्रेजी टोपीकी टीका अब्दुल्ला सेठके वाक्योंमें थी। होटलमें 'वेटर' बनकर रहनेमें छोटाई है, यह खयाल उस टीकामें मौजूद था। आज भी यह भेद तो बहुतोंके दिलमें मौजूद है।

मुझे अब्दुल्ला सेठकी दलील कुल मिलाकर ठीक लगी। मैंने पगड़ीकी घटनापर अपने और पगड़ीके पक्षमें पत्रोंमें लिखा। पत्रोंमें मेरी पगड़ीकी खूब चर्चा हुई। 'अनवेलकाम विजिटर' —'बिन-बुलाया मेहमान'—शीर्षकसे अखबारोंमें मेरी चर्चा हुई और तीन-चार दिनके अन्दर ही अनायास, मुझे दक्षिण अफ्रीकामें शोहरत मिल गई। किसीने मेरा पक्ष लिया और किसीने मेरे औद्धत्यकी खूब निंदा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अन्ततक रही। वह कब गई, यह हमें अन्तके भागमें मालूम होगा।

: ८ :

प्रिटोरिया जाते हुए

डरबनमें बसनेवाले ईसाई भारतीयोंसे भी तुरंत मेरा संपर्क जुड़ गया। वहांकी कचहरीके दुभाषिये मि० पाल रोमन कैथलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेंट मिशनके शिक्षक स्वर्गीय मि० सुभान गाडफ्रेसे भी जान-पहचान पैदा की। इन्हींके पुत्र जेम्स गाडफ्रे यहां दक्षिण अफ्रीकाके हिंदी-प्रतिनिधि-मंडलमें गत वर्ष आये थे। इन्हीं दिनों स्वर्गीय पारसी रुस्तमजीसे और उसी समय स्वर्गीय आदमजी मियांखांसे परिचय हुआ। ये सब भाई अबतक बिना मतलबके एक-दूसरेसे न मिलते थे, पर इसके

बादसे मिलने लगे ।

यों मैं लोगोंसे जान-पहचान कर रहा था कि फर्मके वकीलका पत्र आया कि मामलेकी तैयारी होनी चाहिए और अब्दुल्ला सेठको खुद प्रिटोरिया आना या किसीको वहां भेजना चाहिए ।

यह पत्र अब्दुल्ला सेठने मुझे दिखाकर पूछा, "आप प्रिटोरिया जायंगे ?" मैंने कहा, "मुझे मामला समझाइए तो कह सकता हूं । अभी तो यह भी नहीं जानता कि वहां मुझे क्या करना होगा ।" उन्होंने अपने मुनीमोंको मुझे मामला समझा देनेका आदेश किया ।

मैंने देखा कि मुझे तो ककहरेसे शुरू करना पड़ेगा। जंजीबारमें उतरा था तो मैं वहांकी कचहरीका काम देखने गया था। एक पारसी वकील किसी गवाहसे जिरहमें नाम-जमाके सवाल पूछ रहा था । मैं तो न नामका मतलब समझता था और न जमाका! बहीखाता न मैंने स्कूलमें सीखा और न विलायतमें ।

मैंने देखा कि इस मामलेकी बुनियाद बहियोंपर है । जिसे बहीखातेका ज्ञान हो वही इस मामलेको समझ और समझा सकता है। मुनीमके नाम-जमाकी बात करनेपर मुझे परेशानी होती थी । 'पी० नोट' क्या चीज है, यह न जानता था और कोषमें यह शब्द मिलता न था । अपना अज्ञान मुनीमके सामने प्रकट किया तो मालूम हुआ कि पी०नोटके मानी हैं 'प्रामिसरी नोट' । बहीखातेकी पोथी खरीदकर पढ़ गया । कुछ आत्मविश्वास पैदा हुआ । मामला समझमें आया । मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ बही लिखना नहीं जानते, लेकिन व्यावहारिक ज्ञान इतना अधिक प्राप्त कर लिया है कि बहीखातेकी ग्रन्थियां झटपट सुलझा लेते थे । मैंने उन्हें बताया कि मैं प्रिटोरिया जानेको तैयार हूं ।

सेठने पूछा, "आप कहां उतरेंगे ?" मैंने जवाब दिया, "जहां आप कहें ।"

"तो मैं अपने वकीलको लिखूंगा । वह आपके ठहरनेका इंतजाम करेंगे । प्रिटोरियामें मेरे मेमन दोस्त हैं । उन्हें मैं लिखूंगा जरूर, लेकिन आपका उनके यहां उतरना ठीक न होगा ।

वहां हमारे प्रतिपक्षीकी बहुत पहुंच है। आपके पास मेरे निजी कागज-पत्र जायं और उनमेंसे कोई उन्हें पढ़-पढ़ा ले तो हमारे मुकदमेको नुकसान पहुंच सकता है। उनके साथ जितना कम संबंध रहे उतना ही अच्छा है।"

मैंने कहा, "आपका वकील जहां रखेगा वहां मैं रहूंगा। या मैं कोई अलग घर ढूंढ लूंगा। आप बेफिक्र रहें। आपकी एक भी व्यक्तिगत बात बाहर न जाने पायगी। पर मैं मिलता-जुलता तो सभीसे रहूंगा। मुझे तो प्रतिपक्षीसे भी दोस्ती जोड़नी है। मेरे किये हो सके तो मैं तो इस मुकदमेको आपसमें तै करानेकी कोशिश भी करूं। आखिर तैयब सेठ आपके रिश्तेदार ही तो हैं!"

प्रतिपक्षी स्वर्गीय तैयब हाजीखान मुहम्मद, अब्दुल्ला सेठके नजदीकी रिश्तेदार थे।

मैंने देखा कि इस बातपर अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके पर तबतक मुझे डरबन पहुंचे छह-सात दिन हो चुके थे। हम एक-दूसरेको जानने और समझने लग गये थे। मेरा 'सफेद हाथी'पन लगभग मिट गया था। वह बोले, "हां ...आ ....आ। जो सुलह हो जाय तो इससे बढ़कर तो और क्या हो सकता है। पर हम तो रिश्तेदार हैं, इसलिए एक-दूसरेको अच्छी तरह पहचानते हैं। तैयब सेठ जल्दी माननेवाले नहीं हैं। हम सिधाईसे व्यवहार करें तो हमारे पेटकी बात निकलवाकर पीछे गला दाबेंगे। इसलिए जो करना हो होशियार रहकर कीजिएगा।"

मैं बोला, "आप जरा भी फिक्र न करें। मुझे मुकदमेकी बात तैयब सेठ या किसीके सामने करनेकी जरूरत ही नहीं है। मैं तो इतना ही कहूंगा कि आप दोनों आपसमें तस्फिया कर लें तो वकीलोंका घर न भरना पड़े।"

सातवें या आठवें दिन मैं डरबनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दर्जेका टिकट कटाया गया। ट्रेनमें सोनेके लिए पांच शिलिंगका टिकट अलग लेना पड़ता था। अब्दुल्ला सेठने उसे मंगा लेनेका आग्रह किया, पर मैंने जिद्दसे, अभिमान-वश और पांच शिलिंगकी

बचतके खयालसे सोनेका टिकट कटानेसे इन्कार किया।

अब्दुल्ला सेठने मुझे चेताया, "देखिये, यह देश दूसरा है, हिन्दुस्तान नहीं है। खुदाकी मेहरबानी है। आप पैसेकी कंजूसी न करें। सब जरूरी सुभीता कर लें।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और बेफिक्र रहनेको कहा।

नेटालकी राजधानी मेरित्सबर्गमें ट्रेन ९ बजेके करीब पहुंची। यहां बिस्तर दिये जाते थे। रेलवेके एक नौकरने आकर पूछा, "आपको बिस्तर चाहिए ?"

मैंने कहा, "मेरे पास अपना बिस्तर है।"

वह चला गया। इसी बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मेरे चमड़ेको 'रंगदार' देखकर कुछ भड़का। बाहर निकला। एक-दो अफसरोंको साथ लेकर आया। पर किसीने मुझसे कुछ कहा नहीं। अंतमें एक अफसर आया। उसने कहा, "इधर आओ। तुम्हें आखिरी डब्बेमें जाना है।"

मैंने कहा, "मेरे पास पहले दर्जेका टिकट है।"

उसने जवाब दिया, "इसकी परवा नहीं। मैं तुमसे कहता हूं कि तुम्हें आखिरी डब्बेमें जाना है।"

"मैं कहता हूं कि मुझे इस डिब्बेमें डरबनसे बैठाया गया है और मैं इसीमें जाना चाहता हूं।"

अफसरने कहा, "यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना पड़ेगा। न उतरोगे तो सिपाही उतारेगा।"

मैंने कहा, "तो सिपाही भले ही उतारे, मैं अपने आप तो नहीं उतरता।"

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतारा। मेरा सामान उतार लिया। मैंने दूसरे डब्बेमें जानेसे इन्कार किया। ट्रेन चल दी। मैं वेटिंगरूममें घुसा। अपना हाथबेग साथ रखा। बाकी सामानको नहीं छुआ। रेलवेवालोंने उसे उठाकर कहीं धर दिया।

जाड़ेके दिन थे। दक्षिण अफ्रीकाकी सर्दी ऊंचे भागोंमें बहुत

सख्त होती है। मेरित्सबर्ग ऐसे ही प्रदेशमें था। इससे ठंड खूब लगी। मेरा ओवरकोट मेरे सामान में था। सामान मांगनेकी हिम्मत न हुई। फिर बेइज्जती हो तो? ठंडसे कांपने लगा। कमरेमें रोशनी न थी। आधी रातके लगभग एक यात्री आया। ऐसा लगा कि वह बात करना चाहता है, पर मेरा मन बात करने लायक न था।

मैंने अपना कर्तव्य सोचा—"या तो मुझे अपने हकोंके लिए लड़ना चाहिए या वापस जाना चाहिए, अन्यथा जो अपमान होते हैं उन्हें सहन करूं और प्रिटोरिया पहुंचूं और मुकदमा खत्म करके देशको लौट जाऊं। मुकदमेको छोड़कर भाग जाना तो नामर्दी होगी। मुझे जो तकलीफ मिली है वह तो ऊपरी तकलीफ है। वह गहराईमें पैठे हुए एक महारोगका लक्षण है। यह महारोग है रंग-द्वेष। इस गंभीर रोगको मिटानेकी शक्ति अपनेमें हो तो उसका उपयोग मुझे करना चाहिए। उसमें अपने ऊपर जो कष्ट आयें उन्हें सहना चाहिए और उसका विरोध बस उतना ही करना चाहिए जितना रंग-द्वेष दूर करनेके लिए आवश्यक हो।"

यह तै करके दूसरी गाड़ीसे, जिस तरह भी हो, आगे जानेका निश्चय किया।

सवेरे ही मैंने जनरल मैनेजरको शिकायत का लंबा तार भेजा। दादा अब्दुल्लाको भी सूचना दी। अब्दुल्ला सेठ तुरंत जनरल मैनेजरसे मिले। जनरल मैनेजरने अपने आदमियोंका बचाव किया, पर बतलाया कि मुझे बिना रोक-टोकके मेरे मुकामपर पहुंचा देनेकी स्टेशनमास्टरको हिदायत कर दी है। अब्दुल्ला सेठने मेरित्सबर्गके हिंदू व्यापारियोंको भी मुझसे मिलने और मेरे आरामका खयाल रखनेके लिए तार दिया। दूसरे स्टेशनोंको भी वैसे तार भेजे। इससे व्यापारी भाई मुझसे स्टेशनपर मिलने आये। उन्होंने अपनेपर गुजरनेवाली मुसीबतोंका जिक्र मुझसे किया और कहा कि आपपर जो बीती है वह कोई नई बात नहीं है। पहले-दूसरे दर्जेमें यात्रा करनेवाले हिन्दुस्तानियोंको अफसरों

और मुसाफिरोंकी ओरसे दिक्कतें उठानी ही पड़ती हैं। इन बातों-के सुननेमें दिन बीत गया। रात हुई। ट्रेन आई। मेरे लिए जगह तैयार ही थी। जिस बिछौनेका टिकट लेनेसे मैंने डरबनमें इन्कार किया था, मेरित्सबर्गमें वह लिया। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली।

: ९ :

अधिक दुर्दशा

चार्ल्सटाउन ट्रेन सवेरे पहुंचती थी। वहांसे जोहान्सबर्ग जानेको उस समय ट्रेन नहीं, घोड़ेकी सिकरम थी। बीचमें स्टैंडरटनमें एक रात ठहरना पड़ता था। मेरे पास सिकरमका टिकट था। एक दिन देरसे पहुंचनेके कारण यह टिकट रद नहीं होता था। इसके सिवा अब्दुल्ला सेठने चार्ल्सटाउनके सिकरम-वालेको तार भी दे दिया था; पर उसे कोई बहाना ढूंढना था, अत: मुझे निरा अजनबी जानकर बोला, "तुम्हारा टिकट तो रद हो गया है।" मैंने उचित उत्तर दिया। टिकट रद हो जानेकी बात मुझसे कहनेका कारण तो और ही था। सब यात्री सिकरमके भीतर ही बैठते हैं। पर मैं तो 'कुली' समझा जाता था, अजनबी लगता था, इससे मुझे गोरे यात्रियोंके पास न बिठाना पड़े तो अच्छा हो, यह थी सिकरमवालेकी नीयत। सिकरमके बाहर अर्थात् कोचवान-के दाहिने-बायें दो जगहें थीं। उनमेंसे एकपर सिकरमकी कंपनीका एक गोरा 'नायक' (लीडर) बैठता था। वह अंदर बैठा और मुझे हांकनेवालेकी बगलमें बिठाया। मैं समझ गया कि यह निरा अन्याय है, अपमान है। पर मैंने इस अपमानको पी जाना ही ठीक समझा। मैं जबरदस्ती तो अंदर बैठ ही न सकता था। तक-रार करने लगूं तो सिकरम चल दे और मेरा एक दिन खराब हो, और फिर अगले दिन भी क्या बीतेगी, यह तो भगवान् ही जानता था। अत: मैं समझदारीसे काम लेकर बाहर बैठ गया। मनमें तो बहुत दु:खी हुआ।

कोई तीन बजे सिकरम पारडीकोप पहुंचा। अब उस गोरे नायककी जहां मैं बैठा था वहां बैठनेकी इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना था, थोड़ी हवा भी खानी रही होगी। अतः उसने एक मैला-सा बोरा पड़ा था उसे कोचवानकी बगलसे लेकर पैर रखनेकी पटरीपर बिछा दिया और मुझसे कहा, "सामी, तुम यहां बैठो। मैं हांकनेवालेके पास बैठूंगा।" यह अपमान सहनेमें मैं असमर्थ था। अतः मैंने डरते-डरते उससे कहा, "तुमने मुझे यहां बिठाया, यह अपमान मैंने बरदाश्त कर लिया। मेरी जगह तो अंदर बैठनेकी थी; पर तुम अंदर बैठ गये, मुझे यहां बिठा दिया; अब तुम्हें बाहर बैठनेकी इच्छा हो रही है और सिगरेट पीना है, इससे मुझे अपने पैरोंके सामने बिठाना चाहते हो! मैं अंदर जानेको तैयार हूं, पर तुम्हारे पैरोंके पास बैठनेको तैयार नहीं हूं।"

मुश्किलसे इतना मैं कह पाया था कि तबतक मुझपर तमाचोंकी वर्षा होने लगी और वह गोरा मेरी बांह पकड़कर मुझे नीचे ढकेलने लगा। कोचबक्सके पास ही पीतलके सीखचे थे, उनसे मैं लिपट गया, और कलाई उखड़ जाय तो भी सीखचे न छोड़नेकी ठान ली। मेरे ऊपर जो गुजर रही थी, यात्री उसे देख रहे थे। वह गोरा मुझे गालियां दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था। और मैं चुपचाप सब सह रहा था। वह बलवान था, मैं बलहीन। यात्रियोंमेंसे कुछको दया आई और उनमेंसे एक बोल उठा, "अरे भई, इस बेचारेको वहां बैठा रहने दो। क्यों बिला वजह मारते हो? उसकी बात तो ठीक है। वहां नहीं तो उसे हमारे पास अंदर बैठने दो।" गोरा बोला, "हरगिज नहीं।" पर कुछ सिटपिटाया जरूर। इससे उसने मुझे मारना बंद किया। मेरी बांह छोड़ दी। हां, दो-चार गालियां और दीं, एक होटेंटाट नौकर दूसरी तरफ बैठा था, उसे अपने पांवोंके पास बिठाया और खुद बाहर बैठा। यात्री भीतर बैठे। सीटी बजी। सिकरम चला। मेरी छाती तो धड़क ही रही थी। मुकामपर जिंदा पहुंच सकूंगा या नहीं, इसमें शक हो रहा था। वह गोरा आंखें तरेरकर लगातार

घूरता रहा। अंगुली दिखाकर बड़बड़ाता, "याद रख, स्टैंडरटन पहुंचने दे, फिर तेरी खबर लूंगा।" मैं तो होंठ सिये ही रहा और ईश्वरसे रक्षाकी प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैंडरटन पहुंचे। कुछ हिंदुस्तानी चेहरे दिखाई दिये। कुछ ढाढ़स बंधा। नीचे उतरते ही भारतीय भाइयोंने कहा, "हम आपको ईसा सेठकी दुकान ले जानेको खड़े हैं। हमें दादा अब्दुल्लाका तार आया है।" मै बहुत खुश हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमारकी दुकानपर गया। सेठ और उनके गुमाश्तों आदिने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। अपने ऊपर जो बीती थी उन्हें सुनाई। वे बहुत दुःखी हुए और अपने कड़वे अनुभवोंकी कहानी सुनाकर मुझे आश्वासन दिया। मै सिकरम-कंपनीके एजेंटको अपने साथ हुए व्यवहारकी खबर देना चाहता था। मैंने एजेंटको पत्र लिखा। उक्त गोरेकी दी हुई धमकी भी लिख दी और सवेरे आगेकी यात्रामें मुझे अंदर दूसरे मुसाफिरोंके साथ जगह मिलेगी, इसका आश्वासन मांगा। पत्र एजेंटके पास भेज दिया। एजेंटने जवाब दिया, "स्टैंडरटनसे बड़ी सिकरम जाती है और कोचवान वगैरह बदल जाते हैं। जिस आदमीके खिलाफ आपने शिकायत की है वह कल न रहेगा। आपको दूसरे यात्रियोंके पास ही जगह मिलेगी।" इस संदेशसे मुझे कुछ राहत मिली। उस मारनेवाले गोरेपर मुकदमा चलानेकी बात तो मैंने सोची ही न थी, इसलिए यह मारका प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। सवेरे मुझे ईसा सेठके आदमी सिकरमपर लिवा गये। मुझे ठीक जगह मिल गई और बिना किसी हैरानीके उस रातको जोहान्सबर्ग पहुंच गया।

स्टैंडरटन छोटा-सा गांव है। जोहान्सबर्ग लंबा-चौड़ा शहर है। वहां भी अब्दुल्ला सेठने तार तो दे ही दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानका नाम-पता भी दिया था। उनका आदमी सिकरमके अड्डेपर आकर खड़ा था, पर न मैंने उसे देखा न वह मुझे पहचान सका। मैंने होटलमें जानेका विचार किया। दो-चार होटलोंके नाम जान लिये थे। गाडी की। उसे ग्रैंड

नेशनल होटल ले चलनेको कहा। वहां पहुंचकर मैनेजरके पास गया। जगह मांगी। मैनेजरने क्षणभर मुझे निहारा। फिर शिष्टता-पूर्वक बोला, "मुझे खेद है, सब कमरे भर गये हैं।" कहकर मुझे बिदा किया! मैंने गाड़ीवालेसे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन-की दूकानपर ले चलनेको कहा। वहां तो अब्दुलगनी सेठ मेरी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मेरी आवभगत की। अपनी होटलकी बीती उन्हें सुनाई। वह ठहाका मारकर हँसे—"भला होटलमें वे हमें उतरने देंगे!"

मैंने पूछा, "क्यों नहीं?"

"यह तो आप थोड़े दिन रहनेपर जान जायंगे। इस देशमें तो हमीं रह सकते हैं। हमें पैसा कमाना है, इसलिए बहुत अपमान सहते हुए भी पड़े हैं।" फिर उन्होंने ट्रांसवालमें हिन्दुस्तानियोंको मिलनेवाले कष्टोंका इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठके बारेमें हमें आगे अधिक लिखना होगा। उन्होंने कहा, "यह मुल्क आप-सरीखोंके लिए नहीं है। देखिए, आपको कल प्रिटोरिया जाना है। आपको तीसरे दर्जेमें ही जगह मिलेगी। ट्रांसवालमें नेटालसे अधिक कष्ट है। यहां हम लोगों-को पहले या दूसरे दर्जेका टिकट दिया ही नहीं जाता।"

मैंने कहा, "आपने इसकी पूरी कोशिश न की होगी।"

अब्दुलगनी सेठ बोले, "हमने लिखा-पढ़ी तो की, पर हमारे आदमी अधिकतर पहले-दूसरे दर्जेमें बैठना भी कहां चाहते हैं?"

मैंने रेलवेकी नियमावली मांगी। उसे देखा। उसमें गुंजाइश थी। ट्रांसवालके असली कानून भी सावधानीसे नहीं गढ़े जाते थे, रेलवेके कायदोंका तो पूछना ही क्या था!

मैंने सेठसे कहा, "मैं तो फर्स्ट क्लासमें ही जाऊंगा। और उसमें न जा पाऊं तो प्रिटोरिया यहां से ३७ मील ही तो है, वहां मैं घोड़ा-गाड़ी करके चला जाऊंगा।"

अब्दुलगनी सेठने उसमें लगनेवाले खर्च और समयकी ओर मेरा ध्यान दिलाया; पर मेरी रायसे सहमत होकर स्टेशनमास्टर-

को पत्र लिखा। उसमें उन्होंने बताया कि मैं बारिस्टर हूं; सदा पहले दर्जेमें ही यात्रा करता हूं यह भी जताया; प्रिटोरिया फौरन पहुंचना जरूरी है, इस ओर भी उसका ध्यान खींचा। अनंतर उन्होंने लिखा कि आपके उत्तरकी राह देख सकूं, इतना समय मुझे न रहेगा। इसलिए इस चिट्ठीका जवाब लेने मैं खुद स्टेशनपर पहुंचूंगा और पहले दर्जेका टिकट पानेकी आशा रखूंगा। इसमें मेरे मनमें थोड़ी चालाकी थी। मैंने सोचा कि स्टेशनमास्टर लिखित उत्तर तो 'ना' का ही देगा। फिर 'कुली-बारिस्टर' की वेष-भूषाके बारेमें भी न सोच सकेगा। इससे मैं सोलह आने साहबी लिबासमें उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊंगा और उससे बात करूंगा तो समझ जायगा औय शायद मुझे टिकट दे देगा। अतः मैं फ्राक कोट, नेकटाई वगैरा डाटकर स्टेशन पहुंचा। स्टेशनमास्टरके सामने गिन्नी निकालकर रखी और पहले दर्जेका टिकट मांगा।

उसने कहा, "आपने ही मुझे चिट्ठी लिखी है?"

मैंने कहा, "जी हां। मुझे आप टिकट दे देंगे तो आपका अहसान मानूंगा। मुझे प्रिटोरिया आज ही पहुंचना चाहिए।"

स्टेशनमास्टर हँसा। उसे दया आई। वह बोला, "मैं ट्रांसवालर नहीं हूं। मैं हालेंडर हूं। आपकी भावनाको समझता हूं। आपके साथ मेरी हमदर्दी है। मैं आपको टिकट देना चाहता हूं। पर एक शर्त है : आपको रास्तेमें गार्ड उतारे और तीसरे दर्जेमें बैठा दे तो आप मुझे हैरान न करें,यानी आप रेलवे कंपनीपर दावा न करें। मैं चाहता हूं कि आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। आप भले आदमी हैं, यह तो देख ही रहा हूं।" यह कहकर उसने टिकट काट दिया। मैंने उसका उपकार माना और उसे निर्भय रहनेको कहा। अब्दुलगनी सेठ मुझे पहुंचाने आये थे। यह कौतुक देखकर प्रसन्न और विस्मित हुए; पर मुझे चेताया, "आप प्रिटोरिया राजी-खुशी पहुंच जायं तब समझूंगा कि काम पूरा हुआ। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दर्जेमें चैनसे न बैठने देगा। और उसने बैठने भी दिया तो मुसाफिर न बैठने देंगे।"

मैं पहले दर्जेके डब्बेमें बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुंचने-पर गार्ड टिकट जांचने आया। मुझे देखते ही झल्ला गया। उंगलीसे इशारा करके बोला, "तीसरे दर्जेमें जाओ।" मैंने अपना पहले दर्जेका टिकट दिखाया। उसने कहा, "वह कोई चीज नहीं। जाओ, तीसरे दर्जेमें।"

इस डिब्बेमें एक ही अंग्रेज मुसाफिर था। उसने उस गार्डको फटकारा, "तुम इस भले आदमीको क्यों तंग करते हो? देखते नहीं हो, इनके पास पहले दर्जेका टिकट है? मुझे उनके बैठनेसे कोई कष्ट नहीं है।" यह कहकर उसने मेरी ओर देखा और कहा, "आप इतमीनानसे बैठे रहें।"

गार्ड बड़बड़ाया, "आपको कुलीके साथ बैठना है तो मेरा क्या बिगड़ता है!" कहकर चलता बना।

रातको आठ बजेके करीब ट्रेन प्रिटोरिया पहुंची।

: १० :

प्रिटोरियामें पहला दिन

प्रिटोरिया स्टेशनपर दादा अब्दुल्लाके वकीलकी ओरसे किसी आदमीके मिलनेकी आशा मैं रखता था। मैं जानता था कि कोई हिंदी तो मुझे लेने आया ही न होगा, और किसी भी हिंदीके यहां न टिकनेका वचन भी दे चुका था। वकीलने किसी आदमीको स्टेशन न भेजा था। पीछे मालूम हुआ कि उस दिन रविवार था, इसलिए वकील महाशय बिना कुछ असुविधा उठाए किसी आदमी को न भेज सकते थे। मैं उलझनमें पड़ा। सोचने लगा, कहां जाऊं। डर था कि कोई होटल मुझे जगह न देगा। सन् १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन, १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशनसे भिन्न था। धीमी-धीमी बत्तियां जला करती थीं। मुसाफिर भी अधिक न होते थे। मैंने सब मुसाफिरोंको निकल जाने दिया। सोचा कि जरा फुरसत होनेपर टिकट कलेक्टरको टिकट दूंगा और उससे कोई छोटा-मोटा

होटल या मकान बता दिया तो वहां जा ठहरूंगा, नहीं तो रातमें स्टेशनपर ही पड़ा रहूंगा। पर इतना पूछनेको भी मन न बढ़ता था, क्योंकि अपमान होनेका डर था।

स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट-क्लेक्टरको टिकट दकर पूछना शुरू किया। उसने विनयपूर्वक उत्तर दिये; पर मैंने देखा कि वह ज्यादा मदद नहीं कर सकता था। उसकी बगलमें एक अमेरिकन हब्शी सज्जन खड़े थे। वह मेरे साथ बातें करने लगे :

"मैं देखता हूं, आप बिल्कुल अजनबी हैं और यहां आपका कोई परिचित नहीं है। मेरे साथ चलिये तो मैं आपको एक छोटे होटलमें ले चल सकता हूं। उसका मालिक अमेरिकन है, उससे मेरा अच्छा परिचय है। मेरी समझमें वह आपको टिका लेगा।"

मुझे कुछ शक तो हुआ, पर मैंने उस भद्र पुरुषको धन्यवाद दिया और उसके साथ जाना स्वीकार कर लिया। वह मुझे जांस्टनके फेमिली होटलमें ले गया। पहले उसने मि० जांस्टनको एक किनारे ले जाकर कुछ बातें कीं। मि० जांस्टनने मुझे रात-भरके लिए जगह देना स्वीकार किया। वह भी इस शर्तपर कि मेरा खाना मेरी कोठरीमें पहुंचा दिया जायगा।

मि० जांस्टन बोले, "मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मेरी निगाहमें तो काले-सफेदका कतई फर्क नहीं है। पर मेरे गाहक सिर्फ गोरे ही हैं और आपको भोजनशालामें खाना दूं तो गाहकोंको बुरा लगेगा, और शायद हमारा होटल छोड़ भी दें।"

मैंने जवाब दिया, "आप मुझे रातभर रहने देते हैं, इसे भी आपका अहसान मानता हूं। इस मुल्ककी हालतसे मैं कुछ-कुछ वाकिफ हो चला हूं। आपकी कठिनाई मैं समझ सकता हूं। मुझे आप खुशी से मेरे कमरेमें खाना दें। कल मैं दूसरा प्रबंध कर लेनेकी आशा रखता हूं।"

मुझे कमरा मिला। मैं उसमें दाखिल हुआ। अकेला बैठा खानेकी राह देखते हुए विचारमग्न हो रहा था। इस होटलमें अधिक यात्री नहीं रहते थे। थोड़ी देरमें खाना लेकर आनेवाले

वेटरके बदले मैंने मि० जांस्टनको देखा। उन्होंने कहा, "मैंने आपको यहां कमरेमें खिलानेकी बात कह तो दी; लेकिन मुझे इसमें शरम लगी। इससे मैंने अपने गाहकोंसे आपके बारेमें बात करके पूछा। उन्हें आपके भोजनशालामें भोजन करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। आप जितने दिन चाहें यहां रहें, उन्हें उसमें भी एतराज नहीं है। अत: अब आपकी इच्छा हो तो आप भोजनशालामें आइए और जितने दिन जी चाहे यहां ठहरिए।"

मैंने फिर कृतज्ञता प्रकट की और भोजनशाला में जाकर इतमीनानसे भोजन किया।

दूसरे दिन सवेरे वकीलके यहां गया। उसका नाम था ए० डब्ल्यु० बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठने उनका कुछ वर्णन मुझसे किया था, इसलिए हमारी पहली मुलाकातसे मुझे कोई अचरज न हुआ। वह मुझसे प्रेमसे मिले और मेरे बारेमें कुछ बातें पूछीं, जो मैंने उन्हें बतला दीं। उन्होंने कहा, "बारिस्टरकी हैसियतसे तो यहां आपका कोई उपयोग होनेवाला नहीं है। हमने अच्छे-से-अच्छे बारिस्टर इस मुकदमेमें कर रखे हैं। केस लम्बा है और गुत्थियोंसे भरा हुआ है! इसलिए आपसे तो मैं आवश्यक तथ्य आदि प्राप्त करनेका ही काम ले सकूंगा। हां, यह फायदा होगा कि अपने मुवक्किलसे पत्र-व्यवहार करनेमें अब मुझे आसानी होगी और मुझे उनसे जो तथ्यादि मंगानेकी बातें जाननी होंगी उन्हें आपकी मार्फत मंगा सकूंगा। आपके लिए मकान तो अभीतक मैंने तलाश नहीं किया है। आपको देखनेके बाद खोजनेका खयाल कर रखा था। यहां रंग-भेद बहुत है, इसलिए घर पाना आसान नहीं है; पर एक बहनको मैं जानता हूं। वह गरीब है, नानबाईकी औरत है। मेरा खयाल है कि वह आपको टिका लेगी। उसे भी कुछ मदद मिल जायगी। चलिए, उसके यहां चलें।"

मिस्टर बेकर मुझे वहां ले गये। उस बहनको एक किनारे ले जाकर उन्होंने कुछ बातें कीं और उसने मुझे टिकाना मंजूर कर लिया। ३५ शिलिंग फी हफ्ता देना तय हुआ।

मि० बेकर वकील और साथ ही कट्टर पादरी थे। अभी वह जिन्दा हैं और अब सिर्फ पादरीका ही काम करते हैं, वकालत छोड़ दी है। रुपये-पैसेसे सुखी हैं। मेरे साथ अभी उनका पत्र-व्यवहार चला जा रहा है। पत्रोंका विषय एक ही होता है—भिन्न-भिन्न रीतियोंसे ईसाई धर्मकी खूबियोंकी चर्चा, और इस मतका प्रतिपादन कि ईसाको ईश्वरका इकलौता बेटा और तारनहार माने बिना परम शान्ति नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकातमें मि० बेकरने धर्मसंबंधी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उन्हें बता दिया—"मै जन्मसे हिंदू हूं। इस धर्मका मुझे अधिक ज्ञान नहीं है, दूसरे धर्मोंका भी थोड़ा ही ज्ञान है। मै कहां हूं, क्या मानता हूं, क्या मानना चाहिए, यह सब मैं नहीं जानता। अपने धर्मका गंभीरतासे अध्ययन करना चाहता हूं। दूसरे धर्मोंका अभ्यास भी यथाशक्ति करनेका इरादा है।"

यह सब सुनकर मि० बेकर खुश हुए और कहा—"मैं 'साउथ अफ्रीका जनरल मिशन' का एक डाइरेक्टर हूं। मैंने अपने खर्चसे एक गिरजाघर बनवाया है। उसमें जब-तब धर्मपर व्याख्यान दिया करता हूं। मै रंग-भेद नहीं मानता। मेरे पास कुछ काम करनेवाले साथी भी हैं। हम रोज एक बजे कुछ मिनटके लिए मिलते है और आत्माकी शान्ति तथा प्रकाश (ज्ञानोदय) के निमित्त प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आएं तो मुझे प्रसन्नता होगी। वहां अपने साथियोंसे भी आपका परिचय कराऊंगा। वे सब आपसे मिलकर खुश होंगे और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम पसन्द आयगा। मैं कुछ धार्मिक पुस्तकें भी आपको पढ़नेको दूंगा। पर असली पुस्तक तो बाइबिल ही है। उसे पढ़नेकी मैं आपसे खास तौरसे सिफारिश करता हूं।"

मैंने मि० बेकरको धन्यवाद दिया और कहा कि जबतक चल सकेगा, एक बजे आपके मंडलमें प्रार्थनाके लिए आ जाया करूंगा।

"तो कल एक बजे यहीं आइयेगा और हम साथ ही प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।"

हम बिदा हुए। बहुत सोचने-विचारनेका अभी मुझे अवकाश न था। मि० जांस्टनके पास गया। बिल चुकाया। नये घरमें गया। वहां भोजन किया। मकान-मालकिन भली स्त्री थी। उसने मेरे लिए निरामिष भोजन बनाया था। इस कुटुंबमें हिलमिल जानेमें मुझे देर न लगी। भोजनसे निपटकर दादा अब्दुल्लाने जिस मित्रके नाम पत्र दिया था उनसे मिलने गया। परिचय किया। भारतीयोंकी दुर्दशाकी विशेष बातें जानी। उन्होंने मुझसे अपने यहां रहनेका आग्रह किया। मैंने धन्यवाद दिया और मेरे लिए जो व्यवस्था हो चुकी थी वह उन्हें बतलाई। उन्होंने मुझसे आग्रह-पूर्वक अनुरोध किया कि जिस चीजकी आवश्यकता हो मांग लूं।

शाम हुई। ब्यालू किया और अपने कमरेमें जाकर विचार-प्रवाहमें बहने लगा। मैंने तत्काल अपने लिए कोई काम न देखा। अब्दुल्ला सेठको यह बात लिख दी। मि० बेकरकी मित्रताका क्या अर्थ हो सकता है? इनके धर्म-बंधुओंसे मैं क्या पा सकूंगा? ईसाई-धर्मके अध्ययनमें मुझे कहांतक जाना है? हिन्दू-धर्मका साहित्य कहांसे प्राप्त किया जा सकता है? उसे जाने बिना ईसाई-धर्मका स्वरूप मैं कैसे जान सकता हूं? एक ही निर्णयपर पहुंच सका—जो कुछ पढ़ूं निष्पक्ष चित्तसे पढ़ूं और मि०बेकरके समुदायको, ईश्वर जब जो सुझाये वह उत्तर दूं। अपना धर्म जब-तक पूरी तरह समझ न लूं तबतक मुझे दूसरा धर्म स्वीकार करने-का विचार न करना चाहिए। यों सोचते-सोचते नींदकी गोदमें पहुंच गया।

: ११ :

ईसाइयोंसे संपर्क

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकरके प्रार्थना-समाजमें गया। वहां मिस हैरिस, मिस गेब, मि० कोट्स आदिसे परिचय हुआ। सबने घुटने टेककर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया।

प्रार्थनामें जिसका जी जो चाहता वह ईश्वरसे मांगता था। 'दिन शांतिसे बीतें', 'ईश्वर हमारे हृदयका द्वार खोले', इत्यादि तो होता ही था। मेरे लिए भी प्रार्थना हुई—"हम लोगोंके बीचमें जो नया भाई आया है उसे तू मार्ग दिखा। जो शांति तूने मुझे दी है वह उसे भी दे। जिन प्रभु ईसाने मुझे मुक्त किया है वह उसे भी मुक्त करें। यह सब हम प्रभु ईसूके नामपर मांगते हैं।" इस प्रार्थनामें भजन-कीर्तन नहीं था। सिर्फ कोई विशेष मांग ईश्वरसे करनी और बिखर जाना। यह सबके दोपहरके भोजनका समय होता था। इसलिए सब इस प्रकार प्रार्थना करके भोजनके लिए चले जाते थे। प्रार्थनामें पांच मिनटसे अधिक न लगते थे।

मिस हैरिस और मिस गेब प्रौढ़ अवस्थाकी दो कुमारियां थीं। मि० कोट्स क्वेकर[१] थे। दोनों कुमारियां साथ रहती थीं। उन्होंने मुझे हर रविवारको अपने यहां चार बजेकी चायपर आनेका न्योता दिया। मि० कोट्स जब मिलते तो हर रविवारको मुझे उन्हें हफ्तेभरका धार्मिक रोजनामचा सुनाना पड़ता। कौन-कौन पुस्तकें पढ़ीं, मेरे मनपर उनका क्या असर हुआ, यह सब बताना होता। उक्त बहनें अपने मधुर अनुभव सुनाया करती और उन्हें प्राप्त परम शान्तिकी बातें करतीं।

मि० कोट्स निर्मल चित्तके पक्के युवा क्वेकर थे। मेरे साथ उनका संबंध गाढ़ा हो गया। हम अक्सर साथ घूमने भी जाया करते। वह मुझे दूसरे ईसाइयोंके यहां ले जाया करते।

कोट्सने मुझे किताबोंसे लाद दिया। ज्यों-ज्यों वह मुझे पहचानते जाते त्यों-त्यों उन्हें जो पुस्तकें अच्छी लगतीं, मुझे पढ़नेको देते रहते। मैंने भी केवल श्रद्धासे उन पुस्तकोंका पढ़ना स्वीकार किया। इन पुस्तकोंपर हममें बहस भी होती।

१८९३ के सालमें ऐसी पुस्तकें मैंने बहुत पढ़ीं। उन सबके नाम तो मुझे याद नहीं हैं, पर उनमें सिटीटेंपलवाले डा०पारकरकी

---

[१] ईसाइयोंका एक संप्रदाय जो सादगी और सरल व्यवहारपर बहुत जोर देता है।

'कमेंटरी' (टीका), पियर्सनका 'मेनी इनफालिबल प्रूफ्स', बटलर-की, 'एनॉलोजी' इत्यादि थीं। इनमेंसे कुछ तो समझमें न आता, कुछ रुचता, कुछ न रुचता। यह सब मैं कोट्सको बता दिया करता। 'मेनी इनफालिबल प्रूफ्स' का अर्थ है 'अनेक अकाट्य प्रमाण' अर्थात् बाइबिलमें लेखकके मतसे जिस धमका उपदेश किया गया है उसके समर्थनके प्रमाण। इस पुस्तकका मुझपर कुछ भी असर न हुआ। पारकरकी टीका नीतिवर्धक मानी जा सकती है, पर ईसाई-धर्मकी प्रचलित धारणाओंके बारेमें शंका रखनेवाले-को उससे कोई मदद न मिल सकती थी। बटलरकी 'एनॉलोजी' बहुत गंभीर और कठिन किताब जान पड़ी। उसे पांच-सात बार पढ़ना चाहिए। वह नास्तिकको आस्तिक बनानेके लिए लिखी हुई जान पड़ी। उसमें ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें दी गई दलीलोंका मेरे लिए कोई उपयोग न था; क्योंकि यह मेरा नास्तिकताका काल नहीं था। पर जो दलीलें ईसाके एकमात्र अवतार और मनुष्य और ईश्वरके बीचमें मध्यस्थता करनेवाला होनेके विषयमें दी गई थीं, उनकी छाप मुझपर न पड़ी।

पर कोट्स हार माननवाले आदमी नहीं थे। मुझपर उनकी अपार ममता थी। उन्होंन मरे गलेमें वैष्णवी कंठी देखी। उन्हें यह वहम जान पड़ा और उसे दखकर उन्हें दुःख हुआ। "यह वहम तुम-जैसोंको शोभा नहीं देता। लाओ, तोड़ दूं।"

"यह कंठी नहीं टूट सकती। माताजीकी प्रसादी है।"

"पर आपका उसमें विश्वास है?"

"इसका गूढ़ार्थ मैं नहीं जानता। इसे न पहनूं तो मेरा कोई अनिष्ट होगा, ऐसा मुझे नहीं जान पड़ता। पर जो माला मुझे माताजीने प्रेमपूर्वक पहनाई, जिसे पहनानेमें उन्होंने मेरा कल्याण माना, उसका बिना कारण मैं त्याग नहीं करूंगा। काल पाकर जीर्ण हो जायगी और अपने आप टूट जायगी तब दूसरी लेकर पहननेका मुझे शौक न रहेगा। पर यह कंठी नहीं टूट सकती"

कोट्स मेरी इस दलीलकी कदर न कर सके, क्योंकि उन्हें

मेरे धर्ममें अनास्था थी। वह तो मुझे अज्ञानकूपमेंसे निकालनेकी आशा रखते थे। उन्हें मुझे यह बताना था कि दूसरे धर्मोंमें कुछ सत्य भले ही हो, पर पूर्ण सत्यरूप ईसाईधर्मको स्वीकार किये बिना मुझे मुक्ति नहीं मिलने की, ईसाकी बिचवईके बिना पाप धुल ही नहीं सकते और पुण्य कर्म जितने हैं सब व्यर्थ हैं। उन्होंने जैसे मुझे पुस्तकोंका परिचय कराया वैसे ही जिन्हें वह पक्के ईसाई मानते थे उनसे भी परिचय कराया।

उनमें ही 'प्लीमथ ब्रदर्न' का कुटुंब भी था।

'प्लीमथ ब्रदर्न' नामका एक ईसाई संप्रदाय है। कोट्सके कराये हुए परिचयोंमें अनेक परिचय मुझे अच्छे लगे। वे मुझे ईश्वरसे डरनेवाले आदमी जान पड़े। पर इस कुटुंबमें मेरे सामने यह दलील रखी गई—"हमारे धर्मकी खूबी ही आप नहीं समझ सके हैं। आपकी बातोंसे हम देखते हैं कि आपको सदा क्षण-क्षण-में अपनी भूलोंका विचार करना, उन्हें सुधारना, और न सुधार सकें तो पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रिया-कलाप-मेंसे आपको कब मुक्ति मिल सकती है? आपको शान्ति तो नहीं ही मिलेगी। हम पापी हैं यह तो आप स्वीकार करते ही हैं। अब हमारे विश्वासकी परिपूर्णता देखिये। हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी मुक्ति तो मिलनी ही चाहिए। पापका बोझ कैसे उठे? हम उसे ईसापर डाल दें। वह तो ईश्वरका एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो उसपर विश्वास रखते हैं उनके पाप वह धो देता है। ईश्वरकी यह अगाध उदारता है। ईसाकी इस मुक्तिकी योजनाको हमने स्वीकार कर लिया है, इससे हमारे पाप हमें चिपटते नहीं। पाप तो होते ही हैं। इस दुनियामें पाप किये बिना कैसे रहा जा सकता है? इसीसे ईसाने सारे जगतके पापोंका एक ही बार प्रायश्चित्त कर डाला। जिसे उनके महाबलिदानको स्वीकार करना हो वह वैसा करके शान्ति प्राप्त कर सकता है। कहां तुम्हारी अशान्ति और कहां हमारी शान्ति!"

यह दलील मेरे गले बिलकुल न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक

उत्तर दिया—"यदि सर्वमान्य ईसाई धर्म यही हो तो मेरा काम उससे न चलेगा। मैं पापके परिणामसे मुक्ति नहीं मांगता, मैं तो पापवृत्तिसे, पाप-कर्मसे मुक्ति मांगता हूं। जबतक वह नहीं मिलती तबतक अपनी अशान्ति ही मुझे प्रिय रहेगी।"

प्लीमथ ब्रदरने उत्तर दिया—"मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि आपका प्रयत्न व्यर्थ है। मेरे कथनपर फिर विचार कीजिएगा।"

और इन भाईने जैसा कहा वैसा करके भी दिखा दिया—जानबूझकर अनीति कर दिखाई।

पर सारे ईसाई ऐसा नहीं मानते, इतना तो मैं इन परिचयोंके पहले ही जान गया था। कोट्स स्वयं ही पापभीरु पुरुष थे। उनका हृदय निर्मल था। वह हृदय-शुद्धिकी शक्यताको मानते थे। उक्त बहनें भी वैसी ही थीं। मेरे हाथ पड़नेवाली पुस्तकोंमें कितनी ही भक्तिसे भरी थीं। इससे इस परिचयसे कोट्सको जो घबराहट हुई उसे मैंने शान्त किया और विश्वास दिलाया कि एक प्लीमथ ब्रदरकी अनुचित धारणाके कारण मैं ईसाईधर्मके विषयमें प्रतिकूल मत नहीं बना सकता। मेरी कठिनाइयां तो बाइबिल और उसके रूढ़ अर्थके विषयमें हैं।

: १२ :

हिंदुस्तानियोंसे परिचय

ईसाई-संबंधोंके बारेमें अधिक लिखनेसे पहले उसी समयक अन्य अनुभवोंकी चर्चा कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

नेटालमें जो स्थान दादा अब्दुल्लाका था वही स्थान प्रिटोरियामें सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मदका था। उनके बिना कोई भी सार्वजनिक उद्योग वहां न चल सकता था। उनसे मैंने पहले ही हफ्तेमें पहचान करली। मैंने उनसे कहा कि मैं प्रिटोरियाके हरेक हिंदुस्तानीसे मिलना और उनकी स्थितिका ज्ञान प्राप्त

करना चाहता हूं और इस सारे काममें आपकी मदद चाहता हूं। उन्होंने यह सहायता देना सहर्ष स्वीकार कर लिया।

मेरा पहला कदम तो सब हिंदियोंकी सभा करके उनके सामने स्थितिका चित्र उपस्थित करना था। सेठ हाजी मुहम्मद हाजी जूसबके यहां, जिनके नाम मुझे सिफारिशी पत्र मिला था, यह सभा हुई। उसमें खास करके मेमन व्यापारी आये थे। कुछ हिंदू भी थे। प्रिटोरियामें हिंदुओंकी आबादी थी ही बहुत कम।

यह मेरे जीवनका पहला भाषण माना जा सकता है। मैंने माकूल तैयारी की थी। मुझे सत्यपर बोलना था। व्यापारियोंके मुंहसे सुनता आ रहा था कि व्यापारमें सचाई नहीं चल सकती। मैं उस समय भी इस बातको नहीं मानता था। आज भी नहीं मानता। यह कहनेवाले व्यापारी मित्र आज भी पड़े हैं कि व्यापार और सत्य साथ नहीं चल सकते। ऐसे लोग व्यापारको व्यवहार और सत्यको धर्म कहते हैं। साथ न चल सकनेके लिए दलील यह देते हैं कि व्यवहार एक चीज है, धर्म दूसरी। उनकी धारणा है कि व्यवहारमें शुद्ध सत्य नहीं चल सकता, उसमें तो सत्य यथाशक्ति ही बोला-बरता जा सकता है। इस मतका मैंने अपने भाषणमें जोरदार शब्दोंमें खंडन किया और व्यापारियोंको उनके दोहरे फर्ज-की याद दिलाई। परदेश आकर उनकी जिम्मेदारी देशकी अपेक्षा ज्यादा हो गई है, क्योंकि मुट्ठीभर हिंदुस्तानियोंके आचरणसे हिंदुस्तानके करोड़ों लोगोंके चरित्रकी नापतौल की जाती है।

अंग्रेजोंके रहन-सहनकी तुलनामें हमारा रहन-सहन गंदा है यह मैं समझ चुका था। उस ओर भी मैंने उनका ध्यान खींचा।

हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मद्रासी, पंजाबी, सिंधी, कच्छी, सूरती आदि भेदोंको भुला देनेपर जोर दिया। अन्तमें यह सलाह दी कि एक मंडल स्थापित करके हिंदुस्तानियोंके कष्ट-कठिनाइयोंका इलाज अफसरोंसे मिलकर, आवेदनपत्र आदि भेजकर करना चाहिए और कहा कि इस काममें जितना समय मुझे मिलेगा उतना बिना किसी वेतन-पुरस्कारके

दूंगा।

मैंने देखा कि सभापर मेरी बातोंका यथेष्ट प्रभाव पड़ा।

चर्चा हुई। कितनोंने घटनाओंकी सूचना मुझे भेजनेको कहा। मेरी हिम्मत बढ़ी। इस सभामें अंग्रेजी जाननेवाले मुझे थोड़े ही दिखाई दिये। मैंने सोचा कि इस पराये देशमें अंग्रेजीका ज्ञान हमारे लिए उपयोगी है। इसलिए मैंने जिनके पास फुर्सत हो उन्हें अंग्रेजी पढ़नेकी सलाह दी। कहा कि अवस्था अधिक हो जानेपर भी पढ़ा जा सकता है और इस उम्रमें अध्ययन करनेवालोंके दृष्टांत सुनाये। मैंने स्वयं, क्लास खुले तो, उसमें अथवा छिटफुट पढ़ने-वाले मिलें तो उन्हें पढ़ानेका काम अपने ऊपर लिया। क्लास तो नहीं खुला, पर तीन आदमी, उनके सुभीतेके अनुसार और उनके घर जाकर पढ़ा आऊं तो पढ़नेको तैयार हुए। उनमें दो मुसलमान थे—एक हज्जाम, एक किरानी। एक हिन्दू छोटा दूकानदार था। मैंने सबको पढ़ाना स्वीकार किया। अपनी पढ़ानेकी शक्तिके बारेमें तो मुझे तनिक भी अविश्वास न था। मेरे शिष्योंको थका मानिए तो मान लीजिए; पर मैं न थका। कभी ऐसा भी होता कि उनके यहां जाता तो उन्हें फुर्सत न होती। मैंने धीरज न छोड़ा। इनमेंसे किसीको अंग्रेजीका गंभीर अध्ययन तो करना ही न था। पर दोने कोई आठ महीनेमें अच्छी प्रगति कर ली, यह कह सकता हूं। दोको हिसाब-किताब रखना और साधारण चिट्ठी लिख लेना आ गया। हज्जामको तो इतनी ही अंग्रेजी सीखनी थी कि अपने ग्राहकोंसे बातचीत कर ले। दोने तो इस पढ़ाईसे काफी पैसा कमा लेनेकी योग्यता भी प्राप्त कर ली।

सभाके फलसे मुझे संतोष हुआ। हर महीने या हर हफ्ते ऐसी सभा करनेका निश्चय हुआ। सभा कमोबेश नियमित रूपसे होती थी और विचार-विनिमय हुआ करता था। नतीजा यह हुआ कि प्रिटोरियामें शायद ही कोई हिंदुस्तानी रहा होगा जिसे मैं पहचानने नहीं लगा अथवा जिसकी स्थितिसे मैं वाकिफ न हो गया होऊं। हिंदुस्तानियोंकी स्थितिका ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेका

फल यह हुआ कि मेरी प्रिटोरियामें रहनेवाले ब्रिटिश एजेंटसे परिचय करनेकी इच्छा हुई। मैं मि० जेकोबस डि-वटसे मिला। उन्हें हिंदुस्तानियोंके साथ सहानुभूति थी। उनका प्रभाव थोड़ा था, पर उन्होंने कहा कि मुझसे जो मदद हो सकेगी देता रहूंगा और आपको जब जरूरत हो मुझसे मिल लिया करें। रेलवेके अफसरोंसे पत्र-व्यवहार आरम्भ किया और बतलाया कि उनके ही कायदोंके अनुसार हिंदुस्तानियोंको यात्रा की मनाही नहीं हो सकती। फल-स्वरूप यह उत्तर आया कि जो हिंदुस्तानी अच्छे कपड़े पहनें होंगे उन्हें ऊंचे दरजेके टिकट दिये जायंगे। इससे पूरी सुविधा तो नहीं मिली; क्योंकि किसने अच्छे कपड़े पहन रखे हैं किसने नहीं, इसका निर्णय तो स्टेशनमास्टरपर ही रहा।

ब्रिटिश एजेंटने मुझे भारतीयोंके संबंधमें हुआ पत्र-व्यवहार पढ़नेको दिया। तैयब सेठने भी दिया था। उससे मैंने जाना कि आरेंज फ्री स्टेटसे हिंदुस्तानी किस बेदर्दीके साथ निकाल बाहर किये गए। खुलासा यह कि ट्रांसवाल और फ्री स्टेटके हिंदुस्तानियों-की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का गहरा अध्ययन मैं प्रिटोरियामें कर पाया। इस अध्ययनका आगे चलकर मुझे पूरा उपयोग हो सकता है, इसका मुझे उस समय कतई पता न था। मैं तो एक साल पूरा करके या मुकदमा पहले समाप्त हो जाय तो उससे पहले ही, देश लौट जानेवाला था।

पर ईश्वरने कुछ और ही सोच रखा था।

: १३ :

कुलीपनेका अनुभव

ट्रांसवाल और आरेंज फ्री स्टेटके हिंदुस्तानियोंकी हालतका पूरा चित्र देनेका यहां मौका नहीं है। उसकी पूरी कल्पना करनेकी इच्छा रखनेवालेको 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' पढना चाहिए।[1] पर यहां उसकी रूपरेखा दे देना आवश्यक है।

[1] यह 'मण्डल' से प्रकाशित हुआ है और मूल्य ३।।) है।

आरेंज फ्री स्टेटमें तो कानून बनाकर सन् १८८८ में या उसके पहल हिंदुस्तानियोंके सब हक छीन लिये गए थे। वहां उन्हें सिर्फ होटलके वेटरका या ऐसा ही कोई और छोटा धंधा करते हुए पड़े रहनेभरकी इजाजत रह गई थी। जो हिंदुस्तानी व्यापारी थे वे नाममात्रका मुआविजा देकर निकाल दिये गए। भारतीय व्यापारियोंने दरख्वास्त वगैरा दी, पर नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज कौन सुनता है!

ट्रांसवालमें सन् १८८५में कड़ा कानून बना। १८८६में कुछ सुधार हुआ। उसके फलस्वरूप हरएक हिंदुस्तानीके लिए दाखिलेकी फीसके रूपमें तीन पौंड जमा करनेका कानून बना। उनके लिए अलग किये गए कुछ खास हलकोंमें ही वे जमीनके मालिक हो सकते थे। पर उन स्थानोंमें भी उन्हें जमीनपर मालिकाना हक नहीं ही मिला। उन्हें चुनावमें मत देनेका अधिकार भी नहीं था। यह तो खास एशियावासियोंके लिए बना कानून था। इसके सिवा जो कानून काले रंगके लोगोंपर लागू होते थे वे भी एशियावासियोंपर लागू होते ही थे। उनके अनुसार हिंदुस्तानी पटरी (फुटपाथ) पर अधिकारपूर्वक नहीं चल सकते थे, रातको ९ बजेके बाद परवानेके बिना बाहर न निकल सकते थे। पिछले कानूनका अमल हिंदुस्तानियोंपर न्यूनाधिक मात्रामें होता था। अरब माने जानेवाले खास मेहरबानीके तौरपर इस प्रतिबंधके बाहर समझे जाते थे। पर इतनी राहत देना भी पुलिसकी मर्जी-पर था।

इन दोनों नियमोंका असर मुझे अपने ही ऊपर जांचना पड़ा। मि० कोट्सके साथ अक्सर मैं रातमें घूमने निकला करता था। घर पहुंचते दस भी बज जाते थे, अत: मुझे पुलिस पकड़ ले तो? यह डर मुझे जितना था उससे अधिक कोट्सको था; क्योंकि अपने हब्शियोंको तो वही परवाने देते थे। मुझे कैसे परवाना दें? मालिकको अपने नौकरको ही परवाना देनेका अधिकार था। मैं लेना और कोट्स देना चाहते हों तो भी वह नहीं दिया जा सकता

था, क्योंकि वह धोखेबाजी होती।

अतः कोट्स या उनके कोई मित्र मुझे सरकारी वकील डा० क्राउजेके पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बैरिस्टर निकले। रातको नौ बजेके बाद बाहर निकलनेके लिए मुझे परवानेकी जरूरत हो यह बात उन्हें असह्य लगी। उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की। परवाना देनेके बदले उन्होंने मुझे अपनी ओरसे एक पत्र दिया, जिसका आशय यह था कि मैं जब और जहां चाहूं जाऊं, पुलिसको उसमें दखल न देना चाहिए। घूमते हुए यह पत्र सदा मैं अपने पास रखता था। उससे कभी काम लेना नहीं पड़ा। पर इसे केवल संयोग ही समझना चाहिए।

डा० क्राउजेने मुझे अपने घर आनेका निमंत्रण दिया। यह भी कह सकता हूं कि हममें दोस्ती जुड़ गई। मैं कभी-कभी उनके यहां जाया करता। उनके द्वारा उनके विशेष प्रसिद्ध भाईसे मेरा परिचय हुआ। यह जोहान्सवर्गमें पब्लिक प्रोसिक्यूटर (सरकारी वकील) नियुक्त हुए थे। उनपर बोअर-युद्धके समय एक अंग्रेज अफसरका खून करानेका षड़यंत्र रचनेका मुकदमा चला था, जिसमे सात साल कैदकी सजा मिली थी। उनकी सनद भी बेंचरोंने छीन ली थी। लड़ाई समाप्त होनेपर डा० क्राउजे जेलसे छूटे। सम्मानके साथ ट्रांसवालकी कचहरीमें फिरसे दाखिल हुए और अपना धंधा भी करने लगे। ये संबंध मुझे बादको सार्वजनिक कार्यमें उपयोगी हुए। मेरे कितने ही सार्वजनिक काम उनकी बदौलत आसान हो गये।

पटरीपर चलनेका प्रश्न मेरे लिए कुछ गंभीर परिणामवाला साबित हुआ। मैं सदा प्रेसिडेंटस्ट्रीटसे होकर एक खुले मैदानमें घूमने जाया करता था। इस मुहल्लेमें प्रेसिडेंटक्रूगरका मकान था। यह मकान आडंबरसे सर्वथा रहित था। उसके इर्द-गिर्द कोई चहारदीवारी या अहाता भी न था। आसपासके दूसरे घरोंसे इसमें कोई अंतर न जान पड़ता था। प्रिटोरियामें बहुत-से लखपतियोंके घर इस घरसे बहुत बड़े, शानदार और अहाते-

चहारदीवारीवाले थे। प्रेसिडेंटकी सादगी मशहूर थी। वह किसी अफसरका मकान है, इसका पता उसके सामने एक संतरीके टहलते रहनेसे ही चलता था। मैं प्रायः सदा ही इस सिपाहीके बिलकुल पाससे होकर गुजरा करता था; पर वह मुझे कुछ न कहता था। सिपाही समय-समयपर बदला करते थे। एक बार एक सिपाहीने, बिना चेताये, बिना पटरीपरसे उतर जानेको कहे, मुझे ढकेला, ठोकर मारी और नीचे उतार दिया। मैं हैरान हुआ। लात मारनेका कारण पूछूं उसके पहले ही मि० कोट्स, जो घोड़ेपर सवार होकर उसी वक्त उधरसे गुजर रहे थे, मुझे पुकारकर बोले—

"गांधी, मैंने सब देखा है। आप मुकदमा चलाना चाहें तो मैं गवाही दूंगा। आपपर इस तरह हमला किया गया, इसका मुझे बड़ा खेद है।"

मैंने कहा—"इसमें खेदका कोई कारण नहीं। सिपाही बेचारेको क्या मालूम। उसके लिए तो सब काले एकसे ही हैं। वह हब्शियोंको पटरी परसे इसी तरह उतारता होगा, इसलिए उसने मुझे भी धक्का दे दिया। मैंने तो नियम ही कर लिया है कि मेरे अपने ऊपर जो गुजरे उसके लिए अदालतमें न जाऊंगा। अतः मुझे मुकदमा नहीं चलाना है।"

"यह बात तो आपने अपने स्वभावके अनुरूप ही कही, पर इसपर फिर विचार कीजिए। ऐसे आदमीको कुछ तो सबक मिलना चाहिए।" फिर उस सिपाहीसे पूछ-ताछकर कोट्सने उसकी भर्त्सना की। मैं सब बातें समझ न सका। सिपाही डच था और उसके साथ उनकी बातें डच में हुईं। सिपाहीने मुझसे माफी मांगी। मैं तो पहले ही माफ कर चुका था।

पर मैंने तबसे वह रास्ता छोड़ दिया। दूसरे सिपाहीको इस घटनाका क्या पता होगा? मैं जान-बूझकर फिर लात खाने क्यों जाऊं? इसलिए मैं दूसरे रास्तेसे घूमने जाने लगा।

इस घटनाने प्रवासी भारतीयोंके प्रति मेरी भावनाको अधिक तीव्र कर दिया। इन कायदोंके बारेमें ब्रिटिश एजेंटसे चर्चा करके

मौका आनेपर इसके लिए एक 'टेस्ट' केस (आजमाइशी मुकदमा) दायर करनेके बारेमें मैंने उन लोगोंसे बातचीत की ।

इस प्रकार मैंने भारतीयोंकी दुर्दशाका पढ़कर, सुनकर और अनुभव करके ज्ञान प्राप्त किया । मैंने देखा कि स्वाभिमानकी रक्षा चाहनेवाले हिंदुस्तानियोंके लिए दक्षिण अफ्रीका योग्य मुल्क नहीं है । यह स्थिति किस तरह बदली जा सकती है इस चिंतामें मेरा मन अधिकाधिक उलझने लगा । पर अभी मेरा मुख्य कर्तव्य तो दादा अब्दुल्लाका मुकदमा संभालना ही था ।

: १४ :

मुकदमेकी तैयारी

प्रिटोरियामें मुझे जो एक साल मिला वह मेरे जीवनमें अमूल्य था । सार्वजनिक काम करनेकी अपनी शक्तिका कुछ अंदाजा मुझे यहां हुआ । उसे सीखनेका अवसर भी मिला । धार्मिक भावना अपने आप तीव्र होने लगी । कह सकता हूं कि सच्ची वकालत भी यहीं सीखी । नया बारिस्टर पुराने बारिस्टरके दफ्तर-में रहकर जो कुछ सीखता है वह मैं यहीं सीख पाया । यहां मनमें यह विश्वास पैदा हुआ कि मैं वकालत के काममें एकबारगी नाला-यक न रहूंगा । वकील बननेकी कुंजी भी यहीं मेरे हाथ लगी ।

दादा अब्दुल्लाका मुकदमा छोटा न था । चालीस हजार पौण्ड अर्थात् ६ लाख रुपयेका दावा था । व्यापारसे संबंध रखता था । इससे उसमें बहीखातेकी उलझनें बहुत थीं । दावेका आधार अंशतः प्रामेसरी नोट और अंशत : प्रामेसरी नोट लिख देनेके वचन-का पालन था । मुद्दालेहका यह जवाब था कि प्रामेसरी नोट धोखा देकर लिखाये गए और उनका पूरा मुआविजा नहीं मिला । इसमें वाकेआत (तथ्य) और कानूनके नुक्ते बहुत थे ही, खातेकी उलझनें भी बहुत थीं ।

दोनों पक्ष अच्छे-से-अच्छ सालिसिटर और बारिस्टर ले गये

थे। इसलिए उन दोनोंके कामोंका अनुभव प्राप्त करनेका मुझे बढ़िया मौका मिला। मुद्दईका मुकदमा सालिसिटरके लिए तैयार करनेका और पोषक तथ्य इकट्ठे करनेका सारा भार मुझपर था। उसमेंसे सालिसिटर कितना रखता है और सालिसिटरके तैयार किये मुकदमेके खुलासेसे बारिस्टर कितनेका उपयोग करता है यह मैं देख सकता था। मैं समझ गया कि इस दावेकी तैयारीमें मुझे अपनी ग्रहणशक्ति और मुकदमेको तरतीब देनेकी शक्तिका सही अंदाजा हो जायगा।

मैंने केसमें पूरा मन लगाया, उसमें डूब गया। आगेपीछेके सब कागद-पत्र पढ़ गया। मुझपर अपने मुवक्किलके विश्वास और और उसकी होशियारीकी हद न थी। इससे मेरा काम बहुत आसान हो गया। मैंने बहीखातेका बारीकीसे अध्ययन कर लिया। बहुत-से गुजराती कागद-पत्र थे जिनका उलथा भी मुझे ही करना पड़ा। इससे अनुवाद करनेकी शक्ति भी बढ़ी।

मै कसकर मेहनत करता था। यद्यपि, जैसाकि ऊपर लिख आया हूं, धार्मिक चर्चा आदि और सार्वजनिक काममें मेरा मन खूब लगता था और उनमें समय भी देता था, पर मेरे लिए ये गौण वस्तुएं थीं। मुकदमेकी तैयारीको मैं अपना मुख्य कार्य मानता था। उसके लिए कानून या और जो कुछ पढ़ना होता वह मैं सदा पहले पढ़ रखता था। फल यह हुआ कि मुकदमेके तथ्योंपर मेरा इतना अधिकार हो गया जितना मुद्दई-मुद्दालेहको भी शायद न था। कारण यह कि मेरे पास दोनोंके कागद-पत्र होते थे।

मुझे स्वर्गीय मि० पिंकटके शब्द याद आये। उनका अधिक समर्थन पीछे दक्षिण अफ्रीकाके सुप्रसिद्ध बारिस्टर स्वर्गीय मि० लेनर्डने एक मौकेपर किया था। मि० पिंकटका कहना था— "तथ्य तीन-चौथाई कानून है।" एक मुकदमेमें मुझे मालूम था कि न्याय तो मेरे मुवक्किलकी ओर है, पर कानून कुछ खिलाफ जाता जान पड़ा। मैं निराश होकर मि० लेनर्डकी मदद लेने दौड़ा। उन्हें भी तथ्यकी दृष्टिसे मुकदमा मजबूत लगा। बोले, "गांधी, मैंने

एक बात सीखी है, वह यह कि तथ्यपर हमारा सच्चा कब्जा रहे तो कानून अपने आप हमारे पास आ जायगा। इस मुकदमेके तथ्य हमें समझ लेने चाहिए। आप एक बार फिर इस मुकदमेको पढ़-पचा लेनेके बाद मुझसे मिलें।" उन्हीं तथ्योंको फिर से जांचनेपर, उनका मनन करनेपर, मैंने उन्हें भिन्न रूपमें देखा और उसपर लगनेवाली एक मुकदमेकी नजीर भी हाथ लग गई जो दक्षिण अफ्रीकामें चला था। मै खुश-खुश मि० लेनर्डके यहां पहुंचा। वह खुश होकर बोले—"जाइए, हमें यह मुकदमा जीतना चाहिए। जरा इसका खयाल रखना होगा कि किस जजके सामने जाता है।"

दादा अब्दुल्लाके मुकदमेकी तैयारी करते समय मैं तथ्यकी महिमा इतनी है, यह न जान सका था। तथ्यका अर्थ है सच्ची बात। सच्चाईका पल्ला पकड़े रहनेसे कानून अपने आप हमारी मददको आ जाता है।

मैंने तो अंतमें यह भी देख लिया कि मेरे मुवक्किलका मुकदमा बहुत मजबूत है। कानूनको उसकी मदद करनी ही चाहिए।

पर मैंने देखा कि मुक़दमा लड़नेमें दोनों फरीक, जो एक-दूसरेके रिश्तेदार हैं और एक ही शहरके रहनेवाले हैं, बरबाद हो जायंगे। मुक़दमेके अन्तका किसीको पता नहीं। कचहरीमें तो वह चाहे जितना लंबा किया जा सकता है। उसके लम्बा होनेमें दोनोंमेंसे एकको भी फायदा न होगा। इससे मुक़दमा जल्दी खतम हो यह तो दोनों ही फरीक चाहते थे।

तैयब सेठसे मैंने अनुरोध किया। आपसमें झगड़ा निबटा लेनेकी सलाह दी। उन्हें अपने वकीलसे मिलनेको कहा। किसी ऐसे आदमीको पंच चुन लें जिसपर दोनोंका विश्वास हो, तो मामला झट-पट निबट जाय। वकीलोंका खर्च इतना चढ़ता जा रहा था कि उसे चुकानेमें बड़े व्यापारीकी भी बधिया बैठ जाय। दोनों ऐसे जी जानसे मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी इतमीनानसे दूसरा

कोई काम न कर सकता था। आपसमें वैर भी बढ़ता ही जाता था। मुझे वकालतके पेशेसे नफरत हुई। वकीलकी हैसियतसे दोनों पक्षोंके वकीलोंका काम यही था कि एक-दूसरेको जीतनेके लिए कानूनी नुक्ते ढूंढ़ निकालें। यह बात मैंने इस मुकदमेमें ही पहले-पहल जानी कि जीतनेवालेको कुल खर्चा कदापि नहीं मिल सकता। फरीकसे ली जा सकनेवाली कानूनी फीसका एक हिसाब होता है, मवक्किल और वकीलके दरमियानका हिसाब दूसरा होता है। यह सब मुझे असह्य लगा। मुझे अपना धर्म दोनों रिश्तेदारोंमें मेल करा देना ही जान पड़ा। समझौता करानेके लिए मैंने जी-जानसे कोशिश की। तैयब सेठ मान गये। अन्तमें पंच चुना गया। मुकदमा चला। दादा अब्दुल्ला जीत गये।

पर इतनेसे मुझे संतोष न हुआ। पंचके फैसलेकी तामील हो तो तैयब हाजी खान मुहम्मद इतना रुपया एकबारगी दे ही न सकते थे। दक्षिण अफ्रीकामें बसनेवाले पोरबंदरके मेमनोंमें आपसी अलिखित नियम था कि मर जायं, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ ३७००० पौंडकी डिग्री और खर्च एकमुश्त न दे सकते थे। उन्हें एक दमड़ी कम भी न देना था, न दिवाला ही निकालना था। रास्ता एक ही था—दादा अब्दुल्ला उन्हें काफी लंबी मुहलत दे दें। दादा अब्दुल्लाने उदारता दिखाई और खूब लंबी मुहलत दे दी। पच चुनवानेमें मुझे जितनी मेहनत पड़ी उससे ज्यादा यह लंबी मुहलत दिलवानेमें करनी पड़ी। दोनों पक्षोंको खुशी हुई। दोनोंकी प्रतिष्ठामें वृद्धि हुई। मेरे संतोषकी सीमा न रही। मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-स्वभावका उज्ज्वल पक्ष ढूंढ निकालना सीखा, मनुष्य-हृदयमें पैठना सीखा। मुझे जान पड़ा कि वकीलका कर्तव्य फरीकैनके बीचमें खुदी हुई खाईको भरना है। इस शिक्षाने मेरे मनमें ऐसी जड़ जमाई कि मेरी बीस सालकी वकालतका अधिक समय अपने दफ्तरमें बैठे सैकड़ों मुकदमोंमें सुलह करानेमें ही बीता। इसमें मैंने कुछ खोया नहीं। पैसेके घाटेमें रहा यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो नहीं ही गंवाई।

: १५ :

धार्मिक मंथन

अब फिर ईसाई मित्रोंके साथ अपने संपर्कपर विचार करनेका अवसर है।

मेरे भविष्यके बारेमें मि० बेकरकी चिंता बढती जाती थी। वह मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयोंमें थोड़े-थोड़े बरस बाद धर्म-जागृति अर्थात् आत्मशुद्धिके निमित्त विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्मकी पुनः-प्रतिष्ठा अथवा धर्मका पुनरुद्धार कह सकते हैं। ऐसा ही सम्मेलन वेलिंग्टनमें था। उसके सभापति वहांके प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ पादरी रेवरेंड एण्ड्रू मरे थे। मि० बेकरको यह आशा थी कि इस सम्मेलनमें होनेवाली जागृति, वहां आनेवालोंका धर्मोत्साह, उनकी सच्ची श्रद्धा मेरे हृदयपर ऐसी गहरी छाप डालेगी कि मै ईसाई हुए बिना न रह सकूंगा।

पर मि० बेकरका अंतिम आधार था प्रार्थनाकी शक्ति। प्रार्थनामें उन्हें भरपूर श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अंतः-करणसे की हुई प्रार्थनाको ईश्वर अवश्य सुनता है। प्रार्थनासे ही मुलर (एक प्रसिद्ध भावुक ईसाई) जैसे व्यक्तिके अपना लोक-व्यवहार चलानेके दृष्टांत वह मुझे सुनाया करते थे। प्रार्थनाकी महिमाके विषयमें मैंने सब तटस्थ भावसे सुना। मैंने उनसे कहा कि यदि ईसाई होनेकी आवाज मेरे अंतरसे उठे तो उसे स्वीकार करनेमें मुझे कोई चीज रोक नहीं सकती। अन्तर्नादके अधीन होना तो मैं इसके कई बरस पहले ही सीख चुका था। उसके आदेशका अनुसरण करनेमें मुझे आनंद आता था। उसके विरुद्ध जाना मेरे लिए कठिन और कष्टकर था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझे 'सांवले साथी' का साथ मि० बकरके लिए जरा भारी पड़ा। अनेक बार मेरे लिए उन्हें कठिनाइयां झेलनी पड़तीं। रास्तेमें हमें टिकना था, क्योंकि मि०

बेकरका संघ रविवारको यात्रा न करता था, और बीचमें रविवार पड़ता था। रास्तेमें और स्टेशनपर होटलके मालिकने पहले तो होटलमें मुझे लेनेसे ही इन्कार किया और झक-झक के बाद ले भी लिया तो भोजनशालामें खाना देनेसे इन्कार किया। पर मि० बेकर यों सहजमें झुक जानेवाले आदमी नहीं थे! वह होटलमें टिकनेके अधिकार पर डटे रहे। पर मैं उनकी कठिनाइयोंको समझ सकता था। वेलिंग्टनमें भी डेरा उनके साथ ही था। वहां भी उन्हें छोटी-छोटी असुविधाएं उठानी पड़ती थी। वह अपनी भलमनसीसे उन्हें छिपानेकी कोशिश करते थे फिर भी मैं देख लेता था।

सम्मेलनमें श्रद्धालु ईसाइयोंका मिलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं मि० मरेसे मिला। मैंने बहुतोंको अपने (मेरे) लिए प्रार्थना करते हुए देखा। उनके कितने ही भजन मुझे बड़े मधुर लगे।

सम्मेलन तीन दिन चला। सम्मेलनमें आनेवालोंकी धर्म-निष्ठाको मैंने समझा और सराहा। पर मुझे अपने विश्वास, अपने धर्ममें परिवर्तन करनेका कारण न मिला। मुझे यह न दिखाई दिया कि अपनेको ईसाई कहलाकर ही मैं स्वर्ग जा सकता या मुक्ति पा सकता हूं। अपने भले ईसाई मित्रोंको जब मैंने यह बात बताई तो उनके दिलको चोट लगी; पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयां गंभीर थीं। 'ईसामसीह ही एक ईश्वरके पुत्र हैं, उन्हें जो मानता है वह तरता है', यह बात मेरे गले न उतरी। अगर ईश्वरके बेटा होना संभव हो तो हम सब भी उसके बेटे हैं। ईसा यदि ईश्वरतुल्य है, ईश्वर ही है तो मनुष्यमात्र ईश्वरके समान हैं, ईश्वर हो सकते हैं। ईसाकी मृत्युसे और उनके रक्तसे जगत्-के पाप धुल गये, इसके अक्षरार्थको सत्य माननेको मानव-बुद्धि तैयार ही न होती थी। रूपकके रूपमें भले ही उसमें कुछ सत्य हो। इसके सिवा ईसाइयोंके विश्वासानुसार केवल मनुष्यके ही आत्मा है, अन्य जीवोंके नहीं, देहके नाशके साथ उनका संपूर्ण नाश

हो जाता है; पर मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। ईसाको मैं एक त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षकके रूपमें स्वीकार कर सकता था, पर उन्हें अद्वितीय पुरुष माननेको तैयार न हो सकता था। ईसाकी मृत्युसे जगत्को एक महान् उदाहरण मिला, पर उनकी मृत्युमें कोई गूढ़ चमत्कारी प्रभाव था इसे मेरा हृदय स्वीकार न कर सकता था। ईसाइयोंके पवित्र जीवनमें मुझे ऐसी कोई बात न मिली, जो अन्य धर्मावलंबियोंके जीवनमें न मिलती हो। उनमें हुआ परिवर्तन-जैसा ही परिवर्तन मैंने दूसरोंके जीवनमें भी होते देखा था। सिद्धांतकी दृष्टिसे ईसाई-सिद्धांतोंमें मुझे कोई अलौकिकता न मिली। त्याग की दृष्टिसे हिंदूधर्म माननेवालोंका त्याग मुझे बढ़ाचढ़ा दिखाई दिया। ईसाईधर्मको मैं संपूर्ण अथवा सर्वश्रेष्ठ धर्म न मान सका।

यह हृदय-मंथन मैंने अवसर आनेपर ईसाई मित्रोंके सामने रखा। उसका ऐसा उत्तर वे न दे सके जिससे मेरा समाधान हो।

पर जैसे मैं ईसाईधर्मको स्वीकार न कर सका, वैसे हिंदूधर्मके संपूर्ण अथवा सर्वश्रेष्ठ होनेका भी मैं उस समय निश्चय न कर पाया। हिंदूधर्मकी त्रुटियां मेरी आंखोंके सामने फिरा करती थीं। अस्पृश्यता यदि हिंदूधर्मका अंग हो तो वह सड़ा हुआ और फालतू अंग जान पड़ा। अनेक संप्रदायों तथा अनेक जाति-उपजातियोंके अस्तित्वका औचित्य मैं न समझ सका। वेदोंके ही ईश्वरप्रणीत होनेका क्या अर्थ है? वेद ईश्वरप्रणीत हैं तो बाइबिल और कुरान क्यों नहीं हैं?

जैसे ईसाई मित्र मुझपर असर डालनेकी कोशिश कर रहे थे वैसे ही मुसलमान मित्रोंका प्रयत्न भी जारी था। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लामका अध्ययन करनेको ललचा रहे थे। उसकी खूबियोंकी चर्चा तो करते ही रहते थे।

मैंने अपनी कठिनाइयां रायचंदभाईके सामने रखीं। हिंदुस्तानके अन्य धर्मशास्त्रियोंके साथ भी पत्र-व्यवहार आरंभ किया। उनके उत्तर आये। रायचंदभाईके पत्रसे मुझे कुछ शांति

मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिंदूधर्मका गंभीर अध्ययन करनेकी सलाह दी। उनके एक वाक्यका भावार्थ था—"निष्पक्ष रूपसे विचार करनेपर मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिंदूधर्ममें जसे सूक्ष्म और गूढ़ विचार है, आत्माका जैसा निरीक्षण है, दया है, वैसे दूसरे धर्ममें नहीं हैं।'

मैंने सेलका कुरान (टीका) खरीदकर पढ़ना शुरू किया। इस्लाम-संबंधी और पुस्तकें भी प्राप्त कीं। विलायतके ईसाई मित्रोंसे पत्र-व्यवहार आरंभ किया। उनमेंसे एकने एडवर्ड मेटलेंडसे परिचय कराया। उनके साथ पत्र-व्यवहार चला। उन्होंने एना किंग्सफोर्डके साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी, वह मुझे पढ़नेको भेजी। उसमें प्रचलित ईसाई-धर्मका खंडन था। 'बाइबिलका नया अर्थ' नामक पुस्तक भी उन्होंने मुझे भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसंद आईं। उनसे हिंदू-मतको पुष्टि मिली। टाल्स्टायकी 'वैकुंठ तुम्हारे हृदयमें है' ('द किंगडम आव् गाड इज विदिन यू') नामक पुस्तकने मुझे मोह लिया। उसका मुझपर बहुत गहरा असर पड़ा। इस पुस्तककी स्वतंत्र विचारशैली उसकी प्रौढ़नीति और उसके सत्यके सामने मि० कोट्सकी दी हुई सब पुस्तकें शुष्क लगीं।

इस प्रकार मेरा अध्ययन उस दिशामें मुझे ले गया जो ईसाई मित्रोंको अभिलषित न थी। एडवर्ड मेटलेंडके साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी लंबा हुआ। कवि (रायचंदभाई) के साथ तो अंततक चला। उनकी भेजी हुई पुस्तकें भी मैंने पढ़ीं। उनमें 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', योगवासिष्ठका 'मुमुक्षु-प्रकरण', 'हरिभद्र सूरिका' 'षड्दर्शनसमुच्चय', इत्यादि थ।

यों, यद्यपि मैं ईसाई मित्रोंके अकल्पित मार्गपर चल पड़ा तथापि उनके समागमने मुझमें जो धर्मजिज्ञासा जाग्रतकी उसके लिए तो मैं उनका सदाके लिए ऋणी हो गया। अपना यह संबंध मुझे सदा स्मरण रहेगा। ऐसे मधुर और पवित्र संबंध आगे चलकर बढ़ते ही गये, घटे नहीं।

: १६ :

को जाने कलकी ?

"खबर नहीं इस जुगमे पलकी
समझ मन ! को जाने कलकी ?"

मुकदमा खतम हो जानेपर मेरे प्रिटोरियामें रहनेका प्रयोजन न रहा। मैं डरबन गया। वहां जाकर हिंदुस्तान लौटनेकी तैयारी की। अब्दुल्ला सेठ मेरा सम्मान-सत्कार किये बिना जाने देनेवाले न थे। उन्होंने सिडनहममें मेरे लिए दावतका जलसा किया। वहां सारा दिन बिताना था।

मेरे पास कुछ अखबार पड़े थे। उन्हें मैं देख रहा था। एक अखबारके एक कोनेमें मैंने एक छोटा पैराग्राफ देखा। शीर्षक था 'इंडियन फ्रेंचाइज' जिसका अर्थ होता है 'भारतीय मताधिकार।' उस पैराग्राफका मतलब यह था कि हिंदुस्तानियोंको नेटालकी कौंसिलमें सदस्य चुननेका जो हक हासिल था वह छीन लिया जाय। इस विषयके बिलपर असेंबलीमें बहस हो रही थी। मुझे इस बिलका पता न था। उस जलसेमें शरीक किसी भी आदमीको हिंदुस्तानियोंका हक छीन लेनेवाले इस बिलकी कोई खबर न थी।

मैंने अब्दुल्ला सेठसे पूछा। उन्होंने कहा, "ऐसी बातोंका हमें क्या पता ? हमें तो व्यापारपर कोई संकट आये तो अलबत्ता उसका पता चलता है। देखिये न, आरेंज फ्री स्टेटमें हमारे व्यापारकी जड़ उखड़ गई। उस विषयमें हमने मेहनत की। पर हम तो अपंग ठहरे। अखबार लें तो भी भावतावभर ही समझ पाते हैं। कायदे-कानूनकी बातोंको हम क्या समझें ? हमारे आंख-कान हैं हमारे गोरे वकील।"

मैंने पूछा, "पर यहांके जन्मे हुए और अंग्रेजी पढ़े-लिखे जो इतने नौजवान हिंदुस्तानी अपने यहां हैं वे ?"

अब्दुल्ला सेठने सिरपर हाथ रखा। बोले, "अरे भाई, उनसे

हमें क्या मिलता है ? वे बेचारे इसमें क्या समझते हैं ? वे हमारे पास भी नहीं फटकते और सच पूछिये तो हमभी उन्हें नहीं पहचानते। वे ईसाई हैं, इससे पादरियोंके पंजेमें हैं। और पादरी गोरे हैं इसलिए वे सरकारके ताबेमें हैं !"

मेरी आंखें खुलीं। इस वर्गको अपनाना चाहिए। ईसाई धर्मका यही अर्थ है ? वे ईसाई हो गये तो क्या देशसे भी उनका नाता टूट गया ? वे परदेशी हो गये ?

पर मुझे तो देश वापस जाना था, इसलिए इन विचारोंको मनके बाहर न निकाला। अब्दुल्ला सेठसे पूछा, "पर यदि यह कानून ज्यों-का-त्यों पास हो गया तो आप लोगोंके लिए बहुत कष्ट-कर होगा। यह तो हिंदुस्तानियोंकी हस्तीको मिटानेका पहला कदम है। इसमें आपके स्वाभिमानकी हानि है।"

"होगी। पर आपको मैं इस 'फ्रेंचाइज' (इस प्रकार अंग्रेजी भाषाके बहुतेरे शब्द कुछ बदलकर हिंदुस्तानियोंमें रूढ़ हो गये थे। 'मताधिकार' कहनेसे किसीकी समझमें न आता था) का इतिहास बताता हूं। हम तो इसमें कुछ भी नहीं समझते। पर आप तो जानते ही हैं कि हमारे बड़े वकील मि० एस्कंब्र हैं। यह जबरदस्त लड़वैये हैं। उनकी और यहांके जेटी इंजीनियरकी खूब लड़ाई चलती है। मि० एस्कंबके कौंसिलमें जानेमें यह लड़ाई बाधक होती थी। उन्होंने हमें हमारी स्थितिका ज्ञान कराया। उनके कहनेसे हमने अपने नाम वोटरसूचीमें लिखवाये और वे सब वोट मि० एस्कंबको दिये। इतनेसे आप समझ लेंगे कि इस मतका मूल्य आप जितना आंकते हैं उतना हम क्यों नहीं आंकते। पर आप जो कहते हैं वह अब हम समझ सकते हैं। खैर, अब आप क्या सलाह देते हैं ?"

दूसरे मेहमान यह बात ध्यानपूर्वक सुन रहे थे ? उनमेंसे एकने कहा, "मैं आपको सच-सच बता दूं ? आप इस स्टीमरसे न जायं और एक-आध महीना यहां रुक जायं तो जिस तरह कहें उस तरह हम लड़ सकते हैं।"

दूसरे बोल उठे, "बिलकुल ठीक है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधीभाईको रोक लीजिए।"

अब्दुल्ला सेठ उस्ताद आदमी थे। बोले, "अब उन्हें रोकनेका मुझे अधिकार नहीं है, या जितना मुझे है उतना ही आप लोगोंको भी है। पर आप लोग जो कहते हैं वह बिलकुल ठीक है। हम सब मिलकर उन्हें रोकें। पर यह तो बारिस्टर हैं, इनकी फीसका क्या होगा?"

फीसकी बात सुनकर मुझे कष्ट हुआ। मैंने बीचमें टोककर कहा, "अब्दुल्ला सेठ, इसमें मेरी फीसकी बात तो उठनी ही न चाहिए। सार्वजनिक सेवामें फीस कैसी? मैं रुकूं तो एक सेवककी भांति रुक सकता हूं। इन भाइयोंमें सबको मैं अच्छी तरह नहीं पहचानता। पर आप समझते हों कि सब मेहनत करेंगे तो मैं एक महीना रुक जानेको तैयार हूं। यह सही है कि आपको मुझे कुछ देना नहीं है, फिर भी ऐसे काम बिलकुल बिना पैसेके तो हो ही नहीं सकते। हमें तार देने पड़ेंगे, कुछ छपाना पड़ेगा। जहां-तहां आना-जाना पड़ेगा, उसमें गाड़ीभाड़ा लगेगा। कभी स्थानीय वकीलोंकी भी सलाह लेनी पड़ सकती है। मुझे यहांके कानूनोंका पता नहीं है। कानूनकी किताबें देखनी होंगी। फिर ऐसे काम अकेलेसे नहीं हो सकते। बहुतोंको उसमें शामिल होना होगा।"

बहुत-सी आवाजें एक साथ आई, "खुदाकी मेहरबानी है। पैसे तो मिल ही जायंगे। आदमी भी हैं। आप रहना कबूल कर लें तो और सब हो जायगा।"

जलसा कार्यकारिणी समिति बन गया। मैंने सलाह दी कि खाना-पीना जल्द निपटाकर हमें घर पहुंचना चाहिए। आंदोलनकी रूप-रेखा मनमें बनाई। मताधिकार कितने आदमियोंको प्राप्त है आदि बातें जान लीं। मैंने एक महीना रुक जानेका निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वरने दक्षिण अफ्रीकामें मेरे स्थायी निवासकी नींव डाली और आत्मसम्मानके संग्रामका बीजारोपण हुआ।

: १७ :

रह गया

सन् १८९३में नेटालमें भारतीय समुदायके अग्रगण्य नेता सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा माने जाते थे। धन-संपत्तिमें सेठ अब्दुल्ला हाजी आदम मुख्य थे, लेकिन वह और दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामोंमें सेठ हाजी मुहम्मदको ही आगे रखते थे। अतः उन्हींके सभापतित्वमें अब्दुल्ला सेठके मकानपर सभा हुई। उसमें फ्रेंचाइज (मताधिकार) बिलका विरोध करनेका प्रस्ताव पास हुआ। स्वयंसेवकोंके नाम लिखे गये। इस सभामें नेटालमें जन्मे हुए हिंदुस्तानी अर्थात् इसाई युवक भी बुलाये गए थे। मि० पाल डरबनकी अदालतके दुभाषिया थे। मि० सुभान गाडफ्रे मिशन स्कूलके हेडमास्टर थे। वह भी सभामें आये और उनके असरसे उस समुदायके नवयुवक अच्छी संख्यामें शामिल हुए थे। इन सबने स्वयंसेवकोंमें नाम लिखाया। व्यापारियोंकी संख्या तो अधिक थी ही। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय थे—सेठ दाऊद मुहम्मद, मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियां खां, ए० कोलंदा वेल्लु पीले, सी० लच्छीराम, रंगसामी पडियाची, आमद जीवा आदि। पारसी रुस्तमजीको तो होना ही चाहिए था। कर्म-चारीवर्गमेंसे पारसी माणिकजी, जोशी, नरसीराम आदि दादा अब्दुल्ला इत्यादिकी बड़ी फर्मोंके नौकर थे। इन सबको सार्व-जनिक काममें शामिल होनेमें अचंभा हुआ। इस प्रकार सार्वजनिक काममें न्यौते जाने और योग देनेका उनका यह प्रथम अनुभव था। सिरपर आई हुई विपत्तिके सामने सब ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा, मालिक-नौकर, हिंदू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मद्रासी, सिंधी आदिका भेद भूल गए थे। सब हिंदीकी संतान और सेवक थे।

बिलका दूसरा वाचन हो चुका था या होनेको था। उस समय असेंबलीमें हुए भाषणोंमें कहा गया था कि कानून इतना कड़ा होते

हुए भी हिंदुस्तानियोंकी ओरसे उसका कोई विरोध नहीं हुआ। यह इस बातका सबूत है कि हिंदुस्तानी लापरवाह हैं और मताधिकारका प्रयोग करनेके योग्य नहीं है।

मैंने वस्तुस्थिति सभाको समझाई। पहला काम तो यह हुआ—असेंबलीके अध्यक्षको तार दिया गया कि वह बिलपर आगे विचार मुल्तवी रखें। इसी आशयका तार प्रधान मंत्री सर जान राबिन्सनको भी दिया गया। एक तार दादा अब्दुल्लाके दोस्तकी हैसियतसे मि० एस्कंबको भी भेजा गया। असेंबलीके अध्यक्षके तारका यह जवाब आया कि बिलपर विचार दो दिन मुल्तवी रहेगा। सबको खुशी हुई।

आवेदनपत्र बना। उनकी तीन प्रतियां भेजनी थीं। अखबारोंके लिए भी एक प्रति तैयार करानी थी। अर्जीपर जितने भी हस्ताक्षर हो सकें कराने थे। सारा काम एक रातमें पूरा करना था। उपर्युक्त शिक्षित स्वयंसेवक और दूसरे लोग भी लगभग सारी रात जागे। उनमें सुंदर अक्षर लिखनेवाले मि० आर्थर नामके एक वृद्ध थे। उन्होंने सुंदर अक्षरोंमें अर्जीकी नकल तैयार की। दूसरोंने उसकी और नकलें की। एक आदमी बोलता और पांच लिखते जाते। इस प्रकार पांच प्रतियां एक साथ तैयार हो गईं। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियां लेकर या अपने खर्चसे गाड़ियां किराया करके हस्ताक्षर लेने निकल पड़े।

अर्जी गई। अखबारों में छपी। उसपर अनुकूल आलोचनाएं हुईं। व्यवस्थापक मंडलपर भी असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। अर्जीमें दी हुई दलीलोंका खंडन हुआ, पर वह खंडन खुद करनेवालोंको भी लचर लगा। फिर भी बिल पास हो गया।

इस सबका नतीजा हमें पहलेसे जाना-समझा था। फिर भी भारतीय समाजमें नई जान आ गई। हम एक जाति हैं, केवल व्यापारिक अधिकारोंके लिए ही नहीं, बल्कि सामुदायिक स्वत्वोंके लिए लड़ना भी सबका धर्म है। यह बात सबकी समझमें आ गई।

इन दिनों लार्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। उनके पास 'जंगी'

(बड़ी) अर्जी भेजनेका निश्चय हुआ। इस अर्जीपर जितने हस्ताक्षर कराये जा सकें कराने थे। यह काम एक दिनका नहीं था। स्वयंसेवक बनाये गए और सबने काम पूरा करनेमें हाथ बंटाया।

अर्जी बनानेमें मैंने खूब मेहनत की। उस विषयपर जितना साहित्य मिल सका पढ़ गया। हिंदुस्तानमें हम एक प्रकारका मताधिकार भोगते हैं इस सिद्धांतकी दलीलको और नेटालमें हिंदुस्तानियोंकी तादाद बहुत ही कम है इस व्यावहारिक दलीलको मैंने अपना केंद्रबिंदु बनाया।

अर्जीपर दस हजार हस्ताक्षर हुए। एक पखवाड़ेमें दरख्वास्त भेजने भरको हस्ताक्षर मिल गये। इतने समयमें नेटालमें दस हजार दस्तखत लेनेके कामको पाठक कोई छोटी-मोटी बात न समझें। हस्ताक्षर सारे नेटालमेंसे लेने थे। लोग ऐसे कामसे अनजान थे। हम लोगोंने यह तै कर रखा था कि दस्तखत करनेवाला जबतक यह समझ न ले कि वह किस बातपर सही कर रहा है तबतक उससे सही न लें, इसलिए खास स्वयंसेवक भेजकर ही हस्ताक्षर प्राप्त करने थे। गांव दूर-दूर थे। इसलिए काम करनेवाले काफी हों और लगनसे काम करें तभी ऐसा काम शीघ्रतासे हो सकता था। यही हुआ। सबने उत्साहपूर्वक काम किया। उनमें सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियांखां और आमद जीवाकी सूरतें आज भी मेरी आंखोंके सामने फिरा करती हैं। वे बहुत-से हस्ताक्षर लाये थे। दाऊद सेठ अपनी गाड़ी लेकर सारे दिनके लिए निकल पड़ते। किसीने जेब-खर्च तक न मांगा।

दादा अब्दुल्लाका घर धर्मशाला या सार्वजनिक कार्यालय-सा बन गया था। शिक्षित भाई तो मेरे पास ही रहते थ। उनका और दूसरे कार्यकर्त्ताओंका भोजन दादा अब्दुल्लाके यहां ही होता था। इस प्रकार सभी काफी खर्चे में पड़े।

अर्जी गई। उसकी एक हजार प्रतियां छपवाई गई थीं। उस अर्जीने हिंदुस्तानकी जनताको नेटालका प्रथम परिचय

कराया । जितने अखबारों और सार्वजनिक नेताओंके नाम मैं जानता था उन सबको अर्जीकी नकलें भेज दीं ।

'टाइम्स आव इंडिया'ने उसपर अग्रलेख लिखकर हिंदुस्तानियोंकी मांगका जोरदार समर्थन किया। विलायतमें भी अर्जीकी प्रतियां सब पक्षोंके नेताओंको भेजी गई थी । वहां हमें 'लंदन टाइम्स' का समर्थन मिला । अतः आशा हुई कि बिलको मंजूरी न मिलेगी ।

अब स्थिति ऐसी न रही कि मै नेटाल छोड़ सकूं । लोगोंने मुझे चारों ओरसे घेरा और नेटालमें ही स्थायी रूपसे रहनेका अतिशय आग्रह किया । मैंने अपनी कठिनाइयां बताईं । मैंने अपने मनमें निश्चय कर रखा था कि सार्वजनिक पैसेपर न रहूंगा । मुझे अलग घर लेकर रहनेकी आवश्यकता दिखाई दी । उस समय मेरा खयाल था कि घर भी अच्छा और अच्छे मुहल्लेमें लेना चाहिए । मैंने सोचा कि दूसरे बारिस्टर जैसे रहते हैं वैसे मेरे रहनेमें भारतीय समाजका मान बढ़ेगा । मुझे दिखाई दिया कि ऐसी 'गिरस्ती' मै सालाना ३०० पौंडसे कममें नहीं चला सकता, अतः मैंने तै किया कि इतने पैसेका वकालतका काम देनेकी हामी भरी जाय तभी मैं रह सकता हूं । और उन लोगोंको यह बता दिया ।

साथियोंने कहा, "लेकिन इतने पैसे आप सार्वजनिक सेवाके लिए लें तो यह हम बर्दाश्त कर सकेंगे। इतने पैसे इकट्ठे कर देना हमारे लिए आसान है । वकालतसे जो कुछ मिले वह आपका ही होगा ।"

मैंने जवाब दिया, "मैं इस तरह पैसे नहीं ले सकता। मैं अपने सार्वजनिक कामका इतना मूल्य नहीं आंकता । मुझे उसमें कुछ वकालत तो करनी न होगी । मुझे तो आप लोगोंसे काम लेना है, उसके पैसे कैसे लिये जा सकते हैं ? इसके सिवा सार्वजनिक कामोंके लिए मुझे आप लोगोंसे पैसे लेने पड़ेंगे । अगर मैं अपने लिए पैसे लूं तो आप लोगोंसे बड़ी रकमें निकलवानेमें मुझे संकोच होगा

और अंतमें हमारी गाड़ी अटक जायगी। समाजसे तो मैं सालमें ३०० पौंडसे ज्यादा ही खर्च करानेवाला हूं।"

"पर आपको अब हम लोग पहचानने लगे हैं। आपको अपने लिए पैसे कहां मांगने हैं। आपके रहनेका खर्च तो हमें देना ही चाहिए?"

"यह तो आपका स्नेह और सामयिक उत्साह आपसे कहलवा रहा है। यह कैसे मान लें कि यही उत्साह और यही स्नेह सदा बना रहेगा? मुझे तो आपको कभी कड़वे वचन भी कहने पड़ेंगे। उस समय भी आपके स्नेहका पात्र बना रह सकूंगा या नहीं, यह तो भगवान ही जाने! पर मूल बात यह है कि सार्वजनिक सेवाके लिए मैं पैसे कदापि नहीं ले सकता। आप सब लोग अपना वकालतका काम मुझे देनेका वादा कर दें तो मेरे लिए काफी है। यह भी शायद आपको भारी पड़े। मैं कोई गोरा बारिस्टर तो हूं नहीं। अदालत मुझे दाद देगी या नहीं, इसका भी मुझे क्या पता? मैं कैसी वकालत कर सकूंगा यह भी नहीं जानता। अतः मुझे पहलेसे वकालत-का मेहनताना देनेमें भी आपको जोखिम उठानी है। फिर भी आप मुझे वकालतका मेहनताना देंगे तो वह मेरी सार्वजनिक सेवाके नाते ही तो माना जायगा?"

इस बहसका नतीजा यह रहा कि कोई बीस व्यापारियोंने मेरा एक वर्षका वर्षासन (सालभरका खर्च) बांध दिया। इसके अतिरिक्त दादा अब्दुल्ला मुझे बिदाईमें जो भेंट देनेवाले थे उसके बदले उन्होंने मेरे लिए जरूरी फर्नीचर खरीद दिया। इस तरह मैं नेटालमें रह गया।

: १८ :

वर्ण-बाधा

न्यायालयका प्रतीक तराजू है। एक निष्पक्ष, अंधी पर बुद्धि-मान बुढ़िया उसे पकड़े हुए है। उसे विधाताने अंधी बनाया है,

इसलिए कि मुंह देखकर टीका न काढ़े, बल्कि जो गुणमें योग्य हो उसीको तिलक करे। पर इसके विपरीत, नेटालकी वकील-सभा वहांके न्यायालयसे मुंह देखकर टीका लगवानेपर तुल गई थी; किंतु न्यायालयने इस मौकेपर अपने प्रतीकको फबनेवाला काम किया।

मुझे वकालतकी सनद लेनी थी। मेरे पास बंबई हाईकोर्टका प्रमाणपत्र था। विलायतका प्रमाणपत्र उसीके (बंबई हाईकोर्टके) दफ्तरमें था। दाखिलेकी दरख्वास्तके साथ नेकचलनीके दो सर्टिफिकेटोंकी जरूरत समझी जाती है। मैंने सोचा कि ये सर्टिफिकेट गोरोंके हों तो अच्छा रहेगा। इसलिए दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियोंके जिनसे अब्दुल्ला सेठके मार्फत मुझसे साबिका पड़ चुका था, प्रमाणपत्र ले लिये थे। दरख्वास्त किसी वकीलकी मार्फत जानी चाहिए थी और साधारण नियम यह था कि ऐसी दरख्वास्त एटर्नी-जनरल बिना मेहनताना लिये पेश करे। मि० एस्कंब एटर्नी-जनरल थे। वह अब्दुल्ला सेठके वकील थे यह बात पहले कही जा चुकी है। मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशीसे मेरी दरख्वास्त पेश करना मंजूर किया।

इतनेमें अचानक वकील-सभाकी ओर से मुझे नोटिस मिला। उसमें मेरे प्रवेशका विरोध किया गया था। दूसरा एक कारण यह दिया गया था कि सनदकी दरख्वास्तके साथ मैंने असली सर्टिफिकेट नत्थी नहीं किया है। पर विरोधकी मुख्य दलील यह थी कि अदालतमें वकीलोंके दाखिलेके नियम बनाते समय यह बात सोची भी न गई होगी कि कोई काला या पीला आदमी भी दाखिलेके लिए दरख्वास्त देगा। नेटाल गोरोंके पुरुषार्थसे बना है और इसलिए उसमें गोरोंकी ही प्रधानता होनी चाहिए। यदि काले वकील दाखिल होने लगेंगे तो धीरे-धीरे गोरोंकी प्रधानता जाती रहेगी और उनकी रक्षाकी दीवार ढह जायगी।

इस विरोधके समर्थनके लिए वकील-सभाने एक प्रख्यात वकीलको नियुक्त किया था। इस वकीलका भी दादा अब्दुल्ला-

से संबंध था। उनके द्वारा उन्होंने मुझे बुलवाया। उन्होंने मेरे साथ साफ-साफ बातें कीं। मेरा पूर्ववृत्त पूछा। बतलानेपर बोले, "मुझे तो आपके खिलाफ कुछ कहना नही है। मुझे डर था कि शायद आप यहीं जनमे हुए कोई धूर्त्त हों! दूसरे आपके पास असल प्रमाणपत्र न होनेसे मेरे संदेहको पुष्टि मिली। दूसरोंके प्रमाणपत्रोंका उपयोग कर लेनेवाले आदमी भी हैं ही। आपने गोरोंके जो प्रमाणपत्र पेश किये हैं उनका मुझपर कोई असर नहीं हुआ। वे आपको क्या जानें? उनके साथ आपकी जान-पहचान कितनी है?"

मैं बीचमें बोला, "पर यहां तो मेरे लिए सभी नये हैं। अब्दुल्ला सेठ भी तो यहींसे जानने लगे हैं।"

"ठीक है; पर आप तो कहते हैं कि वह आपके नगरके हैं। और आपके पिता वहांके दीवान थे, इसलिए वह आपके कुटुंबको तो जानते ही है न? उनका हलफनामा आप पेश कर दें तो फिर मुझे कोई आपत्ति न रह जायगी। मैं वकील-सभाको लिख दूंगा कि मैं आपका विरोध नहीं कर सकता।"

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने उसे दबाया। मैंने सोचा कि अगर मैंने अब्दुल्ला सेठका ही प्रमाणपत्र पेश किया होता तो उसकी बेकद्री करके गोरोंकी पहचान मांगी जाती। फिर मेरी वकालतकी योग्यताका मेरे जन्मसे क्या वास्ता? यदि मैं दुष्ट या कंगाल मां-बापका लड़का होऊं तो मेरी योग्यताकी जांचमें उसकी आपत्ति क्यों उठाई जाय? पर इन सब विचारोंको मनमें ही रखकर मैंने जवाब दिया, "गो, मै यह नहीं मानता कि ये सब तथ्य मांगनेका वकील-सभाको अधिकार है, फिर भी आप जैसा चाहते हैं वैसा हलफनामा दाखिल करानेको तैयार हूं।"

अब्दुल्ला सेठका हलफनामा लिखाकर उक्त वकीलको दे दिया। उन्होंने संतोष प्रकट किया। पर वकील-सभाको संतोष न हुआ। उसने मेरे दाखिलेके खिलाफ अपना विरोध अदालतके सामने रखा। अदालतने मि० एस्कंबका जवाबतक नहीं सुना

और सभाका विरोध रद कर दिया। प्रधान न्यायाधीशने कहा,

"प्रार्थीके असल प्रमाणपत्र पेश न करनेकी दलीलमें कोई दम नहीं है। उसने झूठा हलफ लिया होगा तो उसके लिए उसपर फौजदारी मुकदमा चल सकता है और उसका नाम वकीलोंकी सूचीसे खारिज कर दिया जायगा। अदालतके कानूनमें काले-गोरे-का भेद नहीं है। हमें मि० गांधीको वकालत करनेसे रोकनेका अधिकार नहीं है। दरख्वास्त मंजूर की जाती है। मि० गांधी, आप शपथ ले सकते हैं।"

मैं उठा। रजिस्ट्रारके सामने जाकर हलफ लिया। हलफ लेते ही प्रधान न्यायाधीशने कहा, "अब आपको अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिए। एक वकीलकी हैसियतसे वकीलोंके लिए बने हुए अदालतके पोशाक-संबंधी नियमका पालन आपके लिए भी जरूरी है।"

मैंने अपनी मर्यादा समझी। डरबनके मजिस्ट्रेटकी कचहरी-में जिस पगड़ीके पहने रहनेपर मैं अड़ा रहा उसे मैंने यहां उतार दिया। उतारनेके खिलाफ मेरे पास दलील तो थी; पर मुझे तो बड़ी लड़ाइयां लड़नी थीं। पगड़ी पहने रहनेके आग्रहमें मुझे अपनी लड़नेकी कलाकी समाप्ति नही करनी थी। शायद वह कुछ धूमिल हो जाती।

अब्दुल्ला सेठ और दूसरे मित्रोंको मेरी नम्रता (या निर्बलता ?) पसंद न आई। उनकी रायमें मुझे वकीलकी हैसियतमें पगड़ी पहने रहनेका आग्रह रखना चाहिए था। मैंने उन्हें समझानेकी कोशिश की। 'जैसा देस वैसा भेस' कहावतका रहस्य समझाया। हिंदुस्तानमें गोरे अधिकारी या जज मजबूर करें तो उसका विरोध करना उचित होगा। नेटाल-जैसे देशमें और उस न्यायालयके एक पदाधिकारीके रूपमें मुझे न्यायालयकी रीति-का इस तरह विरोध करना शोभा न देगा।

इस तरहकी दलीलोंसे मैंने मित्रोंको कुछ शांत तो किया, पर मैं नहीं समझता कि मैं उनके दिमागमें यह बात पूरे तौरसे बैठा

सका कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न संयोगोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे देखी जा सकती है। पर मेरे जीवनमें आग्रह और अनाग्रह सदा साथ-साथ ही चलते आये हैं। सत्याग्रहमें इसकी अनिवार्यता मैंने बादको अनेक बार अनुभव की है। इस समझौतावृत्तिके कारण मुझे कितनी ही बार अपनी जानकी जोखिम उठानी और मित्रोंका असंतोष सहन करना पड़ा है। पर सत्य वज्रके समान कठिन है और कमल-के समान कोमल।

वकील-सभाके विरोधने दक्षिण अफ्रीकामें मेरे लिए दूसरे विज्ञापनका काम किया। अधिकांश अखबारोंने मेरे दाखिलेके विरोधकी निंदा की और वकीलोंपर ईर्ष्याका दोष लगाया। इस विज्ञापनसे मेरा काम किसी हदतक आसान हो गया।

१९ :

नेटाल-इंडियन-कांग्रेस

वकालतका धंधा मेरे लिए गौण वस्तु थी और सदा गौण ही रही। नेटालमें अपना रहना सार्थक करनेको तो मुझे सार्वजनिक कार्यमें तन्मय हो जाना था। भारतीय मताधिकार-प्रतिबंधक कानूनके विरोधमें सिर्फ अर्जी भेजकर ही तो बैठा नहीं जा सकता था। उसके बारेमें आंदोलन जारी रहनेसे ही उपनिवेश-मंत्रीपर असर पड़ सकता था। इसके लिए एक संस्था स्थापित करनेकी आवश्यकता जान पड़ी। अतः अब्दुल्ला सेठसे सलाह की। दूसरे साथियोंसे भी मिला और एक सार्वजनिक संस्था स्थापित करनेका निश्चय हुआ।

उसके नाम-करणमें कुछ धर्मसंकट पड़ा। इस संस्थाको किसी दलका पक्षपात न करना था। मैं जानता था कि महासभा (कांग्रेस) का नाम विलायतके कंजरवेटिव (पुराण-पंथी) पक्षमें अप्रिय है। पर महासभा भारतका प्राण थी। उसकी शक्ति बढ़नी ही चाहिए। वह नाम छिपाने अथवा उसे धारण करते हुए

झिझकनेमें नामर्दीकी बू आती थी। अतः मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्थाका नाम 'कांग्रेस' ही रखनेकी राय दी और १८९४ के मई महीनेकी २२वीं तारीखको 'नेटाल-इंडियन-कांग्रेस' का जन्म हुआ।

दादा अब्दुल्लाकी बैठक भर गई थी। लोगोंने इस नवजात संस्थाका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। विधान सीधा-सादा रखा गया। चंदा भारी था। हर महीने कम-से-कम पांच शिलिंग देनेवाला ही सदस्य हो सकता था। धनी व्यापारियोंसे उन्हें गुद-गुदाकर जितना अधिक पैसा ले सकें लेनेकी छूट रखी गई। अब्दुल्ला सेठसे दो पौंड मासिक लिखवाये गए। दूसरे दो सज्जनों-से भी उतना ही लिखवाया। अपने बारेमें मैंने सोचा कि मुझे इस काममें कंजूसी न करनी चाहिए। अतः अपने नाम एक पौंड मासिक लिखवाया। यह रकम मेरे लिए बीमेकी किस्त-जैसी थी। पर मैंने सोचा कि अगर मेरा खर्च चलेगा तो मेरे लिए हर महीने एक पौंड बहुत भारी न होगा। ईश्वरने मेरी गाड़ी चलाई। एक पौंड देनेवालोंकी तादाद काफी रही, दस शिलिंगवालोंकी उनसे भी अधिक। इसके सिवा सदस्य हुए बिना भेंटके रूपमें जो कोई दानस्वरूप कुछ दे दे उसे तो सधन्यवाद स्वीकार कर ही लेना था।

अनुभवसे दिखाई दिया कि तकादेके बिना कोई चंदा न देता था। डरबनसे बाहरवालोंके यहां बार-बार जाना असंभव था। आरंभशूरताका दोष तुरंत सामने आया। डरबनमें भी बहुत फेरे लगानेपर पैसे मिलते थे। मैं मंत्री था। इसलिए पैसा वसूल करने-का बोझ मेरे सिर था। मुझे अपने मुहर्रिरको लगभग सारा दिन चंदा वसूल करनेके काममें ही रखना पड़ता था। मुहर्रिर भी थक गया। मुझे दिखाई दिया कि चंदा मासिक नहीं, वार्षिक होना चाहिए। और सबसे पेशगी मिल जाना चाहिए। बैठक बुलाई गई। सबने इस सुझावका स्वागत किया और कम-से-कम तीन पौंड सालाना चंदा लेनेकी बात तै पाई। वसूली आसान हो गई।

आरंभमें ही मैंने यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर नहीं करना चाहिए। और बातोंमें लोगोंका भले ही विश्वास किया जाय, पर पैसेके वादेका विश्वास नहीं करना चाहिए।

मैंने देख लिया था कि लिखी रकम चुकानेका धर्म लोग कभी नियमित रूपसे नहीं पालते। नेटालके हिंदुस्तानी भी इसके अपवाद न थे। इससे 'नेटाल-इंडियन-कांग्रेस' ने कभी कर्ज लेकर काम किया ही नहीं।

सदस्य बनानेमें साथियोंने बेहद उत्साह दिखाया। उसमें उन्हें रस मिलता था, अमूल्य अनुभव भी मिलता था। बहुतेरे खुशीसे नाम लिखाते और तुरंत पैसे दे देते थे। दूर-दूरके गांवोंमें जरा कठिनाई पड़ती थी। सार्वजनिक कामके मानी क्या होते हैं, इसे लोग नहीं समझते। बहुत-से स्थानोंमें तो लोग अपने यहां आनेका आमंत्रण देते और प्रमुख व्यापारियोंके यहां टिकानेका प्रबंध करते। पर इन यात्राओंमें एक जगह आरंभमें ही हमें कठिनाईका सामना करना पड़ा। वहां ६ पौंड मिलने चाहिए थे, पर वह व्यापारी तीनसे आगे बढ़ता ही न था। उतना ले लें तो फिर दूसरोंसे भी अधिक न मिलता। ठहरे उसीके यहां थे। हम सब भूखे थे। पर जबतक चंदा न मिल जाय तबतक खायं कैसे? इस भाईसे खूब आरजू-मिन्नत की। वह टस-से-मस न होता था। कस्बेके अन्य व्यापारियोंने भी उसे समझाया। सारी रात झक-झकमें गुजर गई। गुस्सा तो अनेक साथियोंको आया; पर किसीने विनय न त्यागी। बिलकुल सवेरा हो जानेपर यह भाई पिघला और ६ पौंड दे दिये। हमें खिलाया-पिलाया। यह घटना टोंगाटमें घटी थी। इसका असर उत्तर तटपर ठेठ स्टेंगरतक और भीतर ठेठ चार्ल्सटाउनतक पड़ा। हमारा वसूलीका काम आसान हो गया।

पर पैसा जमा करना ही तो उद्देश्य न था। आवश्यकतासे अधिक पैसा न रखनेका तत्त्व भी मैं सीख चुका था।

सभा आवश्यकतानुसार प्रति सप्ताह या प्रति मास हुआ करती थी। उसमें पिछली बैठककी कारवाई पढ़ी जाती और अनेक प्रकारकी चर्चा होती थी। सभामें बहस या मत प्रकाश करनेकी और संक्षेपमें तथा प्रसंगानुकूल बोलनेकी आदत तो लोगोंको थी ही नहीं। खड़े होकर बोलते सकुचाते थे। मैंने सभाके नियम समझाये और लोगोंने उन्हें माना। उनसे होनेवाले फायदे उनकी समझमें आये और जिन्हें कभी सभामें बोलनेकी आदत न थी वे सार्वजनिक प्रश्नोंपर बोलने और विचार करने लगे।

सार्वजनिक काम चलानेमें छोटे खर्चोंमें बहुत पैसे चले जाते हैं यह भी मैं जानता था। आरंभमें मैंने रसीद-बहीतक न छपाने-का निश्चय रखा था। अपने दफ्तरमें साइक्लोस्टाइल मशीन थी, उसीपर रसीदें छपा ली थीं। रिपोर्ट भी इसी तरह छपा लेता था। जब तिजोरीमें पैसे काफी आ गये, सदस्य बढ़ गये, काम बढ़ा तभी रसीद वगैरा छपाने लगा। ऐसी किफायतशारी हरएक संस्थामें होना जरूरी है, फिर भी वह सदा हो नहीं पाती, यह मै जानता हूं। इसीसे इस नन्हीं-सी उगती हुई संस्थाके बाल-कालकी ये छोटी-छोटी तफसीली बातें बता देना उचित समझता हूं। लोग रसीदकी परवाह न करते थे, फिर भी उन्हें आग्रहपूर्वक रसीद दी जाती थी। इससे हिसाब शुरूसे ही, पाई-पाईका, ठीक रहा और मै समझता हूं कि आज भी नेटाल-कांग्रेस-दफ्तरमें १८९४के पूरे ब्यौरेवाली बहियां मिल जानी चाहिए। बारीकीसे रखा हुआ हिसाब हरएक संस्थाकी नाक है। इसके बिना संस्था अंतमें गंदी और प्रतिष्ठा-रहित हो जाती है। शुद्ध हिसाब के बिना शुद्ध सत्यकी रक्षा होना असंभव है।

कांग्रेसका दूसरा अंग दक्षिण अफ्रीकामें पैदा हुए पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियोंकी सेवा करना था। इसके लिए 'कोलोनियल बार्न इंडियन एज्युकेशनल एसोसियेशन' स्थापित किया गया। उसमें मुख्यतः ये नवयुवक ही सदस्य थे। उनके लिए चंदा बहुत हलका रखा गया था। सभाके जरिये उनकी आवश्यकताओंका पता

चलता, उनकी विचार-शक्ति बढ़ती, उनका व्यापारियोंके साथ संबंध जुड़ता और उन्हें खुद भी सेवा करनेका अवसर मिलता। यह संस्था वाद-समिति-जैसी थी। उसकी बैठकें नियमसे होतीं, उसमें सदस्यगण भिन्न-भिन्न विषयोंपर भाषण करते और निबंध पढ़ते थे। उसके अंतर्गत एक छोटा पुस्तकालय भी स्थापित किया गया।

कांग्रेसका तीसरा अंग था बाहरी आंदोलन। इसके अंदर दक्षिण अफ्रीकाके अंग्रेजों और बाहर इंगलैंडमें तथा हिंदुस्तानमें नेटालके भारतीयोंकी सच्ची स्थिति प्रकट करनेका काम था। इसके लिए मैंने दो पुस्तिकाएं लिखीं। पहली पुस्तिकाका नाम था 'दक्षिण अफ्रीकामें बसनेवाले हरएक अंग्रेजसे अपील' ('एन अपील टू एवरी ब्रिटन इन साउथ आफ्रिका')। उसमें नेटालवासी हिंदुस्तानियोंकी सामान्य स्थितिका प्रमाणसहित दिग्दर्शन था। दूसरी थी 'भारतीय मताधिकार—एक अपील।' ('दि इंडियन फ्रेंचाइज—एन अपील') उसमें भारतीयोंके मताधिकारका इतिहास आंकड़ों और प्रमाणोंके साथ दिया गया था। इन दोनों पुस्तिकाओंके लिखनेमें मैंने खूब मेहनत की थी और पढ़ा था। उसका फल भी वैसा ही हुआ। उनका खूब प्रचार किया गया। इस प्रयत्नके फलस्वरूप दक्षिण अफ्रीकामें हिंदुस्तानियोंके दोस्त पैदा हो गये, इंगलैंडमें और हिंदुस्तानमें सब पक्षोंकी मदद मिली और काम करनेका पक्का रास्ता मिल गया।

: २० :

बालासुंदरम्

"जैसी नियत वैसी बरकत" इस नियमको मैंने अपने बारेमें घटित होते अनेक बार देखा है। जनताकी अर्थात् गरीबोंकी सेवा करनेकी मेरी प्रबल इच्छाने सदा गरीबोंके साथ अनायास मेरा संबंध जोड़ दिया।

'नेटाल इंडियन कांग्रेस' में यद्यपि उपनिवेशोंमें जन्मे हुए हिंदुस्तानियोंका प्रवेश हो गया था, मुंशी—मुनीम वर्ग भी उसमें पहुंच गया था, फिर भी ठेठ मजदूरों, गिरमिटियोंके वर्गका प्रवेश नहीं हुआ था। कांग्रेस उनकी नहीं हो पाई थी। वे उसका चंदा देकर उसमें दाखिल होकर उसे अपना न सकते थे। कांग्रेसके लिए उनके मनमें प्रेम तभी उत्पन्न हो सकता था जब वह उनकी सेवा करे। इसका अवसर अपने आप आया, और ऐसे समय जबकि कांग्रेस या मैं स्वयं इसके लिए शायद ही तैयार थे। कारण यह कि अभी मुझे वकालत शुरू किये मुश्किलसे दो-चार महीने हुए थे। कांग्रेसका भी बाल-काल था। इतनेमें एक दिन एक मद्रासी फटे कपड़े पहने, रोता-कांपता साफा हाथमें लिये मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उसके मुंहसे खून बह रहा था, आगे के दो दांत गिर गये थे। उसे उसके मालिकने बुरी तरह पीटा था। अपने मुहर्रिरके जरिए, जो तमिल जानता था, मैंने उसका हाल मालूम किया। बालासुंदरम् (उक्त मद्रासीका नाम) एक प्रतिष्ठित गोरेके यहां मजदूरी करता था। मालिकको किसी बातपर गुस्सा आ गया होगा, आपेसे बाहर होकर बालासुंदरम्की पूरी मरम्मत कर दी जिससे उसके दो दांत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टरके यहां भेजा। उन दिनों वहां गोरे डाक्टर ही मिलते थे। मुझे चोटके सर्टिफिकेटकी जरूरत थी। उसे प्राप्त कर मैं बालासुंदरम्को मजिस्ट्रेटके पास ले गया। वहां उसने हलफनामा दाखिल किया। उसे पढ़कर मजिस्ट्रेटको मालिकपर गुस्सा आया। उसकी तलबीके लिए समन जारी करनेका हुक्म दिया।

मेरी नीयत मालिकको दंड दिलानेकी न थी। मुझे तो बालासुंदरम्को उससे छुटकारा दिलाना था। मैं गिरमिटिया मजदूरोंके संबंधका कानून पढ़ गया। साधारण नौकर काम छोड़ दे तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, उसे फौजदारीमें नहीं ले जा सकता। गिरमिट और साधारण नौकरीमें तो बड़ा फर्क

था, पर खास यह था कि गिरमिटिया मालिकका काम छोड़ दे तो यह फौजदारी जुर्म समझा जाता और इसलिए उसे कैदकी सजा भोगनी पड़ती। इसीलिए सर विलियम विल्सन हंटरने इस स्थितिको लगभग गुलामीकी दशा माना है। गुलामकी तरह गिरमिटिया भी मालिककी मिलकियत समझा जाता था।

बालासुंदरम्की मुक्तिके दो ही मार्ग थे—या तो गिरमिटियों-के लिए नियुक्त अफसर, जो कानूनमें उनका रक्षक समझा जाता था, गिरमिट रद्द कर दे या दूसरेके नाम कर दे या मालिक खुद उसे अलग करनेको तैयार हो जाय। मैंने मालिकसे मिलकर कहा, "मुझे आपको सजा नहीं दिलानी है। यह तो आप जानते ही हैं कि इस आदमीपर गहरी मार पड़ी है। आप अगर उसका गिरमिट दूसरेके नाम करा लेनेको तैयार हो जायं तो मुझे संतोष हो जायगा।" मालिक तो यही चाहता था। इसके बाद मैं रक्षकसे मिला। वह भी मान गया, लेकिन इस शर्तपर कि बालासुंदरम्के लिए अच्छा नया मालिक ढूंढ दूं।

मुझे नया अंग्रेज मालिक ढूंढ़ना था। हिंदुस्तानियोंको गिरमिटिया मजदूर रखनेकी इजाजत नहीं थी। मैं अभी थोड़े ही अंग्रेजोंको जानता था। उनमेंसे एकसे मिला। उसने मुझपर मेहरबानी करके बालासुंदरम्को रखना मंजूर किया। मैंने इस कृपाके लिए धन्यवाद दिया। मजिस्ट्रेटने मालिकको अपराधी बताकर यह लिख दिया कि बालासुंदरम्का गिरमिट दूसरेके नाम कर दिया जाय, यह उसे मंजूर है।

बालासुंदरम्के मामलेकी बात गिरमिटियोंमें चारों ओर फैल गई और मैं उनका हितू मान लिया गया। मुझे इससे प्रसन्नता हुई। मेरे दफ्तरमें गिरमिटियोंकी भीड़ लगने लगी। उनका सुख-दुःख जाननेका मुझे अच्छा सुभीता मिल गया।

बालासुंदरम्के मामलेकी गूंज ठेठ मद्रास प्रांततक पहुंची। इस सूबेके जिस-जिस हिस्सेसे लोग नेटालकी गिरमिटमें जाते थे उन्हें गिरमिटियोंने ही इस घटनाकी खबर दे दी। यह मामला

इतने महत्त्वका न था, पर लोगोंको यह जानकर अचंभा-सा हुआ कि उनके लिए प्रकाश्य रुपसे काम करनेवाला कोई निकल आया है। इससे उन्हें कुछ सहारा मिला।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि बालासुंदरम् अपना साफा उतारकर उसे हाथमें लिये मेरे पास आया था। इस घटनामें बड़ा करुण रस भरा है, वह हमारी हीनताका भी निदर्शक है। मेरे पगड़ी उतारनेकी कथा तो पाठक पढ़ ही चुके हैं। गिरमिटिये और दूसरे अजनवी हिंदुस्तानीको भी किसी गोरेके यहां जानेपर उसके सम्मानार्थ शिरोवस्त्र उतार देना पड़ता—चाहे वह टोपी हो, बंधी हुई पगड़ी हो या लपेटा हुआ साफा हो। दोनों हाथोंसे सलाम करना ही काफी न था। बालासुंदरम्ने सोचा कि मेरे सामने भी वैसे ही आना चाहिए, मेरे लिए तो यह दृश्य पहला अनुभव था। मैं शरमाया, बालासुदरम्को साफा बांध लेनेको कहा। उसने बड़े संकोचसे साफा बांधा पर इससे उसे जो प्रसन्नता हुई उसे मैं देख सका। दूसरेको अपमानित करनेमें मनुष्य अपना सम्मान कैसे मान सकता है, इस पहेलीको मैं आजतक हल न कर सका।

: २१ :

तीन पौंडका कर

बालासुंदरम् की घटनाने गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंसे मेरा संबंध जोड़ दिया। पर उनपर कर लगानेके सिलसिलेमें जो आंदोलन चला उसके फलस्वरूप मुझे उनकी स्थितिका गहरा अध्ययन करना पड़ा।

इसी साल—सन् १८९४ में—हर गिरमिटिया हिंदुस्तानीपर प्रति वर्ष २५ पौंड अर्थात् ३७५ रुपयेका कर लगानेके कानूनका मसविदा नेटाल सरकारने बनाया। उसे पढ़कर मैं तो दिङ्मूढ़ हो गया। मैंने उसे स्थानीय कांग्रेसके सामने पेश किया। कांग्रेसने इस विषयमें जैसा आंदोलन होना उचित था उसे करनेका प्रस्ताव

पास किया।

इस करका ब्यौरा थोड़ा जान लेना चाहिए।

१८६० ई० के लगभग जब नेटालमें बसनेवाले गोरोंने देखा कि यहां ईखकी अच्छी उपज हो सकती है तो उन्होंने मजदूरोंकी तलाश शुरू की। बिना मजदूरोंके न तो ईख उपजाई जा सकती थी और न चीनी बन सकती थी। नेटालके हबशियोंसे यह काम होनेवाला न था। इससे नेटालनिवासी गोरोंने भारत-सरकारसे लिखा-पढ़ी करके हिंदुस्तानी मजदूरोंको नेटाल ले जानेकी इजाजत ले ली। उन्हें पांच बरस मजदूरी करनेका बंधन और पांच बरसके बाद स्वतंत्र रूपसे नेटालमें बसनेकी छूटका लालच दिया गया। जमीनपर पूरा मालिकाना हक भी उनके लिए रखा गया था। उस वक्त गोरे चाहते थे कि हिंदुस्तानी मजदूर अपने पांच साल पूरे करनेके बाद जमीन जोतें और अपने उद्यमका लाभ नेटालको दें।

हिंदुस्तानी मजदूरोंने यह लाभ आशासे अधिक दिया। साग-तरकारी खूब बोई। हिंदुस्तानकी कितनी ही बढ़िया-बढ़िया तरकारियां वहां उपजाई। जो साग-भाजियां वहां पहलेसे पैदा हो रही थीं उनके दाम सस्ते करा दिये। हिंदुस्तानसे आम लाकर लगाये। पर इसके साथ-साथ उन्होंने रोजगार करना भी शुरू कर दिया। मकान बनानेको जमीनें खरीदीं और मजदूर न रहकर बहुतेरे अच्छे जमीदार और मकान-मालिक बन गये। मजदूरोंमेंसे बहुतोंके इस तरह मकान-मालिक बन जानेके बाद स्वतंत्र व्यापारी भी आये। स्वर्गीय सेठ अबूबकर अहमद उनमें सबसे पहले थे। उन्होंने अपना कार-बार खूब जमाया।

गोरे व्यापारी चौंके। उन्होंने पहले जब हिंदुस्तानी मजदूरोंका स्वागत किया था तब वे उनकी व्यापार-शक्तिका अंदाजा नहीं कर सके थे। वे किसानकी भांति स्वतंत्र रहें यहां तक तो उस वक्त उनका कोई हर्ज न था; पर व्यापारमें प्रतिद्वंद्विता उन्हें असह्य हो गई।

यह थी हिंदुस्तानियोंके साथ उनके विरोधकी जड़। उसमें और बातें भी शामिल हो गई। हमारी भिन्न रहन-सहन, हमारी सादगी, हमारा कम नफेसे संतोष कर लेना, आरोग्य-नियमोंकी ओर हमारी लापरवाही, घर-आंगनको साफ रखनेमें आलस्य, उनकी मरम्मतमें कंजूसी, हमारा भिन्न धर्म—ये सब बातें विरोध-की आगको बढ़ानेवाली साबित हुईं।

वह विरोध मिले हुए मताधिकारको छीन लेने और गिरमि-टियोंपर कर लगानेके बिलोंके रूपमें प्रकट हुआ। कानूनके बाहर तो तरह-तरहकी 'कोंचाई' शुरू हो ही चुकी थी।

पहली तजवीज तो यह थी कि गिरमिट पूरा होने लगने पर हिंदुस्तानियोंको जबरदस्ती वापस भेज दिया जाय, जिसमें उनके इकरारनामेंकी मुद्दत हिंदुस्तानमें पूरी हो। पर इस तजवीजको भारत-सरकार माननेवाली न थी। इसलिए यह तजवीज पेश की गई कि—

(१) मजदूरीका इकरार पूरा हो जानेपर गिरमिटिया हिंदुस्तान लौट जायं ; या

(२) हर दूसरे साल नया इकरारनामा लिखें और हर बार उसके वेतनमें कुछ वृद्धि की जाय ;

(३) वापस न जायं और मजदूरीका नया इकरारनामा भी न लिखें तो हर साल २५ पौंडका कर दें।

यह तजवीज मंजूर कराने के लिए सर हेनरी बीन्स और मि० मेसनका डेपुटेशन हिंदुस्तान भेजा गया। उस वक्त लार्ड एल्गिन वाइसराय थे। उन्होंने पच्चीस पौंडका कर तो नामंजूर कर दिया, पर वैसे हरएक हिन्दुस्तानीसे तीन पौंडका कर लेनेकी स्वीकृति दे दी। मुझे उस समय ऐसा लगा और अबतक लगता है कि वाइसरायने यह मंजूरी देकर भारी भूल की। उन्होंने इसमें हिंदुस्तानके हितका बिलकुल खयाल न किया। नेटालके गोरों-के लिए ऐसा सुभीता कर देना किसी तरहका फर्ज न था। तीन-चार बरस बाद यह कर हर वैसे (गिरमिट-मुक्त) हिंदुस्तानीकी

स्त्री और उसके हर १६ और इससे बड़ी उम्रके लड़के और १३ या इससे बड़ी उम्रकी लड़कीसे लेनेका निश्चय हुआ। इस प्रकार पति-पत्नी और दो बच्चोंके कुटुंबसे, जिसमें पतिको अधिक-से-अधिक १४ शिलिंग माहवार मिलते हों, १२ पौंड अर्थात् १८०) का कर लेना भारी जुल्म माना जाना चाहिए। दुनियामें कहीं भी ऐसी स्थितिके आदमियोंसे ऐसा कर नहीं लिया जाता था।

इस करके विरुद्ध घोर युद्ध छिड़ा। अगर नेटाल-इंडियन-कांग्रेसकी ओरसे इसके खिलाफ आवाज न उठाई गई होती तो वाइसराय शायद २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। इस बातकी पूरी संभावना है कि उसका २५ से ३ पौंड हो जाना भी कांग्रेसके आंदोलनका ही प्रताप हो। पर ऐसा सोचना मेरी गलती भी हो सकती है। मुमकिन है, भारत-सरकारने २५ पौंडके प्रस्तावको शुरूसे ही नामंजूर कर दिया हो, और कांग्रेसके विरोध न करनेपर भी वह ३ पौंडका ही कर स्वीकार करती, फिर भी हिंदुस्तानके हितकी हानि तो होती ही। हिंदुस्तानके हित-रक्षककी हैसियतसे ऐसा अमानुषी कर वाइसरायको कभी स्वीकार न करना चाहिए था।

पच्चीससे ३ पौंड (३७५ से ४५ रुपये) होनेमें कांग्रेस क्या यश लेती? उसे तो यही खल रहा था कि वह गिरमिटियोंके हित-की पूरी रक्षा न कर सकी। तीन पौंडका यह कर आज नहीं तो कल हटना ही चाहिए, इस निश्चयको उसने कभी आंखसे ओझल न होने दिया। इसकी पूर्तिमें बीस बरस लग गये। इस संग्राममें नेटालके ही नहीं, सारे दक्षिण अफ्रीकाके हिंदुस्तानियोंको शामिल होना पड़ा। उसमें गोखलेको निमित्त बनना पड़ा। गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंको पूरा हिस्सा लेना पड़ा। उसके लिए कितनोंको गोलीका निशाना बनना पड़ा। दस हजारसे अधिक भारतीयोंको जेल जाना पड़ा।

पर अंतमें सत्यकी विजय हुई। भारतीयोंकी तपस्यासे सत्य मूर्त्तिमान् हुआ। उसके लिए अटल श्रद्धा, धीरज और सतत

प्रयत्नकी आवश्यकता थी। कौम हारकर बैठ जाती, कांग्रेस लड़ाईको भूल जाती और करको अनिवार्य मानकर घुटने टेक देती, तो वह कर आजतक गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंसे वसूल होता रहता और दक्षिण अफ्रीकाके हिंदुस्तानियों और संपूर्ण भारतके मुंहपर उसकी कालिख पुत जाती।

: २२ :

धर्म-निरीक्षण

मैं जो इस प्रकार समाज-सेवामें तन्मय हो गया था उसका कारण आत्म-दर्शनकी आकांक्षा थी। ईश्वरकी पहचान सेवासे होगी यह मानकर मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। भारतकी सेवा करनेका कारण यह था कि वह मुझे सहज प्राप्त थी, उसकी ओर मेरी रुचि थी। उसे मुझे ढूंढ़ने नहीं जाना पड़ा था। मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़के कुचक्रोंसे छूटने और रोजी कमानेकी गरजसे दक्षिण अफ्रीका गया था; पर पड़ गया ईश्वरकी खोजमें—आत्म-दर्शनके प्रयत्नमें। ईसाई भाइयोंने मेरी ज्ञानकी भूख बहुत उभार दी थी। वह किसी तरह शांत होनेवाली न थी। मैं शांत होना चाहूं तो भी ईसाई भाई-बहन, मुझे शांत होने देनेवाले न थे। डरबनमें मि० स्पेंसर वाल्टनने, जो दक्षिण अफ्रीकाके मिशनके मुखिया थे, मुझे पकड़ा। उनके घरमें मैं कुटुंबी-जैसा हो गया। इस संबंधका मूल प्रिटोरियामें हुआ समागम था। मि० वाल्टनका ढंग कुछ निराला था। उन्होंने कभी मुझसे ईसाई बननेको कहा हो, ऐसा याद नहीं आता; पर अपना जीवन उन्होंने मेरे सामने रख दिया और अपने कार्यकलापका मुझे निरीक्षण करने दिया। उनकी धर्मपत्नी बड़ी विनीत पर तेजस्वी महिला थीं।

मुझे इन दंपतिका तरीका पसंद आता था। हमारे बीच जो मौलिक भेद थे उनका हम दोनोंको पता था। यह मतभेद बहस-मुबाहसोंसे मिटनेवाला न था। जहां उदारता, सहिष्णुता और

सत्य है वहां मतभेद भी लाभदायक सिद्ध होते हैं। मुझे इन दंपति-की नम्रता, उद्योगशीलता और कार्यपरायणता प्रिय थी। इस-लिए हम जब-तब मिलते रहते थे।

इस संबंधने मुझे जाग्रत रखा। धार्मिक अध्ययनके लिए प्रिटोरियामें मुझे जो अवकाश मिला था वह तो अब नामुमकिन बात थी, पर जो कुछ समय बचता उसका उपयोग मैं ऐसे अध्ययन-में अवश्य करता था। मेरा पत्र-व्यवहार जारी था। रायचंद भाई मुझे रास्ता दिखा रहे थे। किसी मित्रने मुझे नर्मदाशंकरकी 'धर्म-विचार' पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। नर्मदाशंकरके विलासमय जीवनकी बात मैंने सुनी थी। प्रस्तावनामें उनके जीवनमें हुए परिवर्तनोंका वर्णन किया गया था। उसने मेरे मनको अपनी ओर खींचा और इससे उस पुस्तकके लिए मेरे मनमें आदर उत्पन्न हुआ। मैंने उसे ध्यान देकर पढ़ा। मैक्समूलरकी 'भारत क्या सिखाता है'?[1] पुस्तकको मैंने बड़ी रुचिसे पढ़ा। थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित उप-निषदोंका भाषांतर पढ़ा। इन सबसे हिंदू-धर्मके प्रति मेरा आदर-भाव बढ़ा। उसकी खूबियां मेरी समझमें आने लगीं। पर अन्य धर्मोंके प्रति मेरे मनमें अनादर नहीं उपजा। वाशिंगटन अरविंग-कृत मुहम्मदका चरित्र[2] और कार्लाइलकी मुहम्मद-स्तुति पढ़ी। पैगम्बरके प्रति मेरा सम्मान बढ़ा। 'जरथुस्तके वचन'[3] नामक पुस्तक भी पढ़ी।

यों मैंने भिन्न-भिन्न संप्रदायोंका थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया। आत्मनिरीक्षण बढ़ा। जो पढ़ा और रुचा उसपर अमल करनेकी आदत पक्की हुई। इससे हिंदु-धर्ममें बताई हुई प्राणायाम-संबंधी कुछ क्रियाएं, पुस्तकके सहारे, जैसा कुछ समझ सका, शुरू कीं, पर वे मुझसे सधी नहीं। इस साधनामें मैं आगे न बढ़ सका।

---

[1] 'इंडिया—व्हाट कैन इट टीच अस ?'

[2] 'लाइफ आव मुहम्मद एण्ड हिज सक्सेसर्स'

[3] 'दी सेयिंग्स आव जरथुस्त'

हिंदुस्तान वापस लौटने पर उसका अभ्यास किसी शिक्षककी देख-रेखमें करनेकी बात सोची, पर यह इरादा कभी पूरा न हुआ।

टाल्स्टायकी पुस्तकोंका अध्ययन बढ़ा लिया। उनका 'गास्पेल्स इन ब्रीफ' (नवविधानका सार)' 'व्हाट टु डू ?' (क्या करें?)[१] आदि पुस्तकोंने मेरे हृदयपर गहरा असर डाला। विश्व-प्रेम मनुष्यको कहांतक ले जा सकता है इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।

इसी समय एक दूसरे ईसाई-कुटुंबके साथ मेरा संबंध हुआ। उन लोगोंकी इच्छासे मैं हर रविवारको वेस्लियन गिरजेमें जाया करता। प्राय: हर रविवारको मुझे शामको उनके यहां खाना भी पड़ता। वेस्लियन गिरजेका मुझपर अच्छा असर नहीं पड़ा। वहां जो प्रवचन होते थे वे मुझे नीरस लगते थे। दर्शकोंमें मुझे भक्ति-भाव नही मिला। यह 'ग्यारह बजेका जमाव' मुझे भक्तोंकी नहीं, बल्कि कुछ मनबहलावे और कुछ लकीर पीटनेके लिए आये हुए संसारी जीवोंकी टोली जान पड़ी। कभी-कभी इस सभामें बरबस मुझे नीदके झोकें आने लगते, जिससे मै लज्जित होता ; पर अपने आसपास भी किसीको ऊंघते देखता तो मेरी लज्जा कुछ हल्की पड़ जाती। अपनी यह स्थिति मुझे रुचि नहीं। अन्तमें मैंने इस गिरजेमें जाना छोड़ दिया।

जिस कुटुंबमें हर रविवारको में जाता था वहांसे तो कह सकता कि मुझे छुट्टी ही मिल गई। घरकी मालिकन सीधी, भली, पर संकुचित मनवाली स्त्री जान पड़ी। उसके साथ सदा कुछ-न-कुछ धर्मचर्चा तो हुआ ही करती। उन दिनों में घरपर 'लाइट आव एशिया' पढ़ा करता था। हम ईसा और बुद्धके जीवनकी तुलना करने लगे :

"बुद्धकी दयाको देखिए, वह मनुष्य-जातिसे भी आगे बढ़कर अन्य प्राणियों तक जा पहुंची थी। उनके कंधेपर खेलते हुए मेमने-का चित्र आंखोंके सामने आते ही क्या आपका हृदय प्रेमसे परिपर्ण-

[१] यह पुस्तक सस्ता साहित्य मण्डलसे प्रकाशित हुई है।

नहीं हो जाता ? यह प्राणीमात्रके प्रति प्रेम मैं ईसाके चरित्रमें नहीं पाता।"

उस बहनको क्लश हुआ। मैं समझ गया। मैंने अपनी बात वहीं रोक दी। हम खानेके कमरमें गये। उनका कोई पांच बरसका हँसमुख बच्चा भी हम लोगोंके साथ था। मुझे बच्चा मिल जाय तो फिर और क्या चाहिए? उसके साथ मैंने दोस्ती तो कर ही ली थी। मैंने उसकी थालीमें पड़े मांसके टुकड़ेका मजाक किया और अपनी रकाबीमें बिराजते सेबकी स्तुति करने लगा। निर्दोष बालक पिघल गया और स्तवनमें शामिल हो गया। पर माता? वह बेचारी खिन्न हुई।

म चेता। चुप हो रहा। बातका विषय बदल दिया।

दूसर सप्ताह सावधान रहकर मै उनके यहां गया जरूर, पर मरे पांव बोझिल हो गये थे। मैं खुद ही वहां जाना बंद कर दूं यह मुझे न सूझा, न उचित लगा। पर उस भली बहनने ही मेरी मुश्किल हल कर दी। वह बोली—"मि० गांधी, आप बुरा न मानियेगा, पर मुझे आपसे कहना होगा कि आपके संगका मेरे बच्चेपर बुरा असर होने लगा ह। अब वह मांस खानेमें रोज नाक-भौं सिकोड़ता है और आपकी उस दिनकी बात याद दिलाकर फल मांगता है। मुझसे यह न चल सकेगा। मेरा बच्चा मांस छोड़ देनेपर बीमार भले ही न पड़े, पर कमजोर तो हो ही जायगा। यह मैं कस बरदाश्त कर सकती हूं? आप जो चर्चा करते है वह हम समझदारोंके बीच फब सकती है; पर बच्चोंपर तो उसका बुरा ही असर होता ह।"

"मिसेज......मुझ दुःख है। आपकी मातृ-भावनाको मं समझ सकता हूं। मेरे भी बच्चे हैं। इस अनिष्ट स्थितिका अन्त आसानीसे हो सकता है। मेरे बोलनेका जो असर होगा उसकी अपेक्षा म क्या खाता हूं, क्या नहीं खाता; यह देखनेका असर बच्चेपर बहुत ज्यादा हो सकता ह। इसलिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि अबसे मैं रविवारको आपक यहां न आया करूं। हमारी

मित्रतामें इससे कोई अंतर न पड़ेगा।"

बहनने प्रसन्न होकर कहा, "मैं आपकी एहसानमंद हूं।"

: २३ :

घरका काम-काज

बंबई और विलायतमें मैं घर बसा चुका था, पर उसमें और नेटालमें घर-बारवाला बननेमें अंतर था। नेटालमें बहुतसा खर्च केवल प्रतिष्ठाके लिए बांध रखा था। मैंने मान रखा था कि नेटालमें भारतीय बारिस्टर और हिन्दुस्तानियोंके प्रतिनिधिके रूपमें काफी खर्च रखना चाहिए। इसलिए अच्छे मुहल्लेमें अच्छा मकान लिया था। घरको अच्छी तरह सजाया भी था; भोजन सादा था, पर अंग्रेज मित्रोंको निमंत्रण देना होता, भारतीय साथियोंको भी न्यौता करता था, इसलिए खाने-पीनेका, खर्च भी सहज ही बढ़ गया था।

नौकरकी तंगी तो सब कहीं जान पड़ती थी। किसीको नौकर बनाकर रखना मुझे आया ही नही।

मेरा एक मित्र मेरे साथ रहता था। एक रसोइया रखा था। वह घरके आदमी जैसा हो गया था। दफ्तरमें जो क्लर्क आदि रखे थे उनमेंसे भी जिन्हें रख सकता था घरमें रख लिया था।

अपने इस प्रयोगको मैं सफल मानता हूं, पर उसमेंसे मुझे संसारके कड़वे अनुभव भी हुए।

वह साथी बहुत होशियार और मेरी दृष्टिसे मेरे प्रति सच्चा था; पर मैं उसे परख न सका। दफ्तरके एक कर्मचारीको मैंने घरमें रख लिया था, उससे इस साथीको जलन हो गई। उसने ऐसा जाल रचा कि उस कर्मचारीपर मुझे शक हो जाय। यह कर्मचारी बड़ी स्वतंत्र प्रकृतिका था। उसने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। मुझे दुःख हुआ। उसके साथ कोई अन्याय न हो गया हो, यह विचार मुझे कुरेद रहा था।

इतनेमें जो रसोइया मैंने रखा था उसे कार्यवश अन्यत्र जाना पड़ा। मैंने उसे मित्रकी सेवा-टहलके लिए रखा था। अतः उसके बदले मैंने दूसरा रसोइया रखा। बादको मुझे मालूम हुआ कि यह आदमी उड़ती चिड़िया भांपनेवाला था। पर मेरे लिए वह ऐसा उपयोगी सिद्ध हुआ, मानों मुझे वैसे ही आदमीकी जरूरत रही हो।

इस रसोइयेको रखे मुश्किल से दो या तीन दिन हुए होंगे कि इतनेमें उसने मेरे घरमें अजानकारीमें होनेवाले अनाचार को ताड़ लिया और मुझे खबरदार कर देनेका निश्चय किया। मेरे सहज-विश्वासी तथा अपेक्षाकृत भलामानस होनेकी धारणा लोगों में फैली हुई थी। इससे इस रसोइयेको मेरे ही घर में चलनेवाली भ्रष्टता भयानक जान पड़ी।

मै दफ्तरसे भोजनके लिए एक बजे घर आया करता था। लगभग बारह बजे होंगे। इतनेमें यह रसोइया हांफता हुआ आया और बोला, "आपको कुछ देखना हो तो इसी क्षण घर चलिए।"

मैंने पूछा—"इसके मानी? मुझे काम तो बताओ, ऐसे वक्त मुझे घर चलकर क्या देखना है?"

रसोइया बोला, "न चलेंगे तो पछतायेंगे। इससे अधिक मैं आपसे नहीं कहना चाहता।"

उसकी दृढ़ताने मुझे खींचा। अपने मुहर्रिरको साथ लेकर मैं घर गया। रसोइया आगे चला।

घर पहुंचनेपर वह मुझे दुमंजिलेपर ले गया। जिस कमरेमें उक्त साथी रहता था उसकी ओर इशारा करके बोला,

"इस कोठरीको खोलकर देखिए।"

अब मैं सब समझ गया। मैंने कमरेका दरवाजा खटखटाया। जवाब क्यों मिलता? मैंने बहुत जोरसे दरवाजा खटखटाया। दीवार कांप उठी। दरवाजा खुला। अंदर एक बदचलन औरत दिखाई दी। मैंने उससे कहा, "बहन, तुम तो यहांसे बस चल ही दो। अबसे फिर कभी इस घरमें कदम न रखना।"

साथीसे कहा, "आजसे मेरा-तुम्हारा संबंध टूटा। मैं खूब ठगा और बेवकूफ बना। मेरे विश्वासका यह बदला न मिलना चाहिए था।"

साथी बिगड़ा। मेरा सारा पर्दा फाश कर देनेकी धमकी दी।

"मेरे पास कोई पर्दा है ही नहीं। मैंने जो कुछ किया है वह खुशीसे जाहिर करो। पर तुमसे मेरा संबंध तो टूट ही गया।"

साथी और गरमाया। मैंने नीचे खड़े अपने मुहर्रिरसे कहा, "तुम जाओ, पुलिस सुपरिंटेंडेंटको मेरा सलाम बोलो और कहो कि मेरे एक साथीने मेरे साथ विश्वासघात किया है। उसे मैं अपने घरमें नहीं रखना चाहता हूं, फिर भी वह निकलनेसे इनकार करता है। कृपा करके मुझे मदद भेजिए।"

पापके पांव नहीं होते। मेरे इतना कहते ही साथी ढीला पड़ा। उसने मांफी मांगी। सुपरिंटेंडेटके यहां आदमी न भेजनेको गिड़-गिड़ाने लगा और तुरंत घर छोड़कर चला जाना कबूल किया। उसने घर छोड़ दिया।

इस घटनासे मेरे जीवन की आवश्यक शुद्धि हुई। यह साथी मेरे लिए मोहरूप और अनिष्टकारी था, मैं अब ही इस बातको स्पष्ट रीतिसे देख सका। इस साथीको रखनेमें मैंने अच्छे कामके लिए बुरे साधनको अपनाया था। मैंने बबूलके पेड़से आमकी आशा रखी थी। साथीका चाल-चलन अच्छा न होनेपर भी मैंने यह मान लिया था कि वह मेरे प्रति सच्चा है। उसे सुधारनेकी कोशिशमें मैं खुद गंदगीमें सन-सा गया था। अपने हितचिंतकोंकी सलाहकी मैंने अवहेलना की थी। मोहने मुझे बिलकुल अंधा बना दिया था।

इस दुर्घटनासे मेरी आंख न खुल गई होती, मुझे सत्यका पता न लग गया होता, तो हो सकता है कि जो स्वार्पण मैं कर सका हूं उसे करनेमें मैं कभी समर्थ न होता। मेरी सेवा सदा अधूरी रहती, क्योंकि वह साथी मेरी प्रगतिमें अवश्य बाधक होता। उसे मुझे अपना बहुत-सा समय देना पड़ता। मुझे अंधकारमें रखने और

गलत रास्तेपर ले जानेकी उसमें शक्ति थी।

पर 'जाको राखे साइयां मार सके नहिं कोय', मेरी निष्ठा शुद्ध थी। इसलिए गलतियां करते हुए भी मैं बच गया और मेरे प्रथम अनुभवने मुझे सावधान कर दिया।

उक्त रसोइयेको कौन जाने ईश्वरने ही भेजा हो? उसे रसोई बनाना न आता था। इसलिए वह मेरे यहां रह नहीं सकता था। पर उसके आये बिना मुझे दूसरा कोई जगा नहीं सकता था। वह बहन मेरे घरमें कुछ पहले-ही-पहल आई हो सो बात नहीं थी। पर इस रसोइये जितनी हिम्मत दूसरेको कहांसे हो सकती थी? साथीके ऊपर मेरा जो बेहद विश्वास था उसे सभी जानते थे।

इतनी सेवा करके रसोइयेने उसी दिन और उसी क्षण विदा मांगी, "मैं आपके घरमें नहीं रह सकता। आप हैं भोले बाबा। यहां मेरा काम नहीं है।"

मैंने आग्रह नहीं किया।

उक्त क्लर्कपर संदेह उपजानेवाला यह साथी ही था, यह मुझे अब मालूम हुआ। उसके साथ हुए अन्यायके मार्जनकी मैंने बहुत कोशिश की, पर मैं कभी उसे पूरा संतोष न दे सका। यह मेरे लिए सदा दुःखकी बात रही। फूटे बर्तनको चाहे जितना पक्का जोड़िए वह जुड़ा हुआ ही माना जायगा, साबित कभी नहीं होगा।

: २४ :

देशकी ओर

अब मुझे दक्षिण अफ्रीकामें रहते तीन बरस हो चुके थे। लोगोंको मैं पहचानने लगा था। वे मुझे पहचानने लगे थे। सन् १८९६ में मैंने ६ महीनेके लिए देश जानेकी इजाजत चाही। मैंने देखा कि मुझे दक्षिण अफ्रीकामें अधिक दिन रहना पड़ेगा। यह कह सकता हूं कि मेरी वकालत अच्छी चल निकली थी। सार्वजनिक कार्योंमें मेरी उपस्थितिकी आवश्यकता लोग समझते थे।

मैं भी समझता था। इससे मैंने दक्षिण अफ्रीकामें सकुटुंब रहनेका निश्चय किया और इसके लिए एक बार देश हो आना ठीक समझा। मैंने यह भी देखा कि देश जानेमें कुछ लोककार्य भी हो सकता है। देशमें लोकमत जगाकर इस प्रश्नमें लोगोंकी अधिक दिलचस्पी पैदा की जा सकती है। तीन पौंडका कर एक नासूर—सदा बहता रहनेवाला घाव—था। उसके रद हुए बिना चित्तको चैन नहीं मिल सकता था।

पर मेरे देश जानेपर कांग्रेसका और शिक्षा-मण्डलका काम कौन संभालेगा? दो साथियोंपर दृष्टि गई। आदमजी मियां खां और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी वर्गमें बहुत-से काम करनेवाले पैदा हो गये थे। पर मंत्रीका काम उठा सकने, नियमित रूपसे काम करने और दक्षिण अफ्रीकामें जन्मे हुए भारतीयोंका मन जीत सकनेकी योग्यता रखनेवालोंमें ये दो पहली पांतमें खड़े किये जा सकते थे। मंत्रीके लिए साधारण अंग्रेजी जाननेकी जरूरत तो थी ही। इनमेंसे स्वर्गीय आदमजी मियां खांको मंत्रि-पद देनेकी सिफारिश मैंने कांग्रेससे की और वह मंजूर हुई। अनुभवसे यह यह चुनाव बहुत अच्छा साबित हुआ। अपनी लगन, उदारता, मीठे स्वभाव और विवेकसे सेठ आदमजी मियां खाने सबको संतोष दिया। सबको विश्वास हो गया कि मंत्रीका काम करनेके लिए वकील-बारिस्टरकी या डिग्रीधारी बड़े अंग्रेजीदांकी जरूरत नहीं है।

सन् १८९६ के मध्यमें मैं देश जानेके लिए 'पोंगोला' स्टीमर-में सवार हुआ। यह स्टीमर कलकत्ते जानेवाला था।

स्टीमरमें मुसाफिर बहुत कम थे। दो अंग्रेज अफसर थे जिनसे मेरा साथ हो गया। एकके साथ रोज एक घंटा शतरंज खेलता था। स्टीमरके डाक्टरने मुझे एक 'तामिल-शिक्षक' (तामिल सिखानेवाली) पुस्तक दी। मैंने उसका अभ्यास आरंभ कर दिया।

नेटालमें मैंने देखा कि मुसलमानोंसे अधिक निकटका संबंध

जोड़नेके लिए मुझे उर्दू सीखनेकी जरूरत है और मद्रासी भाइयोंसे हिल-मिल सकनेके लिए तामिल सीखनेकी।

उर्दूके लिए उक्त अंग्रेज मित्रके अनुरोधसे मैंने उनके यात्रियोंमेंसे एक अच्छा मुंशी ढूंढ निकाला। हम दोनोंकी पढ़ाई ठीक चलने लगी। अंग्रेज अफसर धारणा-शक्तिमें मुझसे बढ़ा हुआ था। उर्दू अक्षर पहचाननेमें मुझे कठिनाई पड़ती थी, पर वह तो एक बार जिस शब्दको देख लेता उसे कभी भूलता ही नहीं था। मैं अधिक श्रम करके भी उसकी बराबरीपर न पहुंच सका।

तामिलका अभ्यास भी ठीक चलता रहा। उसमें किसीसे मदद न मिल सकती थी। पुस्तक भी इस रीतिसे लिखी गई थी कि मददकी जरूरत ज्यादा न पड़े।

मुझे आशा थी कि यह पढ़ाई देश पहुंचनेके बाद भी जारी रख सकूंगा। पर वह तो नहीं हो पाया। सन् १८९३ के बादका मेरा वाचन और अध्ययन मुख्यतः जेलमें ही हुआ। इन दोनों भाषाओंका ज्ञान मैंने बढ़ाया अवश्य, पर वह सब जेलमें ही। तामिलका दक्षिण अफ्रीकाकी जेलमें और उर्दूका यरवदामें। पर तामिल बोलना कभी न सीख पाया, पढ़ना ठीक तौरसे आ गया था; पर अभ्यासके अभावमें वह भी भूलता जा रहा है। यह कमी मुझे अबतक सालती है। दक्षिण अफ्रीकाके मद्रासी भाइयोंसे मैंने भरपूर प्रेम पाया है। उसकी याद मुझे हरदम बनी रहती है। उनकी श्रद्धा, उनका परिश्रम, उनमेंसे बहुतोंका निःस्वार्थ त्याग जब कभी किसी भी तामिल-तेलुगुको देखता हूं तो याद आये बिना नहीं रहता। और ये सभी लगभग निरक्षर थे। जैसे पुरुष थे वैसी ही स्त्रियां थीं। दक्षिण अफ्रीकाकी लड़ाई ही निरक्षरोंकी थी। उसके योद्धा भी निरक्षर थे। वह गरीबोंकी थी, और गरीब उसमें जूझे।

इन भोले और भले भारतीयोंका मन जीतनेमें भाषाकी बाधा मुझे कभी न हुई। उन्हें टूटी-फूटी हिंदुस्तानी और टूटी-फूटी अंग्रेजी आती थी, इससे हमारी गाड़ी चल जाती थी। पर मैं तो इस प्रेमके बदलेमें तामिल-तेलगु सीखना चाहता था। तामिल तो

कुछ सीख ली। तेलुगु सीखनेका प्रयास हिंदुस्तानमें किया, पर वह ककहरेसे आगे न बढ़ सका।

मैं तामिल-तेलुगु तो न पढ़ पाया और अब शायद ही हो सके। इसीलिए यह आशा रखता हूं कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिंदुस्तानी सीखेंगे। दक्षिण अफ्रीकाके द्राविड़ 'मद्रासी' तो थोड़ी-बहुत हिंदी अवश्य बोल लेते हैं। कठिनाई उन्हींको होती है जो अंग्रेजी पढ़े हुए हैं। मानों अंग्रेजीका ज्ञान हमारे लिए अपनी भाषाएं सीखनेमें बाधारूप हो!

पर यह तो विषयांतर हो गया। हमें अपनी यात्राकी कहानी पूरी करनी चाहिए।

अभी 'पोंगोला' के कप्तानका परिचय कराना बाकी है। हममें मित्रता हो गई थी। यह भला कप्तान प्लीमथ ब्रदर संप्रदाय-का था। इसलिए हममें जहाजरानीकी बनिस्बत अध्यात्म विद्याकी ही बातें अधिक होतीं। कप्तान नीति और धर्मश्रद्धाको दो चीजें मानता था। उसकी दृष्टिसे बाइबिलकी शिक्षा बच्चोंका खेल था। उसकी खूबी ही उसकी सरलता थी। बालक, स्त्री, पुरुप सब ईसाको और उनके बलिदानको मान लें तो उनके पाप धुल जायं। इस प्लीमथ ब्रदरने मेरा प्रिटोरियाके ब्रदरका परिचय ताजा कर दिया। जिसमें नीतिकी रखवाली करनी पड़े वह धर्म उसे नीरस लगा। इस मित्रता और अध्यात्म-चर्चाका मूल था मेरा निरामिषाहार। मै मांस क्यों नहीं खाता? गोमांसमें क्या दोष है? पेड़-पौधोंकी भांति पशु-पक्षियोंको भी ईश्वरने क्या मनुष्यके सुख-भोग और आहारके लिए नहीं सिरजा है? निस्सन्देह, यह प्रश्नमाला आध्यात्मिक चर्चामें पहुंचा देती थी।

हम एक दूसरेको समझा न सके। मैं अपने इस विचारमें दृढ़ था कि धर्म और नीति एक ही वस्तुके वाचक हैं। कप्तानको अपने मतके सत्य होनेमें तनिक भी शंका न थी।

चौबीसवें दिन यह आनंददायक यात्रा पूरी हुई और हुगलीका सौंदर्य निरखता हुआ मैं कलकत्तेमें उतरा। उसी दिन मैंने बंबई

जानेका टिकट कटाया।

: २५ :

हिंदुस्तान में

कलकत्तेसे बंबई जाते हुए प्रयाग बीचमें पड़ता था। वहां ट्रेन ४५ मिनट रुकती थी। इस बीच मैंने शहरका एक चक्कर लगा आनेकी सोची। मुझे किसी अंग्रेज दवा बेचनेवालेके यहांसे दवा भी लेनी थी। दवाफरोश ऊंघता हुआ बाहर निकला। दवा देनेमे काफी देर लगा दी। मैं स्टेशन पहुंचा तो गाड़ी चलती दिखाई दी। स्टेशनमास्टर भला आदमी था। उसने मेरे लिए गाड़ी एक मिनट रोकी थी, पर मुझे वापस आते न देख मेरा सामान उतरवा लेनेकी सावधानी उसने रखी।

मैं केलनरके होटलमें ठहरा और वहींसे अपना काम शुरु करनेका निश्चय किया। प्रयागके 'पायोनियर' पत्रकी ख्याति मैंने सुन रखी थी। वह जनताकी आकांक्षाओंका विरोधी है, यह बात भी मुझे मालूम थी। मेरा ख्याल है कि उस समय मि० चेजनी (छोटे) संपादक थे। मुझे तो सब पक्षवालोंसे मिलकर सबकी सहायता लेनी थी, अत: मि० चेजनीको मैंने मुलाकातके लिए पत्र लिखा। ट्रेन छूट जानेकी बात बताकर यह लिख दिया कि अगले ही दिन मुझे प्रयागसे चले जाना है। उत्तरमें उन्होंने मुझे तुरंत मिलने-के लिए बुलाया। मुझे प्रसन्नता हुई। उन्होंने मेरी बात गौरसे सुनी। कहा कि आप (मैं) कुछ लिखें तो मैं तुरंत उसपर टिप्पणी लिखूंगा। साथ ही यह भी कहा, "लेकिन मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि मैं आपकी सभी बातोंका समर्थन कर सकूंगा। उपनि-वेशियों (दक्षिणी अफ्रीकाके गोरों) का दृष्टिबिंदु भी तो हमें समझना और देखना होगा।"

मैंने उत्तर दिया, "आप इस प्रश्नका अध्ययन और चर्चा करेंगे इतना ही मेरे लिए काफी है। मैं शुद्ध न्यायके सिवा न कुछ

मांगता हूं, न कुछ चाहता हूं।"

बाकीका दिन प्रयागके भव्य त्रिवेणी संगमके दर्शन और अपने ऊपर ले रखे हुए कामके बारेमें सोचने-विचारनेमें बिताया।

इस अनसोची मुलाकातने मुझपर नेटालमें हुए हमलेका बीज बोया।

बंबईमें बिना रुके सीधा राजकोट गया और एक पुस्तिका लिखनेकी तैयारीमें लग गया। उसे लिखने और छपानेमें लगभग एक महीना लग गया। इसका मुखपृष्ठ हरा था, इससे बादको वह 'हरी पोथी' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उसमें दक्षिण अफ्रीकाके भारतीयोंका चित्रण मैंने जान-बूझकर हलका रखा था। नेटालमें लिखी हुई दो पुस्तिकाओंमें, जिनकी चर्चा पहले कर चुका हूं, मैंने जैसी भाषा लिखी थी उससे यहां नरम भाषासे काम लिया। कारण यह कि मैं जानता था कि छोटा दुःख भी दूरसे देखनेपर बड़ा दिखाई देता है।

हरी पुस्तिकाकी दस हजार प्रतियां छपवाकर सारे हिंदुस्तानके अखबारों और सब दलोंके प्रमुख पुरुषोंके पास भेजीं। 'पायोनियर' में उसपर सबसे पहले लेख निकला। उसका सारांश विलायत गया और फिर इस सारांशका सारांश रायटरके द्वारा नेटाल गया। यह तार तो तीन सतरका था। नेटालमें हिंदुस्तानियोंके साथ होनेवाले व्यवहारका मैंने जो चित्र खींचा था उसका यह 'लघु संस्करण' था। वह मेरे शब्दोंमें न था। उसका क्या असर हुआ इसपर पीछे विचार करूंगा। धीरे-धीरे सब प्रमुख पत्रोंमें इस प्रश्नकी विस्तत चर्चा हुई।

डाकसे भेजनेके लिए इस पुस्तिकाके पैकेट आदि बनवाना टेढ़ा और पैसा देकर करायें तो खर्चेका काम था। मैंने आसान उपाय ढूंढ निकाला। पास-पड़ोसके सब लड़कोंको इकट्ठा किया और उनसे सवेरेके दो-तीन घंटोंमेंसे जितना दे सकें उतना समय मांगा। लड़कोंने खुशीसे इतनी सेवा कबूल कर ली। अपनी ओरसे मैंने उन्हें अपने पास इकट्ठे काममें लाये हुए डाकके टिकट

और आशीर्वाद देनेकी बात कही। लड़कोंने हँसते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। निरे बच्चोंको इस तरह स्वयंसेवक बनानेका मेरा यह पहला ही प्रयोग था। इन बालकोंमेंसे दो आज मेरे साथी हैं।

इसी बीच बंबईमें पहली बार प्लेगका प्रकोप हुआ। चारों ओर घबराहट फैली हुई थी। राजकोटमें भी प्लेग फैलनेका डर था। मैंने सोचा कि स्वास्थ्य-विभागमें काम कर सकता हूं। मैंने लिखा कि अपनी सेवा राज्यको अर्पण करनेके लिए तैयार हूं। राज्यने जो कमेटी बनाई उसमें मुझे ले लिया। पाखानोंकी सफाई पर मैंने जोर दिया और कमेटीने तै किया कि गली-गली जाकर पाखानोंकी जांच की जाय। गरीब लोगोंने अपने पाखानोंकी जांच करने देनेमें तनिक भी आनाकानी नहीं की। इतना ही नहीं, जो सुधार उन्हें बतलाये गए वे उन्होंने कर लिये। पर जब हम राज-दरबारवालों, 'बड़े आदमियों' के घर जांचने निकले तो कितनी ही जगह तो हमें पाखाने देखनेकी इजाजत भी न मिलती थी। सुधारकी तो बात ही क्या ? हमारा सामान्य अनुभव यह रहा कि धनिक वर्गके पाखाने अधिक गंदे थे। उनमें अंधेरा, बदबू और बेहद गंदगी थी। खुड्डियोंपर कीड़े बजबजाते थे। उन्हें काममें लाना रोज जीते-जी नरकमें प्रवेश करनेजैसा था। जो सुधार हमने सुझाये वे बहुत ही साधारण थे। मैला जमीनपर न गिरने देकर कूड़ेमें गिरायें। पानीको भी जमीनमें जज्ब न होने देकर कूड़ेमें गिरानेका उपाय किया जाय। खुड्ढी और भंगीके आनेकी जगहके बीचमें जो दीवार रखी जाती है वह तोड़ दी जाय, जिससे सारा पाखाना भंगी अच्छी तरह साफ कर सके। पाखाने कुछ बड़े हो जायं और उनमें हवा-रोशनी जा सके। बड़े आदमियोंने इन सुधारोंको माननेमें बड़े एतराज उठाये और अंतमें पूरे नहीं किये।

कमेटीको भंगियोंके मुहल्लेमें जाना तो था ही। कमेटीके सदस्योंमेंसे केवल एक सदस्य मेरे साथ वहां जानेको तैयार हुए। भंगियोंकी बस्तीमें जाना और वह भी पाखानेकी जांच करानेके लिए ? पर मुझे तो भंगियोंका मुहल्ला देखकर हर्षजनक आश्चर्य

हुआ। भंगी-मुहल्लेमें जानेका मेरे जीवनमें तो यह पहला ही मौका था। भंगी भाई-बहनोंको हमें देखकर अचंभा हुआ। हमने उनके पाखाने देखने चाहे। वे बोले—

"हमारे यहां पाखाने कहां ? हमारे पाखाने तो जंगलमें हैं। पाखाने तो आप बड़े आदमियोंके यहां होते हैं।"

मैंने पूछा, "तो अपने घर हमें देखने दोगे ?"

"आइए न, भाईसाहब! जहां आपका जी चाहे जाइए। यही तो हमारे घर हैं।"

मैं अंदर गया और घर-आंगन दोनोंकी सफाई देखकर खुश हो गया। घरके भीतर सब लिपा-पुता देखा, आंगन बुहारा-झाड़ा और जो थोड़ेसे बर्तन-भांड़े थे, सब साफ और चमचमाते हुए।

इस मुहल्लेमें बीमारी फैलनेका डर मुझे नहीं दिखाई दिया।

एक पाखानेका जिक्र किये बिना नहीं रह सकता। हर घरमें नाली तो थी ही। उसमें पानी भी गिराया जाता और पेशाब भी किया जाता। अतः ऐसा कमरा शायद ही मिलता जिसमें बदबू न हो। पर एक घरमें तो सोनेके कमरेमें मोरी और पाखाना दोनों देखे, और वह सारा मैला नाली की राह नीचे उतरता था। इस कोठरीमें खड़ा रहना कठिन था। घरका मालिक उसमें कैसे सो सकता था, इसका विचार पाठक ही करें।

कमेटीने हवेली (वैष्णव-मंदिर)का मुआइना भी किया। हवेलीके मुखियाजीसे गांधी-कुटंबका प्रेमका संबंध था। मुखिया-जीने हवेली देखने देना और उसमें जितना सुधार हो सकता हो उतना करा देना मंजूर किया। उन्होंने खुद वह हिस्सा कभी देखा न था। हवेलीकी रोजकी जूठन और पत्तलें पिछवाड़ेकी दीवारके ऊपरसे फेंक दी जाती थीं और वह हिस्सा चील-कौओंका अड्डा बन गया था। पाखाने तो गंदे थे ही। मुखियाजीने कितना सुधार किया यह मैं न देख सका। हवेलीकी गंदगी देखकर दुःख तो हुआ ही। यदि हवेलीको हम पवित्र स्थान—देवस्थान—समझें, तो वहां तो स्वास्थ्य-नियमोंका पूर्ण पालन होनेकी आशा रखी जानी

चाहिए। स्मृतिकारोंने अंतर्बाह्य शौचपर काफी जोर दिया है यह बात उस समय भी मेरे ध्यानसे बाहर न थी।

: २६ :

'राजनिष्ठा और शुश्रूषा'

शुद्ध राजनिष्ठा मैंने जितनी अपने अंदर पाई है उतनी शायद ही दूसरेमें देखी हो। इस राजनिष्ठाका मूल मुझे सत्यपर अपने स्वाभाविक प्रेममें दिखाई देता है। राजनिष्ठा या अन्य किसी वस्तु-का स्वांग मुझसे कभी न भरा गया। नेटालमें जब मैं किसी सभामें जाता तो वहां 'गाड सेव दि किंग' (खुदा बादशाहको सलामत रखे) अवश्य गाया जाता। मैंने सोचा, मुझे भी उसे गाना चाहिए। ब्रिटिश राजनीतिमें दोष तो मैं उस समय भी देखता था, फिर भी कुल मिलाकर मुझे वह नीति अच्छी लगती थी। मैं उस समय मानता था कि ब्रिटिश शासन और शासकोंका झुकाव समष्टि-रूपसे प्रजापोषणकी ओर है।

दक्षिण अफ्रीकामें उलटी नीति दिखाई देती थी। वर्णद्वेषके दर्शन होते थे। मैं मानता था कि यह क्षणिक और स्थानिक है। अतः राजनिष्ठामें मैं अंग्रेजोंसे भी आगे बढ़ जाना चाहता था। मैंने लगनके साथ श्रम करके अंग्रेजोंके राष्ट्र-गीत 'गाड सेव दि किंग' की लय सीख ली। वह सभाओंमें गाया जाता तो मैं अपना सुर उसमें मिला देता और जो-जो अवसर आडंबरके बिना राज-भक्ति-प्रदर्शनके आते उनमें मैं शामिल होता था।

इस राजनिष्ठाको जिंदगीभरमें मैंने भुलाया कभी नहीं। इससे निजी लाभ उठानेका मुझे कभी खयाल तक न हुआ। राजभक्तिको ऋण समझकर मैंने सदा उसे अदा किया।

मैं जब हिंदुस्तान आया तब महारानी विक्टोरियाकी डायमंड जुबली (हीरक-जयंती) की तैयारियां हो रही थीं। राजकोटमें भी एक समिति बनी। मुझे उसका निमंत्रण मिला और मन

स्वीकार किया। पर मुझे उसमें दंभकी गंध मिली। मैंने देखा कि उसमें दिखावा बहुत होता है। यह देखकर मझे दुःख हुआ। समितिमें रहूं या न रहूं यह प्रश्न मेरे सामने उपस्थित हुआ। अंत-में अपने कर्तव्यका पालन कर संतोष कर लेनेका निश्चय किया।

एक सुझाव यह था कि पेड़ लगाये जायं। उसमें मुझे ढोंग दिखाई दिया। जान पड़ा वृक्षारोपण साहबोंको महज खुश करनेके लिए हो रहा है। मैंने लोगोंको यह समझानेकी कोशिश की कि पेड़ लगाना कोई फर्ज नहीं, एक मलाह भर है। लगाना हो तो दिल लगाकर लगाना चाहिए, नहीं तो बिलकुल न लगाना चाहिए। मझे कुछ ऐसा खयाल है कि मैं यह कहता तो लोग मेरी बातको हँसीमें उड़ा देते थे। अपने हिस्सेका पेड मैंने ठीक तौरसे लगाया और उसे सींचा-सेया इतना मझे याद है।

'गाड सेव दि किंग' मैं कुटुंबमें बच्चोंको सिखाता था। मुझे याद है कि मैंने उसे ट्रेनिंग कालेजके विद्यार्थियोंको सिखाया था। पर वह यही अवसर था या सातवें एडवर्डके राज्यारोहणका, यह ठीक याद नहीं है। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना खटका। अहिंसाविषयक मेरे विचार ज्यों-ज्यों दढ होते गये, त्यों-त्यों अपनी वाणी और विचारोंकी मैं अधिक चौकसी रखने लगा। इस गीतमें दो पंक्तियां (इस आशयकी) ये भी हैं:

उसके शत्रुओंका नाश कर,
उनकी चालोंको विफल कर।

इनका गाना मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथको मैंने अपनी कठिनाई बताई। उन्होंने भी स्वीकार किया कि यह गाना अहिंसा-वादीको नहीं फबता। जिन्हें हम दुश्मन कह रहे हैं वह दगा करेंगे ही, यह कैसे मान लिया जाय? यह कैसे कहा जा सकता है कि जिसे हम अपना शत्रु मान रहे हैं वह बुरा ही होगा? ईश्वरसे तो न्याय ही मांगा जा सकता है। डा० बूथने इस दलीलका औचित्य स्वीकार किया। उन्होंने समाजमें गानेके लिए नया ही गीत रचा। डा० बूथका अधिक परिचय आगे कराऊंगा।

राजनिष्ठाकी तरह ही शुश्रूषाकी वृत्ति भी मुझमें स्वाभाविक थी। यह कह सकता हूं कि बीमारकी, चाहे वह अपना हो या पराया, सेवा करनेका मुझे शौक था। राजकोटमें मेरा दक्षिण अफ्रीकाका काम चल रहा था, इस बीच मैं एक बार बंबई हो आया। मुख्य-मुख्य नगरोंमें सभाएं करके लोकमतको विशेषरूपसे तैयार करनेका मेरा इरादा था। इसी गरजसे मैं वहां गया। पहले तो न्यायमूर्त्ति रानडेसे मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी और मुझे सर फीरोजशाह मेहतासे मिलनेकी सलाह दी। इसके बाद मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजीसे मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुनकर वही सलाह दी, "मैं और जस्टिस रानडे आपकी बहुत थोड़ी रहनुमाई कर सकते हैं। हमारी स्थिति तो आप जानते ही हैं। हम सार्वजनिक कार्यमें योग नहीं दे सकते। पर हमारी हमदर्दी तो आपके साथ है ही। सच्चे मार्गदर्शक तो सर फीरोजशाह हैं।"

सर फीरोजशाहसे तो मैं मिलनेको था ही। पर इन दो बुजुर्गोंसे उनकी सलाहके अनुसार चलनेकी बात सुनकर मुझे इसका अंदाजा हुआ कि सर फीरोजशाहका जनतापर कितना अधिकार था।

सर फीरोजशाहसे मिला। मैं उनके तेजसे चकाचौंध हो जानेको तो तैयार था ही। उनके नामके साथ जोड़े जानेवाले विशेषणोंको सुन ही चुका था। 'बंबईके शेर', 'बंबईके बेताजके बादशाह' से मुझे मिलना था। पर बादशाहने मुझे डराया नहीं। बाप जिस प्रेमसे अपने जवान बेटेसे मिलता है वैसे ही वह मिले। मुझे उनसे उनके 'चेंबर'में मिलना था। उनके पास उनके अनुयायियोंका जमघट तो लगा ही रहता था। वाचा थे, कामा थे। इनसे उन्होंने मेरा परिचय कराया। वाचाका नाम मैं सुन ही चुका था। यह फीरोजशाहके दाहिने हाथ माने जाते थे। वीरचंद गांधीने अंकशास्त्री (स्टेटिसटीशियन) के रूपमें मुझे उनका परिचय दिया था। उन्होंने कहा, "गांधी, हम फिर मिलेंगे।"

इस सबमें मुश्किलसे दो मिनट लगे होंगे। सर फीरोजशाहने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजीसे मिलनेकी बात भी मैंने उन्हें बतला दी। "गांधी, तुम्हारे लिए मुझे आम सभा करनी होगी। तुम्हें मदद देनी ही चाहिए।" अपने मुहर्रिरकी ओर फिरकर उसे सभाका दिन नियत करनेको कहा। दिन तै कर और सभासे एक दिन पहले मिलनेकी आज्ञा देकर मुझे विदा किया। मैं निर्भय होकर खुश-खुश घर लौटा।

बंबईकी इस यात्रामें मैं अपने बहनोईसे, जो वहीं रहते थे, मिलने गया। वह बीमार थे। वह गरीब स्थितिके आदमी थे। बहनसे अकेले उनकी सेवा-टहल न हो पाती थी। बीमारी कड़ी थी। मैंने उन्हें अपने साथ राजकोट चलनेको कहा। वह राजी हो गये। बहन-बहनोईको लेकर मैं राजकोट आया। जितना सोचता था उससे बीमारी ज्यादा बढ़ गई। मैंने उन्हें अपने कमरेमें रखा। सारा दिन उनके पास ही रहता। रातमें भी जागना पड़ता। उनकी सेवा करते हुए, दक्षिण अफ्रीकाका काम मैं कर रहा था। बहनोईका स्वर्गवास हो गया। पर उनके आखिरी दिनोंमें उनकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिला, इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ।

रोगीकी सेवाके मेरे इस शौकने आगे चलकर विशाल रूप धारण किया। यहांतक कि, उसे करनेमें मैं अपना काम छोड़ देता, अपनी पत्नी और सारे घरको लगा देता। इस वृत्तिको मैं शौक कहता हूं, इसलिए कि मैंने देखा कि यह वृत्ति जब आनंददायक हो जाती है तभी निभ सकती है। खींचतानकर, दिखावे या लोकलाज की खातिर की जाय तो यह सेवा आदमीको कुचल देती है और उसे करते हुए उसका जीवन सूख जाता है। जिस सेवामें आनंद नहीं मिलता वह न तो सेवकको फलती है और न सेव्यको भाती है। जिस सेवामें आनंद मिलता है उस सेवाके सामने ऐश-आराम या पैसा कमाना इत्यादि तुच्छ लगते हैं।

: २७ :

बंबईमें सभा

अपने बहनोईके देहांतके दूसरे ही दिन मुझे बंबईकी सभाके लिए जाना था। सार्वजनिक सभाके लिए भाषण सोच सकूं इतना वक्त मुझे न मिला था। जागरणकी थकावट मालूम हो रही थी। आवाज भारी हो गई थी। ईश्वर ज्यों-त्यों बेड़ा पार करेगा यह सोचते हुए मैं बंबई गया। भाषण लिखनेकी बात तो मैंने सपनेमें भी न सोची थी।

सभाकी तारीखके पहले दिन शामको पांच बजे आज्ञानुसार मैं सर फीरोजशाहके दफ्तरमें हाजिर हुआ।

उन्होंने पूछा, "गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है ?" मैंने डरते-डरते उत्तर दिया, "जी नहीं, मैने तो जबानी ही बोलनेकी बात सोच रखी है।"

"बंबईमें यह नहीं चलेगा। यहां रिपोर्टिंग खराब है। इस सभाका कुछ फायदा हमें उठाना हो तो तुम्हारा भाषण लिखा हुआ ही होना चाहिए और वह रातोंरात छप जाना चाहिए। रातको भाषण लिख सकोगे न ?"

मैं घबराया। पर लिखनेकी कोशिश करनेकी हामी भरी।

बंबईके सिहने कहा, "मुंशीजी, तुम्हारे पास भाषण लेने कब जायं ?"

मैने जवाब दिया—"ग्यारह बजे।"

सर फीरोजशाहने अपने मुहर्रिरको उस वक्त भाषण लेकर रातोंरात छपा लेनेका हुक्म दिया और मुझे विदा किया।

दूसरे दिन मै सभामें गया। अब मैने समझा कि भाषण लिखनेकी ताकीद करनेमें कितनी अक्लमंदी थी। फरामजी कावसजी इंस्टीट्यूट-हालमें सभा थी। मैंने सुन रखा था कि सर फीरोजशाह जहां बोलनेवाले हों उस सभामें खड़े होनेको भी जगह नहीं मिलती। विद्यार्थी-समुदाय ऐसी सभाओंमें खास तौरसे रस

लेता है।

ऐसी सभाका यह मेरा पहला अनुभव था। मुझे निश्चय हो गया कि मेरी आवाज कोई सुन न सकेगा। कांपते-कांपते मैंने भाषण पढ़ना शुरू किया। सर फीरोजशाह मुझे बढ़ावा देते जाते थे, 'जरा और जोरसे' कहते जाते थे। मेरा खयाल है कि इस प्रोत्साहनसे मेरी आवाज और धीमी पड़ती जाती थी।

पुराने मित्र केशवराव देशपांडे मेरी मददको बढ़े। मैंने भाषण उनके हाथमें दे दिया। उनकी आवाज तो अच्छी ही थी, पर श्रोता क्यों सुनने लगे? 'वाचा' 'वाचा' की पुकारसे हाल गूंज उठा। वाचा उठे। उन्होंने देशपांडेके हाथसे कागज ले लिया। मेरा काम हो गया। सभामें तुरंत शांति हो गई और अथसे इतितक सारा भाषण सभाने सुना। रिवाजके मुताबिक जहां चाहिए था वहां 'शेम-शेम' ('धिक्कार, धिक्कार') और करतलध्वनि भी होती रही। मुझे खुशी हुई।

सर फीरोजशाहको भाषण पसंद आया। मुझे ऐसा संतोष हुआ मानों गंगा नहा लिया।

इस सभाके फलस्वरूप देशपांडे और एक पारसी सज्जन पिघले। पारसी सज्जन आज एक सरकारी पदपर हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते डरता हूं। उनके निश्चयको जज खुरशेदजीने डांवाडोल किया और उसे डिगानेका निमित्त एक पारसी बहन बनी। ब्याह करें या दक्षिण अफ्रीका जायं? यह समस्या उनके सामने आई। उन्होंने विवाह करना अधिक श्रेयस्कर समझा। पर इन पारसी मित्रकी ओरसे पारसी रुस्तमजीने प्रायश्चित्त किया और पारसी बहनके कर्मका प्रायश्चित्त एक दूसरी पारसी बहन सेविकाका काम करते हुए खादीके पीछे वैराग्य लेकर कर रही हैं। इसलिए इस दंपती को मैंने माफी दे दी है। देशपांडेको ब्याहका लोभ न था। पर वह न आ सके। उसका प्रायश्चित्त तो वह खुद ही कर रहे हैं। दक्षिण अफ्रीकाको वापस जाते हुए जंजीबारमें तैयबजी नामके एक सज्जन मिले थे। उन्होंने

भी आनेकी उम्मीद दिलाई थी। पर वह दक्षिण अफ्रीका क्यों आने लगे? उनके न आनेका बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं। पर बारिस्टर मित्रोंको दक्षिण अफ्रीका आनेको ललचानेमें मेरे प्रयत्न इस प्रकार निष्फल हो गये।

यहां मुझे पेस्तनजी पादशाहकी याद आ रही है। उनके साथ मेरा विलायतसे ही स्नेहका संबंध हो गया था। उनसे मेरा परिचय लंदनके एक अन्नाहारी भोजनालयमें हुआ था। उनके भाई बरजोरजीकी एक सनकीके रूपमें प्रसिद्धि भी मैंने सुन रखी थी, पर उनसे मिला नहीं था। मित्रमंडलीका कहना था कि वह 'सनकी' हैं। घोड़ेपर दया करके ट्राममें नहीं बैठते, शतावधानीकी जैसी स्मरणशक्ति होते हुए भी डिग्री नहीं लेते; तबीयत ऐसी आजाद थी कि किसीके दबावमें आनेवाले न थे और पारसी होते हुए निरामिषभोजी थे! पेस्तनजी बिल्कुल उस ढंगके तो नहीं माने जाते थे, पर उनकी बुद्धिमानीकी प्रसिद्धि थी। यह शोहरत विलायतमें भी थी। पर हमारे संबंधकी जड़ तो उनका अन्नाहार था। उनके बुद्धि-वैभवकी बराबरी करना मेरी शक्तिके बाहर था।

बंबईमें मैंने पेस्तनजीको ढूंढ निकाला। वह हाईकोर्टमें सर दफ्तर (प्रोथोनोटरी) थे। जब मैं मिला उस समय एक बृहद् गुजराती शब्दकोषकी तैयारीमें लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रीकाके काममें मदद मांगनेमें एक भी मित्रको मैंने छोड़ा नहीं था। पेस्तन-जी पादशाहने तो मुझे भी दक्षिण अफ्रीका न जानेकी सलाह दी। "मुझसे तुम्हें मदद तो क्या मिलेगी, मुझे तो तुम्हारा दक्षिण अफ्रीका वापस जाना ही पसंद नहीं है। यहां अपने देशमें ही क्या कम काम है? देखिए, अपनी भाषाकी ही सेवाका काम क्या थोड़ा है? मुझे विज्ञानकी शब्दावलीके पर्याय ढूंढना है। यह तो एक क्षेत्र है। देशकी गरीबीका विचार कीजिए। दक्षिण अफ्रीकामें हमारे भाइयोंपर मुसीबत जरूर है, पर उसमें आप जैसे आदमीका खप जाना मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। हम यदि यहीं राज्यशक्ति अपने हाथमें कर लें तो उनकी मदद अपने आप हो जायगी। आपको

मैं नहीं समझा सकता, पर आप-जैसे अन्य सेवकोंको आपके साथ करानेमें मैं मदद तो नहीं दूंगा।"

मुझे ये वचन रुचे तो नहीं, पर पेस्तनजी पादशाहके लिए मेरे मनमें आदर बढ़ा। उनका देशप्रेम, भाषाप्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। हमारे बीचकी प्रेमगांठ इस प्रसंगसे और पक्की हो गई। उनके दृष्टिबिंदुको मैं अच्छी तरह समझ सका। मुझे तो जान पड़ा कि उनकी दृष्टिसे भी दक्षिण अफ्रीकाका काम छोड़नेके बजाय मुझे उसमें और जोरसे लगे रहना चाहिए। देशभक्तको देशसेवाके एक भी अंगकी, जहांतक हो सके उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। और मेरे लिए तो गीताका यह श्लोक तैयार ही था:—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ [३।३५]

"चढते पराये अच्छे धर्मसे उतरता स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्ममें मौत भी अच्छी है, परधर्म भयावह है।"

: २८ :

पूनामें

सर फीरोजशाहने मेरा रास्ता आसान कर दिया। बंबईसे मैं पूना गया। मुझे पता था कि पूनामें दो दल हैं। मुझे तो सबकी मदद चाहिए थी। लोकमान्यसे मिला। उन्होंने कहा—

"सब पक्षोंकी सहायता लेनेका आपका विचार बिल्कुल ठीक है। आपके मामलेमें कोई मतभेद हो ही नहीं सकता। पर आपके लिए तटस्थ सभापति चाहिए। आप प्रो० भांडारकरसे मिलें। वह आजकल किसी आंदोलनमें शामिल नहीं होते। पर शायद इस कामके लिए तैयार हो जायं। उनसे मिलकर मुझे सूचित करें कि क्या हुआ। मैं आपकी पूरी सहायता करना चाहता हूं। आप प्रोफेसर गोखलेसे तो मिलेंगे ही। मेरे पास जब आना हो निस्संकोच आ सकते हैं।"

लोकमान्यका यह मुझे प्रथम दर्शन था। उनकी लोकप्रियता-का रहस्य तुरंत मेरी समझमें आ गया।

यहांसे मैं गोखलेके पास गया। वह फर्ग्यूसन कालेजमें थे। मुझसे बड़े प्रेमसे मिले और मुझे अपना लिया। उनका भी मेरा पहला ही परिचय था। पर ऐसा लगा जैसे हम पहले मिल चुके हों। सर फीरोजशाह तो मुझे हिमालय-जैसे और लोकमान्य समुद्रके समान लगे। गोखले गंगा-से जान पड़े। उसमें मैं नहा सकता हूं। हिमालयपर चढ़ा नहीं जा सकता। समुद्रमें डूबनेका डर रहता है। पर गंगाकी गोदमें तो क्रीड़ा की जा सकती है, उसमें डोंगी खेई जा सकती है। गोखलेने बारीकीसे मेरी जांच की, जैसे कोई विद्यार्थी स्कूलमें भर्ती होने जाय तो की जाती है। किस-किस-से और कैसे मिलूं यह बताया, और मेरा भाषण देखनेको मांगा। मुझे कालेजकी व्यवस्था दिखाई-समझाई। जब जरूरत हो मुझसे फिर मिलना और डा० भांडारकरका जवाब बतलाना, यह कहकर मुझे विदा किया। राजनैतिक क्षेत्रमें जो स्थान गोखलेने जीवित अवस्थामें ही मेरे हृदयमें बनाया और आज स्वर्गवासी हो जानेके बाद भी जिसपर वह विराज रहे हैं, उस स्थान का अधिकारी कोई दूसरा न हो सका।

रामकृष्ण भांडारकर मुझसे वैसे मिले जैसे बाप बेटेको भेंटता है। जब मैं उनके यहां गया वह दोपहरका वक्त था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था यह बात ही इस परिश्रमी पंडितको प्यारी लगी और तटस्थ सभापतिसंबंधी मेरा आग्रह सुनकर "दैट्स इट, दैट्स इट"—'यही ठीक है, यही ठीक है' के उद्गार उनके मुंहसे अनायास निकल गये।

बातचीतके अंतमें वह बोले, "तुम चाहे जिससे पूछो वह तुम्हें बतलायेगा कि मैं फिलहाल किसी राजनैतिक काममें हिस्सा नहीं लेता हूं। पर तुम्हें मैं विमुख नहीं लौटा सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मुझसे तुम्हारी सभामें आनेसे इंकार नहीं किया जा सकता। तुमने अच्छा किया

कि श्री तिलक और श्री गोखलेसे मिल लिये । उन लोगोंसे कहियेगा कि मैं दोनों दलोंकी बुलाई सभामें खुशीसे आऊंगा और सभापति-पद स्वीकार करूंगा । समयके संबंधमें मुझसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं है । दोनों पक्षोंको जो समय अनुकूल होगा मैं उसके अनुकूल हो जाऊंगा ।" यह कहकर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद दे विदा किया ।

बिना किसी शोर-शराबेके, बिना किसी आडंबर के एक मामूली मकानमें पूनाकी इस विद्वान् और त्यागी मंडलीने सभा की और मुझे पूर्ण प्रोत्साहन देकर विदा किया ।

यहांसे मैं मद्रास गया । मद्रास तो पागल हो उठा । बाला-सुंदरम्‌की घटनाका सभापर गहरा असर पड़ा । मेरा भाषण मेरे हिसाबसे लंबा था । पूरा छपा हुआ था । पर शब्द-शब्द सभाने ध्यानपूर्वक सुना । सभाके अंतमें पूर्वोक्त 'हरी पुस्तिका'की लूट हो गई । मद्रासमें संशोधन और परिवर्द्धनके बाद उसकी दूसरी आवृत्ति दस हजारकी छपवाई । उसका बहुतसा भाग निकल गया । पर मैंने देखा कि दस हजारकी जरूरत न थी । उत्साहका अन्दाजा मैंने अधिक कर लिया था । मेरे भाषणका असर तो अंग्रेजी जाननेवाले वर्गपर ही पड़ा था । उस वर्गके लिए अकेले मद्रासमें दस हजार प्रतियोंकी जरूरत नही हो सकती थी ।

यहां मुझे सबसे बड़ी सहायता स्व० जी० परमेश्वरन् पिल्लेसे मिली । वह 'मद्रास स्टैंडर्ड' के संपादक थे । उन्होंने इस प्रश्नका अच्छा अध्ययन किया था । अपने दफ्तरमें मुझे जब-तब बुलाते और मुनासिब सलाह दिया करते थे । 'हिंदू'के जी० सुब्रह्मण्यम्‌से भी मिला था । उन्होंने और डा० सुब्रह्मण्यम्‌ने भी पूरी हमदर्दी दिखलाई थी । पर जी० परमेश्वरन् पिल्लेने तो मुझे अपने अखबारका इस कामके लिए यथेच्छ उपयोग करनेकी आजादी दे दी और मैंने निस्संकोच होकर उसका उपयोग किया । सभा पाच्याप्पा हालमें हुई थी और जहांतक मुझे याद है उसमें डा० सुब्रह्मण्यम् सभापति हुए थे ।

मद्रासमें मैंने बहुतोंसे इतना प्रेम और उत्साह पाया कि यद्यपि वहां सबके साथ मुझे मुख्यत: अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ता था, फिर भी वहां घर-सा ही लगा। प्रेमके सामने कौन बंधन टिक सकता है? प्रेम किस बंधनको नहीं तोड़ सकता ?

: २९ :

'जल्दी लौटो'

मद्राससे मैं कलकत्त गया। कलकत्तेमें मेरी कठिनाइयोंका पार न रहा। 'ग्रेट ईस्टर्न' होटलमें उतरा। किसीसे जान, न पहचान। होटलमें 'डेली टेलीग्राफ' के प्रतिनिधि मि० एलर थार्पसे परिचय हुआ। वह बंगाल क्लबमें रहते थे। उन्होंने मुझे वहां निमंत्रित किया। उस समय उन्हें इसका पता न था कि होटलके दीवानखानेमें कोई किसी हिंदुस्तानीको नहीं ले जाया जा सकता। बादको उन्हें इस रोकका पता चला। अत: वह मुझे अपने कमरेमें ले गये। हिंदुस्तानियोंके प्रति स्थानीय अंग्रेजोंकी यह नफरत देखकर उन्हें खेद हुआ। मुझे दीवानखानेमें न ले जानेके लिए क्षमा मांगी।

'बंगालके देव' सुरेन्द्रनाथ बनर्जीसे मिलना तो था ही। उनसे मिला। उस समय उनके आसपास दूसरे मिलनेवाले भी बैठे थे। उन्होंने कहा, "मुझे डर है कि आपके काममें लोग रस न लेंगे। आप देखते ही हैं यहीं कुछ कम विडंबनाएं नहीं हैं। फिर भी आपसे जो बने वह अवश्य करें। इस काममें आपको राजा-महाराजाओंकी मदद दरकार होगी। ब्रिटिश-इंडिया एसोसिएशनके प्रतिनिधियों-से भी मिलियेगा। राजा सर प्यारेमोहन मुकर्जी और महाराज टागोरसे भी मिलियेगा। दोनों उदारवृत्तिके पुरुष हैं और सार्व-जनिक कामोंमें काफी हिस्सा लेते हैं।" मैं इन सज्जनोंसे मिला। वहां मेरी दाल न गली। दोनोंने कहा, "कलकत्तेमें सार्वजनिक सभा करना सहज काम नहीं। पर करनी हो तो उसका बहुत कुछ दार-मदार सुरेन्द्रनाथ बनर्जीपर होगा।"

मेरी कठिनाइयां बढ़ती जा रही थीं। 'अमृत बाजार पत्रिका'

के दफ्तरमें गया। वहां भी जो सज्जन मुझसे मिले उन्होंने मान लिया कि मैं कोई रमताराम हूंगा। 'बंगवासी' के सपादकने तो हद करदी। मुझे घंटेभर बैठाये रखा। दूसरोंके साथ संपादक महोदय बातें करते जाते थे। वे लोग अपनी बात खतम करके उठते भी जाते, पर वह मेरी तरफ देखते ही न थे। घंटाभर राह देखकर जब मैंने अपनी बात छेड़ी तो बोले, "आप देखते नहीं हैं, हमारे पास कितना काम है ? आप-जैसे तो बहुतेरे हमारे पास आते रहते हैं। आप तशरीफ ले जायं, यही अच्छा है। हमें आपकी बात नहीं सुननी है।" मुझे क्षणभर दुःख तो हुआ, पर मैं संपादकका दृष्टिबिंदु समझ गया। 'बंगवासी' की ख्याति तो सुन ही रखी थी। संपादकके यहां आनेजानेवालोंका तांता लगा रहता है, यह भी देख सकता था। वे सभी उनके परिचित होते थे। उनके अखबारके लिए विषयोंकी कमी न थी। उस समय दक्षिण अफ्रीकाका तो नाम भी मुश्किलसे सुननेमें आता था। नित नये आदमी संपादकके पास अपने दुखड़े लेकर आते ही रहते थे। उनके लिए तो अपना दुःख ही बड़े-से-बड़ा सवाल होता है। पर संपादकके यहां तो सदा ऐसे दुखियोंका जमघट रहता है। बेचारा सबके लिए क्या कर सकता है ? फिर दुखियाकी दृष्टिमें संपादक-की शक्ति बहुत बड़ी चीज होती है। पर स्वयं संपादकको तो पता रहता है कि उसकी शक्ति उसके दफ्तरकी चौखट भी नहीं लांघती।

मैंने हिम्मत नहीं हारी। दूसरे संपादकोंसे मिलना जारी रखा। अपनी रीतिके अनुसार अंग्रेजोंसे भी मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण अफ्रीकाके सवालका महत्त्व समझते थे। उन्होंने लंबी मुलाकातें—इंटरव्यू—छापीं। 'इंग्लिशमैन' के मि० सांडर्सने मुझे अपनाया। उनके दफ्तरका दरवाजा, उनके अखबारके कालम मेरे लिए खुले रहते। उन्होंने अपने अग्रलेखमें भी काट-छांट करनेकी छूट मुझे दे दी। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगी कि हम लोगोंमें स्नेहका संबंध हो गया। उनसे जो मदद हो सके वह करते रहनेका उन्होंने वचन दिया।

दक्षिण अफ्रीका लौट जानेपर भी मुझसे पत्र लिखते रहनेको कहा और उनसे जो कुछ हो सकता हो वह करनेका वादा किया। मैंने देखा कि इस वचनका उन्होंने अक्षरशः पालन किया और जबतक सख्त बीमार नहीं हो गये मुझसे पत्र-व्यवहार जारी रखा। मेरे जीवनमें ऐसे अनेक अनसोचे मधुर संबंध हुए हैं। मि० सांडर्सको मेरी जो बात पसंद आई वह थी अतिशयोक्तिका अभाव और सत्यपराणयता। उन्होंने मुझसे जिरह करनेमें कसर नहीं रखी थी। उसमें उन्होंने पाया कि दक्षिण अफ्रीकाके गोरोंके पक्षको निष्पक्ष रूपसे प्रस्तुत करने और भारतीय पक्षसे उसकी तुलना करनेमें मैंने कोताही नहीं की थी।

मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि प्रतिपक्षीको न्याय देकर हम जल्दी न्याय पा सकते हैं।

इस प्रकार मुझे अनपेक्षित सहायता मिल जानेसे कलकत्तेमें भी सार्वजनिक सभा होनेकी आशा बंधी। इतनेमें डरबनसे तार मिला—"पार्लमिंट जनवरीमें बैठेगी। जल्दी वापस आओ।"

इससे एक पत्र अखबारोंमें लिखकर तुरंत लौट जानेकी जरूरत बतला दी और कलकत्तेसे कूच कर दिया। दादा अब्दुल्लाके बंबईके एजेंटको तार दिया कि पहले स्टीमरसे मेरे जानेका बंदोबस्त करें। दादा अब्दुल्लाने खुद 'कूरलैंड' नामका स्टीमर खरीद लिया था। उसमें मुझे तथा मेरे कुटुंबको मुफ्त ले जानेका आग्रह किया। मैंने उसे धन्यवाद-सहित स्वीकार किया और दिसंबरके आरंभमें मैं 'कूरलैंड' स्टीमरसे अपनी धर्मपत्नी, दो बच्चों और अपने स्वर्गीय बहनोईके इकलौते लड़केको साथ लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रीकाकी ओर रवाना हुआ। इस स्टीमरके साथ ही दूसरा स्टीमर 'नादरी' भी डरबनके लिए रवाना हुआ। उसके एजेंट दादा अब्दुल्ला थे। दोनों स्टीमरोंमें मिलाकर आठ सौके लगभग हिंदुस्तानी मुसाफिर रहे होंगे। उनमें आधेसे ऊपर ट्रांसवाल जानेवाले थे।

दूसरा भाग संपूर्ण

तीसरा भाग

: १ :

तूफानकी झनक

बाल-बच्चोंके साथ मेरी यह पहली समुद्र यात्रा थी। मैं अनेक बार लिख चुका हूं कि हिंदू-संसारमें विवाह छोटी उम्रमें होने और मध्यम वर्गवालोंमें प्रायः पतिके साक्षर और पत्नीके निरक्षर होनेके कारण पति-पत्नीके जीवनमें अंतर रहता है और पतिको पत्नीका शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्मपत्नीके और बच्चोंके कपड़े-लत्ते, खाने-पहनने और बोलचालकी संभाल रखनी थी। मुझे उन्हें तौर-तरीका सिखाना था। उन दिनोंकी कितनी ही बातोंकी याद करके मुझे आज भी हँसी आती है। हिंदू-पत्नी पतिपरायणताको अपने धर्मकी पराकाष्ठा मानती है, हिंदू-पति अपनेको पत्नीका ईश्वर मानता है। इसलिए पत्नीको वह जैसे नचाये वैसे नाचना होता है।

जबकी मैं बात लिख रहा हूं उस समय मैं मानता था कि सभ्य समझे जानेके लिए हमारा बाहरी आचार-व्यवहार जहांतक हो सके यूरोपियनोंसे मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा होनेसे ही दूसरोंपर हमारा असर पड़ सकता है और असर पड़े बिना देश-सेवा संभव नहीं हो सकती।

अतः पत्नीकी और बच्चोंकी पोशाक मैंने ही पसंद की। उनका काठियावाड़ी बनियों-सा लगना मुझे कैसे सुहाता? पारसी हिंदुस्तानियोंमें सबसे अधिक सुधरे हुए सभ्य समझे जाते हैं। इस-लिए जहां यूरोपियन पहनावेका अनुकरण ठीक न लगे वहां पारसी ढंग अपनाया। पत्नीके लिए पारसी बहनोंकी-सी साड़ियां लीं, बच्चोंके लिए पारसी कोट-पतलून लिया। सबके लिए बूट

(अंग्रेजी जूते) और मोजे तो होने ही चाहिए थे। पत्नीको और बच्चोंको भी दोनों चीजें कई महीनेतक न रुचीं। जूते काटते, मोजे गंधाते, पांव सूज आते। इन अड़चनोंका जवाब मेरे पास तैयार था। उत्तरकी योग्यताकी अपेक्षा आज्ञाका बल तो अधिक था ही। अत: पत्नी और बच्चोंने विवश होकर पहनावेका यह फेरफार स्वीकार कर लिया। उतनी ही विवशता और इससे भी अधिक अनिच्छासे खानेमें वे छुरी-कांटेसे काम लेने लगे। पीछे जब मेरा मोह दूर हुआ तो उन्होंने बूट-मोजे, छुरी-कांटें इत्यादिको छोड़ दिया। पहले ये परिवर्तन जैसे दुःखदायी हुए थे वैसे ही आदत पड़नेपर उनका त्याग भी कष्टकर था। पर आज तो मैं देखता हूं कि हम सारे सुधारोंका केंचुल उतारकर हल्के हो गये हैं।

इसी स्टीमरमें अपने कितने ही संबंधी और जान-पहचानवाले भी थे। उनसे तथा डेकके दूसरे यात्रियोंसे भी मैं खूब हिल-मिल गया था। यह स्टीमर अपने मुवक्किल और फिर अपने मित्रका होनेके कारण बिल्कुल घर-जैसा लगता था और मैं हर जगह बेतकल्लुफीसे घूम-फिर सकता था।

स्टीमर बिना किसी बंदरगाहपर रुके सीधा नेटाल पहुंचनेवाला था, इसलिए केवल अठारह दिनकी यात्रा थी। मानों हमारे पहुंचते ही उठनेवाले तूफानकी हमें पहलेसे सूचना देनेके लिए हमारे पहुंचनेमें तीन या चार दिन बाकी थे कि समुद्रमें भारी तूफान उठा। इस दक्षिणी भूखंड में दिसंबरका महीना गर्मी और वर्षाका समय होता है, इसलिए दक्षिणी समुद्रमें इन दिनों छोटे-मोटे तूफान तो उठा ही करते हैं। पर यह तूफान इतने जोरका था और इतनी देर ठहरा कि यात्री घबरा गये।

यह दृश्य भव्य था। दुःखमें सब एक हो गए। भेदभाव भूल गये। ईश्वरको दिलसे याद करने लगे। हिंदू-मुसलमान सब साथ मिलकर भगवानको भजने लगे। कुछ लोगोंने मिन्नतें भी मानीं। कप्तान यात्रियोंके पास आया और उन्हें आश्वासन देते हुए बोला, "गो यह तूफान बहुत जोरका माना जा सकता है; पर मुझे इससे

अधिक भयानक तूफानोंका तजुरबा स्वयं है। स्टीमर मजबूत हो तो यकायक डूबता नहीं।" यात्रियोंको उसने इस प्रकार बहुत समझाया, पर इससे उनकी तसल्ली न होती थी। स्टीमरमें आवाज तो ऐसी हो रही थी, मानों अभी कहीं टूटता है, अभी कहीं छेद होता है। हचकोले ऐसे खाता था मानों अभी उलट जायगा। ऐसे समयमें डेकपर तो कोई रह ही कैसे सकता था। सिवा इसके कोई दूसरी बात किसीके मुहसे न निकलती थी :

"जाही विधि राखे राम वाही विधि रहिए।"

जहांतक मुझे याद है, चौबीस घंटे इस घोर चिंतामें गुजरे होंगे। अंतमें बादल बिखरे। सूर्यनारायणने दर्शन दिये। कप्तान बोला, "तूफान गया।"

लोगोंके चेहरेसे चिंताकी छाया दूर हुई और इसके साथ ही ईश्वर भी गायब हो गया! मौतका डर गया। फिर राग-रंग, खान-पान शुरू हो गया। मायाका परदा फिर पसर गया। नमाज रही, भजन रहे, पर तूफानके समय उनमें जो गंभीरता आ गई थी वह जाती रही।

पर इस तूफानकी बदौलत मै मुसाफिरोंमें घुल-मिल गया। मैं कह सकता हूं कि मुझे तूफानका भय नहीं था या बहुत ही कम था। लगभग ऐसे ही तूफानोंसे पहले मेरा पाला पड़ चुका था। मुझे समुद्र लगता नहीं था, न चक्कर आते थे। अतः मैं मुसाफिरों-में निर्भय होकर घूम सकता था, उन्हें ढाढ़स बंधा सकता था और कप्तानकी भविष्य-वाणियां उनतक पहुंचाया करता था। यह स्नेह-ग्रंथि मेरे लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

हमारे स्टीमरने १८ या १९ दिसंबरको डरबन बंदरमें लंगर डाला। 'नादरी' भी उसी दिन पहुंचा।

पर असली तूफानका अनुभव तो अभी होना बाकी था।

: २ :

तूफान

अठारहवीं दिसंबरको दोनों स्टीमरोंने आस-पास लंगर डाला। दक्षिण अफ्रीकाके बन्दरगाहमें यात्रियोंके स्वास्थ्यकी पूरी जांच होती है। राहमें किसीको कोई छूतवाली बीमारी हो जाय तो जहाज सूतकमें—क्वारंटीनमें—रखा जाता है। हमारे बंबई छोड़ते समय वहां प्लेग था, इसलिए हमें कुछ सूतक भुगतनेका डर था ही। बंदरमें लंगर डालनेके बाद जहाजको पहले पीला झंडा उड़ाना होता है। डाक्टरके जांच कर लेने और 'रिहाई' दे देनेके बाद पीला झंडा उतरता है और तब यात्रियोंके भाई-बदोंको स्टीमरपर आनेकी इजाजत मिलती है।

इस नियमके अनुसार हमारे स्टीमरपर भी पीला झंडा उड़ रहा था। डाक्टर आया। जांच करके पांच दिनका सूतक फरमा दिया। उसके मतसे प्लेगके कीड़े तेईस दिनतक जिंदा रह सकते हैं। अतः उसने बंबई छोड़नेके बादसे तेईस दिनतक जहाजको सूतकमें रखनेका निश्चय किया।

पर इस सूतककी आज्ञाका अर्थ केवल स्वास्थ्य-रक्षा न था। डरबनके गोरे नागरिक हमें उलटे पांव लौटा देनेका आंदोलन कर रहे थे, वह भी इस आज्ञामें कारणभूत था।

दादा अब्दुल्लाकी तरफसे हमें शहरमें चलनेवाले इस आंदोलनकी खबर मिलती रहती थी। गोरे एकके बाद दूसरी विराट सभाएं कर रहे थे। दादा अब्दुल्लाको धमकियां देते थे। लालच भी देते थे। वे अपने दोनों स्टीमरोंको लौटा ले जायं तो गोरे उनका सारा नुकसान भर देनेको तैयार थे। पर दादा अब्दुल्ला किसीकी धमकीसे डरनेवाले आदमी न थे। इस समय वहां सेठ अब्दुलकरीम हाजी आदम गद्दीपर थे। उन्होंने प्रण कर लिया था कि चाहे जितनी हानि उठानी पड़े स्टीमरको बंदरपर लाऊंगा और यात्रियोंको उतारूंगा। मेरे पास बराबर उनकी

ब्योरेवार चिट्ठियां आती थी। सौभाग्यवश इस समय स्व० मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझसे मिलनेके लिए डरबन आ गये थे। वह होशियार और बहादुर आदमी थे। उन्होंने उचित सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन भी वैसे ही जवांमर्द थे। उन्होंने गोरोंकी करतूतोंकी खूब निंदा की और इस मौकेपर कौमको जो सलाह दी वह केवल वकीलकी भांति पैसा लेकर नहीं, बल्कि सच्चे मित्रके रूपमें।

इस प्रकार डरबनमें द्वंद्व-युद्ध छिड़ा। एक ओर मुट्ठीभर गरीब हिंदुस्तानी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र थे, दूसरी ओर थे धनबल, बाहुबल, विद्याबल और संख्याबलमें भरपूर गोरे। इस बलवान प्रतिपक्षीको राज्यका बल भी मिल गया, क्योंकि नेटालकी सरकारने खुल्लमखुल्ला उनकी मदद की। मि० हेरी एस्कंबने, जो मंत्रिमंडलमें थे और उसके कर्त्ता-धर्ता थे, इस पक्षकी सभामें खुले तौरपर हिस्सा लिया।

इस प्रकार हमारा सूतक केवल स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंकी ही देन नही था। जैसे भी हो एजेंटको या यात्रियोंको दबाकर हमें वापस भेजना था। एजेंटको तो धमकी मिलती ही थी। अब हम लोगोंके पास भी धमकियां आईं—"तुम लोग लौट न गए तो समुद्रमें डुबा दिये जाओगे। वापस जानेपर तो वापसीका भाड़ा भी शायद तुम्हें मिल जाय।" मैंने यात्रियोंके बीच खूब चक्कर लगाए, उन्हें धीरज बंधाया। 'नादिर' के यात्रियोंको भी धैर्यका संदेश भेजा। यात्री शांत रहे, उन्होंने हिम्मत दिखाई।

मुसाफिरोंके मनबहलावके लिए जहाजपर खेलोंका प्रबंध किया गया था। बड़ा दिन आया। कप्तानने उस दिन पहले दर्जेके यात्रियोंको दावत दी। उनमें खास करके मैं और मेरा कुटुंब ही था। भोजनके बाद भाषणकी चाल तो है ही। मैंने पश्चिमी सभ्यता पर भाषण किया। मैं जानता था कि यह अवसर गंभीर भाषण करनेका नहीं होता। पर मुझसे दूसरी तरहका भाषण हो नहीं सकता था। आमोद-प्रमोदमें मैं शामिल होता था पर मेरा दिल

तो डरबनमें चलनेवाली लड़ाईमें ही था; क्योंकि इस हमलेमें मध्यबिंदु मैं ही था। मुझपर दो अभियोग थे :

१. मैंने हिंदुस्तानमें नेटालवासी गोरोंकी अनुचित निंदा की,

२. मैं नेटालको हिंदुस्तानियोंसे भर देना चाहता हूं और इसलिए 'कूरलैंड' और 'नादरी' में खासकर नेटालमें बसानेके लिए ही उन्हें भरकर लाया था।

मैं अपनी जिम्मेदारीको समझता था। मेरे लिए दादा अब्दुल्ला भारी नुकसानमें पड़ गए थे। यात्रियोंकी जान जोखिममें थी और अपने बाल-बच्चोंको साथ लाकर उन्हें भी मैंने विपदमें डाल दिया था।

पर मैं स्वयं सर्वथा निर्दोष था। मैंने किसीको नेटाल आनेको ललचाया नहीं था। 'नादरी' के यात्रियोंको तो मैं पहचानता भी न था। 'कूरलैंड' में अपने दो-तीन रिश्तेदारोंको छोड़कर और सैकड़ों यात्रियोंके नाम-धामतक न जानता था। हिंदुस्तानमें मैंने नेटालके अंग्रेजोंके बारेमें ऐसा एक शब्द भी नहीं कहा था जो मैं नेटालमें न कह चुका होऊं, और मैं जो कुछ बोला था उसके लिए मेरे पास भरपूर प्रमाण थे।

अतः नेटालके अंग्रेज जिस सभ्यताकी उपज थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हिमायती थे, उस सभ्यताके लिए मेरे मनमें दुःख पैदा हुआ। मैं उसीके बारेमें सोचा करता था। इस कारण उसके संबंधके अपने विचार मैंने इस छोटी-सी सभाके सामने रखे और श्रोता-वर्गने उन्हें सुन लिया। मैंने जिस भावसे उन विचारोंको उपस्थित किया था, कप्तान आदिने उसी भावमें उन्हें ग्रहण किया। उन विचारोंसे उनके जीवनमें कोई परिवर्तन हुआ या नहीं, यह मैं नहीं जानता। पर इस भाषणके बाद मेरी कप्तान तथा अन्य अफसरोंसे पश्चिमी सभ्यताके संबंधमें बहुत-सी बातें हुई। पश्चिमकी सभ्यताको मैंने प्रधानतः हिंसक बतलाया, पूर्वकी सभ्यताको अहिंसक। प्रश्नकर्त्ताओंने मेरा सिद्धांत मुझीपर घटित किया। बहुत करके कप्तानने ही पूछा,

"गोरे जैसी धमकी दे रहे हैं तदनुसार ही वे आपको पीड़ा पहुंचाएं तो अपने अहिंसाके सिद्धांतपर आप किस तरह अमल करेंगे ?"

मैंने जवाब दिया, "मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देने और उनपर मुकदमा न चलानेकी हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। आज भी उनपर मुझे रोष नहीं है। उनके अज्ञान, उनकी संकुचित दृष्टिपर मुझे दुःख होता है। मैं यह मानता हूं कि वे जो कह और कर रहे हैं उसे वे शुद्ध भावसे ठीक मान रहे हैं। अतः मेरे रोष करनेका कोई कारण नही।" प्रश्नकर्त्ता हँसे। मेरी बात शायद उन्हें सच न जान पड़ी हो।

इस तरह हमारे दिन बीते और लंबे होते गए। सूतक-समाप्तिकी अवधि अंततक तय न हुई। इस विभागके अफसरसे पूछनेपर जवाब मिलता, "यह मेरी शक्तिसे बाहरकी बात है। सरकारसे मुझे हुक्म मिले तो मैं आप लोगोंको उतरने दूं।"

अंतमें यात्रियोंको और मुझको अल्टीमेटम (अंतिम सूचना) मिली। दोनोंको जानसे हाथ धोनेकी धमकी दी गई थी। मैंने और यात्रियोंने भी जवाबमें लिखा कि नेटाल बंदरमें उतरनेका हमें हक है और हमने तै कर लिया है कि चाहे जो खतरा सामने आए, हम अपने उस हकपर डटे रहेंगे।

अंतमें तेइसवें दिन, अर्थात् १८७९ की जनवरीकी १३ तारीखको, हमारे[1] स्टीमरको मुक्ति मिली और यात्रियोंके उतारनेकी आज्ञा निकली।

: ३ :

कसौटी

जहाज 'धक्के' (डेक) पर लगा। यात्री उतरे। पर मेरे लिए मि० एस्कंबने कप्तानको कहलाया था, 'गांधी तथा उनके

[1] दोनों जहाजोंको

कुटुंबको शामको उतारियेगा। उनके विरुद्ध गोरे बहुत उत्तेजित हो रहे हैं और उनकी जान जोखिममें है। पोर्ट सुपरिटेंडेंट मि० टेटम उन्हें शामको लिवा ले जायंगे।"

कप्तानने मुझे यह संदेश सुनाया। मैंने उनके अनुसार चलना कबूल कर लिया। पर यह संदेश मिले आधा घंटा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन पहुंचे और कप्तानसे मिलकर बोले, "मि० गांधी अगर मेरे साथ आएं तो मैं उन्हें अपनी जोखिमपर ले जाना चाहता हूं। स्टीमरके एजेंटके वकीलकी हैसियतसे मैं आपसे कहता हूं कि मि० गांधीके बारेमें जो संदेशा आपको मिला है उसकी जिम्मेदारी-से आप मुक्त हैं।"

कप्तानसे इस प्रकार बातचीत करके वह मेरे पास आए और मुझसे कुछ इस आशयकी बातें कहीं, "आपको जिंदगीका डर न हो तो मैं चाहता हूं कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके यहां चले जायं और आप तथा मैं आम रास्तेसे होकर पैदल चलें। अंधेरा होनेपर आपका गुप-चुप शहरमें दाखिल होना मुझे तो बिलकुल पसंद नहीं आता। मेरी समझमें आपका बाल-तक बांका नहीं होनेका। अब तो सब प्रकारसे शांति है, गोरे तितर-बितर हो गये हैं। पर कुछ भी हो, मेरी राय है कि आपको लुक-छिपकर नगरमें प्रवेश नहीं करना चाहिए।

मैं राजी हो गया। मेरी धर्मपत्नी और बच्चे गाड़ीमें बैठकर रुस्तमजी सेठके यहां सही-सलामत पहुंच गए। मैं कप्तानकी इजाजत लेकर मि० लाटनके साथ उतरा। रुस्तमजी सेठका घर लगभग दो मील दूर था।

जैसे ही मैं जहाजसे उतरा, कुछ लड़कोंने मुझे पहचान लिया और 'गांधी-गांधी' चिल्लाने लगे। तुरंत ही दस-पांच आदमी इकट्ठे हो गए और शोर बढ़ा। मि० लाटनने भीड़ बढ़ती देख रिक्शा मंगवाया। मुझे तो उसमें बैठना कभी पसंद न आया था। उसपर बैठनेका यह मेरा पहला ही अनुभव होने जा रहा था। पर छोकरे क्यों बैठने देते ? उन्होंने रिक्शावालेको धमकाया और

वह भागा।

हम आगे बढ़े। मजमा भी बढ़ता गया। खासी भीड़ लग गई। सबसे पहले तो मजमेने मुझे मि० लाटनसे अलग किया। फिर मुझपर कंकड़ और सड़े अंडोंकी वर्षा आरंभ हुई। मेरी पगड़ी किसीने छीनकर फेंक दी। लात-ठोकरें भी पड़ने लगीं।

मुझे चक्कर आ गया। मैं बगलके घरकी जाली पकड़कर दम लेने लगा; पर वहां खड़ा रहना तो मुमकिन ही न था। अब तमाचोंकी बारी थी।

इतनेमें पुलिस सुपरिंटेंडेंटकी पत्नी, जो मुझे पहचानती थीं, उस रास्तेसे गुजरीं। मझे देखते ही वह मेरी बगलमें आकर खड़ी हो गई और धूप नहीं थी तो भी अपनी छतरी खोल ली। इससे भीड कुछ दबी। अब मुझपर आघात करना हो तो मिसेज अलेक्जेंडरको बचाकर ही किया जा सकता था।

इसी बीच कोई हिंदुस्तानी नवयुवक मुझपर मार पड़ते देख थानेको दौड़ा गया। सुपरिंटेंडेंट मि० अलेक्जेंडरने पुलिसकी एक टुकडी घेरा डालकर मुझे बचा लेनेको भेजी। वह समयसे पहुंची। मेरा रास्ता थानेके पाससे ही होकर जाता था। सुपरिंटेंडेंटने मुझे थानेमें आश्रय लेनेको कहा। मैंने इंकार किया और कहा, "लोगों-को जब अपनी भूल मालूम हो जायगी तब वे शांत हो जायंगे। मुझे उनकी न्याय-बुद्धिपर भरोसा है।"

पुलिस-टुकड़ीके साथ मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजीके घर पहुंचा। मेरी पीठपर धुसकी चोट थी। एक ही जगह थोड़ा छिला था। स्टीमरके डा० दादी बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी समुचित शुश्रूषा की।

यों भीतर शांति थी, पर बाहर तो गोरोंने घर घेर लिया। शाम हो गई थी। अंधेरा हो चला था। हजारों आदमी बाहर खड़े शोर मचा रहे थे। "गांधीको हमारे हवाले करो" की पुकार मच रही थी। लक्षण बुरे देखकर सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडर वहां पहुंच गये थे और भीड़को धमकी से नहीं, बल्कि विनोद-वार्तासे वशमें रख

रहे थे।

फिर भी वह चितास मुक्त न थे। उन्होंने मुझे इस आशयका संदेशा भेजा, "आप अपने मित्रके मकान और मालको और अपने बाल-बच्चोंको बचाना चाहते हों तो मैं जैसे बताऊं उस रीतिसे आपको छिपकर इस घरस निकल जाना चाहिए।"

एक ही दिनमें मुझपर दो परस्पर विरोधी काम करनेका प्रसंग आया। जब प्राण-भय केवल काल्पनिक जान पड़ता था तब मि० लाटनने मुझे खुलेबंदों बाहर निकलनेकी सलाह दी और मैंने उसे मान लिया। जब खतरा मेरे सामने आकर खड़ा हो गया तब दूसरे मित्रने इससे उल्टी सलाह दी और उसे भी मैंने मान लिया। कौन कह सकता है कि मैं अपनी जानकी जोखिमसे डरा या मित्रके जान-मालकी जोखिमसे, अथवा अपने बाल-बच्चोंकी जानको खतरा होनेसे, या तीनोंसे? कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि मेरा जहाजपरसे हिम्मत दिखाकर उतरना और पीछे जब खतरा सचमुच सामने आया तब छिपकर भाग निकलना उचित था? पर बीती बातके बारेमें इस तरहकी चर्चा ही बेकार है। उसका उपयोग इतना ही है कि जो हुआ उसे समझ लें, उससे जो सीख मिलती हो वह ले लें। अमुक प्रसंगमें अमुक मनुष्य क्या करेगा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वैसे ही यह भी हम देख सकते हैं कि मनुष्यके बाह्याचरणसे उसके गुणोंकी जो परख की जाती है वह अधूरी और अनुमानमात्र होती है।

कुछ भी हो, भागनेके काममें लग जानेसे मैं अपने घावोंको भूल गया। मैंने हिंदुस्तानी सिपाहीकी वर्दी पहिनी। कहीं सिरपर मार पड़े तो उससे बचनेके लिए उसपर पीतलकी तश्तरी रखकर ऊपर मद्रासी बड़ा साफा बांधा। दो खुफिया पुलिसवाले साथ थे, उनमेंसे एकने हिंदी व्यापारीका पहनावा पहना। अपना चेहरा हिंदुस्तानीकी तरहका रंग लिया। दूसरेने क्या पहना, यह मैं भूल गया हूं। हम बगलकी गलीसे होकर पड़ोसकी एक दुकानमें प और गोदाममें लगी हुई बोरोंकी थप्पियोंको अंधेरेमें लां

दूकानके दरवाजेसे भीड़मेंसे होते हुए निकल गये। गलीके नुक्कड़-पर मेरे लिए गाड़ी खड़ी थी। उसमें बिठाकर मुझे उसी थानेमें ले गये जिसमें आश्रय लेनेकी सलाह सुपरिटेंडेंट अलेक्जेंडरने पहले दी थी। मैंने मि० अलेक्जेंडर और खुफिया अफसरोंको धन्यवाद दिया।

यों जब एक ओर मैं भगाया जा रहा था तब दूसरी ओर मि० अलेक्जेंडर भीड़से गाना गवा रहे थे। गीतका भाव यह है:

'चलो, गांधीको फांसी लटका दें,
उस इमलीके पेड़पर'

मेरे सही-सलामत थानेमें पहुंच जानेकी खबर मि० अलेक्जेंडरको मिल जानेपर उन्होंने भीड़से कहा, "आप लोगोंका शिकार तो इस दूकानमेंसे सही-सलामत निकल गया।" मजमेंमेंसे कोई क्रुद्ध हुआ, कोई हँसा। बहुतोंने इस बातपर विश्वास करनेसे इन्कार किया।

मि० अलेक्जेंडर बोले, "तो अपनेमेंसे जिसे आप चुनें उसे मैं अंदर ले जाकर तलाशी दिलवा दूं। अगर आप गांधीको ढूंढ निकालें तो मैं उन्हें आपके हवाले कर दूंगा। न निकाल सकें तो आप बिखर जायं। इतना तो मुझे निश्चय है कि आप पारसी रुस्तमजीका मकान न जलाएंगे और न गांधीके स्त्री-बच्चोंको कष्ट देंगे।"

मजमेने प्रतिनिधि चुने। उन्होंने लौटकर उस निराशाजनक समाचार सुनाया। सब सुपरिटेंडेंट अलेक्जेंडरकी समयसूचकता और होशियारीकी तारीफ करते हुए—कुछ दांत पीसते हुए भी—बिखर गये।

तत्कालीन उपनिवेश-मंत्री स्वर्गीय मि० चेंबरलेनने मुझपर हमला करनेवालोंपर मुकदमा चलाया जाय और मुझे न्याय मिले, [illegible]सके लिए तार दिया। मि० एस्कंबने मुझे मिलनेको बुलाया। [illegible] चोट पहुंची, इसलिए खेद प्रकट करके कहा, "यह तो आप [illegible]गे ही कि आपका बाल तक भी बांका होनेमें मुझे खुशी नहीं हो

सकती। मि० लाटनकी सलाह मानकर आपने तुरंत उतर जानेका साहस किया, ऐसा करनेका आपको अधिकार था। पर मेरे संदेश-को मान लिया होता तो यह दुःखद कांड न हुआ होता। अब अगर आप हमला करनेवालोंको पहचान सकें तो मैं उन्हें गिरफ्तार करवाने और उनपर मुकदमा चलवानेको तैयार हूं। मि० चेंबरलेनकी भी यही इच्छा है।"

मैंने जवाब दिया—"मुझे किसीपर मुकदमा नहीं चलाना है। हमला करनेवालोंमेंसे एक-दोको शायद पहचान लूं, पर उन्हें सजा दिलानेसे मुझे क्या लाभ होगा? फिर मै हमला करनेवालों-को दोषी भी नही मानता। उन्हें तो यह समझाया गया कि मैंने हिंदुस्तानमें अतिरंजित बातें कहकर नेटालके गोरोंको बदनाम किया। उन्होंने इस बातको सही मान लिया और क्रुद्ध हुए तो इसमें अचंभा क्या है? दोष तो मुखियों, और मुझे कहनेकी इजाजत दीजिये तो, आपका मानना चाहिए। आप लोगोंको सही रास्ते ले जा सकते थे। पर आपने भी रायटरके तारको सही मान लिया और कल्पना कर ली कि मैंने अवश्य अतिशयोक्ति की होगी। मुझे किसीपर मुकदमा नहीं चलाना है। जब असलीयत जाहिर होगी और लोग उसे जानेंगे तब खुद पछतायगे।"

"तो आप मुझे यह बात लिखकर दे देंगे? मुझे ऐसा तार मि० चेंबरलेनको भेजना पड़ेगा। मै यह नही चाहता कि आप जल्दीमें कुछ लिखकर दे दें। मै आपसे चाहता हूं कि मि० लाटन तथा अपने दूसरे मित्रोंसे सलाह करके जो ठीक जान पड़े वह करें। हां, इतना स्वीकार करता हूं कि आप यदि आक्रमणकारियोंपर मुकदमा न चलायें तो शांति स्थापन करनेमें मुझे बड़ी मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो निश्चय ही बढ़ेगी।" मैंने जवाब दिया, "इस विषयमें मेरा विचार पक्का हो चुका है। मुझे किसीपर मुकदमा नहीं चलाना है यह तै समझिए। अतः मैं यहीं आपको लिखकर दिये देता हूं।"

यह कहकर मैंने आवश्यक वक्तव्य लिखकर दे दिया।

: ४ :

शांति

हमलेके दो-एक दिन बाद जब मैं मि० एस्कंबसे मिला तब थानेमें ही था। रखवालीके लिए एक-दो सिपाही मेरे साथ रहते थे। पर वास्तवमें जब मुझे मि० एस्कंबके पास ले गये तब रखवालीकी जरूरत नहीं रह गई थी।

जिस दिन मैं जहाजसे उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झंडा उतरते ही, 'नेटाल एडवर्टाइजर'का प्रतिनिधि मुझसे मिल गया था। उसने मुझसे खूब सवाल किये और उसके जवाबमें मैं एक-एक आरोपका उत्तर पूरा-पूरा दे सका था। सर फीरोजशाहकी नेकसलाहसे हिंदुस्तानमें उस समय मैंने लिखे बिना तो एक भी भाषण नहीं किया था। अपने उन सब भाषणों और लेखोंका संग्रह मेरे पास था ही। मैंने वह उसे दिया और यह साबित कर दिया कि मैंने हिंदुस्तानमें ऐसी एक भी बात नहीं कही जो ज्यादा जोरदार शब्दोंमें दक्षिण अफ्रीकामें न कही हो। मैंने यह भी बता दिया था कि 'कूरलैंड' और 'नादरी' के यात्रियोंके लानेमें मेरा हाथ बिल्कुल न था। उनमें अधिकतर तो पुराने ही आदमी थे और बहुतेरे नेटालमें रहनेवाले नहीं, बल्कि ट्रांसवाल जानेवाले थे। उस समय नेटालमें काम-काज मंदा था। ट्रांसवालमें वहांसे बहुत अधिक पैसा कमाया जा सकता था। इससे अधिक हिंदुस्तानी वहां जाना पसंद करते थे।

इस खुलासेका और साथ ही हमला करनेवालोंपर मुकदमा दायर करनेसे इन्कार करनेका असर इतना ज्यादा पड़ा कि गोरे शर्मिंदा हुए। अखबारोंने मुझे बेकसूर ठहराया और हुल्लड़ करनेवालोंकी निन्दा की। इस प्रकार परिणाममें तो मुझे लाभ ही हुआ, और मेरा लाभ मेरे कार्यका ही लाभ था। भारतीय समाजकी प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा रास्ता अधिक आसान हो गया।

तीन या चार दिनमें मैं अपने घर गया और थोड़े ही दिनोंमें

अपने काम-काजमें लग गया। मेरी वकालत भी इस घटनासे चमक उठी।

पर इस प्रकार हिंदुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़नेके साथ-साथ उनके प्रति द्वेष भी बढ़ा। उनमें दृढ़तासे लड़नेकी शक्ति है, गोरोंको इस बातका इतमीनान हो गया और इसके साथ ही उनका भय बढ़ा। नेटालकी असेंबली—व्यवस्थापक सभा—में दो कानून पेश हुए, जिनसे हिंदुस्तानियोंकी कठिनाइयां और बढ़ गईं। एकसे हिंदुस्तानी व्यापारियोंके धंधेको नुकसान पहुंचा, दूसरेसे हिंदुस्तानियोंके आवागमनपर कड़ा अंकुश लग गया। सौभाग्यवश मताधिकारकी लड़ाईके समय यह फैसला हो गया था कि हिंदुस्तानियोंके खिलाफ हिंदुस्तानीकी हैसियतसे कोई कानून नहीं बनाया जा सकता, यानी कानूनमें रंगभेद या जातिभेद नहीं होना चाहिए। इसलिए उपर्युक्त दोनों कानून उनकी भाषाको देखते हुए तो सबपर लागू होते जान पड़ते थे, पर उनका हेतु केवल हिंदुस्तानी कौमपर दबाव डालना था।

इन कानूनोंने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया और हिंदुस्तानियोंमें जागृति भी बढ़ाई। ये कानून हिंदुस्तानियोंको इस तरह समझा दिये गए कि उनकी बारीक-से-बारीक बातोंसे भी कोई हिंदुस्तानी अनजान न रहे। हमने उनका उलथा भी प्रकाशित किया। झगड़ा विलायत पहुंचा। पर कानून नामंजूर नहीं हुए।

मेरा अधिकतर समय सार्वजनिक काममें ही जाने लगा। मनसुखलाल नाजर उन दिनों नेटालमें ही थे, यह मैं लिख चुका हूं। वह मेरे साथ रहे। वह लोककार्यमें अधिक योग देने लगे जिससे मेरा काम कुछ हल्का हुआ।

मेरी अनुपस्थितिमें सेठ आदमजी मियांखां ने अपने मंत्रिपदके दायित्वको बड़ी अच्छी तरह निभाया, सदस्य बढ़ाये और लगभग एक हजार पौंड स्थानीय कांग्रेसकोषमें बढ़ा दिये। यात्रियोंपर हुए हमलेके कारण साथ ही उपर्युक्त भारतीयोंमें कानूनोंके बननेसे जो जागृति हुई उससे मैंने इस वृद्धिमें और वृद्धि करनेका प्रयत्न

किया और कोषमें लगभग ५,००० पौंड हो गए। मेरे मनमें यह लोभ था कि अगर कांग्रेसका स्थायी कोष हो जाय और उसकी जमीन ले ली जाय तथा उसका भाड़ा आने लगे तो कांग्रेस निर्भय हो जाय। सार्वजनिक संस्थाका यह मेरा पहला ही अनुभव था। मेंने अपना विचार साथियोंके सामने रखा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकान लिये गए और किरायेपर उठा दिये गए। उनके भाड़ेसे कांग्रेसका माहवार खर्च आसानीसे चलने लगा। मिलकियतका मजबूत ट्रस्ट बन गया। आज इस तरह यह संपत्ति मौजूद है, पर अंदर-अंदर वह अंतर्कलहका मूल बन रही है। जायदादका किराया आज अदालतमें जमा होता है।

यह दुःखद प्रसंग तो मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़नेके बाद आया। पर सार्वजनिक सस्थाओंके लिए स्थायी कोष रखनेके संबधमें मेरे विचार दक्षिण अफ्रीकामें ही बदल गये थे। अनेक सार्वजनिक संस्थाओंकी उत्पत्ति और उनके प्रबंधकी जिम्मेदारी उठानेके बाद मेरी पक्की राय हो गई कि किसी भी सार्वजनिक संस्थाको स्थायी कोषके भरोसे चलानेकी कोशिश नही करनी चाहिए। इसमें उसकी नैतिक अधोगतिका बीज छिपा रहता है।

सार्वजनिक संस्थाका अर्थ है लोगोंकी स्वीकृति और उनके पैसेसे चलनेवाली संस्था। ऐसी संस्थाको जब सहायता न मिले तब उसे जीवित रहनेका अधिकार ही नही रहता। ऐसा देखनेमें आता है कि स्थायी संपत्तिके भरोसे चलनेवाली संस्था लोकमतसे स्वतंत्र हो जाती है और कितनी ही बार तो विपरीत आचरण भी करती है। ऐसा अनुभव हिंदुस्तानमें हमें पग-पगपर होता है। कितनी ही धार्मिक कहलानेवाली संस्थाओंके हिसाब-किताबका कुछ ठिकाना ही नहीं है। उनके ट्रस्टी ही उनके मालिक बन बैठे हैं और वे किसीके सामने जवाबदेह नहीं दिखाई देते। जैसे प्रकृति स्वयं रोज पैदा करती और रोज खाती है वही नियम सार्वजनिक संस्थाओंका भी होना चाहिए। इस विषयमें मुझे तनिक भी शंका नहीं है। जिस संस्थाको लोग सहायता देनको तयार न हों

उसे सार्वजनिक संस्थाके रूपमें जीवित रहनेका हक नहीं है। साल-बसाल मिलनेवाला चंदा उन संस्थाओंकी लोकप्रियता और उनके संचालकोंकी सचाईकी कसौटी है और मेरी रायमें हरएक संस्थाको इस कसौटीपर कसा जाना चाहिए।

इस कथनसे किसीको गलतफहमी न होनी चाहिए। उपर्युक्त टीका ऐसी संस्थाओंपर घटित नहीं होती जिन्हें मकान इत्यादिकी आवश्यकता होती है। पर सार्वजनिक संस्थाओंके रोजके खर्चका आधार लोगोंसे मिलनेवाला चंदा ही होना चाहिए।

ये विचार दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके समय दृढ़ हुए। यह छः वर्षकी बड़ी लड़ाई स्थायी कोषके बिना चली, यद्यपि उसके लिए लाखों रुपयोंकी आवश्यकता थी। मुझे ऐसे अवसर याद हैं जब अगले दिनका खर्च कहांसे आयगा इसका मुझे पता न होता था। पर आगे जिन विषयोंकी चर्चा की जानेवाली है उनका जिक्र यहां नहीं करूंगा। उपर्युक्त मतका समर्थन इस कथामें पाठकोंको उन प्रसंगोंमें यथास्थान मिल जायगा।

: ५ :

बच्चोंकी शिक्षा

सन् १८९७ की जनवरीमें जब मैं डरबनमें उतरा तब मेरे साथ तीन बच्चे थे। मेरा भानजा कोई दस बरसका, मेरा बड़ा लड़का नौ बरसका और दूसरा लड़का पांच बरसका। इन सबको कहां पढ़ायें?

गोरोंके लिए खुले हुए स्कूलोंमें मैं अपने लड़कोंको भेज सकता था, पर यह केवल कृपा और अपवादरूपमें हो सकता था। दूसरे हिंदुस्तानी लड़के वहां नहीं पढ़ सकते थे। हिंदुस्तानी लड़कोंको पढ़ानेके लिए ईसाई मिशनके स्कूल थे। उनमें मैं अपने लड़कोंको भेजनेको तयार न था। वहां दी जानेवाली शिक्षा मुझे पसंद न थी। गुजरातीके द्वारा तो वहां शिक्षा मिलती ही कहांसे? अंग्रेजी-

में ही पढ़ाई होती थी और बहुत कोशिश कीजिए तो अशुद्ध तमिल या हिंदी में मिल सकती थी। इन और दूसरी कमियोंको सहन करना मेरे लिए संभव न था।

मैं खुद लड़कोंको पढ़ानेकी थोड़ी कोशिश करता था, पर वह अत्यंत अनियमित थी। गुजराती शिक्षक जैसा मैं चाहता था वैसा पा न सका था।

मैं परेशान हो गया। मुझे रुचनेवाली शिक्षा बच्चोंको दे सके ऐसे अंग्रेजी शिक्षकके लिए विज्ञापन दिया। मैंने सोचा कि इससे जो शिक्षक मिलेगा उससे थोड़ी नियमित शिक्षा दिलाऊंगा और बाकीकी पढ़ाई जैसी कुछ मुझसे बनेगी चलाऊंगा। एक अंग्रेज महिलाको ७ पौंड मासिकपर रखकर गाड़ी कुछ आगे बढ़ाई।

बच्चोंके साथ मेरी बातचीत केवल गुजरातीमें ही होती थी। उससे उन्हें कुछ गुजरातीकी शिक्षा मिल जाती थी। उन्हें देश लौटा देनेको मैं तैयार न था। मुझे उस समय भी ऐसा लगता था कि बच्चोंको मां-बापसे जुदा नहीं रहना चाहिए। जो शिक्षा सुव्यवस्थित घरमें बच्चे अनायास पा जाते है वह छात्रालयमें नही पा सकते। इससे अधिकतर वे मेरे साथ ही रहे। भानजे और बड़े लड़कोंको मैंने कुछ महीने देशमें भिन्न-भिन्न छात्रालयोंमें भेजा सही, पर वहांसे उन्हें फौरन वापस बुला लिया। बादको मेरा बड़ा लड़का, वयप्राप्त होनेपर अपनी इच्छासे अहमदाबादके हाई-स्कूलमें पढ़नेके लिए दक्षिण अफ्रीका छोड़कर आया था। मुझे ऐसा खयाल है कि अपने भानजेको जो शिक्षा मैं दे सका उससे उसे संतोष था। वह भरी जवानीमें थोड़े ही दिनोंकी बीमारीके बाद चल बसा। मेरे दूसरे तीन लड़के कभी किसी स्कूलमें गये ही नहीं। दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके सिलसिलेमें मैंने जो स्कूल खोला था उसमें उनकी थोड़ी नियमित पढ़ाई हुई थी।

मेरे ये प्रयोग अधूरे थे। लड़कोंको मैं स्वयं जितना समय देना चाहता था उतना न दे सका। इससे और दूसरे अनिवार्य संयोगोंके कारण मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हें नहीं

दे सका। मेरे सब लड़कोंकी इस बारेमें मुझसे कमबेश शिकायत भी रही है; क्योंकि जब-जब 'बी० ए०', 'एम० ए०', और मैट्रिक्युलेटसे भी उनका साबका पड़ता तो वे स्कूलमें न पढ़ सकनेकी कमी अपने आपमें अनुभव करते हैं।

फिर भी मैं मानता हूं कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला, माता-पिताका जो सहवास उन्हें प्राप्त हो सका, स्वतंत्रताका जो पदार्थ-पाठ वे सीख पाये यदि मने उन्हें चाहे जैसे स्कूलमें भेजनेका आग्रह रखा होता तो वह उन्हें न मिलता। उनके बारेमें जो निश्चितता मुझे आज है वह न होती और जो सादगी और सेवा-भाव उन्होंने सीखा है वह मुझसे जुदा रहकर विलायतमें या दक्षिण अफ्रीकामें बनावटी तालीम उन्होंने पाई होती तो न सीख पाते बल्कि उनकी बनावटी रहन-सहन मेरे देश-कार्यमें कादचित् बाधक हो जाती।

अत: यद्यपि मैं जितना चाहता था, उतना अक्षरज्ञान उन्हें न द सका, फिर भी अपने पिछले वर्षोंका विचार करता हूं तो उनके प्रति मेरा जो धर्म था उसका मैंने यथाशक्ति पालन नहीं किया, ऐसा खयाल मुझे नहीं आता, न मुझे पश्चात्ताप होता है। इसके विपरीत अपने बड़े लड़केके बारेमें मैं जो दुःखद परिणाम देखता हू वह मेरे अधकचरे पूर्वकालकी प्रतिध्वनि है, ऐसा मुझे सदा भासित हुआ है। तब उसकी उम्र इतनी हो चुकी थी कि, जिसे मैंने हर प्रकारसे अपना मोहकाल—वैभवकाल माना है, उसकी याद उसे बनी रहे। वह क्यों माने कि वह मेरा मोहकाल था! वह क्यों न माने कि वह मेरा ज्ञानकाल था और उसके बाद हुए परिवर्तन अयोग्य और मोहजन्य थे? वह क्यों यह न माने कि उस समय मैं जगत्के राजमार्गसे चल रहा था, इसलिए सुरक्षित था और बादको किये हुए परिवर्तन मेरे अभिमान और अज्ञानकी निशानी थे? यदि मेरे लड़के बारिस्टर आदि हुए होते तो क्या बुराई होती? मुझे उनके पंख काट देनेका क्या हक था? मैंने उन्हें ऐसी स्थिति में क्यों न रखा कि वे डिग्रियां लकर मनचाहा जीवन-पथ चुन सकें? एसी दलील मर कितनही दोस्तोंन भी मरे सामन रखी ह।

मुझे इस दलीलमें कुछ तथ्य नहीं दिखाई दिया। कितने ही विद्यार्थियोंसे मेरा साबका पड़ा है। दूसरे बालकोंपर मैंने दूसरे प्रयोग भी किये हैं या करानेमें सहायक हुआ हूं, उनके नतीजे भी मन देखे हैं। वे बालक मेरे लड़कोंके हम उम्र हैं। मैं नहीं मानता कि व मरे लड़कोंसे मनुष्यत्वमें आगे बढ़े हुए हैं, या मेरे लड़के उनसे कुछ अधिक सीख सकत ह।

फिर भी मेरे प्रयोगोंके अंतिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। यहां इस विषयकी चर्चा करनेका प्रयोजन इतना ही है कि मनुष्यजातिकी उत्क्रांतिका अध्ययन करनेवाले, गृहशिक्षा और स्कूली पढ़ाईके भेदका और माता-पिताके अपने जीवनमें किये हुए फेर-फारोंका उनके बच्चोंपर क्या असर होता है, इसका कुछ अंदाजा कर सकें।

इसके सिवा, सत्यका पुजारी इस प्रयोगसे यह देख सके कि सत्यकी आराधना उस कहांतक ल जाती ह और स्वतंत्रता-देवी अपने उपासकसे कितना बलिदान चाहती ह। यह भी इस प्रकरणका एक उद्देश्य है। लड़कोंको अपने साथ रखते हुए भी यदि मैंने आत्म-सम्मानकी परवा न की होती, यदि मैंने यह विचार न रखा होता कि दूसर हिंदुस्तानी बच्च जिस नहीं पा सकते, मुझे अपन लड़कोंके लिए उसकी इच्छा नही करनी चाहिए, तो म अपने लड़कोंको अक्षर-ज्ञान जरूर दिला सकता। पर तब स्वतंत्रता और आत्म-सम्मानका जो पदार्थ-पाठ उन्होंने सीखा ह वह न सीख पाते। और जहां स्वतंत्रता और अक्षरज्ञानमें ही चुनाव करना हो वहां कौन कहेगा कि स्वतंत्रता अक्षरज्ञानसे हजार गुना बढ़कर नहीं है?

१९२०में जिन नवयुवकोंको मैंने स्वतंत्रता-घातक स्कूल और कालिज छोड़नेका आवाहन दिया था और जिनसे मैंने कहा था कि स्वतंत्रताके लिए निरक्षर रहकर सार्वजनिक सड़कपर मिट्टी फोड़ना गुलामीमें रहकर अक्षरज्ञान प्राप्त करनेसे अच्छा है, वे अब मेरे कथनका मूलतत्त्व शायद समझ सकेंगे।

: ६ :

सेवावृत्ति

मेरा धंधा अच्छा चल रहा था, पर इससे मुझे संतोष न मिलता था। जीवन अधिक सादा होना चाहिए, कुछ शारीरिक सेवाकार्य होना चाहिए, यह मंथन मनमें चलता ही रहता था।

इतनेमें एक दिन एक अपंग, कुष्ठपीड़ित मनुष्य मेरे यहां आया। उसे खाना देकर भगा देनेको दिल तैयार न हुआ। उसे एक कोठरीमें टिकाया। उसके घाव साफ किये और उसकी सेवा-टहल की।

पर यह बात अधिक दिन न चल सकती थी। घरमें हमेशाके लिए उसे रख लेनेका मेरे पास सुभीता न था, न मेरी हिम्मत थी। अत: मैंने उसे गिरमिटियोंके लिए खुले हुए सरकारी अस्पताल भेज दिया।

मेरे चित्तको शांति न मिली। इस तरहका सेवा-शुश्रूषाका कुछ काम सदा किया करूं तो कैसा अच्छा हो। डा० बूथ सेंट अडम्स मिशनके अध्यक्ष थे। वह सदा जो कोई वहां जाता उसे मुफ्त दवा दिया करते थे। बड़े सज्जन और दयालु थे। पारसी रुस्तमजीकी उदारतासे डा० बूथके निरीक्षणमें एक छोटा-सा अस्पताल खुला। मेरे मनमें बड़ी इच्छा हुई कि इस अस्पतालमें नर्सके रूपमें काम करूं। उसमें दवा देनेका काम एकसे दो घंटेतक-का रहता था। दवा बनाकर देनेके लिए किसी वेतनभोगी कर्म-चारी या स्वयंसेवककी आवश्यकता थी। मैंने यह काम अपने ऊपर लेने और उतना समय अपने कामोंसे बचानेका निश्चय किया। मेरा वकालतका अधिकतर काम तो दफ्तरमें बैठे-बैठे मशविरा देना, मसविदे बनाना या झगड़े निबटाना होता था। कुछ मामले मजिस्ट्रेटकी कचहरीमें होते थे। उनमेंसे अधिकांश तो ऐसे होते थे जिनमें किसीको कोई ऐतराज न हो। ऐसे मामलों-की पैरवी मि० खानने, जो मुझसे पीछे आये थे और उन दिनों मेरे

साथ ही रहते थे, अपने ऊपर ले ली और मैं उस छोटे-से अस्पतालमें काम करने लगा।

मुझे रोज सबेरे वहां जाना पड़ता था। आने-जाने और काम करनेमें लगभग दो घंटे वहां लग जाते थे। इस कामसे मुझे कुछ शांति मिली। मेरा काम था रोगीका रोग समझकर डाक्टरको समझाना और जो दवा बताये वह बनाकर रोगीको देना। इस कामसे पीड़ित भारतीयोंके साथ मेरा अधिक निकटका संबंध जुड़ा। उनका बड़ा भाग तो तमिल, तेलगू अथवा उत्तर भारतके गिरमिटियोंका था।

यह अनुभव मेरे लिए आगे चलकर बड़ कामका साबित हुआ। बोअर-युद्धके समय घायलोंकी मरहम-पट्टी और दूसरे रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें मुझे इससे बड़ी मदद मिली।

बच्चोंके पालन-पोषणका प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण अफ्रीकामें मेरे दो लड़के और हुए। उनको किस तरह पालें-पोसें इस मसलेको हल करनेमें मुझे इस अनुभवसे अच्छी सहायता मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे बहुत परेशानीमें डाल दिया करता था, आज भी डाल देता है। हम दोनोंने प्रसवकार्य आदिको शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार करनेका निश्चय कर रखा था। अतः डाक्टर और नर्सका प्रबंध होते हुए भी शंका थी कि ऐन मौकेपर डाक्टर न मिला और दाई भाग गई तो मेरी क्या दशा होगी? दाई तो हिंदुस्तानी ही रखनी थी। सीखी हुई हिंदुस्तानी दाई हिंदुस्तान-में ही कठिनाईसे मिलती है, दक्षिण अफ्रीकाकी तो बात ही क्या? अतः मैंने बच्चोंके पालन-पोषणका अध्ययन कर लिया। डा० त्रिभुवनदासकी 'मांने शिखामण' (माताकी सीख) नामक पुस्तक पढ़ी। कह सकता हूं कि उसमें कुछ कमबेशी करके अंतिम दो बच्चोंको मैंने खुद ही पाला-पोसा। दाईकी सहायता हर बार थोड़े दिन—दो महीनेसे अधिक तो नहीं ही ली, वह भी खासकर धर्मपत्नीकी सेवाके लिए ही। बच्चोंको नहलाने-धुलानेका काम आरंभमें मेरे ही हाथों होता था।

अंतिम बच्चेके जन्म-समयमें मेरी पूरी परीक्षा हो गई। पत्नी-को प्रसव-वेदना यकायक आरंभ हुई। डाक्टर घरपर न थे। दाई को बुलाना था। वह पास होती तो भी उससे प्रसव कराने-का काम हो न सकता था। प्रसवकार्यका सारा काम मुझे अपने हाथों ही करना पड़ा। सौभाग्यवश मैंने 'मांने शिखामण' पुस्तकमें इस विषयको ध्यानपूर्वक पढ़ लिया था, इसलिए मुझे परेशानी न हुई ?

मैंने देखा कि बच्चोंका योग्य रीतिसे पालनपोषण हो सके इसलिए मां-बाप दोनोंको शिशुपालन आदिका साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। मैंने तो इस विषयमें अपनी सावधानीका लाभ पग-पगपर मिलते देखा है। जो साधारण स्वास्थ्य मेरे लड़के आज भोग रहे हैं वह, मैंने इस विषयका साधारण ज्ञान प्राप्त करके उसका उपयोग न किया होता तो, वे न भोग पाते। हम लोगोंमें यह वहम फैला हुआ है कि पहले पांच वर्षोंमें बच्चेको शिक्षा-प्राप्ति-की आवश्यकता नहीं होती। सच तो यह है कि पहले पांच वर्षोंमें बच्चेको जो मिलता है वह फिर कभी मिलता ही नहीं। अपने अनुभवसे मैं कह सकता हूं कि बच्चेकी शिक्षा मांके पेटसे आरंभ होती है। गर्भाधानकालकी माता-पिताकी शारीरिक और मान-सिक स्थितिका भी प्रभाव बालकपर पड़ता है। बच्चा गर्भकालकी माताकी प्रकृति, उसके आहार-विहारके अच्छे-बुरे फलकी विरासत लेकर जन्मता है। जन्मके अनंतर वह माता-पिताका अनुकरण करने लग जाता है और खुद असहाय होनेके कारण अपने विकासके लिए मां-बापपर अवलंबित रहता है।

जो समझदार दंपती इस बातको समझेंगे वे तो पति-पत्नीके समागमको कभी विषय-वासनाकी तृप्तिका साधन न बनायेंगे; बल्कि जब उन्हें संतानकी चाह होगी तभी सहवास करेंगे। रति-सुख कोई स्वतंत्र वस्तु है, यह मानना मुझे तो घोर अज्ञान ही लगता है। जनन-क्रियापर संसारका अस्तित्व अवलंबित है। संसार ईश्वरका लीला-स्थल है, उसकी महिमाका प्रतिबिंब है।

संसारके सुव्यवस्थित विकासके लिए ही रति-क्रियाका निर्माण हुआ है, जो यह समझता है वह विषय-वासनाको महा प्रयत्न करके अंकुश में रखेगा और रति-सुख भोगनेके फलस्वरूप भी होनेवाली संततिके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संरक्षणके लिए जिस ज्ञानकी आवश्यकता है उसको प्राप्त करेगा और उसका लाभ अपनी संतानको देगा।

: ७ :

ब्रह्मचर्य

अब ब्रह्मचर्यके विषयमें विचार करनेका समय आगया है। एकपत्नी-व्रत तो विवाहकालसे ही मेरे हृदयमें बस रहा था। पत्नीके प्रति वफादारी मेरे सत्यके व्रतका अंग थी। पर अपनी स्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए, यह बात दक्षिण अफ्रीकामें ही स्पष्ट रूपसे मेरी समझमें आई। किस प्रसंगसे अथवा किस पुस्तकके प्रभावसे यह विचार मेरे मनमें उपजा, यह आज मुझे ठीक याद नहीं आता। इतना स्मरण है कि इसमें रायचंदभाईका प्रभाव प्रधान था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। मैं एक बार ग्लैडस्टनके प्रति मिसेज ग्लैडस्टनके प्रेमकी प्रशंसा कर रहा था। मैंने कहीं पढ़ा था कि मिसेज ग्लैडस्टन आम सभामें भी अपने पतिको चाय बनाकर पिलाया करती थीं। इस चीजका पालन इस नियमबद्ध दंपतीके जीवनका एक नियम हो गया था। मैंने कविको वह प्रसंग पढ़कर सुनाया और इस सिलसिलेमें मैंने दंपतीप्रेमकी स्तुति की। रायचंदभाईने कहा "इसमें तुम्हें महत्त्व कहाँ दिखाई देता है? मिसेज ग्लैडस्टनके पत्नीत्वमें या उनके सेवा-भावमें? वह महिला ग्लैडस्टनकी बहन होती तो? या उनकी स्वामिभक्त चाकरानी होती और उतने ही प्रेमसे चाय देती तो? ऐसी बहनों, ऐसे नौकरोंके दृष्टांत क्या हमें आज नहीं मिलते?

और यदि नारी-जातिके बदले ऐसा प्रेम नर-जातिमें देखा होता तो क्या तुम्हें आनंदजनक आश्चर्य न होता ? मेरी बातोंपर विचार करना।"

रायचंदभाई स्वयं विवाहित थे। ऐसा याद आता है कि उस समय तो मुझे उनके वचन कठोर लगे। पर उन वचनोंने मुझे लोह-चंबककी भांति पकड़ लिया। पुरुष चाकरकी ऐसी स्वामिभक्ति-का मूल्य पत्नीकी निष्ठाके मूल्यसे तो हजार गुना अधिक हो जाता है। पति-पत्नीमें ऐक्य होता है, इसलिए उनमें परस्पर प्रेम होना कोई अचरजकी बात नही है। नौकर-मालिकके बीच उस प्रकार-का प्रेम यत्नपूर्वक उत्पन्न करना पड़ता है। दिन-दिन कविके वचनका बल मेरी दृष्टिमें बढ़ता जान पड़ा।

मुझे पत्नीके साथ कैसा संबंध रखना चाहिए ? पत्नीको विषयभोगका साधन बनानेमें पत्नीके प्रति निष्ठा कहां रहती है ? जबतक मैं विषय-वासनाके अधीन रहूं, तबतक तो मेरी वफादारीकी कीमत मामूली-सी ही रहेगी। यहां मुझे यह बता देना चाहिए कि हमारे पारस्परिक संबंधमें पत्नीकी ओरसे कभी आक्रमण हुआ ही नहीं। इस दृष्टिसे मैं जब चाहूं तभी ब्रह्मचर्य-पालनका रास्ता मेरे लिए खुला था। मेरी अशक्ति या आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जाग जानेके बाद भी दो बार तो मैं विफल ही रहा। प्रयत्न करता, पर गिर पड़ता। प्रयत्नमें मुख्य उद्देश्य ऊंचा नहीं था। वह संतति-निग्रहमात्र था। उसके बाहरी उपायोंके बारेमें मैंने विलायतमें कुछ पढ़ा था। डा० एलिंसनके इन उपायोंका प्रचार करनेका उल्लेख अन्नाहार-प्रकरणमें कर चुका हूं। उसका थोड़ा और क्षणिक प्रभाव मुझपर पड़ा था। पर मि० हिल्सने जो उसका विरोध और अंतर्साधनाका—संयमका—समर्थन किया उसका असर बहुत ज्यादा पड़ा और अनुभवसे वह चिरस्थायी बन गया। इससे संतानोत्पत्तिकी अनावश्यकता समझमें आते ही संयम-पालनका प्रयत्न आरंभ किया।

संयम-पालनकी कठिनाइयोंका पार न था। अलग खाट रखीं; रातको थककर ही सोनेकी कोशिश की। इस सारे प्रयत्न-का, अधिक परिणाम मुझे तुरंत नहीं दिखाई पड़ा। पर आज भूत-कालपर दृष्टि डालता हूं तो देखता हूं कि इन सारे प्रयत्नोंने मुझे अंतिम निश्चय करनेका बल दिया।

अंतिम निश्चय तो कहीं १९०६ ईस्वीमें ही कर पाया। उस समय सत्याग्रहका आरंभ नहीं हुआ था। स्वप्नमें भी मुझे उसका खयाल न था। बोअर-युद्धके बाद नेटालमें जुलू-विद्रोह हुआ। उन दिनों मैं जोहान्सबर्गमें वकालत करता था। मेरे मनने कहा कि मुझे इस 'बलवे'के सिलसिलेमें भी अपनी सेवा नेटाल-सरकारको अर्पण करनी चाहिए। मैंने वह अर्पण की और वह स्वीकृत हुई। उसका वर्णन आगे आयेगा; पर इस सेवाके सिलसिलेमें मेरे अंदर गहरे विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभावके अनुसार मैंने साथियों-से उसकी चर्चा की। मुझे ऐसा दिखाई दिया कि बच्चे पैदा करना और उनका पालन-पोषण सार्वजनिक सेवाके विरोधी हैं। इस 'बलवे' में सेवाकार्यके निमित्त दाखिल होनेके लिए मुझे अपनी जोहान्सबर्गकी गृहस्थी उजाड़ देनी पड़ी। टीम-टामसे जमाये हुए घर और माल-सामानका, जिन्हें बसाये मुश्किलसे एक महीना हुआ होगा, मैंने त्याग कर दिया। पत्नी और लड़कोंको फिनिक्समें रख दिया और मैं डोली-बरदारोंकी टुकड़ी लेकर निकल पड़ा। कठिन कूच करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोकसेवामें ही तन्मय होना हो तो पुत्रैषणा और वित्तैषणाका भी त्याग और वानप्रस्थ-धर्मपालन करना होगा।

'बलवे'में तो मुझे डेढ़ महीनेसे अधिक न देना पड़ा। पर यह छह हफ्तोंका समय मेरे जीवनका बहुत ही मूल्यवान् समय था। व्रतका महत्त्व इस समय मेरी समझमें अधिक-से-अधिक आया। मैंने देखा कि व्रत बंधनका नहीं, बल्कि मुक्तिका द्वार है। आजतक अपने प्रयत्नोंमें जितनी चाहिए उतनी सफलता न पानेका कारण मेरा कृतनिश्चय न होना था। मुझे अपनी शक्तिपर भरोसा नहीं

था। मुझे ईश्वर-कृपापर अविश्वास था। इससे मेरा मन अनेक तरंगों और विकारोंमें भरमता रहता था। मैंने देखा कि व्रतसे न बंधकर मनुष्य मोहमें पड़ता है। व्रतसे बंधना व्यभिचारसे निकलकर एक-पत्नीव्रतका पालन करनेके समान है। 'मैं प्रयत्न करना तो ठीक समझता हूं, पर व्रतमें बंधना नहीं चाहता', यह वचन निर्बलताकी निशानी है। इसमें सूक्ष्मरूप से भोग-वासना छिपी है। त्याज्यवस्तुके सर्वथा त्यागमें हानि कैसे हो सकती है? जो सांप मुझे डसनेवाला है, मैं उसका निश्चयपूर्वक त्याग करता हूं; त्यागका प्रयत्नमात्र नही करता। मैं जानता हूं कि केवल प्रयत्न करके रह जानेका फल मौत हो सकता है। प्रयत्नमें सांपकी विकरालताके स्पष्ट ज्ञानका अभाव है। इसी प्रकार जिस वस्तुके त्यागका हम प्रयत्नमात्र ही करते हैं उस वस्तुका त्याग इष्ट होनेके विषयमें हमें स्पष्ट दर्शन—निश्चयात्मक ज्ञान—नहीं हुआ है, यह सिद्ध होता है। 'मेरा विचार आगे चलकर बदल जाय तो?' यह शंका करके अक्सर हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचारमें स्पष्ट-दर्शनका अभाव है। इसीसे निष्कुलानंदने कहा है :

'त्याग न टके रे वैराग विना ॥'

जब किसी वस्तुके विषयमें सम्पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो गया हो तब उसके विषयमें व्रत लेना अनिवार्य हो जाता है।

: ८ :

ब्रह्मचर्य—२

भलीभांति चर्चा और प्रौढ़ विचारके बाद सन् १९०६में व्रत लिया। व्रत लेनेके समयतक मैंने धर्मपत्नीसे सलाह नहीं की थी; पर लेते समय की। उसकी ओरसे कोई विरोध नहीं हुआ।

यह व्रत लेते समय तो मुझे बहुत कठिन लगा। मेरी शक्ति अल्प थी। विकारोंको कैसे दबा पाऊंगा? अपनी पत्नीके साथ सविकार संबंधका त्याग कुछ अनोखी-सी बात लगती थी। फिर भी मेरा कर्तव्य यही है, यह मैं साफ देख सकता था। मेरी नीयत

शुद्ध थी। शक्ति भगवान देगा, यह भरोसा रखकर मैं कूद पड़ा।

आज बीस बरस बाद उस व्रतको स्मरण करके मुझे सानंद आश्चर्य होता है। संयम-पालनकी वृत्ति तो १९०१से ही प्रबल थी और मैं उसे पाल भी रहा था, पर जो स्वतंत्रता और आनंद मैं अब पाने लगा उसकी १९०६ के पहले प्राप्तिकी याद मुझे नहीं है। कारण यह है कि उस समय मैं वासनाबद्ध था, किसी भी क्षण उसके वश हो जा सकता था। अब वासना मुझपर सवारी गांठनेमें असमर्थ हो गई।

इसके सिवा अब ब्रह्मचर्यकी महिमा मैं अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फिनिक्समें लिया। घायलोंकी सेवाके कामसे छुट्टी पानेपर मैं फिनिक्स गया। वहांसे मुझे तुरंत जोहान्सबर्ग जाना था। मैं वहां गया और महीनेभर के अंदर ही सत्याग्रह-लड़ाईकी नींव पड़ी। मानो यह ब्रह्मचर्यव्रत उसके लिए मुझे तैयार करनेको ही आया हो। सत्याग्रहकी योजना मैंने कुछ पहलेसे नहीं बना रखी थी। उसकी उत्पत्ति अनायास, अनिच्छापूर्वक हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहलेके मेरे सब कदम—फिनिक्स जाना, जोहान्सबर्गका भारी घरखर्च घटा देना और अंतमें ब्रह्मचर्य-व्रत लेना—मानो उसकी तैयारीरूप थे।

ब्रह्मचर्यके संपूर्ण पालनका अर्थ ब्रह्मदर्शन है, यह ज्ञान मुझे शास्त्रके द्वारा नहीं हुआ। यह अर्थ मेरे सामने शनैः शनैः अनुभव-सिद्ध होता गया। तत्संबंधी शास्त्र-वाक्य मैंने बादको पढ़े। ब्रह्मचर्यमें शरीर-रक्षण, बुद्धिरक्षण और आत्माका रक्षण है, व्रत लेनेके बाद इसका मुझे दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव होने लगा। कारण, अब ब्रह्मचर्यको घोर तपस्या रूप रहने देनेके बदले रसमय बनाना था, उसीके सहारे निभाना था। अतः अब उसकी नित नई खूबियोंके दर्शन होने लगे।

यद्यपि मैं इस व्रतमें इस तरह रस लूट रहा था, पर कोई यह न समझे कि उसकी कठिनाईका अनुभव नहीं करता था। आज छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं फिर भी कठिनताका अनुभव तो होता ही

है। वह असिधाराव्रत है, इसका अनुभव दिन-दिन अधिकाधिक हो रहा है। इस व्रतमें सदा जाग्रत रहनेकी आवश्यकता दिखाई देती है।

ब्रह्मचर्यका पालन करना हो तो स्वादेंद्रियपर काबू प्राप्त करना ही चाहिए। मेरा अपना अनुभव है कि जीभको जीत लेनेपर ब्रह्मचर्यका पालन अतिशय सरल है। अतः इसके बादके मेरे खूराकके प्रयोग केवल अन्नाहारकी नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे होने लगे। प्रयोग करके मैंने अनुभव किया कि खूराक थोड़ी, सादी, बिना मिर्च-मसालेकी और कुदरती हालतमें होनी चाहिए। ब्रह्मचारीका भोजन वनपक्व फल है, यह अपने ऊपर तो छह वर्ष-तक प्रयोग करके मैं देख चुका हूं। खुश्क और ताजे पेड़-पके फलों पर रहते समय जिस निर्विकार अवस्थाका अनुभव मैं करता था वह खूराकमें परिवर्तन करनेके बाद नहीं हुआ। फलाहार–कालमें ब्रह्मचर्य सहज था, दुग्धाहारमें वह कष्ट-साध्य हो गया। फलाहार-से दुग्धाहारपर मुझे क्यों जाना पड़ा, इसकी चर्चा यथास्थान होगी। यहां तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रह्मचारीके लिए दूधका आहार विघ्नकारक है, इस विषयमें मुझे शंका नहीं है। इससे किसीको यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि ब्रह्मचारीमात्रके लिए दूधका त्याग इष्ट है। ब्रह्मचर्यपर खूराकका असर कितना पड़ता है, इस विषयमें बहुत प्रयोगोंकी आवश्यकता है। दूधके समान स्नायुपोषक और उतनी ही आसानीसे पचनेवाला फलाहार अभी-तक मुझे दूसरा नहीं मिला, न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर वैसे फल या अन्न बता सका। अतः दूधको विकारोत्पादक वस्तु जानते-मानते हुए भी, मैं उसके त्यागकी सलाह फिलहाल किसीको नहीं दे सकता।

बाह्य उपचारोंमें जैसे खूराककी किस्म और परिमाणकी मर्यादाकी आवश्यकता है वही बात उपवासकी भी समझनी चाहिए। इंद्रियां ऐसी बलवान हैं कि उन्हें चारों ओरसे, ऊपरसे और नीचेसे—(इस प्रकार) दशों दिशाओंसे, घेरा जाय तभी वे

वशमें रहती हैं। इतना तो सभी जानते हैं कि खूराकके बिना वे काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इंद्रियदमनके निमित्त इच्छापूर्वक किये हुए उपवाससे इंद्रियदमनमें बड़ी मदद मिलती है, इस विषय में मुझे तनिक भी शंका नहीं। कितने लोग उपवास करते हुए भी जो असफल होते हैं, उसका कारण यह है कि उपवास ही सब कर देगा, यह मानकर वे स्थूल उपवास मात्र करते हैं और मनसे छप्पन प्रकार के भोगोंका स्वाद लेते रहते हैं। उपवास-कालमें उपवासके बाद क्या खाऊंगा इसका मनसे स्वाद लेते रहते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि न स्वादेंद्रियपर काबू मिला और न जननेंद्रियपर। उपवासकी सच्ची उपयोगिता वहीं होती है जहां मनुष्यका मन भी देहदमनका साथ देता है। मतलब यह कि मनको विषय-भोगके प्रति विराग होना चाहिए। विषयकी जड़ें मनमें रहती हैं। उपवास आदि साधनोंसे बहुत मदद मिलती है पर आवश्यकतासे कम ही मिलती है। कह सकते हैं कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रह सकता है। पर उपवासके बिना विषयासक्तिका जड़-मूलसे नाश होना संभव नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्यके पालनमें उपवास अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्यका प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे असफल होते हैं, क्योंकि वे खाने-पीने, देखने-सुनने इत्यादिमें अब्रह्मचारी जैसे रहना चाहते हैं और फिर भी ब्रह्मचर्य-पालनकी इच्छा रखते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही कहा जायगा जैसा गरमीमें जाड़ेका मजा लेनेकी कोशिश करना। संयमीके और स्वच्छंदाचारीके, भोगीके और त्यागीके जीवनमें भेद होना अनिवार्य है। समता ऊपरसे देखनेभरको होती है, भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आंखोंसे काम दोनों लेते हैं; पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमामें रमा रहता है। कानोंसे काम दोनों लेते हैं, पर एक ईश्वर-भजन सुनता है, दूसरेको विलासी गाने सुननेमें मजा आता है। जागते दोनों हैं, पर एक जाग्रत अवस्थामें हृदय-मंदिरमें विराजनेवाले रामको भजता है, दूसरा नाच-रंगकी धुनमें सोना भूल जाता है। खाते

दोनों हैं, पर एक शरीररूपी तीर्थक्षेत्रकी रक्षाभरके लिए देहको भाड़ा देता है, दूसरा स्वादके लिए देहमें भांति-भांतिकी चीजें भर-कर उसे दुर्गन्धित कर डालता है। यों दोनोंके आचार-विचारमें भेद रहा ही करता है और यह अंतर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्यका अर्थ है मन-वचन-कायासे सब इंद्रियोंका संयम। इस संयमके लिए उपर्युक्त त्यागोंकी आवश्यकता है, यह मझे दिन-दिन दिखाई देता गया। आज भी दिखाई दे रहा है। त्यागके क्षेत्र-की सीमा ही नहीं है, वैसे ही जैसे ब्रह्मचर्यकी महिमाकी नहीं है। इस प्रकारका ब्रह्मचर्य थोड़े प्रयत्नसे सधनेवाला नहीं है। करोड़ों जनोंके लिए तो यह सदा केवल आदर्शरूप रहेगा क्योंकि प्रयत्न-शील ब्रह्मचारी अपनी त्रुटियोंका नित्य दर्शन करेगा, अपने अंदर कोने-अंतरेमें छिपे हुए विकारोंको पहचान लेगा और उनको निकालनेका सतत प्रयत्न करता रहेगा। जबतक विचारोंपर ऐसा काबू नहीं मिलता कि चाहे बिना एक भी विचार मनमें न आये, तबतक ब्रह्मचर्य संपूर्ण नहीं है। विचारमात्र विकार हैं। उन्हें वशमें करनेका अर्थ है मनको वशमें करना, और मनको वशमें करना तो वायुको वशमें करनेसे भी कठिन है। फिर भी अगर आत्मा है तो यह वस्तु भी साध्य है ही। हमारे रास्तेमें कठिनाइयां आती हैं, इसलिए कोई यह न मान ले कि यह असाध्य है। यह परम अर्थ है और परम अर्थके लिए परम प्रयत्नकी आवश्यकता हो, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

पर ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्नसाध्य नही है यह मैंने देशमें आनेके बाद समझा। कह सकता हूं कि तबतक मैं मोहग्रस्त था। मैंने मान लिया था कि फलाहार से विकार जड़मूलसे चले जाते हैं और अभिमानवश यह मानता था कि अब मझे कुछ करना नहीं है।

पर इस विचारके प्रकरणतक पहुंचनेमें अभी देर है, तबतक इतना कह देना आवश्यक है कि जो लोग ईश्वर-साक्षात्कारके लिए मेरी व्याख्यावाले ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, वे

यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होनेका कोई कारण नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥[1]

(गीता २।५९)

अतः रामनाम और रामकृपा—यही आत्मार्थीका अंतिम साधन है, इस वस्तुका साक्षात्कार मैंने हिंदुस्तानमें किया।

: ९ :

सादगी

भोग भोगना आरंभ तो किया, पर वह टिक न सका। घरका ठाट-बाट जमानेमें मुझे उसपर मोह नहीं उपजा, अतः घर बसानेके साथ ही मैंने खर्च घटाना शुरू कर दिया। धोबीका खर्च भी अधिक जान पड़ा। दूसरे वह वक्तपर कपड़े न देता था, इससे दो-तीन दर्जन कमीजों और इतने ही कालरोंसे भी मेरा काम न चलता था। कालर रोज बदलता। कमीज रोज नहीं तो एक दिन बीचमें देकर बदलता था। इससे दोहरा खर्च पड़ता था। यह मुझे बेकार लगा। अतः धुलाईका सामान जुटाया। धुलाई-कलापर पुस्तक पढ़कर धोना सीखा। पत्नीको भी सिखाया। कामका बोझ कुछ बढ़ा तो जरूर, पर नई चीज थी, इससे करनेमें मजा आता।

मेरा पहला अपने हाथों धोया हुआ कालर तो मुझे कभी न भूलेगा। उसमें मांड़ी अधिक लग गई और इस्त्री काफी गरम नहीं थी। कालर जल जानेके डरसे इस्त्रीको भलीभांति दबाया नहीं, इससे कालरमें कड़ापन तो आ गया, पर उसमेंसे मांडी झड़ा करती थी।

---

[1] **निराहारीके विषय तो शांत हो जाते हैं, पर वासनाका शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शनसे वासना भी शांत हो जाती है।**

वही कालर लगाकर मैं कचहरी गया और वहां बारिस्टरोंके विनोदका साधन बन गया। पर ऐसा मजाक सह लेनेकी शक्ति उस समय भी मुझमें यथेष्ट थी।

"कालर धोनेका यह पहला ही मौका है, इसलिए इससे मांड़ी झड़ती है। मुझे इससे कोई अड़चन नहीं होती और आप सब लोगोंके लिए इतनी दिल्लगी का सामान जुटा दिया सो घातेमें रहा।" मैंने यह कैफियत दी।

एक मित्रने पूछा, "पर क्या धोबियोंका अकाल है?"

"यहां धोबीका खर्च मुझे तो असह्य लगता है। जितनी कालरकी कीमत उतनी धुलाई दो और ऊपरसे धोबीकी गुलामी भी करो। इससे तो मैं अपने हाथसे धो लेना अधिक अच्छा समझता हूं।"

स्वावलंबनकी यह खूबी मैं मित्रोंको न समझा पाया।

मैं कह सकता हूं कि अंतमें धोबीके धंधेमें अपने कामभरकी कुशलता मैंने प्राप्त कर ली। घरकी धुलाई धोबीकी धुलाईसे किसी तरह घटिया नहीं थी। कालरकी सख्ती और चमक भी धोबीके धोये कालर से उन्नीस न थी।

गोखलेके पास स्व० महादेव गोविंद रानडेकी प्रसादस्वरूप एक चादर थी। इस चादरको वह बड़े ही जतनसे रखते थे और विशेष अवसरोंपर ही काममें लाते थे। जोहान्सबर्गमें उनके सम्मानमें जो भोज दिया गया था वह सम्मेलनका महत्त्वपूर्ण अवसर था। दक्षिण अफ्रीकामें यह उनका बड़े-से-बड़ा भाषण था। अतः उस अवसरपर उन्हें उस चादरका उपयोग करना था। उसमें शिकन पड़ी हुई थी और उसपर इस्त्री करनेकी आवश्यकता थी। धोबीको बुलाकर तुरंत इस्त्री करा देना संभव न था। मैंने अपनी कलाका उपयोग करनेकी इजाजत मांगी।

"आपकी वकालतका तो मैं विश्वास कर लूंगा, पर इस चादरपर अपनी धोबीगिरी दिखानेकी इजाजत मैं आपको नहीं दे सकता। इस चादरपर आपने दाग लगा दिया तो? इसकी कीमत

आप जानते हैं ?" यह कहकर बड़े उल्लाससे प्रसादकी कथा मुझे कह सुनाई ।

मैंने फिर प्रार्थना की और दाग न पड़नेकी जिम्मदारी ली । मुझे इस्त्री करनेकी अनुमति मिली । मुझे अपनी कुशलताका सर्टीफिकेट मिल गया ! अब दुनिया मुझे सर्टीफिकेट न दे तो उससे क्या होता है ? जैसे धोबीकी गुलामीसे छूटा वैसे ही नाईकी गुलामीसे भी छूटनेका अवसर आ गया । हजामत तो विलायत जानेवाले सभी हाथसे बनाना सीख ही लेते हैं । पर बालछंटाई कोई सीखता हो, इसका खयाल मुझे नहीं है । प्रिटोरियामें मैं एक बार एक अंग्रेज हज्जामकी दुकानपर पहुंचा । उसने मेरी हजामत बनानेसे साफ इन्कार किया और इन्कार करते हुए जो अपमान किया वह घातेमें रहा । मुझे दुःख हुआ । मैं बाजार पहुंचा और बाल काटनेकी कल खरीद ली । घर आकर शीशेके सामने खड़े होकर बाल कतरे । जैसे-तैसे बाल कट तो गये, पर पीछेके बाल काटनेमें बड़ी कठिनाई हुई । सीधे नहीं ही कटे । कचहरीमें खूब कहकहा लगा । "तुम्हारे सिरपर चूहा तो नहीं चढ़ गया था ?" मैंने कहा, "नहीं जनाब । मेरे काले सिरको सफेद हज्जाम कैसे छूये ? इसलिए जैसे-तैसे अपने हाथसे काटे बाल मुझे अधिक प्यारे हैं ।"

इस उत्तरसे मित्रोंको अचरज नहीं हुआ । सच पूछिये तो उस हज्जामका कोई दोष नहीं था । वह काले चमड़ेवालोंके बाल काटने लगे तो उसकी रोजी मारी जाय । हमीं लोग कहां अपने अछूतोंके बाल उच्च वर्णके हिंदुओंके हज्जामोंको काटने देते हैं ? इसका बदला मुझे दक्षिण अफ्रीकामें एक नहीं, अनेक बार मिला है, और यह हमारी करनीका फल है । मेरा यह विश्वास होनेके कारण इस बातसे मुझे कभी रोष नहीं हुआ ।

स्वावलंबन और सादगीके शौकने आगे चलकर जो तीव्र रूप प्राप्त किया, उसका वर्णन उचित स्थान पर होगा । उसकी जड़ तो मरे अंदर आरंभसे ही थी । उसे फलने-फूलनेके लिए केवल

सिंचाईकी आवश्यकता थी। वह मिल गई।

: १० :

बोअर-युद्ध

सन् १८९७ से ९९ के बीच हुए जीवनके अन्य अनेक अनुभवोंको छोड़कर अब बोअर-युद्धपर आता हूं। यह युद्ध जब हुआ उस समय मेरा अपना झुकाव बोअरोंकी ही ओर था। पर मैं मानता था कि ऐसे मामलेमें व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ है। इस विषयमें हुए अंतर्मथनका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके इतिहास' में किया है, इसलिए यहां नहीं करना चाहिए। जिज्ञासु जनोंको मैं वह इतिहास पढ़ जानेकी सलाह दूंगा।[1] यहां तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरी राजभक्ति मुझे उस युद्धमें भाग लेनेको बरबस घसीट ले गई। मैंने सोचा कि जब मैं ब्रिटिश प्रजा होनेके नाते अधिकार मांगता हूं तो ब्रिटिश प्रजाके रूपमें ब्रिटिश राजके रक्षणमें हिस्सा लेना भी मेरा धर्म होता है। उस समय मेरा मत था कि हिंदुस्तानकी संपूर्ण उन्नति ब्रिटिश साम्राज्यके अंदर रहकर हो सकती है।

अत: जितने साथी मिले लेकर और बहुत-सी मुसीबतें उठाकर हमने घायलोंकी शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी बनाई। अबतक साधारणत: यहांके अंग्रेजोंमें यही खयाल था कि हिंदुस्तानी खतरेके कामोंमें नहीं पड़ते, उनकी निगाह अपने हानि-लाभको छोड़कर और किसी चीजको नहीं देखती, स्वार्थके सिवा उन्हें और कुछ नहीं दिखाई देता। इस कारण बहुत-से अंग्रेज मित्रोंसे मुझे निराश करनेवाले ही उत्तर मिले। अकेले डा० बूथने काफी उत्साह दिलाया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओंकी परिचर्या करनेकी शिक्षा दी। हमने डाक्टरसे इस कामकी योग्यताके सर्टीफिकेट प्राप्त

[1] यह पुस्तक सस्ता साहित्य मण्डलसे प्रकाशित हुई है।

किये। मि० लाटन और स्व० मि० एस्कंबने भी हमारे इस उद्योग को पसंद किया। अंतमें हमने लड़ाईमें सेवा करनेकी इजाजतके लिए सरकारसे दरख्वास्त की। जवाबमें सरकारसे हमें धन्यवाद मिला, पर हमें बताया गया कि तत्काल हमारी सेवाकी आवश्यकता नहीं है।

पर मैं ऐसी 'ना' से संतोष मानकर बैठ जानवाला न था। डा० बूथको साथ लेकर मैं नेटालके बिशप (लाट पादरी) से मिला। हमारी टुकड़ीमें बहुत-से हिंदुस्तानी ईसाई थे। बिशपको हमारी तजवीज बहुत पसंद आई। उन्होंने सहायता करनेका वचन दिया।

बीचमें संयोग भी अपना काम कर रहा था। बोअरोंकी तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि, जितना सोचा गया था उससे अधिक तेजस्वी सिद्ध हुई। सरकारको बहुसंख्यक रंगरूटोंकी जरूरत हुई और अंतमें हमारी प्रार्थना स्वीकृत हुई।

हमारी टुकड़ीमें लगभग १,१०० आदमी थे। उसमें लगभग ४० मुखिया थे। तीन सौके करीब स्वतंत्र हिंदुस्तानी उसमें भरती हुए थे, बाकीके गिरमिटिये थे। डा० बूथ भी हमारे साथ थे। टुकड़ीने अच्छा काम किया। यद्यपि उसे गोलाबारीकी हदके बाहर ही काम करना होता था और उसे, रेडक्रास[1], का संरक्षण प्राप्त था; फिर भी कठिनाईके समय गोले-बारूदकी हदमें काम करनेका अवसर भी हमें मिला। ऐसी जोखिममें न पड़नेका इकरार सरकारने अपनी इच्छासे हमारे साथ किया था। पर स्पियां-कोपकी हारके बाद स्थिति बदल गई। इससे जनरल बुलरने संदेसा भेजा कि गो आप लोग इकरारकी रूसे जोखिम लेनेको मजबूर नहीं हैं, फिर भी अगर आप जोखिम लेकर भी घायल

[1] 'रेडक्रास' का अर्थ है लाल स्वस्तिक। युद्धमें घायलोंकी शुश्रूषा करनेवाले इस चिह्न से अंकित वस्त्र अपने बायें हाथ पर बांधते हैं। उन्हें शत्रु भी कष्ट न पहुंचाये, ऐसा नियम है। अधिक विवरणके लिए देखिए, दक्षिण अफ्रीकाका सत्याग्रह, खण्ड १, प्रकरण ९।

सिपाहियों और अफसरोंको रणक्षेत्रसे उठाकर डोलियोंमें ढो ले जानेको तैयार हो जायं तो सरकार आपका एहसान मानेगी। हम तो जोखिम उठानेको तैयार ही थे। अत: स्पियांकोपकी लड़ाईके बाद हम गोले-बारूदकी हदके अंदर काम करने लगे।

इन दिनों सबको अक्सर दिनमें बीस-पच्चीस मीलकी मंजिल तै करनी पड़ी थी। एक बार तो घायलोंको डोलीमें लेकर उतने मील चलना पड़ा था। जिन घायल योद्धाओंको हमें इस प्रकार ढोकर ले जाना पड़ा, उनमें जनरल वुडगेट आदि भी थे।

छह सप्ताहके बाद हमारी टुकड़ीको बिदाई दी गई। स्पियांकोप और वालक्रांजकी हारके बाद लेडी स्मिथ वगैरा मुकामोंको बोअरोंके घेरेमेंसे बड़ी तेजीसे निकाल लेनेका विचार ब्रिटिश सेनापतिने त्याग दिया था और इंग्लैंड तथा हिंदुस्तानसे और अधिक सेनाके आनेकी राह देखने और धीरे-धीरे आगे बढ़नेका निश्चय किया था।

हमारे छोटे-से कामकी उस वक्त तो बड़ी तारीफ हुई। इससे हिंदुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिंदुस्तानी साम्राज्यके वारिस तो हैं ही', जैसे गीत गाये गए। जनरल बुलरने हमारी टुकड़ीके कामकी अपने खरीतेमें तारीफ की। मुखियोंको युद्धके तमगे भी मिले।

हिंदुस्तानी कौम अधिक संघटित हो गई। गिरमिटिये हिंदुस्तानियोंसे मुझे अधिक मिलने-जुलनेका मौका मिला। उनमें अधिक जागरूकता आई और हिंदू, मुसलमान, ईसाई, मद्रासी, गुजराती, सिंधी सभी हिंदुस्तानी हैं, यह भावना अधिक दृढ़ हुई। सबने माना कि अब हिंदुस्तानियोंके दु:ख दूर होने ही चाहिए। गोरोंके व्यवहारमें भी उस समय तो काफी परिवर्तन दिखाई दिया।

लड़ाईमें जिन गोरोंसे हमारा साबका पड़ा, उनका व्यवहार मधुर था। हजारों 'टामियों' (गोरे सैनिकों) से हमारा संग-साथ हुआ। वे हमारे साथ दोस्ताना बर्ताव रखते थे और हम उनकी सेवाके लिए हैं, यह जानकर हमारा उपकार मानते थे।

मनुष्य-स्वभाव दु:खके समय कैसा पिघलता है, इसका एक मधुर संस्मरण यहां दिये बिना नहीं रहा जाता। हम चीवली छावनीकी ओर जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था जहां लार्ड राबर्ट्सके पुत्र लेफ्टिनेंट राबर्ट्सको घातक चोट लगी थी। लेफ्टिनेंट राबर्ट्सके शवको ले जानेका गौरव हमारी टुकड़ीको मिला था। उस दिन धूप सख्त थी। हम कूच कर रहे थे। सभी प्यासे थे। पानी पीनेके लिए रास्तेमें एक छोटा-सा झरना था। कौन पहले पानी पिये? हमने तै किया था कि पहले 'टामी' पी लें तब हम पियेंगे। टामी हमें देख तुरंत हमसे पहले पानी पी लेनेका आग्रह करने लगे। इस प्रकार बहुत देरतक हममें 'आप पहले', 'हम पीछे' का मधुर झगड़ा चलता रहा।

: ११ :

नगर-सुधार और अकालफंड

समाजका एक भी अंग अनुपयोगी रहे यह मुझे सदा अखरा है। जनताके दोषोंपर पर्दा डालकर उसका बचाव करना या दोष दूर किये बिना हक हासिल करना, मुझे सदा अरुचिकर लगा है। इससे दक्षिण अफ्रीकामें बसनेवाले हिंदुस्तनियोंपर लगाये जानेवाले एक दोषको, जिसमें कुछ तथ्य था, दूर करानेकी बात अपने वहां बसनेके समयसे ही सोच रखी थी। हिंदुस्तानियोंपर जब-तब यह तोहमत लगाई जाती थी कि वे अपने घर-द्वार साफ नहीं रखते और बहुत मैले रहते हैं। इस आरोपको दूर करनेके लिए आरंभमें हिंदुस्तानियोंमें मुखिया माने जानेवाले लोगोंके घरोंमें तो सुधार शुरू हो ही गया था, पर घर-घर घूमनेका काम तो डरबनमें प्लेगके प्रकोपका भय होनेपर आरंभ हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटीके अफसरोंका भी सहयोग और सम्मति थी। हमारी सहायता मिल जानेसे उनका काम हलका हो गया और हिंदुस्तानियोंको कम कष्ट भोगने पड़े। कारण यह कि साधारणत:

ऐसा होता है कि प्लेग आदिका उपद्रव होनेपर अफसर घबरा जाते हैं, उपाय करनेमें हदसे आगे बढ़ जाते हैं और उनकी दृष्टिमें जो लोग खटकते हैं उनपर उनका दबाव असह्य हो जाता है। हिंदुस्तानियोंने (कौमने) अपने-आप प्रभावकारी उपायोंसे काम लेना शुरू कर दिया, इसलिए इन सख्तियोंसे बच गये !

मुझे कुछ कटु अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि नेटाल सरकारस अधिकारों की मांग करनेमें जितनी आसानीसे मैं कौमकी मदद पा सकता था उतनी आसानीसे लोगोंसे उनका फर्ज अदा करानेकी कोशिशमें न पा सका। कितनी ही जगह अपमान होता, कितनी ही जगह विनयपूर्वक लापरवाही दिखाई जाती। गंदगीकी सफाई करनेका कष्ट उठाना कठिन लगता था। पैसा खर्च करनकी तो बात ही क्या ? लोगोंसे कुछ भी काम कराना हो तो धीरज रखना होगा, यह पाठ मैंने और अच्छी तरह सीख लिया। सुधारकी गरज तो खुद सुधारकको होती है। जिस समाजमें वह सुधार करना चाहता है उससे तो उसे विरोध, तिरस्कार और जानजोखिमकी भी आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिसे सुधार मानता है, समाज उसे कुधार क्यों न माने ? या (कदाचित्) कुधार न माने तो भी उस ओरसे उदासीन क्यों न रहे ?

इस आंदोलनका परिणाम यह हुआ कि हिंदुस्तानी समाजमें घर-द्वार साफ रखनेकी आवश्यकता कमबेश मान ली गई। अधिकारियोंकी निगाहमें मेरी साख बढ़ी। उन्होंने जान लिया कि मेरा पेशा महज शिकायतें करना या हक मांगनाही नहीं है; बल्कि शिकायतें करने या हक मांगनेमें मैं जितना मुस्तैद हूं, भीतरी सुधारके लिए भी मुझमें उतना ही उत्साह और मुस्तैदी है।

पर अभी समाजकी भावनाको एक और दिशामें जगाना रह गया था। इन उपनिवेशवासी भारतीयोंको भारतवर्षके प्रति अपना धर्म भी अवसर आनेपर समझना और पालना था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग पैसा कमाने परदेश जाते हैं। उनकी कमाईका कुछ भाग भारतवर्षको आड़ वक्तमें मिलना चाहिए।

सन् १८९७ में वहां अकाल था और सन् १८९९ में फिर भारी अकाल पड़ा। इन दोनों अकालोंके समय दक्षिण अफ्रीकासे अच्छी मदद गई थी। पहले अकालके समय जितनी रकम इकट्ठी हो सकी थी, दूसरे अकालके अवसरपर उससे बहुत बड़ी रकम जमा हुई थी। इस चंदेमें हमने अंग्रेजोंके सामने भी हाथ फैलाया और उनकी ओरसे इसका अच्छा उत्तर मिला था। गिरमिटिये हिंदुस्तानियोंने भी अपना भाग अर्पण किया था।

इस प्रकार इन दो अकालोंके समय जो प्रथा चली वह अबतक कायम है। हम देखते हैं कि भारतवर्षमें जब कोई सार्वजनिक संकट होता है तो दक्षिण अफ्रीकाकी ओरसे वहां बसनेवाले हिंदुस्तानी अच्छी रकमें भेजते हैं।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रीकाके हिंदुस्तानियोंकी सेवा करते हुए मैं खुद एक-एक करके बहुत-सी बातें अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसे ज्यों-ज्यों सेया जाय त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते दिखाई देते हैं। उसका अंत ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसकी गहराईमें पहुंचिये त्यों-त्यों रत्न मिला करते हैं, सेवाके अवसर उपलब्ध होते हैं

: १२ :

देश-गमन

लड़ाईके कामसे मुक्त होनेपर मुझे जान पड़ा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीकामें नहीं है, बल्कि देशमें है। मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रीकामें बैठे-बैठे मैं कुछ सेवा तो अवश्य कर सकूंगा, पर वहां मेरा मुख्य काम पैसा कमाना ही हो जायगा।

देशसे मित्रोंका देश लौट आनेके लिए आग्रह भी चल रहा था। मुझे भी दिखाई दिया कि देश जाकर मेरा उपयोग अधिक हो सकेगा। नेटालमें तो मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियोंके सामने मुक्त होनेकी प्रार्थना रखी । बड़ी कठिनाईसे यह प्रार्थना एक शर्तके साथ स्वीकृत हुई । शर्त यह थी कि एक बरसके अंदर अगर कौमको मेरी जरूरत मालूम हुई तो मैं फिर दक्षिण अफ्रीका लौट आऊं । मुझे यह शर्त कड़ी लगी, पर प्रेम-पाशसे बंधा हुआ था ।

काचे रे तांतणे मन हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेमनी रे ।
मने लागी कटारी प्रेमनी ।[1]

मीराबाईकी यह उपमा थोड़ी-बहुत मुझपर घटित हो रही थी । पंच भी परमेश्वर ही हैं । मित्रोंकी बातको मैं ठुकरा न सकता था । मैंने वचन दिया और इजाजत ली । कह सकता हूं कि इस समय मेरा निकट सबंध नेटालके साथ ही था । नेटालके हिंदुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे सराबोर कर दिया । जगह-जगह मानपत्र देनेको सभाएं हुईं और हर जगहसे कीमती भेंटे आईं ।

१८९६ में जब मैं देश आया तब भी भेंटें मिली थीं, पर इस समयकी भेंटों और सभाओंके दृश्यसे मैं घबराया । भेंटोंमें सोने-चांदीकी चीजें तो थीं ही, हीरेकी चीजें भी उनमें थीं ।

इन सब वस्तुओंको स्वीकार करनेका मुझे क्या हक है । इन्हें स्वीकार करूं तो कौमकी सेवा मैं पैसे लेकर न करता था, यह अपने मनको कैसे समझाऊं ? इन भेंटोंमेंसे मुवक्किलोंकी थोड़ी-सी चीजोंको बाद कर दें तो बाकी सब मेरी सार्वजनिक सेवाके बदलेमें ही थीं । इसके सिवा मेरा मन तो मुवक्किलों और दूसरे साथियोंमें कोई भेद न मानता था । बड़े-बड़े मुवक्किल सब सार्वजनिक कामोंमें भी मदद दिया करते थे ।

इसके सिवा इन भेंटोंमें पचास गिन्नियोंका एक हार कस्तूर-

---

[1] **हरिजीने मुझे कच्चे (प्रेमके) धागेसे बांध रखा है । ज्यों-ज्य उसे तानते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूं । मुझे प्रेमकी कटारी लगी है ।**

बाईके लिए था। पर उसे मिली हुई चीज भी मेरी सेवाके निमित्त-से ही थी, इसलिए वह अलग नहीं की जा सकती थी।

जिस शामको इनमेंसे मुख्य भेंटें मिली थी वह रात मैंने पागल-की तरह जागकर बिताई। अपने कमरेमें चक्कर लगाता रहा, पर गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ोंकी कीमतकी सौगात छोड़ना कठिन लग रहा था। रखना उससे भी ज्यादा कठिन लगता था।

मै शायद भेंटोंको पचा लूं, पर मेरे बच्चोंका क्या होगा? स्त्रीका क्या होगा? उन्हें शिक्षा तो सेवाकी मिलती थी। सदा समझाया जाता था कि सेवाके दाम नहीं हुआ करते। घरमें कीमती गहने वगैरा मै रखता नही था। सादगी बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थितिमें सोनेकी घड़ियां कौन काममें लायगा? सोनेकी जंजीर और हीरेकी अंगूठियां कौन पहनेगा? गहने-गांठों-का मोह तजनेका उपदेश उस समय भी मैं औरोंको दिया करता था। अब इन जेवरों और जवाहरातका मैं क्या करूं?

मै इस निर्णयपर पहुंचा कि मै इन चीजोंको नही रख सकता। पारसी रुस्तमजी आदिको इन गहनोंका ट्रस्टी बनाकर उनके नाम लिख देनेका मसविदा बनाया और सवेरे स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना बोझ हलका करनेका निश्चय किया।

पत्नीको समझाना कठिन होगा यह मैं जानता था। बच्चोंको समझानेमें बिलकुल कठिनाई न होगी इसका मुझे विश्वास था। इस मामलेमें उन्हें वकील बनानेका इरादा किया।

लड़के तो तुरत समझ गये। वे बोले, "हमें इन जेवरोंकी जरुरत नही है। हमें इन सबको वापस ही कर देना चाहिए। और अगर हमें इन चीजोंकी जरूरत हुई तो हम खुद क्या नही खरीद सकेंगे?"

मैं खुश हुआ, "तो अपनी मांको समझाओगे न?" मैंने पूछा।

"जरूर, जरूर। यह हमारा काम रहा। उसे कहां ये जेवर पहनने हैं। वह तो हम लोगोंके लिए ही इन्हें रखना चाहती है।

जब हमें नहीं चाहिए तब वह क्यों जिद करेगी ?"

पर काम जितना सोचा था उससे ज्यादा मुश्किल निकला।

"तुम्हें भले ही जरूरत न हो, तुम्हारे लड़कोंको भले ही न हो। लड़कोंको जिस राह लगाओ लग जाते हैं। भले ही मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओंका क्या होगा ? उन्हें तो जरूरत होगी ? और कौन जानता है कि कल क्या होगा ? इतने प्रेमसे दी हुई चीजें लौटाई नहीं जा सकती।" यों वाग्धारा चली और उसमें अश्रुधारा-का भी संगम हुआ। बच्चे दृढ़ रहे, मुझे तो हिलना-डुलना था ही नहीं।

मैंने धीरे-से कहा—"लड़कोंका ब्याह होने तो दो। हमें बचपनमें उनके ब्याह कहां रचाने हैं। बड़े होनेपर तो वे खुद जो करना चाहेंगे करेंगे। और हमें क्या गहनोंकी शौकीन बहुएं खोजनी हैं ? फिर भी कुछ करना ही हो तो मैं कहां जाता हूं ?"

"जानती हूं आपको। मेरे गहने भी ले लिये, वही तो आप हैं न! मुझे सुखसे नहीं पहनने दिये, सो वही अब आप मेरी बहुओं-के लिए लाएंगे ? लड़कों को अभीसे बैरागी बना रहे हैं। ये जेवर वापस नहीं दिये जा सकते और मेरे हारपर आपका क्या हक है ?"

मैंने पूछा—"पर यह हार तुम्हारी सेवाके बदलेमें मिला है या मेरी सेवाके ?"

"जो हो, पर आपकी सेवा मेरी भी सेवा हुई। मुझसे रात-दिन जो मजदूरी करवाई क्या वह सेवामें नहीं गिनी जायगी ? मुझे रुलाकर भी जिस-तिसको घरमें टिका रक्खा और उसकी चाकरी कराई वह क्या थी ?"

ये सारे बाण तीखे थे। इनमेंसे कितनेही चुभते थे। पर गहने तो मुझे वापस करने ही थे। बहुत बातोंमें मैं ज्यों-त्यों राजी कर पाया। १८९६ में मिली हुई और १९०१ में मिली हुई भेंटें मैंने लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना और उसका लोकहितके लिए उपयोग मेरी इच्छा अथवा ट्रस्टियोंकी इच्छाके अनुसार किया जाय इस शर्तके साथ वे बैंकमें रख दी गई। इन जेवरोंको बेचनेके

निमित्तसे बहुत बार मैं पैसे इकट्ठे कर सका हूं। यह धन आज भी आपत्तिकोषकी भांति मौजूद है और उसमें वृद्धि होती गई है।

अपने इस कार्यपर मुझे कभी पछतावा नही हुआ। दिन बीतनेपर कस्तूरबाईको भी उसका औचित्य मालूम हो गया। हम बहुत लालचोंसे बच गये।

मैं इस निश्चयपर पहुंचा हूं कि लोकसेवकके लिए निजी भेंटें निषिद्ध हैं।

: १३ :

देशमें

इस प्रकार देश जानेको विदा हुआ। राहमें मारिशस (टापू) पड़ता था। वहां जहाज देरतक ठहरा था। अतः वहां उतरा और वहांकी स्थितिकी काफी जानकारी प्राप्त कर ली। एक रात वहांके गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूसके यहां भी बिताई थी।

हिंदुस्तान पहुंचनेपर कुछ समय घूमने-फिरनेमें बिताया। यह सन् १९०१ की बात है। इस सालकी कांग्रेस कलकत्तेमें होनेवाली थी। दीनशा एदलजी वाच्छा अध्यक्ष थे। मुझे महासभामें तो जाना था ही। महासभाका मेरा यह पहला अनुभव था।

बंबईसे जिस गाड़ीमें सर फीरोजशाह रवाना हुए उसीसे मैं भी गया। मुझे उनसे दक्षिण अफ्रीकाके संबंधमें बातें करनी थी। मुझे उनके डिब्बेमें एक स्टेशनतक जानेकी इजाजत थी। उन्होंने अपने लिए खास सैलून लगवाया था। उनके शाही खर्च और ठाट-बाटसे मैं वाकिफ था। जिस स्टेशनपर उनके डिब्बेमें जानेकी इजाजत मुझे मिली थी उस स्टेशनपर मैं उसमें गया। उनके डिब्बेमें इस समय श्री दीनशा और श्री चिम्मनलाल सीतलवाड[1] बैठे थे। उनके साथ राजनीतिक चर्चा चल रही थी। मुझे देखकर सर फीरोजशाह बोले—"गांधी! तुम्हारा काम होनेवाला नहीं।

[1] दोनोंको पीछे 'सर' की उपाधि मिली

जो प्रस्ताव तुम कहोगे हम पास कर देंगे, पर अपने देशमें ही हमें कौनसे हक मिल रहे हैं ? मै तो जानता हूं कि जबतक अपने देशमें हमें अधिकार नहीं मिलते तबतक उपनिवेशोंमें हमारी दशा सुधर नही सकती ।"

मै तो सुनकर हक्का-बक्का रह गया । सर चिम्मनलालने हां-में-हां मिलाई । सर दीनशाने मेरी ओर करुणाभरी दृष्टि-से देखा ।

मैंने समझानेकी कुछ कोशिश की, पर बंबईके बेताजके वादशाहको मुझ-जैसा आदमी क्या समझा सकता था ? वह मुझे महासभामें प्रस्ताव पेश करने देंगे, इतनेसे ही मैने संतोष माना ।

सर दीनशा मुझे बढ़ावा देते हुए बोले—"गांधी, प्रस्ताव वनाकर मुझे दिखलाना ।"

मैंने धन्यवाद दिया । दूसरे स्टेशनपर ज्योंही गाड़ी खड़ी हुई मै भागा और अपने डिब्बेमें घुस गया ।

कलकत्ते पहुंचा । शहरवाले अध्यक्ष आदि नेताओंको धूम-धामसे ले गए । मैंने किसी स्वयंसेवकसे पूछा, "मुझे कहां जाना है ?"

वह मुझे रिपन कालेज ले गया, वहाँ बहुत-से प्रतिनिधि टिकाये गए थे । मेरे सौभाग्यसे जिस हिस्सेमें मैं था उसीमें लोक-मान्यका भी डेरा था । मुझे ऐमा स्मरण है कि वह एक दिन पीछे पहुंचे थे । लोकमान्य जहां हों वहां छोटा-सा दरबार तो लग ही जाता । मैं चित्रकार होता तो जिस चारपाईपर वह बैठते थे उसकी तस्वीर खींच देता ; उस स्थान और उनकी बैठकका मुझ अबतक इतना स्पष्ट स्मरण है । उनसे मिलने आनवाल अगणित आदमियोंमें एकका ही नाम मुझे याद है—'अमृतबाजार पत्रिका' के मोतीबाबू । उन दोनोंका ठठाकर हँसना, और शासकोंके अन्यायके बारेमें उनकी बातें, भूली नहीं जा सकतीं ।

पर जरा वहांके प्रबंधपर एक निगाह डालें ।

स्वयंसेवक एक दूसरेसे लड़ते रहते थे । जो काम जिसे सौंपिये

वह उसका न होता। वह तुरंत दूसरेको हांक देता, दूसरा तीसरेको । बेचारा प्रतिनिधि न तीनमें होता न तेरहमें, न छप्पनके मेलमें ।

मैंने कुछ स्वयंसेवकोंसे दोस्ती गांठी । उनसे दक्षिण अफ्रीकाकी कुछ बातें कीं । इससे वह जरा झेंपे । मैंने उन्हें सेवाका मर्म समझानेकी कोशिश की । वह कुछ समझे, पर सेवा कुकुरमुत्तेकी भांति जल्दीसे करनी नही आ जाती । उसके लिए इच्छा चाहिए और फिर अभ्यास । इन भोले और भले स्वयंसेवकोंमें इच्छा तो बहुत थी, पर शिक्षा और अभ्यास कहांसे लाते ? महासभा सालमें तीन दिनके लिए जगकर फिर सो जाती । हर सालकी तीन दिनकी तालीमसे कितना सीखा जा सकता था ?

जैसे स्वयसेवक वैसे ही प्रतिनिधि । उनकी भी उतने ही दिनोंकी तालीम रहती । अपने हाथसे अपना कोई भी काम न करते । हर बात में हुकुम, "स्वयंसेवक, यह लाओ", "वालंटियर, वह लाओ" लगा ही रहता ।

अखा भगत के 'अतिरिक्त अंग' का पूरा अनुभव हुआ । छुआछूतवाले बहुत थे । द्राविड़ी (तामिल) रसोई तो बिलकुल अलग थी । इन प्रतिनिधियोंको तो दृष्टिदोष—देखनेकी भी छूत लगती थी । उनके लिए कालेजके आहातेमे चटाइयोंका रसोईघर बनाया गया था । धुआं उसमें इतना रहता था कि आदमीका दम घुट जाय । खाना-पीना सब उसीके अंदर । रसोईघर क्या था, तिजोरी थी । कहींसे खुली न होनी चाहिए ।

मुझे यह वर्णधर्म उल्टा लगा । महासभामें आनेवाले प्रति-निधि जब इतनी छूतछात रखते हैं तो उन्हें भेजनेवाले कितनी छूतछात रखते होंगे, इस प्रकारका त्रैराशिक लगाकर जो जवाब निकला उसपर मैंने लंबी सांस ली ।

गंदगीकी हद नहीं थी । सब कहीं पानी-ही-पानी हो रहा था । पाखाने कम ही थे । उनकी बदबू याद करके आज भी मेरा सर चकराता है । एक स्वयंसेवकको मैंने वह हालत दिखाई । वह

तिनककर बोला—"यह तो भंगीका काम है।" मैंने झाड़ू मांगी। वह मेरा मुह ताकने लगा। मैंने झाड़ू ढूढ़ ली। पाखाना साफ कर लिया। पर यह तो अपने सुभीतेके लिए हुआ। भीड़ इतनी थी और पाखाने इतने कम थे कि हर इस्तेमालके बाद उनकी सफाई होनी चाहिए थी। यह मेरे बूतेके बाहर की बात थी, अतः मैंने अपने भरका सुभीता करके संतोष किया। मैंने देखा कि औरों-को यह गंदगी खलती न थी।

पर इतनेसे ही बस न था। रातको कोई-कोई तो कमरेके आगेके बरामदेमें ही निपट लेते थे। सबेरे स्वयंसेवकोंको मैंने मैला दिखाया। साफ करनेको कोई तैयार न था। उसे साफ करनेका गौरव मैंने ही प्राप्त किया।

आज यद्यपि इन बातोंमें बहुत सुधार हुआ ह, फिर भी अविचारी प्रतिनिधि आज भी महासभाके शिविरको जहां-तहां मलत्याग करके गंदा करते हैं और सब स्वयंसेवक उसे साफ करने-को तैयार नहीं होते।

मैंने अनुभव किया कि ऐसी गंदगीमें यदि कांग्रेसकी बैठक अधिक दिनोंतक जारी रहे तो अवश्य बीमारियां फैल जायं।

: १४ :

क्लर्क और बैरा

महासभाके अधिवेशनमें एक-दो दिनकी देर थी। महासभाके कार्यालयमें मेरी सेवा स्वीकार हो सकती हो तो सेवा करने और अनुभव प्राप्त करनेका मैंने निश्चय किया था।

मैं उसी दिन नहा-धोकर महासभाके दफ्तरमें गया। श्री भूपेन्द्रनाथ वसु और श्री घोषाल मंत्री थे। भूपेन्द्रबाबूके पास पहुंचा और काम मांगा। उन्होंने मेरी ओर देखा और बोले—

"मेरे पास तो कोई काम नहीं है, पर शायद मि० घोषाल आपको कुछ काम दे सकें, उनके पास जाइए।"

मैं घोषालबाबूके पास गया। उन्होंने मुझे ऊपरसे नीचेतक देखा। फिर जरा हँसकर पूछा--

"मेरे पास तो क्लर्कका काम है। उसे करियेगा?"

मैंने जवाब दिया--"जरूर करूंगा। मेरी शक्तिसे जो बाहर न हो वह सब करनेके लिए मैं आपके पास आया हूं।"

"शाबास नौजवान, यही सच्चा सेवाभाव है।"

बगलमें खड़े स्वयंसेवकोंकी ओर देखकर बोले--

"सुनते हो, यह युवक क्या कहता है?"

फिर मेरी ओर मुड़कर बोले--

"तो देखिए, यह तो है कागजोंका ढेर और यह मेरे सामने कुर्सी। आप उसपर बिराजिये। आप देख रहे हैं कि सैकड़ों आदमी मेरे पास आया करते हैं। उनसे मिलूं या ये बेकार पोथे लिखनेवालोंको जवाब दूं? मेरे पास ऐसे क्लर्क नहीं है जिनसे यह काम ले सकूं। इन सब कागजोंमें बहुतोंमें कोई कामकी बात न होगी। पर आप सबको देख जायं। जिनकी पहुंच स्वीकार करना जरूरी समझें कर दें और जिसके जवाबके बारेमें मुझसे पूछनेकी आवश्यकता हो पूछ लें।" मैं तो इस विश्वाससे गद्गद् हो गया।

मि० घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-धाम तो जाननेका काम उन्होंने बादको किया। कागजोंका ढेर साफ करनेका काम मुझे बहुत आसान लगा। लगा हुआ ढेर तो मैंने तुरंत निबटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। वह बातूनी आदमी थे। मैं देखता था कि बातोंमें अपना बहुत वक्त गुजारते थे। मेरा इतिहास जाननेके बाद तो मुझे क्लर्कका काम सौंपनेपर उन्हें कुछ शर्म मालूम हुई। पर मैंने उन्हें निश्चित कर दिया।

"कहां आप और कहां मैं! आप महासभाके पुराने सेवक हैं, मेरे लिए तो बुजुर्ग हैं। मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक। यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने एहसान किया है। क्योंकि मुझे महासभामें काम करना है, उसका काम-काज समझनेका आपने

मुझे अलभ्य अवसर दिया है।"

घोषालबाबू बोले—"सच पूछिए तो यही सच्ची वृत्ति है; पर आजके युवक यह नहीं समझते। मगर मैं तो महासभाको उसके जन्मसे जानता हूं। उसे जन्म देनेमें मि० ह्यूमके साथ मेरा भी हिस्सा था।"

हम दोनोंमें खासी दोस्ती हो गई। दोपहरके भोजनमें वह मुझे अपने साथ ही बैठाते थे। घोषालबाबूके बटन भी 'बैरा' लगाता था। यह देखकर बैराका काम मैंने ही ले लिया। मुझे वह रुचता था। बड़ोंके लिए मेरे मनमें खूब आदर था। मेरा भाव समझ जानेपर घोषालबाबू मुझे अपनी व्यक्तिगत सेवाके सब काम करने देते थे। बटन लगाते समय मुझसे मुस्कराकर कहते—"देखिए न, महासभाके सेवकको बटन लगानेका वक्त भी नहीं मिलता, क्योंकि उस वक्त भी उसके लिए काम रहता है।" इस भोलेपनपर मुझे हँसी तो आई, पर ऐसी सेवासे मन तनिक भी हटा नहीं। उससे मुझे जो लाभ हुआ उसकी तो कीमत ही नहीं आंकी जा सकती।

चंद दिनोंमें ही महासभाकी कार्य-प्रणालीका मुझे ज्ञान हो गया। अधिकांश नेताओंसे भेंट हो गई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ इत्यादि सुभट लोग वहां आते-जाते रहते थे। उनकी रीति-नीति देखनेका मुझे मौका मिला। वहां वक्तकी जो बरबादी होती थी वह भी मेरी निगाहके सामने आई। अंग्रेजीका वहां जैसा दौरदौरा रहता था यह भी देख लिया। यह देखकर उस समय भी मुझे दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एकके द्वारा हो सकनेवाले काममें अनेक लग जाते थे। और यह भी देखा कि कितने ही बहुत जरूरी कामों-को करनेवाला कोई भी न था। मेरा मन इन सारी बातोंकी आलोचना किया करता था। पर चित्त उदार होनेसे यह मान लेता था कि अधिक सुधार न हो सकता होगा। और किसीके प्रति मनमें अनादर नहीं होता था।

: १५ :

महासभामें

महासभाका अधिवेशन आरंभ हुआ। पंडालकी शान स्वयं-सेवकोंकी कतारें, मंचपर नेताओंका जमाव इत्यादि देखकर मैं घबराया। इस महासमारोहमें मेरा पता कहां लग सकता है, यह सोचकर मैं उद्विग्न हुआ।

अध्यक्षका भाषण खासी पोथी थी। उसे पूरा पढ़ा जाना तो मुमकिन ही न था। उसके कुछ अंश ही पढ़े गए।

इसके बाद विषय-निर्वाचिनी समितिके सदस्य चुने गए। उसमें मुझे गोखले ले गये थे।

सर फीरोजशाहने मेरा प्रस्ताव लेनेकी हामी तो भरी थी, पर इसे विषय-निर्वाचिनी समितिमें कौन पेश करेगा, कब करेगा, यह सोचते हुए मैं समितिमें बैठा था। एक-एक प्रस्तावपर लंबे-लंबे भाषण होते थे और सब अंग्रेजीमें। हरएकके पीछे बड़े-बड़े नाम। इस नक्कारखानेमें मेरी तूतीकी आवाज कौन सुनेगा? रात ज्यों-ज्यों बीत रही थी मेरा कलेजा धड़क रहा था। मुझे ऐसा याद है कि अंतमें पेश होनेवाले प्रस्ताव आजके विमानकी चालसे चल रहे थे। सभी भागनेकी तैयारीमें थे। रातके ग्यारह बजे थे। मेरी बोलनेकी हिम्मत न होती थी। मैं गोखलेसे मिल लिया था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था। उनकी कुरसीके पास जाकर मैंने धीरे-से कहा—"मेरे लिए कुछ कीजिएगा।"

उन्होंने कहा—"मैं आपके प्रस्तावको भूला नहीं हूँ। यहांकी उतावली आप देख रहे हैं, पर मैं इस प्रस्तावको भूलने नहीं दूंगा।"

सर फीरोजशाह बोले—"अब तो सब प्रस्ताव हो गए?"

गोखले बोल उठे—"दक्षिण अफ्रीकाका प्रस्ताव तो बाकी ही है! मि० गांधी कबसे बैठे राह देख रहे हैं।"

"आप उस प्रस्तावको देख गये हैं?" सर फीरोजशाहने पूछा।

"जी हां, देख लिया है।"

"आपको पसंद आया ?"

"ठीक है।"

"तो गांधी, पढ़ो।"

मैंने कांपते हुए पढ़ सुनाया।

गोखलेने समर्थन किया।

"सर्वसम्मतिसे पास।" सब बोल उठे।

वाचा बोले—"गांधी, तुम पांच मिनट लेना।"

इस दृश्यसे मुझे प्रसन्नता न हुई। किसीने प्रस्तावको समझनेका कष्ट न उठाया। सब जल्दीमें थे। गोखलेने देख लिया था, इसलिए दूसरोंको देखने-सुननेकी जरूरत न जान पड़ी।

सवेरा हुआ। मुझे तो अपने भाषणकी चिंता लगी थी। पांच मिनटमें क्या बोलूंगा ? मैंने तैयारी तो अच्छी कर ली थी, पर शब्द जो चाहिए नहीं सूझते थे। लिखा भाषण न पढ़नेका निश्चय था। पर ऐसा जान पड़ा कि दक्षिण अफ्रीकामें भाषण करनेकी जो स्वतंत्रता आई थी, वह यहां मैं खो बैठा हूं।

मेरे प्रस्तावकी बारी आने पर सर दीनशाने मेरा नाम पुकारा। मैं खड़ा हुआ। सिर चकराने लगा। ज्यों-त्यों करक प्रस्ताव पढ़ा। किसी कविने अपनी कविता छपाकर सब प्रतिनिधियोंमें बांटी थी। उसमें परदेश जाने और समुद्र यात्राकी बड़ाई थी। वह मैंने पढ़ सुनाई और दक्षिण अफ्रीकाके दुःखोंकी कुछ कथा सुनाई। इतनेमें सर दीनशा की घंटी बजी। मुझे निश्चय था कि मैंने पांच मिनट अभी नहीं लिये हैं। मुझे यह मालूम नही था कि यह घंटी मुझे चेतानेके लिए दो मिनट बाकी रहते ही बजा दी गई थी। बहुतोंको आध-आध, पौन-पौन घंटे बोलते देखा था और घंटी नही बजी थी। मुझे दुःख तो हुआ। घंटी बजते ही बैठ गया। पर उक्त काव्यमें सर फीरोजशाहको उत्तर मिल गया, यह मेरी छोटी अक्लन उस समय मान लिया।

प्रस्ताव पास होनेक बारमें तो पूछना ही क्या। उन दिनों

दर्शक और प्रतिनिधिका भेद शायद ही किया जाता था। प्रस्तावों-का विरोध तो होता ही न था। सब हाथ उठा देते थे। सारे प्रस्ताव एक मतसे पास होते थे। मेरे प्रस्तावका भी यही हुआ। अत. मुझे प्रस्तावका महत्त्व नही जान पड़ा, फिर भी महासभामें मेरा प्रस्ताव पास हुआ यह बात ही मेरी प्रसन्नताके लिए काफी थी। महासभाकी जिसपर मुहर लग गई, उसपर सारे भारतकी मुहर है, यह ज्ञान किसके लिए यथेष्ट न होगा।

: १६ :

लार्ड कर्जनका दरबार

महासभा समाप्त हुई, पर मुझे तो दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए कलकत्तेमें रहकर 'चेंबर आफ कामर्स' इत्यादि संस्थाओंके लोगोंसे मिलना था। इससे मैं कलकत्तेमें एक महीना ठहर गया। इस बार मैंने होटलमें ठहरनेके बजाय परिचय प्राप्त करके इंडिया क्लबमें रहनेकी व्यवस्था की। इस क्लबमें प्रमुख भारतीय नेता उतरा करते थे; इसमें यह लोभ था कि उनसे मिल-जुलकर दक्षिण अफ्रीकाके मामलेमें उनकी दिलचस्पी पैदा करा सकूंगा। इस क्लबमें गोखले सदा नहीं पर जब-तब बिलियर्ड खेलने आया करते थे। मैं कलकत्तेमें कुछ दिन ठहरनेवाला हूं, इसका उन्हें पता लगते ही मुझे उन्होंने अपने साथ रहनेको निमंत्रित किया। मैंने उसे साभार स्वीकार किया, पर अपने-आप वहां जाना मुझे ठीक न लगा। एक-दो दिन राह देखता रहा, इतनेमें गोखले आकर मुझे अपने साथ ले गए। मेरा संकोच देखकर उन्होंने कहा——"गांधी, तुम्हें इस देशमें रहना है; अत: ऐसे संकोचीपनसे काम नहीं चलेगा। जितने अधिक लोगोंसे राह-रस्म पैदा कर सको, करनी चाहिए। मुझे तुमसे कांग्रेसका काम लेना है।

गोखलेके डेरेपर जानेके पहलेका इंडिया क्लबका एक अनुभव यहां देता हूं।

इसी बीच लार्ड कर्जनका दरबार हुआ। उसमें जानेवाले कोई राजासाहब इस क्लबमें टिके थे। मैं उन्हें सदा क्लबमें तो सुंदर बंगाली धोती, कुरता पहने और चादर डाले देखता था। आज उन्हें पतलून, चोगा, खानसामोंकीसी पगड़ी और वार्निशदार बूट पहने देखकर मुझे दुःख हुआ और मैंने इस फेर-फारका कारण पूछा।

जवाब मिला—"हमारा दुःख हम ही जानते हैं। अपनी जायदाद और उपाधियां सुरक्षित रखनेको हमें जो अपमान सहने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं ?"

"पर यह खानसामा-शाही पगड़ी और ये बूट क्यों ?"

"हममें और खानसामोंमें आपने क्या फर्क पाया ? वे हमारे खानसामा हैं और हम लार्ड कर्जनके। मैं दरबारमें गैरहाजिर रहूं तो मुझे उसका दंड भुगतना होगा। अपने साधारण पहनावेमें जाऊं तो यह अपराध माना जायगा। वहां जाकर भी क्या मुझे लार्ड कर्जनसे बातें करनेका सौभाग्य प्राप्त होगा ? हरगिज नहीं।"

मुझे इस निष्कपट भाईपर दया आई। ऐसे ही प्रसंगका एक दूसरा दरबार मुझे याद आ रहा है। जब काशी हिन्दू विश्व-विद्यालयकी नींव लार्ड हार्डिंगके हाथों रखी गई तब उनका दरबार हुआ था। उसमें राजा-महाराजोंका तो होना अनिवार्य था; भारतभूषण मालवीयजीने मुझसे भी उसमें उपस्थित रहनेका विशेष रूपसे आग्रह किया था। मैं वहां गया था। राजा-महा-राजाओंकी, केवल स्त्रियोंको शोभा देनेवाली, पोशाकें देखकर मुझे दुःख हुआ। रेशमी पाजामे, रेशमी अंगरखे और गलेमें हीरे-मोतियोंके हार ! हाथमें बाजूबंद और पागपर हीरे-मोतीकी झालरें ! इन सबके साथ कमरमें सोनेकी मूठवाली तलवार लटकती थी। किसीने कहा कि ये उनके राज्याधिकार की नहीं, बल्कि उनकी गुलामी की निशानियां हैं। मैं मानता था कि ऐसे जनाने गहने वे अपनी खुशीसे पहनते होंगे, पर मुझे मालूम हुआ कि ऐसे सम्मेलनोंमें अपने सब मूल्यवान आभूषण पहनकर जाना

राजाओंके लिए लाजिमी है। यह भी मालूम हुआ कि कितनों-को तो ऐसे गहने पहननेसे नफरत है और ऐसे दरबारोंके मौकोंको छोड़कर और किसी अवसरपर वे उन्हें नही पहनते थे। इस बातमें कहांतक सचाई थी, इसका मुझे पता नहीं। वे दूसरे मौकोंपर गहने पहनते हों या न पहनते हों, क्या वाइसरायके दरबारमें और क्या दूसरी जगह, कहीं भी औरतों को ही सजनेवाले गहने पहनकर उन्हे जाना पड़े, यही काफी दुःखकी बात है। धन, शक्ति और मान मनुष्यसे क्या-क्या पाप और अनर्थ नही कराते !

: १७ :

गोखलेके साथ एक मास—१

पहले ही दिनसे गोखलेने मुझे यह नही समझने दिया कि मै मेहमान हूं। मुझे इस तरह रखा मानो मै उनका सगा छोटा भाई हूं। मेरी सब आवश्यकताएं जान ली और तदनुसार प्रबंध कर दिया। खुशकिस्मतीसे मेरी जरूरतें थोड़ी ही थी। सब काम खुद कर लेनेकी आदत मैंने डाल ली थी, इसलिए मुझे दूसरोंसे थोड़ी ही सेवा लेनी रहती थी। मेरी यह स्वावलंबनकी आदत, मेरी उस समयकी पोशाक आदिकी सफाई, मेरे उद्यमकी और मेरी नियमितताकी उनपर गहरी छाप पड़ी और इनकी वह इतनी तारीफ करने लगे कि मैं घबरा उठता था।

उनके पास मुझसे छिपा रखनेकी कोई बात है यह मुझे न जान पड़ा। जो कोई बड़ा आदमी उनसे मिलने आता उसका मुझ परिचय कराते। उन परिचयोंमें मेरी आंखोंके सामन आज सबस अधिक डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय आते हैं। वह गोखलक मकानक पास ही रहत थे। और प्रायः नित्य आते थ।

"यह प्रोफसर राय हैं, जिन्हें हर महीने आठ सौ रुपय मिलते है और जो अपने खर्चके लिए ४० रुपया रखकर बाकी सब लोकहितके कामोंमें दे देते हैं। इन्होंने ब्याह नहीं किया है न करना

चाहते हैं।" इन शब्दोंमें गोखलेने मुझे उनका परिचय कराया।

आजके डाक्टर रायमें और उस समयके प्रोफेसर रायमें मैं थोड़ाही अंतर पाता हूं। जो पहनावा तब था लगभग वही आज है। हां, आज खादी रहती है। उस समय खादी तो थी ही नहीं; स्वदेशी मिलके कपड़े रहे होंगे। गोखलेकी और प्रोफेसर रायकी बातें सुननेसे मेरी तृप्ति ही न होती थी क्योंकि उनकी बातें या तो देशहितसे संबंध रखनेवाली होती थी या कोई ज्ञानवार्ता होती थी। कुछ बातें दु:खद भी होतीं; क्योंकि उनमे नेताओंकी टीका होती थी। जिन्हे मैने महान् योद्धा समझना सीखा था वे बौने दिखाई देने लगे।

गोखलेकी कार्य-प्रणालीसे मुझे जितनी प्रसन्नता हुई उतनी ही शिक्षा मिली। वह अपना एक क्षण भी बेकार न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके सारे सबन्ध देश-कार्यके लिए हैं। सारी बातोंका विषय भी देश-हित होता था। उनकी बातोंमें मुझे कहीं मलिनता, दभ या झूठकी गंध न मिली। हिदुस्तानकी गरीबी और गुलामी उन्हे प्रतिक्षण चुभती थी। कितने ही लोग, कितने ही विषयोंमें उनकी दिलचस्पी पैदा कराने आते। उन्हे वह एक ही जवाब देते—"आप यह काम कीजिए, मुझे अपना करने दीजिए। मुझे तो देशकी स्वाधीनता प्राप्त करनी है। वह मिलनेके बाद मुझे और कुछ सूझेगा। फिलहाल तो इस धंधेसे मेरे पास एक क्षण भी बाकी नही बचता।"

रानडेके प्रति उनका पूज्य भाव तो बात-बातमें टपकता था। 'रानडे यह कहते थे' यह तो उनकी बातचीतमें लगभग 'सूत उवाच' जैसा था। मै जब वहां था उसी बीच रानडेकी जयंती (या पुण्यतिथि अब ठीक याद नहीं रहा) पड़ती थी। ऐसा जान पड़ा जैसे गोखले उसे सदा मनाया करते है। उस समय वहां मेरे सिवा उनके मित्र प्रोफेसर काथवेट और एक सब जज महाशय थे। इन्हें उन्होंने जयती मनानेको निमंत्रित किया और उस अवसरपर उन्होंने हम लोगोंको रानडेके अनेक संस्मरण सुनाए। रानडे, तैलंग और

मांडलिककी तुलना भी की। मुझे याद है कि उन्होंने तैलंगकी भाषाकी प्रशंसा की। मांडलिककी सुधारकके नाते स्तुति की। अपने मुवक्किलका वह कितना खयाल रखते थे इसके दृष्टांतरूपमें एक किस्सा सुनाया कि रोजकी ट्रेन छूट जानेपर किस तरह स्पेशल ट्रेन खुलवाकर वह कचहरी पहुंचे थे। रानडेकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का वर्णन करनेके उपरांत उस कालके नेताओंमें उन्हें सर्वोपरि बतलाया। रानडे केवल न्यायमूर्ति ही नहीं थे। वह इतिहास-कार थे, अर्थशास्त्री थे, सुधारक थे; जज होते हुए भी महासभामें दर्शकके रूपमें, पर निडर भावसे, उपस्थित होते थे। उसी प्रकार उनकी बुद्धिमत्तापर लोगोंको इतना विश्वास था कि सभी उनके निर्णयोंको स्वीकार करते थे। इन बातोंका वर्णन करते हुए गोखलेके हर्षकी सीमा न रहती थी।

गोखले घोड़ा-गाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मै उनकी कठिनाइयां नही समझ सका था। "आप क्या सब जगह ट्राममें नहीं जा सकते? इससे क्या नेताओंकी प्रतिष्ठा घटती है?"

किंचित् खिन्न होकर उन्होंने उत्तर दिया—"तुम भी मुझ नहीं पहचान सके क्या? मुझे बडी कौंसिलसे जो मिलता है वह मैं अपने काममें नहीं लाता। तुम्हें ट्रामपर सफर करते देख मुझ ईर्ष्या होती है। पर मुझसे वह नहीं हो सकता। जितने लोग मुझे पहचानते है उतने ही जब तुम्हें भी पहचानने लगेंगे तब तुम्हारा भी ट्राममें घूमना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा। नेता जो कुछ करते हैं, मौज-शौकके लिए ही करते हैं, यह माननेका कोई कारण नहीं है। तुम्हारी सादगी मुझे पसंद है। मैं, जहांतक हो सकता है सादगीसे, रहता भी हूं, पर इतना अवश्य समझें कि कुछ खर्च मुझ-जैसोंके लिए अनिवार्य है।"

यों मेरी एक शिकायत तो सही तौरपर रद्द हो गई, पर मुझे एक शिकायत और करनी थी जिसका समाधानकारके उत्तर वह न दे सके।

मैंने कहा—"पर आप काफी टहलते भी तो नहीं, फिर आप बीमार रहें तो इसमें अचरज क्या ? क्या देशके कामसे व्यायामके लिए भी अवकाश नही मिल सकता ?"

जवाब मिला—"मुझे किस समय आप खाली देखते हैं कि जब घूमने जा सकता हूं ?"

मेरे मनमें गोखलेके प्रति इतना आदर था कि मैं उन्हें प्रत्युत्तर नहीं देता था। उपर्युक्त उत्तरसे मेरा समाधान न हुआ, फिर भी मैं चुप रहा। मैं मानता आया हूं और आज भी मानता हूं कि कितना ही काम होनेपर भी जैसे हम खानेका समय निकालते हैं वैसे ही व्यायामका भी निकालना चाहिए। मेरी नम्र सम्मतिमें इससे देशकी सेवा कम नहीं, बल्कि कुछ अधिक ही होती है।

: १८ :

गोखलेके साथ एक मास—२

गोखलेकी छत्रछायामें मैंने सारा समय घरमें बैठकर नहीं बिताया।

मैंने दक्षिण अफ्रीकाके अपने ईसाई मित्रोंसे कहा था कि मैं हिंदुस्तानमें भारतीय ईसाइयोंसे मिलूंगा और उनकी दशा जानूंगा। कालीचरण बनर्जीका नाम मैंने सुन रखा था। वह महासभाके काममें अगुआ रहते थे। इससे उनके लिए मेरे मनमें आदर था। साधारण हिंदुस्तानी ईसाइयोंके महासभा और हिंदू, मुसलमानोंसे भी अलग-अलग रहनेके कारण उनके प्रति जो अविश्वास था वह कालीचरण बनर्जीके प्रति नहीं था। मैंने उनसे मिलने जानेके बारेमें गोखलेसे बात की। वह बोले—"वहां जानेसे तुम्हें क्या मिलेगा ? वह बहुत भले आदमी हैं, पर मैं समझता हूं कि वह तुम्हें संतोष न दे सकेंगे। मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूं। फिर भी तुम्हें जाना हो तो शौकसे जाओ।"

मैंने समय मांगा। उन्होंने मुझे तुरंत समय दिया। मैं गया।

उनके घर उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई थी। उनका घर सादा था। महासभामें उन्हें कोटपतलूनमें देखा था। अपने घरमें उन्हें बंगाली धोती और कुरतेमें देखा। यह सादगी मुझे भाई। गो, उस वक्त मैं खुद पारसी कोट-पतलून पहने था, पर मुझे यह पोशाक और सादगी बहुत पसंद आई। मैंने उनका वक्त खराब न कर अपनी उलझनें उनके सामन रखीं।

उन्होंने पूछा—"आप यह मानते हैं कि हम पाप लेकर जनमते हैं ?"

मैंने कहा—"जी हां, मानता हूं।"

"तो इस मूल पापका निवारण हिंदू-धर्ममें नहीं है, और ईसाई-धर्ममें है।" फिर बोले—"पापका बदला मौत है। बाइबिल कहती है कि इस मौतसे बचनेका रास्ता ईसाकी शरण जाना है।"

मैंने भगवद्गीताका भक्तिमार्ग सामने रखा, पर मेरा बोलना बेकार था। मैंने इन भले आदमी और उनकी भलमनसीका उपकार माना। मेरा समाधान न हुआ, फिर भी इस भेंटसे मुझे लाभ ही हुआ।

यह भी कह सकता हूं कि इस महीनेमें मैंने कलकत्तेकी एक-एक गली छान डाली। बहुत-सा काम पैदल चलकर करता था। इसी समय न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्रसे मिला। सर गुरुदास बनर्जीसे मिला। उनकी सहायता दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए आवश्यक थी। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जीके दर्शन भी इसी समय किये।

कालीचरण बनर्जीने मुझसे काली-मंदिरकी चर्चा की थी। वह मंदिर देखनेकी मुझे तीव्र इच्छा थी। इसका वर्णन मैंने पुस्तकमें पढ़ा था। अत: एक दिन वहां जा पहुंचा। जस्टिस मित्रका मकान उसी मुहल्लेमें था, इसलिए जिस दिन उनसे मिला उसी दिन काली-मंदिर भी गया। मार्गमें बलिदानके बकरोंकी तो कतार-की-कतार चली जा रही थी। मंदिरकी गलीमें पहुंचते ही भिखारियोंकी भीड़ लगी देखी। वहां साधु-संन्यासी भी भला कैसे

न होते! मेरा नियम उस समय भी हट्टे-कट्टे भिखारियोंको कुछ न देनेका था, पर भिखमंगे तो मुझसे चिपक गये थे।

एक बाबाजी चबूतरेपर बैठे थे। उन्होंने बुलाया, "क्यों बच्चा, कहां जाते हो?" मैंने उचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे और मेरे साथीको बैठनेको कहा। हम बैठ गये। मैंने पूछा—"इन बकरोंका बलिदान आप धर्म मानते हैं?"

उन्होंने कहा—"जीवनके हननको धर्म कौन मानता है?"

"तब आप यहां बैठकर लोगोंको समझाते क्यों नहीं?"

"हमारा काम यह नहीं है। हम तो बैठकर भगवद्भजन करते हैं।"

"पर इसके लिए आपको कोई दूसरी जगह नहीं मिली? यही मिली?"

बाबाजी बोले—"हमारे लिए सब ठौर समान है, चाहे जहां बैठ गये। लोग तो भेड़ोंके झुंडकी तरह है, अगुआके पीछे चलने वाले। हम साधुओंको इससे क्या मतलब?"

मैंने संवाद आगे नहीं बढ़ाया। हम मंदिरमें पहुंचे। सामने खूनकी नदी बह रही थी। दर्शनके लिए खड़े रहनेकी मेरी इच्छा नहीं रही। मैं बहुत खिन्न और उद्विग्न हुआ। यह दृश्य मैं अबतक नहीं भूल सका हूं।

एक बंगाली मंडलीमें उसी दिन मुझे निमंत्रण था। वहां मैंने एक सज्जनसे इस घातक पूजाकी चर्चा की। उन्होंने कहा—"हमारा यह मत है कि वहां जो नगाड़ा, वगैरा बजता है उसके शोरमें बकरेको चाहे जैसे मारो, उसे पीड़ा नहीं होती।"

यह मत मेरे गले नहीं उतरा। मैंने उन सज्जनसे कहा कि बकरेके जबान होती तो वह दूसरी ही बात कहता। मेरे मनने कहा कि यह घातकी प्रथा बंद होनी ही चाहिए। वह बुद्धदेववाली कथा याद आई; पर मैंने देखा कि यह काम मेरे बूतेसे बाहर है।

मैंने उस दिन जो सोचा वही आज भी सोचता हूं। मेरे नजदीक बकरेके जीवनका मूल्य मनुष्यके जीवनसे कम नहीं है।

मनुष्य-देहको बनाये रखनेके लिए मैं बकरेकी जान लेने को तैयार न होऊंगा । मैं मानता हूं कि जो जीव जितना अधिक असहाय है, मनुष्यकी घातकतासे बचने और मनुष्यका आश्रय पानेका उसे उतना ही अधिक अधिकार है । पर वैसी योग्यताके बिना मनुष्य आश्रय देनेमें असमर्थ है । बकरेको इस पापमय होममेंसे बचानेके लिए जितनी आत्मशुद्धि और त्याग मुझमें है उससे बहुत अधिककी आवश्यकता है । जान पड़ता है अभी तो इस शुद्धि और त्यागकी रटन करते हुए ही मुझे मरना है । ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष या कोई तेजस्विनी सती निकले, जो इस महापातकमेंसे मनुष्यको उबारे, निर्दोष प्राणियोंकी रक्षा करे और मंदिरोंको शुद्ध करे, यह प्रार्थना तो भगवान्से निरंतर करता हूं । ज्ञानी, बुद्धिशाली, त्यागवृत्तिवाला भावनाप्रधान बंगाल कैसे यह सब सहन करता है ?

: १९ :

गोखलेके साथ एक मास—३

काली माताके प्रीत्यर्थ होनेवाला विकराल यज्ञ देखकर बंगाली-जीवन जाननेकी मेरी इच्छा बढ़ी । ब्रह्मसमाजके विषयमें तो काफी पढ़ा-सुना था । प्रतापचन्द्र मजूमदारका जीवन-वृत्तांत थोड़ा जानता था । उनके व्याख्यान सुनने गया था । उनका लिखा हुआ केशवचन्द्रका जीवन-वृत्तांत प्राप्त किया और उसे चावके साथ पढ़ गया । साधारण ब्रह्मसमाज और आदि ब्रह्मसमाजका भेद जाना । पंडित शिवनाथ शास्त्रीके दर्शन किये । महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके दर्शन करने प्रो० काथवेटके साथ गया, पर वह उस समय किसीसे मिलते न थे, इसलिए उनके दर्शन न हो सके । पर उनके यहां ब्रह्मसमाजका उत्सव था, उसका निमंत्रण पाकर गये थे । वहां उच्च श्रेणीका बंगला संगीत सुननेका अवसर मिला । तभीसे बंगला संगीतपर मुझे अनुराग हो गया ।

ब्रह्मसमाजका यथाशक्य निरीक्षण कर लेनेके बाद स्वामी विवेकानंदके दर्शन न करूं यह कैसे हो सकता था ! मैं बड़े उत्साहसे बेलूर मठ गया और लगभग पैदल चलकर गया। पूरा चला या आधा यह मुझे अब याद नहीं रहा। मठका एकांत स्थान मुझे बहुत पसंद आया। यह समाचार सुनकर निराश हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनके दर्शन नहीं हो सकते और वह अपने कलकत्तेवाले मकानमें हैं। भगिनी निवेदिताके वासस्थानका पता लगाया। चौरंगीके एक भवनमें उनके दर्शन प्राप्त किये। उनका तेज देखकर मैं सहम गया। बातचीतमें भी हमारा मेल अधिक नहीं जमा। मैंने यह बात गोखलेसे कही। वह बोले—"मैं समझता हूं कि यह देवी बहुत तेज है, अतः उससे तुम्हारा मेल नहीं बैठ सकता।"

उनके साथ मेरी भेंट एक बार फिर पेस्तनजी पादशाहके घर हुई। पेस्तनजीकी वृद्धा माताको वह उपदेश दे रही थीं। इतनेमें मैं वहां जा पहुंचा, अतः मैंने उनके बीच दुभाषियेका काम किया। हमारा मेल न बैठते हुए भी मैं देखता था कि हिंदू-धर्मके प्रति भगिनीका प्रेम छलक रहा था। उनकी पुस्तकों का परिचय पीछे प्राप्त किया।

दिनके मैंने विभाग कर लिये थे। एक भाग दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए कलकत्तेमें रहनेवाले नेताओंसे मिलनेमें लगाता; दूसरा, कलकत्तेकी धार्मिक और अन्य सार्वजनिक संस्थाएं देखनेमें। एक दिन मैंने बोअर-युद्धमें भारतीय शुश्रूषादलके कामके संबंधमें डा० मलिकके सभापतित्वमें भाषण किया। 'इंगलिशमैन' के साथ मेरा परिचय इस समय भी बहुत सहायक सिद्ध हुआ। मि० साण्डर्स उन दिनों बीमार थे। पर उनकी मदद तो १८९६ में जितनी मिली थी उतनी ही मिली। यह भाषण गोखलेको पसंद आया। जब डा० रायने उसकी प्रशंसा की तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

यों गोखलेकी छत्रछायामें रहनेसे बंगालमें मेरा काम बहुत आसान हो गया। बंगालके अग्रगण्य कुटुंबोंकी जानकारी मुझे

सहज ही हो गई और बंगालसे मेरा निकट संबंध जुड़ गया। इस चिरस्मरणीय मासके अनेक स्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। उस महीनेमें मै ब्रह्म-देशका भी एक चक्कर लगा आया था। वहांके फुंगियोंसे मिला। उनकी काहिली देखकर मुझे दुःख हुआ। स्वर्ण पैगाडाके दर्शन किये। मंदिरमें अनगिनत छोटी मोमबत्तियां जल रही थीं, वे मुझे अच्छी न लगीं। मंदिरके गर्भगृहमें चूहोंको दौड़ लगाते देखकर स्वामी दयानंदका अनुभव याद आया। ब्रह्मदेशीय महिलाओंकी स्वतंत्रता और उत्साह तथा पुरुषोंकी काहिली देख-कर मैं वहांकी स्त्रियोंपर तो मुग्ध हुआ और पुरुषोंके लिए दुःखी हुआ।

उसी समय यह बात भी मेरे ध्यानमें आ गई कि जैसे बंबई हिंदुस्तान नहीं है वैसे ही रंगून ब्रह्मदेश नहीं है। और जैसे हिंदुस्तानमें हम अंग्रेज सौदागरोंके कमीशन एजेंट (दलाल) बने हुए हैं, वैसे ही ब्रह्मदेशमें हमने अंग्रेजोंके साथ मिलकर ब्रह्मदेश-बासियोंको कमीशन एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेशसे लौटकर मैंने गोखलेसे बिदा ली। उनका वियोग मुझे खला, पर मेरा बंगालका या वास्तवमें कलकत्तेका काम पूरा हो चुका था।

धंधेमें लगनेके पहले मेरा विचार था कि हिंदुस्तानकी एक छोटी-सी यात्रा तीसरे दरजेमें करके उस दरजेके यात्रियोंका परिचय प्राप्त करूं और उनके कष्ट जान लूँ। गोखलेके सामने मैंने यह विचार रक्खा। पहले तो उन्होंने हँसकर टाल दिया; पर जब मैंने इस यात्रासे अपनी आशाओंका वर्णन किया, तब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मेरी योजनाको स्वीकृति दे दी। मुझे पहले तो काशीजी जाना था और वहां विदुषी एनी बेसेंटके दर्शन करने थे। वह उस समय बीमार थीं।

इस यात्राके लिए मुझे नया साज-सामान जुटाना था। पीतलका एक डिब्बा गोखलेने ही दिया और उसमें मेरे लिए मगद-के लड्डू और पूरियां रखवा दीं। बारह आनेमें किरमिचका एक

बेग (थैला) लिया। छापा (पोरबंदरके पासके एक गांव) की ऊनका लबादा बनवाया। बैगमें यह लबादा, तौलिया, कुरता और धोती थी। ओढ़नेको एक कम्बल था। इनके अतिरिक्त एक लोटा भी साथ रख लिया। इतना सामान लेकर मैं निकला।

गोखले और डा० राय स्टेशनपर मुझे पहुंचाने आये। दोनोंसे मैंने कष्ट न करनेकी प्रार्थना की। पर दोनोंने आनेका आग्रह किया। गोखले बोले—"आप पहले दरजेमें जाते तो शायद मैं न चलता, पर अब तो मुझे चलना ही है।"

प्लेटफार्मपर जाते हुए गोखलेको तो किसीने न रोका। उन्होंने अपनी रेशमी पगड़ी बांधी थी और धोती तथा कोट पहने हुए थे। डा० राय बंगाली पहनावेमें थे, इसलिए उन्हें टिकट-बाबूने पहले तो अंदर जानेसे रोका, पर जब गोखलेने कहा—"मेरे मित्र हैं", तब वह भी दाखिल हुए। इस तरह दोनोंने मुझे बिदा दी।

: २० :

काशीमें

यह यात्रा कलकत्तेसे राजकोट तक की थी। उसमें काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर और रोजकोट जाना था। इतने स्थान देखनेके बाद और समय न बचता था। हर जगह एक-एक दिन ठहरा था। पालनपुरके सिवा सर्वत्र धर्मशालामें अथवा पंडोंके घर यात्रियोंकी तरह टिका था। जहांतक मुझे याद है, इतनी यात्रामें गाड़ी-भाड़ेसहित मेरे कुल इकतीस रुपये खर्च हुए थे। तीसरे दरजेमें सफर करते हुए भी प्राय: डाकगाड़ी छोड़ देता था; क्योंकि मैं जानता था कि उसमें भीड़ अधिक होती है। उसका भाड़ा भी पैसिंजरके तीसरे दरजेके भाड़ेसे अधिक होनेकी अड़चन तो थी ही।

तीसरे दरजेके डिब्बेमें गंदगी और पाखानोंकी बुरी दशा, जैसी आज है, वैसी ही उस समय थी। आज शायद अपने आप कुछ

सुधार हो गया हो। पर पहले और तीसरे दरजेके बीच आराम-का अंतर भाड़ेकी दृष्टिसे बहुत अधिक जान पड़ा। तीसरे दरजे-वाले यात्री भेड़-बकरीकी तरह समझे जाते हैं। उनके लिए भेड़-बकरियोंवाले डिब्बे दिये जाते हैं। यूरोपमें तो मैंने तीसरे ही दरजेमें यात्रा की थी। तजरुबेके लिए एक बार पहले दरजेमें सफर कर लिया था। वहां मैंने पहले और तीसरे दरजेमें यहां जितना अंतर नहीं पाया। दक्षिण अफ्रीका में तीसरे दरजेके यात्री अधिकतर हब्शी ही होते हैं। फिर भी वहांके तीसरे दरजेमें यहां से अधिक सुभीता है। कुछ भागोंमें तो वहां तीसरे दरजेके डिब्बेमें सोनेका प्रबंध भी रहता है और बेंचे गद्दीदार होती हैं। हर खानेमें बैठने-वाले यात्रियोंकी संख्याके नियमकी पाबंदी की जाती है। यहां तो तीसरे दरजेमें इस नियमका पालन होते मैंने देखा ही नहीं।

रेलवे-विभागकी ओरसे होनेवाली इन अड़चनोंके उपरांत यात्रियोंकी गंदी आदतें सफाई-पसंद आदमीके लिए तीसरे दरजेकी यात्राको दंडस्वरूप बना देती हैं। चाहे जहां थूकना, चाहे जहां कूड़ा फेंकना, चाहे जैसे और चाहे जब बीड़ी पीना, पान-तंबाकू खाना और जहां बैठे हों वहीं उसकी पिचकारी छोड़ना, फर्शपर जूठन गिराना, चिल्ला-चिल्लाकर बातें करना, बगलमें बैठे हुए आदमीके तकलीफ-आरामकी परवा न करना और गंदी वाणी बोलना—यह तो सार्वत्रिक अनुभव है।

तीसरे दरजेकी यात्राके अपने १९०२ के अनुभवमें और १९१५ से १९१९ तकके मेरी दूसरी बारके इसी दरजेकी यात्राके अखंड अनुभवमें मैंने बहुत फर्क नहीं पाया। इस महाव्याधिका एक ही उपाय मेरी समझमें आया है। वह यह कि शिक्षित वर्गको तीसरे दरजेमें ही यात्रा करनी चाहिए लोगोंकी आदतें सुधारनेकी कोशिश करनी चाहिए। इसके सिवा रेलवे-विभागके अधिका-रियोंको शिकायतें कर-करके परेशान कर डालना चाहिए। खुद कोई सुभीता पाने या उसकी रक्षाके लिए घूस-रिश्वत न देनी चाहिए और न एक भी बेकायदे बर्तावको दरगुजर करना चाहिए।

मेरा अनुभव है कि ऐसा करनेसे बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारीके कारण मुझे सन् १९२० से तीसरे दरजेकी यात्रा एक तरहसे बंद कर देनी पड़ी है, इसका दुःख और लज्जा मुझे सदा बनी रहती है। और वह भी ऐसे अवसरपर बंद करनी पड़ी, जबकि तीसरे दरजेकी यात्राके कष्टोंको दूर करनेका काम कुछ ठिकाने आ रहा था। रेलों और जहाजोंमें गरीब मुसाफिरों-को जो तकलीफें उठानी पड़ती हैं, उनकी अपनी बुरी आदतोंसे इन तकलीफोंमें जो वृद्धि हो रही है, व्यापारके सिलसिलेमें विदेशी व्यापारको सरकारकी ओरसे जो अनुचित सुभीते दिये जा रहे हैं—यह सब हमारे जन-जीवनकी एक बिलकुल अलग और महत्त्वपूर्ण समस्या रूप हो गए हैं और उसे हल करनेमें एक-दो चतुर और लगनवाले सज्जन अपना पूरा समय लगा दें तो यह अधिक नहीं माना जायगा।

पर तीसरे दरजेकी यात्राकी बात अब यहीं छोड़कर काशीके अनुभवपर आता हूं। काशीमें सवेरे उतरा। मुझे किसी पंडेके ही यहां उतरना था। बहुत-से ब्राह्मणोंने मुझे घेर लिया। उनमें जो मुझे कुछ साफ-सुथरा और भला लगा उसका घर मैंने पसंद किया। मेरा चुनाव ठीक निकला। ब्राह्मणके आंगनमें गाय बंधी थी। ऊपर एक कोठरी थी, उसीमें मुझे टिकाया। मुझे विधिपूर्वक गंगास्नान करना था। उसके पहले कुछ खाना न था। पंडेने सब तैयारी की। मैंने उससे कह रक्खा था कि मैं सवा रुपयेसे अधिक दक्षिणा नहीं दे सकता, इसलिए उसीके अनुरूप तैयारी करो। पंडेने बिना रगड़-झगड़के मेरी बात मान ली। बोला—"हम लोग पूजा तो एक-ही-सी धनी-गरीब सबको कराते हैं। दक्षिणा यजमानकी इच्छा और सामर्थ्यपर होती है।" मेरी समझमें पंडाजीने पूजा-विधिमें कोई गड़बड़ी नहीं की। बारह बजेके लग-भग इससे छुट्टी पाकर मैं काशी विश्वनाथके दर्शन करने गया। वहां जो कुछ देखा उससे दुःख ही हुआ।

बंबईमें, १८९१ में, जब मैं वहां वकालत करता था, एक

बार प्रार्थना-समाजके मंदिरमें काशीकी यात्रा विषयपर व्याख्यान सुना था। इससे कुछ नैराश्यके लिए तो पहलेसे तैयार था। पर जो आशा-भंग हुआ वह जितना सोचा था उससे अधिक था।

तंग, फिसलनेवाली गलीमेंसे होकर जाना, शांतिका नाम नहीं, मक्खियोंकी भिनभिनाहट, यात्रियों और दुकानदारोंका शोरगुल असह्य लगा।

जहां मनुष्य ध्यान और भगवच्चिंतन की आशा रखे वहां इनमेंसे कुछ न मिले! ध्यान चाहिए तो उसे अपने अंतरमें पाना होगा। मैंने ऐसी भावुक बहनोंको अवश्य देखा जिन्हें अपने आस-पास क्या हो रहा है, इसका कुछ पता न था। वे केवल अपने ध्यान-में ही निमग्न थीं, पर प्रबंधकोंको इसका श्रेय नहीं मिल सकता। काशी विश्वनाथके आसपास शांत, निर्मल, सुगंधित, स्वच्छ वातावरण--बाहरी और भीतरी भी--पैदा करना और उसे बनाये रखना प्रबंधकोंका कर्तव्य है। इसके बदले मैंने ठगोंका नये ढंगकी मिठाइयों और खिलौनोंका बाजार लगा पाया।

मंदिरमें पहुंचनेपर दरवाजेके सामने बदबू करते हुए सड़े फूल मिले। अंदर बढ़िया संगमरमरका फर्श था। किसी अंध-श्रद्धालुने उसे रुपयोंसे जड़वाकर खराब कर दिया था, और रुपयों-में मैल भर गया था।

मैं ज्ञानवापीके पास गया। मैंने वहां ईश्वरको ढूंढा, पर वह न मिला। इससे मनमें कुढ़ रहा था। ज्ञानवापीके पास भी गंदगी मिली। कुछ दक्षिणा चढ़ानेकी श्रद्धा नहीं थी। इससे मैंने तो सचमुच ही एक पाई चढ़ाई। पुजारीजी झल्लाये। उन्होंने पाई फेंक दी। दो-चार गालियां सुनाकर बोले--"तू यों अपमान करेगा तो नरकमें पड़ेगा।"

मैं शांत रहा। बोला--"महाराज, मेरा जो होना होगा, होगा। पर अपशब्द आपके मुंहमें शोभा नहीं देते। यह पाई लेनी हो तो ले लीजिए, नहीं तो इससे भी हाथ धोओगे।"

"जा जा, तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए।" कहकर दो-चार और

सुना दीं। मैं पाई लेकर चलता बना और सोचा कि महाराजने पाई गंवाई और मैंने बचाई। पर महाराज पाई खोने वाले नहीं थे। उन्होंने मुझे वापस बुलाया, "अच्छा धर दो। मैं तुझ-जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूं तो तेरा बुरा होगा।"

मैंने चुपचाप पाई दी और लंबी सांस लेकर चलता बना। इसके बाद दो बार काशी विश्वनाथके दर्शन कर चुका हूं। पर वह तो 'महात्मा' बननेके बाद। अतः १९०२ के अनुभव फिर कहां नसीब होते? मेरे दर्शन करनेवाले मुझे दर्शन क्यों करने देते? 'महात्मा' होनेकी मुसीबत मुझ-जैसे 'महात्मा' ही जानते हैं। बाकी गंदगी और शोर तो मैंने जैसा-का-तैसा पाया।

भगवानकी दयाके संबंधमें किसीको शंका हो तो उसे ऐसे तीर्थक्षेत्र देखने चाहिए। वह महायोगी, अपने नामपर कितना ढोंग, अधर्म, पाखंड इत्यादि सहन करता है। उसने तो कह रक्खा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्

अर्थात्—"जैसी करनी वैसी भरनी'। कर्मको मिथ्या कौन कर सकता है? फिर भगवान्के दखल देनेकी आवश्यकता ही कहां है? उसने तो अपने कानून बनाकर हाथ धो डाले हैं।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज बेसेंटके दर्शन करने गया। मुझे मालूम था कि वह हालमें ही बीमारीसे उठी हैं। मैंने अपना नाम भेजा। वह तुरंत आई। मुझे तो दर्शन ही करने थे, इससे मैंने कहा—"आपकी तबीयत ज्यादा खराब होनेकी बात मुझे मालूम है। मुझे तो आपके दर्शन ही करने थे। सेहत नाजुक होते हुए भी आपने मुझे दर्शनकी इजाजत दी, इतना ही मेरे संतोषके लिए काफी है। आपको मैं अधिक कष्ट नहीं देना चाहता।" यह कहकर मैंने बिदा ली।

: २१ :
बंबईमें बसा

गोखलेकी बड़ी इच्छा थी कि मैं बंबईमें जमूं; वहां बारिस्टरी करूं और उनके लोक-सेवा-कार्यमें भाग लूं। उन दिनों सार्वजनिक सेवाका अर्थ था कांग्रेसका काम। उनकी स्थापित की हुई संस्थाका खास काम महासभाकी व्यवस्थाका संचालन था।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर काम मिलनेके बारेमें मुझे आत्म-विश्वास नहीं था। खुशामद करना विषतुल्य लगता था।

इसलिए पहले तो मैं राजकोट में ही रहा। वहां मेरे पुराने हितेच्छु और मुझे विलायत भेजनेवाले केवलराम मावजी दवे थे। उन्होंने मुझे तीन मुकदमे दिये। काठियावाड़के जुडिशल असिस्टेंट-के सामने दो अपीलें थीं और एक इब्तिदाई मुकदमा जामनगरमें था। यह मामला महत्त्वका था। मैंने इसकी जिम्मेदारी लेनेमें आनाकानी की। इसपर केवलराम बोल उठे—"हारेंगे तो हम हारेंगे न? तुमसे जितना बने करना। तुम्हारे साथ मैं भी तो होऊंगा?"

इस मुकदमेमें प्रतिपक्षीकी ओरसे स्वर्गीय समर्थ थे। मेरी तैयारी काफी थी। हिंदुस्तानके कानूनका मुझे अधिक ज्ञान नहीं था, पर केवलराम दवेने मुझे इस बारेमें पूरी तरह तैयार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका जानेके पहले दोस्तोंसे सुना करता था—"शहादतका कानून (एविडेंस एक्ट) फीरोजशाहकी जबानपर है और यही उनकी सफलताकी कुंजी है।" मैंने इसे याद रखा और दक्षिण अफ्रीका जाते हुए मैंने यहांका कानून-शहादत टीकासहित पढ़ डाला था। इसके सिवा दक्षिण अफ्रीकाका अनुभव तो था ही।

मुकदमेमें हमारी जीत हुई। इससे मेरे भीतर कुछ विश्वास उत्पन्न हुआ। उक्त दो अपीलोंके बारेमें तो मुझे शुरूसे ही कोई

डर न था। इससे ऐसा जान पड़ा कि बंबई जाऊं तो शायद वहां भी अड़चन न होगी।

इस विषयपर आनेसे पहले जरा अंग्रेज अधिकारियोंके अविचार और अज्ञानके विषयमें अपना अनुभव सुना दूं। जुडिशल असिस्टेंट कहीं एक जगह जमकर नहीं बैठते थे। उनका इजलास आज यहां, कल वहां हुआ करता था। और जहां वह हजरत जाते थे वहां वकील-मुवक्किलोंको भी जाना पड़ता था। वकीलका मेहनताना जितना सदर मुकाममें होता, बाहर जानेपर उससे ज्यादा होना ही ठहरा। अतः मुवक्किलको सहज ही दूना खर्च पड़ जाता था। पर जज इसका विचार क्यों करने लगा?

इस अपीलकी सुनवाई वेरावलमें होने वाली थी। वहां उन दिनों बड़े जोरका प्लेग था। मुझे याद है कि रोज पचासके करीब केस होते थे। वहांकी आबादी ५५०० के लगभग थी। गांव करीब-करीब खाली हो गया था। मेरा डेरा वहांकी निर्जन धर्मशालामें था। गांवसे वह कुछ फासलेपर थी। पर बेचारे मुवक्किल कहां जायं? गरीब होनेकी हालतमें उन्हें बस भगवान्‌का ही भरोसा था।

मेरे पास वकील दोस्तोंका तार आया था कि मैं साहबसे प्रार्थना करूं कि प्लेगके कारण मुकाम बदल दें। दरखास्त देनेपर साहबने पूछा—"आपको कुछ डर लगता है?"

मैंने कहा—"यह मेरे डरनेका सवाल नहीं है। मैं मानता हूं कि मैं अपना इंतजाम कर लूंगा। मगर मुवक्किलोंका क्या होगा?"

साहब बोले—"प्लेगने हिंदुस्तानमें घर कर लिया है, उससे क्या डरना है? वेरावलकी हवा कैसी सुंदर है! (साहब गांवसे दूर—समुद्र-किनारे महल सरीखे तंबू में रहते थे।) लोगोंको इस प्रकार बाहर रहना सीखना चाहिए।"

इस फिलासफीके सामने मेरी क्या चलती? साहबने पेशकारसे कहा—"मि० गांधीकी बातको ध्यानमें रखियेगा और

वकीलों तथा मुवक्किलोंको बहुत दिक्कत पड़ती हो तो मुझे बतलाइएगा।"

इसमें साहबने सरल भावसे अपनी समझके अनुसार ठीक ही किया; पर उन्हें कंगाल हिंदुस्तानकी अड़चनोंका अंदाज कैसे हो सकता? वह बेचारे हिंदुस्तानकी जरूरतों, बुरी आदतों, स्वभाव और रिवाजोंको कैसे समझते? जिसे गिन्नियोंमें गणना करनेकी आदत हो उससे पाइयोंमें हिसाब लगानेको कहिए तो झटसे कैसे जोड़ सकेगा? नेक-से-नेक इरादा होनेपर भी हाथी जैसे चींटीकी दृष्टिसे विचार करनेमें असमर्थ होता है, वैसे हाथीकी जरूरत-वाला अंग्रेज चींटीकी जरूरतवाले हिंदुस्तानीके लिए विचार करने या नियम बनानेमें असमर्थ ही होगा।

अब मूल विषयपर आना चाहिए। ऊपर बताये अनुसार सफलता मिलनेपर भी मैं थोड़े दिनोंतक राजकोटमें ही रह जानेकी बात सोच रहा था। इतनेमें एक दिन केवलराम मेरे पास पहुंचे और बोले—"गांधी! तुम्हें यहां नहीं रहने दिया जायगा। तुम्हें तो बंबईमें रहना होगा।"

"पर वहां मुझे पूछेगा कौन? मेरा खर्च आप चलाएंगे क्या?"

"हां-हां' मैं तुम्हारा खर्च चलाऊंगा। तुम्हें बड़े बारिस्टरके रूपमें कभी-कभी यहां ले आया करूंगा और मसविदे वगैराका काम तुम्हें वहां भेजूंगा। बैरिस्टरोंको बड़ा छोटा बनाना तो हम वकीलोंका ही काम है न? तुमने अपनी योग्यता तो जामनगर और वेरावलमें सिद्ध कर ही दी है; इसलिए मैं बेफिक्र हूं। तुम जो सार्वजनिक कार्यके लिए सिरजे गये हो, उसे हम काठियावाड़में दफन न होने देंगे। बोलो, कब जाते हो?"

"नेटालसे मेरे थोड़े रुपये आने बाकी हैं। उनके आनेपर जाऊंगा?"

रुपये एक-दो हफ्तेमें आ गये और मैं बंबई गया। पेइन, गिलबर्ट और सयानीके दफ्तरमें कमरे कियायेपर लिये और जान पड़ा कि अब यहां जम गया।

: २२ :

धर्म-संकट

मैंने जैसे दफ्तर लिया वैसे गिरगांवमें घर लिया, पर ईश्वरने मुझे स्थिर न होने दिया। घर लिये अधिक दिन न हुए थे कि इतनेमें मेरा दूसरा लड़का सख्त बीमार हुआ। उसे कालेज्वरने पकड़ा। बुखार उतरता न था। बेचैनी भी थी। साथ ही रातमें सन्निपातके लक्षण भी दिखाई दिये। इस बीमारीके पहले, बचपनमें, उसे चेचक भी खूब जोरोंसे निकल चुकी थी।

डाक्टरकी सलाह ली। उन्होंने कहा—"इसे दवा कम ही काम करेगी। इसे अंडा और मुर्गीका शोरबा देनेकी जरूरत है।"

मणिलालकी उम्र दस साल की थी। उससे मुझे क्या पूछना था? अभिभावक होनेके कारण मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर बड़े सज्जन पारसी थे। मैंने कहा—"डाक्टर साहब! हम सब अन्नाहारी हैं। मेरा विचार अपने लड़केको इन दोनोंमेंसे एक भी चीज देनेका नहीं होता है। और कुछ बता सकते हैं?"

डाक्टर बोले—"आपके लड़केकी जान खतरेमें है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर इससे उसको पूरा पोषण नहीं मिल सकता। आप तो जानते हैं, मैं बहुतेरे हिंदू घरोंमें जाता हूं, पर दवाकी शक्लमें तो हम चाहे जो चीज दें वे उसे ले लेते हैं। मैं तो समझता हूं कि आप अपने लड़केपर ऐसी सख्ती न करें तो अच्छा है।"

"आप जो कहते हैं वह तो ठीक है। आपका यही कहना फर्ज है। मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। लड़का बड़ा होता तो मैं जरूर उसकी इच्छा जाननेकी कोशिश करता और वह जो चाहता करने देता। यहां तो मुझे ही इस बच्चेके बारेमें फैसला करना है। मुझे तो जान पड़ता है कि मनुष्यके धर्मकी परीक्षा ऐसे ही समय होती है। सच हो या झूठ, लेकिन मैंने इसे धर्म मान रखा है कि मनुष्यको मांसादिक नहीं खाना चाहिए। जीवनके साधनोंकी भी

सीमा होती है। कुछ बातें ऐसी हैं जो जीनेके लिए भी हमें न करनी चाहिए। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे अपने लिए और अपनोंके लिए, ऐसे समय भी मांस इत्यादिका उपयोग करनेसे मना करती है, इसलिए आप जो बतला रहे हैं वह जोखिम मुझे उठानी ही पड़ेगी। पर आपसे एक प्रार्थना करता हूं। आपका इलाज तो मैं न करूंगा, पर मुझे बच्चेकी छाती, नाड़ी इत्यादि देखना नहीं आता। मुझे खुद पानीके उपचारोंकी कुछ जानकारी है। उन्हें करनेकी बात सोच रहा हूं। पर अगर आप जब-तब मणिलालकी तबीयत देखने आते रहें और उसके शरीरमें होनेवाले फेरफार मुझे बतलाते रहें तो मैं आपका बड़ा उपकार मानूंगा।

सज्जन डाक्टरने मेरी कठिनाई समझी और मेरी प्रार्थनानुसार मणिलालको देखने आना स्वीकार किया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था, फिर भी डाक्टरके साथ जो बातें हुईं थीं वे मैंने उसे सुना दीं और उसका विचार पूछा।

"आप खुशीसे पानीका इलाज कीजिए। मुझे शोरबा नहीं पीना है और न अंडे खाने हैं।"

इस जवाबसे मैं खुश हुआ। गोकि मैं समझता था कि यदि मैंने उसे ये दोनों चीजें खिलाई होतीं तो वह खा भी लेता।

मैं कूने (लूई कूने) के इलाज जानता था। उसके प्रयोग भी किये थे। रोगमें उपवासका बड़ा महत्त्व है, यह भी जानता था। मैंने मणिलालको कूनेकी रीतिसे कटिस्नान कराना शुरू किया। तीन मिनटसे अधिक मैं उसे टबमें नहीं रखता था। तीन दिन केवल पानी मिलाये हुए संतरेके रसपर रखा।

ज्वर जाता न था। रातको कुछ अकबक करता था। तापमान १०४ डिग्रीतक जाता था। मैं घबराया। लड़केको गंवा बैठा तो दुनिया मुझे क्या कहेगी? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरा डाक्टर क्यों न बुलायें? वैद्यको क्यों न बुलाऊं? अपनी अक्ल आजमानेका मां-बापको क्या हक है? ऐसे विचार मनमें आते थे।

फिर इस तरहके भी विचार उठते थे, "हे जीव ! तू अपने लिए जो करता है, वही लड़केके लिए भी करता है, तो परमेश्वर संतोष मानेगा। तुझे पानीके इलाजपर श्रद्धा है, दवापर नहीं है। डाक्टर जीवनदान नहीं देता। वह भी तो अजमाइशें ही करता है। जीवनकी डोर तो एक ईश्वरके ही हाथ में है ? ईश्वरका नाम लेकर, उसपर भरोसा रखकर तू अपना रास्ता न छोड़।"

इस तरहका मंथन मनमें चलता रहता। रात पड़ी। मैं मणिलालको बगलमें लेकर सोया था। मैंने उसे भिगोकर निचोड़ी हुई चादरमें लपेटनेका निश्चय किया। मैं उठा। चादर ली। ठंडे पानीमें डुबोई। निचोड़ी। उसमें सिरसे पैरतक मणिलालको लपेट दिया। ऊपरसे दो कंबल उढ़ा दिये। सिरपर गीला तौलिया रखा। देह तवेकी तरह तप रही थी और बिलकुल खुश्क हो रही रही थी। पसीना आता ही न था।

मैं बहुत थक गया था। मणिलालको उसकी मांको सौंपकर मैं चौपाटी चला गया कि आध घंटे हवा खाकर जरा ताजा हो लूं और शांति प्राप्त करूं। रातके दस बजे होंगे। आदमियोंकी आवाजाही कम पड़ गई थी। मुझे थोड़ा ही होश था। विचारसागरमें गोते खा रहा था। हे ईश्वर ! इस धर्म-संकटमें तुम मेरी लज्जा रखना। 'राम-राम' की रटन तो मुंहमें थी ही। थोड़ा चक्कर लगाकर धड़कते कलेजेसे वापस लौटा। ज्योंही घरमें दाखिल हुआ, मणिलालने पुकारा—"बापू ! आ गये ?"

"हां भाई !"

"मुझे अब इसमेंसे निकालिये न। जल रहा हूं।"

"क्यों पसीना छूट रहा है क्या ?"

"मै तो भीग गया हूं। अब मुझे निकालिये न, बापूजी।"

मैंने मणिलालका माथा देखा। माथेपर पसीनेकी बूंदे नजर आईं। ज्वर उतर रहा था। मैंने ईश्वरको धन्यवाद दिया।

"मणिलाल ! अब तेरा बुखार चला जायगा। अभी थोड़ी देर पसीना आने दे न ?"

"नहीं बापूजी, अभी तो मुझे निकालिए। पीछे फिर लपेट दीजिएगा।"

मुझे धीरज आ गया था, इसलिए बातोंमें लगाकर कुछ मिनट गुजारे। माथेसे पसीनेकी धार बह चली। मैंने चादर खोली। शरीर पोंछा और बाप-बेटे साथ सो गये। दोनोंने गहरी नींद ली।

सवेरे मणिलाल का बुखार कम पाया। दूध और पानी तथा फलोंके रसपर वह चालीस दिन रहा। मैं निर्भय हो गया था। ताप हठीला होनेपर भी वशमें आ गया था। आज मेरे सब लड़कों-में मणिलाल शरीरसे सबसे ज्यादा मजबूत है।

मणिलालका आरोग्य-लाभ रामकी देन है या पानीके इलाज अल्पाहार और शुश्रूषाकी, इसका निर्णय कौन कर सकता है? सब अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार जो मानना चाहें मान लें। भगवान्‌ने मेरी लाज रखी, इतना मैंने जाना और आज भी यही मानता हूं।

: २३ :

फिर दक्षिण अफ्रीका

मणिलाल चंगा तो हो गया, पर मैंने देखा कि गिरगांववाला घर रहने लायक नहीं है। उसमें सील थी। रोशनी काफी नहीं थी। इससे रेवाशंकरभाईसे सलाह की और हम दोनोंने बंबईके किसी उपनगरमें बंगला लेनेका निश्चय किया। मैं बांदरा, सान्ताक्रुज वगैरामें भटका। बांदरामें कसाईखाना था, इससे वहां रहनेकी हममेंसे किसीकी इच्छा नहीं हुई। घाटकोंपर वगैरा समुद्रसे दूर जान पड़े। सान्ताक्रुजमें एक सुंदर बंगला मिल गया। हम उसमें गये और ऐसा जान पड़ा कि आरोग्यकी दृष्टिसे हम सुरक्षित हो गये। मैंने चर्चगेट जानेका पहले दरजेका पास ले लिया। पहले दरजेमें अक्सर मैं अकेला ही होता था, इससे कुछ गर्वका भी अनुभव करता था, ऐसा याद है। अक्सर बांदरासे

चर्चगेट जानेवाली खास ट्रेन पकड़नेके लिए सान्ताक्रुजसे बांदरा-तक पैदल ही जाता था।

मेरा धंधा पैसेकी दृष्टिसे, मैंने जैसा सोचा था, उससे अच्छा चला। दक्षिण अफ्रीकाके मुवक्किल भी मुझे कुछ काम दिया करते थे। मुझे आशा हुई कि उससे मेरा खर्च आसानीसे चल जायगा।

हाईकोर्टका काम तो मुझे अभी कुछ मिलता नहीं था। पर उन दिनों 'मूट'[1] (चर्चा) चलती थी। उसमें मैं जाया करता था, गो उसमें शामिल होनेकी हिम्मत न होती थी। मुझे याद है कि उसमें जमियतराम नानाभाई खासा हिस्सा लेते थे। दूसरे नये बारिस्टरोंकी तरह मै भी हाईकोर्टमें मुकदमे सुनने जाया करता था। वहां जो जानकारी मिलती उसकी बनिस्बत समुद्रकी फर्राटेसे आती हुई हवामें झपकियां लेनेमें अधिक सुख मिलता था। झपकियां लेनेवाले और साथी भी थे, अत: मुझे इसमें शरम नहीं लगती थी। मैंने देखा कि झपकियां लेना फैशनमें दाखिल हो गया है।

हाईकोर्टके पुस्तकालयका उपयोग करना आरंभ किया और वहां कुछ जान-पहचान पैदा करना शुरू किया। मुझे आशा हुई कि थोड़े ही दिनोंमें मैं भी हाईकोर्टमें काम करने लगूंगा।

इस प्रकार एक ओरसे अपने धंधेके बारेमें कुछ निश्चितता आने लगी। दूसरी ओर गोखलेकी नजर तो मुझपर लगी ही रहती थी। हफ्तेमें दो-तीन बार चेंबरमें आकर मेरा हाल-चाल पूछ जाते और अपने खास दोस्तोंको भी कभी-कभी ले आते थे। अपने काम करनेके ढगसे भी मुझे वाकिफ कराते जाते थे।

पर कह सकता हूं कि अपने भविष्यके बारेमें ईश्वरने मेरा सोचा कुछ भी न होने दिया। ज्योंही मैंने स्थिर होकर काममें लगनेका निश्चय किया और कुछ स्थिरता अनुभव करने लगा कि अचानक दक्षिण अफ्रीकाका तार पहुंचा--

[1] अभ्यासके लिए फर्जी मुकदमेमें बहस करना।

"चेंबरलेन यहां आ रहे हैं, आपको अविलंब आना चाहिए।" अपना वचन तो मुझे याद था ही। मैंने तार दिया—"खर्च भेजिए, आनेको तैयार हूं।" उन्होंने तुरंत रुपये भेज दिये और दफ्तर समेटकर मैं रवाना हो गया।

मैंने सोचा कि मुझे वहां एक साल तो लग ही जायगा। सो बंगला रहने दिया और बाल-बच्चोंको वहीं रहने देना ठीक जान पड़ा।

मैं उस समय मानता था कि जो युवक देशमें पैसा न कमा सकते हों और साहसी हों, उनका विदेश चले जाना अच्छा है। इसलिए अपने साथ चार-पांच नवयुवकोंको लेता गया, जिनमें मगनलाल गांधी भी थे।

गांधी-कुटुंब बड़ा था। आज भी है। मै सोचता था कि उनमेंसे जो लोग स्वतंत्र होना चाहें, स्वतंत्र हो जायं। मेरे पिता बहुतोंका भरण-पोषण करते थे। पर वह थे रजवाड़की नौकरीमें। मुझे ऐसा लगा कि इस नौकरीसे निकला जा सके तो अच्छा है। मैं उन्हें नौकरियां दिलानेमें मदद नहीं कर सकता था। शक्ति होते हुए भी इच्छा नहीं होती थी। मेरी यह धारणा थी कि वे और दूसरे भी स्वावलंबी बनें तो अच्छा है।

पर अंतमें, ज्यों-ज्यों मेरा आदर्श आगे गया त्यों-त्यों, मैं ऐसा मानता हूं कि इन युवकोंके आदर्शोंको उस सांचेमें ढालनेकी मैंने कोशिश की। उनमें मगनलाल गांधीको अपने रास्तेपर लगानेमें मुझे अच्छी सफलता मिली। पर इसकी चर्चा आगे चलकर करनी होगी।

बाल-बच्चोंका वियोग, बने घोंसलेको बिगाड़ना, निश्चित स्थितिसे अनिश्चितमें प्रवेश—यह सब क्षणभर अखरा, पर मुझे तो अनिश्चित जीवनकी आदत पड़ गई थी। इस जगत्में जहां ईश्वर कहिए या सत्य कहिए, उसके सिवा दूसरा कुछ भी निश्चित नहीं है, वहां अनिश्चितताका खयाल करना ही गलत मालूम होता है। यह संपूर्ण वस्तु-व्यापार, जो अपने आस-पास दिखाई

देता और हो रहा है, अनिश्चित है, क्षणिक है; उसमें जो एक परम तत्त्व निश्चितरूपसे अंतर्निहित है उसकी झांकी हो जाय, उसपर श्रद्धा रहे तभी जीना सार्थक हो सकता है। उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहा जा सकता कि डरबन एक दिन भी पहले पहुंचा। मेरे लिए काम तो तैयार ही था। मि० चेंबरलेनके पास डेपुटेशन जानेकी तारीख तै हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़ा जानेवाला आवेदन-पत्र बनाना था और डेपुटेशनमें साथ जाना था।

तीसरा भाग संपूर्ण

चौथा भाग

: १ :

किया-धरा चौपट ?

मि० चेंबरलेन साढ़े तीन करोड़ पौंड दक्षिण अफ्रीकासे लेने आये थे; अंग्रेजोंका, और हो सके तो बोअरोंका, मन जीतने आये थे। अतः भारतीय प्रतिनिधियोंको यह सूखा जवाब मिला--

"आप तो जानते हैं कि स्वराज्यभोगी उपनिवेशोंपर साम्राज्य सरकारका अंकुश नाममात्रका ही है। आपकी शिकायतें ठोस ही मालूम होती हैं। मुझसे जो कुछ हो सकेगा, करूंगा, पर आपको जैसे भी बने यहांके गोरोंको खुश रखकर रहना है।"

जवाब सुनकर प्रतिनिधिमंडलपर पाला पड़ गया। मैंने आशा छोड़ दी। जगे तबसे सवेरा मानकर फिर 'एकाएक, दूआ दो,' से आरंभ करना पड़ेगा, यह समझ लिया। साथियोंको यह बात समझा दी।

पर मि० चेंबरलेनका जवाब क्या बेजा था? गोलमटोल बातें कहनेके बजाय उन्होंने साफ कह दिया। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'का कानून उन्होंने जरा मीठे शब्दोंमें समझा दिया। पर हमारे पास लाठी थी ही कहां? हमारे पास तो लाठीकी चोट झेलने लायक शरीर भी मुश्किलसे थे।

मि० चेंबरलेन कुछ हफ्ते ही ठहरनेवाले थे। दक्षिण अफ्रीका कोई छोटा-सा प्रांत नहीं है। यह एक देश है, खंड है। अफ्रीकामें तो अनेक उप-खंड समाये हुए हैं। कन्याकुमारीसे श्रीनगर यदि १९०० मील है तो डरबनसे केपटाउन भी ११०० मीलसे कम नहीं है। इस खंडमें मि० चेंबरलेनको तूफानी दौरा करना था।

वह ट्रांसवालको रवाना हुए। मुझे वहांके हिंदुस्तानियोंका 'केस' तैयार करके पेश करना था। प्रिटोरिया कैसे पहुंचा जाय ? वहां मैं वक्तसे पहुंच जाऊं, इसके लिए इजाजत लेनेका काम हमारे आदमियोंसे होनेवाला न था।

युद्धके बाद ट्रांसवाल उजाड़-सा हो गया था। वहां न खानेको अन्न था, न पहननेको कपड़ा। खाली और बंद पड़ी दुकानोंको भरना और खुलवाना था। यह तो धीरे-धीरे ही हो सकता था। जैसे-जैसे माल आता जाय, वैसे-वैसे ही घर-बार छोड़कर भागे हुए लोगोंको लौटने दिया जा सकता था। इससे प्रत्येक ट्रांसवाल-वासीको परवाना लेना पड़ता था। गोरोंको तो परवाना मांगते ही मिल जाता था; हिंदुस्तानियोंकी मुसीबत थी। लड़ाईके समय हिंदुस्तानसे और लंकासे बहुत-से अफसर और सिपाही दक्षिण अफ्रीका पहुंच गये थे। उनमेंसे जो लोग वहां बसना चाहते हों, उनके लिए उसका सुभीता कर देना ब्रिटिश राज्या-धिकारियोंपर फर्ज माना गया था। नया अधिकारी मंडल तो उन्हें बनाना था ही। उसमें इन अनुभवी अधिकारियोंकी अनायास गुंजाइश हो गई। इन अधिकारियोंकी तीव्र बुद्धिने एक नया विभाग ही ढूंढ़ निकाला। उसमें उनका अधिक पटु होना भी अनिवार्य था। हब्शियोंसे संबंध रखनेवाला एक अलग विभाग तो था ही, फिर एशियाइयोंके लिए क्यों न हो ? दलील ठीक समझी गई। यह नया विभाग, मेरे पहुंचनेतक, खुल चुका था। वह धीरे-धीरे अपना जाल बिछा रहा था। जो अधिकारी भागे हुओंको लौटनेका परवाना देता था, वही चाहे तो और सबको भी दे सकता था। पर अमुक एशियावासी है यह वह कैसे जाने ? यदि इस नये विभाग की सिफारिशपर ही एशियाई परवाना मिला करे तो उक्त अधिकारीकी जिम्मेदारी कम हो जाती है और उसका कार्यभार भी कुछ हल्का हो जाय। यह दलील नया विभाग खोलनेके समर्थनमें पेशकी गई थी। पर असलियत यह थी कि नये विभागको कुछ कामकी और कुछ दामकी जरूरत थी। काम

न हों तो इस विभागकी आवश्यकता सिद्ध न होती और अंतम उसे बंद कर देना पड़ता। इस कारण यह काम उसे सहज ही मिल गया।

इस महकमेमें हिंदुस्तानियोंको दरख्वास्त देनी पड़ती, फिर वहुत दिनों बाद जवाब मिलता। ट्रांसवाल जानेकी इच्छा रखनेवाले अधिक थे, अत: उनके लिए दलाल पैदा हो गये। इन दलालों और अधिकारियोंके बीच गरीब हिंदुस्तानियोंके हजारों रुपये लुट गये। मुझे बतलाया गया कि बिना जोर-जरियेके परवाना मिलता ही नहीं। और जरिया होनेपर भी कितनी ही बार तो एक-एक व्यक्तिके लिए सौ-सौ पौंडतक खर्च हो जाते हैं। इसमें मेरा ठिकाना कहां लगता?

मैं अपने पुराने मित्र डरबनके पुलिस सुपरिंटेंडेंटके यहां पहुंचा और उनसे कहा, "आप मेरा परिचय परवाना देनेवाले अधिकारीसे करा दें और मुझे परवाना दिला दें। मैं ट्रांसवालमें रहा हूं, यह तो आप जानते हैं।" वह तुरंत सिरपर टोप रखकर मेरे साथ हो लिये और मुझे परवाना दिला दिया। मेरी ट्रेनको मुश्किलसे एक घंटा बाकी था। मैंने सामान आदि पहले ठीककर रखा था। सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरको धन्यवाद देकर प्रिटोरियाके लिए रवाना हो गया। कठिनाइयोंका मुझे सही-सही अंदाजा हो गया था। मै प्रिटोरिया पहुंचा। दरख्वास्त तैयार की। डरबनमें प्रतिनिधियोंके नाम किसीसे पूछनेकी मुझे याद नहीं। यहां तो नया विभाग काम कर रहा था, इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम पहलेसे पूछ लिये गये। इसका मतलब मुझे दूर रखना था। यह खबर प्रिटोरियाके हिंदुस्तानियोंको मिल गई थी।

यह दु:खद किंतु मनोरंजक कहानी आगे लिखी जायगी।

: २ :

एशियाई नवाबी

नये विभागके अधिकारी समझ न पाये कि मैं ट्रांसवालमें किस तरह दाखिल हो गया ? उन्होंने अपने पास आनेजानेवाले हिंदुस्तानियोंसे पूछा—पर उन बेचारोंको क्या पता ? अधिकारियोंने अनुमान किया कि मैं अपने पूर्वपरिचयोंके कारण बिना परवानेके दाखिल हुआ होऊंगा और ऐसा हो तो मैं गिरफ्तार किया जा सकता हूं।

किसी बड़ी लड़ाईके बाद भी सभी जगह कुछ दिनोंके लिए राज्यकर्त्ताओंको विशेष अधिकार दिये जाते हैं। दक्षिण अफ्रीकामें भी यही हुआ था। वहां शांतिरक्षाके निमित्त एक खास कानून बनाया गया, जिसकी एक दफा यह थी कि जो कोई बिना परवानेके ट्रांसवालमें दाखिल हो वह गिरफ्तार कर लिया जाय और कैदमें रखा जाय। इस दफाके अनुसार मुझे पकड़नेकी सलाहें होने लगीं। पर मुझसे परवाना मांगनेकी किसीकी हिम्मत न हुई।

अधिकारियोंने डरबनको तार तो दिये ही थे। वहांसे जब उन्हें यह सूचना मिली कि मैं परवाना लेकर दाखिल हुआ हूं तो वे निराश हो गए। पर ऐसी नाउम्मीदीसे यह विभाग हिम्मत हारनेवाला नहीं था। मैं ट्रांसवाल पहुंच तो गया; लेकिन मि० चेंबरलेनके पास मुझे न पहुंचने देनेमें यह विभाग अवश्य सफल हो सकता था।

अतः पहले नाम मांगे गये। दक्षिण अफ्रीकामें वर्णद्वेषका अनुभव तो जहां-तहां होता ही था, पर यहां हिंदुस्तान-सरीखी गोलमाल और चालबाजीकी बू आई। दक्षिण अफ्रीकामें आम महकमे जनहितके लिए चलते थे। इसलिए अधिकारियोंमें एक प्रकारकी सरलता और नम्रता होती थी। इसका लाभ थोड़े-बहुत अंशोंमें काली-पीली चमड़ीवालोंको भी अनायास मिल जाता था। अब जब दूसरे—एशियाई वातावरणका प्रवेश हुआ तो वहांकी

जैसी जी-हजूरी, वहांकी जैसी जोड़-तोड़ वृत्ति तथा दूसरी गंदी बुराइयां भी आ घुसीं। दक्षिण अफ्रीकामें एक प्रकारका प्रजातंत्र था, पर एशियामेंसे तो निरी नवाबी आई; क्योंकि वहां प्रजातंत्रकी सत्ता नही थी, बल्कि प्रजापर ही सत्ता चलाई जाती थी। दक्षिण अफ्रीकामें तो गोरे घर बनाकर बस गये थे अर्थात् वे वहांकी प्रजा थे। इससे अधिकारियोंपर उनका अंकुश था। इसमें एशियासे आये हुए निरंकुश अधिकारियोंने शामिल होकर हिंदुस्तानियोंकी हालत सरौतेमें सुपारीके समान कर डाली।

मुझे भी इस नवाबीका खास अनुभव हो गया। पहले तो मैं इस विभागके प्रधानके सामने तलब किया गया। यह अफसर लंकासे आये थे। 'तलब किया गया' कहनेमें शायद अतिशयोक्ति लगे, इसलिए अपना आशय थोड़ा और स्पष्ट किये देता हूं। मेरे पास कोई लिखित आदेश नही आया था, पर अगुआ हिंदुस्तानियों-को तो वहां बराबर जाना ही पड़ता था। वैसे अगुओंमें स्व० सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मद भी थे। उनसे साहबने पूछा, "गांधी कौन है? वह किसलिए आया है?"

तैयब सेठने जवाब दिया--"वह हमारे सलाहकार है। उन्हें हमने बुलाया है।"

साहब बोले--"तो हम सब यहां किस मतलबके लिए है? हम आप लोगोंकी रक्षाके लिए नहीं रखे गए है? गांधीको यहांके बारेमें क्या मालूम?"

तैयब सेठने अपनी बुद्धिके अनुसार उत्तर दिया--"आप तो हैं ही। पर गांधी तो हमारे अपने समझे जायंगे न? वह हमारी भाषा जानते हैं; वह हमें समझे हैं। आप तो ठहरे अधिकारी।"

साहबने हुक्म दिया--"गांधीको मेरे पास लाना।"

तैयब सेठ आदिके साथ मैं गया। कुर्सी तो मिल ही कैसे सकती थी? हम सब खड़े रहे। साहबने मेरी ओर देखकर पूछा, "कहिए, आप यहां किसलिए आये हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "अपने भाइयोंके बुलानेसे उन्हें सलाह देने

आया हूं।"

"पर आपको मालूम नहीं कि आपको यहां आनेका अधिकार ही नहीं है। आपको परवाना तो भूलसे मिल गया है। आप यहांके निवासी नहीं माने जा सकते। आपको तो वापस जाना पड़ेगा। आप मि० चेबरलेनके पास नहीं जा सकते। यहांके हिंदुस्तानियोंकी रक्षाके लिए तो हमारा विभाग खास तौरसे खोला ही गया है। अच्छा, जाइए।"

इतना कहकर साहबने मुझे विदा किया। मुझे उत्तर देनेका मौका ही न दिया।

दूसरे साथियोंको रोक लिया। उन्हें धमकाया और सलाह दी कि मुझे ट्रांसवालसे विदा कर दें। साथी मुंह लटकाये हुए लौटे। यों एक नई अनसोची समस्या हमारे सामने हल करनेको खड़ी हो गई।

: ३ :

कड़वे घूंट पीने पड़े

इस अपमानका मुझे बड़ा दु:ख हुआ; पर इससे पहले ऐसे अनेक अपमान सह चुका था। इससे मुझे उनका घट्ठा-सा पड़ गया था। अत: अपमानकी परवा न करते हुए तटस्थ भावसे मुझे जो कर्तव्य जान पड़े, उसे करते जानेका निश्चय किया।

उपर्यक्त अधिकारीकी दस्तखती चिट्ठी आई। उसमें लिखा था कि मि० चेंबरलेन डरबनमें मि० गांधीसे मिल चुके हैं। इस-लिए अब उनका नाम प्रतिनिधियोंकी सूचीमेंसे निकाल देना जरूरी हो गया है।

साथियोंको यह पत्र असह्य जान पड़ा। उन्होंने कहा, "तो हम डेपुटेशन ही नहीं ले जायंगे।" मैंने उन्हें बताया कि हमारे भाइयोंकी स्थिति कैसी विषम है। यदि आप लोग मि० चेंबरलेनके पास न जायंगे तो यह माना जायगा कि यहां हमें कोई कष्ट है ही

नहीं। अंतमें जो कहना है वह तो लिखकर ही कहना है। वह लिखा तैयार है। मैं पढ़ूं या और कोई पढ़े, इसकी कोई चिंता नहीं। मि० चेंबरलेन हमसे कोई बहस थोड़े ही करनेवाले हैं? मेरा जो अपमान हुआ है, उसे हमें पी जाना पड़ेगा। मैं यों कह ही रहा था कि तैयब सेठ बोल उठे—'पर आपका अपमान तो जातिका ही है न? आप हमारे प्रतिनिधि हैं, यह कैसे भुलाया जा सकता है?"

मैंने कहा, "यह सही है, पर कौमको भी ऐसे अपमानोंको पी जाना पड़ेगा। अपने पास दूसरा उपाय ही क्या है?"

तैयब सेठने जवाब दिया, "जो होना है, हो जायगा। हम अपने हाथों दूसरा अपमान क्यों स्वीकार करें? हमारा काम तो बिगड़ ही रहा है। कौन हमें हक मिले जाते हैं?"

यह जोश मुझे भाता था; पर मैं यह भी जानता था कि उसका फायदा नहीं उठाया जा सकता। जातिकी मर्यादाका मुझे पता था, अत: मैंने साथियोंको शांत किया और अपनी ओरसे स्व० जार्ज गाडफ्रेको, जो हिंदुस्तानी बारिस्टर थे, ले जानेकी राय दी।

यों मि० गाडफ्रे डेपुटेशनके मुखिया बने। मेरे संबंधमें मि० चेंबरलेनने थोड़ी चर्चा भी की—'एक ही आदमीको बार-बार सुननेकी अपेक्षा नयेको सुनना ज्यादा अच्छा है', वगैरा बातें कह-कर जो घाव किया था उसे भरने की कोशिश की।

पर इससे जातिका और मेरा काम पूरा न होकर और बढ़ गया। फिर 'क का कि की' से शुरू करना जरूरी हो गया। "आपके कहनेसे जातिने लड़ाईमें भाग लिया, पर नतीजा तो यही निकला न?" यह ताना मारनेवाले भी निकल आये। इन तानोंका मुझपर कोई असर न हुआ। मैंने कहा, "मुझे उस सलाहके लिए पछतावा नहीं है। मैं आज भी मानता हूं कि लड़ाईमें भाग लेकर हमने उचित किया। वैसा करके हमने अपने कर्तव्यका पालन किया है। उसका फल भले ही हम न देख पायें, पर शुभ कामका फल शुभ ही होता है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। बीतीका विचार

करनेकी अपेक्षा अब हमारा क्या कर्तव्य है, इसपर विचार करना अधिक अच्छा है। इस बातका दूसरोंने भी समर्थन किया।

मैंने कहा, "सच पूछिये तो जिस कामके लिए मैं बुलाया गया था, उसे तो अब पूरा हो गया मान सकते हैं। पर मैं मानता हूं कि आप मुझे छुट्टी दे दें तो भी जहांतक मेरा बस चले, मैं ट्रांसवाल-से न टलूं। मेरा काम अब नेटालसे नहीं, बल्कि यहां से चलना चाहिए। एक बरसके अंदर लौट जानेका खयाल मुझे छोड़ देना चाहिए और यहांकी वकालतकी सनद हासिल करनी चाहिए। इस नये विभागसे निबटनेकी हिम्मत मुझमें है। जो उससे हम न भिड़े तो जाति लुट जायगी और शायद यहांसे उसका बोरिया-बिस्तरा भी बंध जाय। जातिकी हीनता तो प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। मि० चेंबरलेन मुझसे नहीं मिले, उक्त अधिकारीने मुझ-से तुच्छताका बर्ताव किया, यह तो सारी जातिका जो अपमान हो रहा है उसके मुकाबलेमें कुछ भी नहीं है। यहां हम कुत्तोंकी तरह रहें, यह सहन नहीं किया जा सकता।"

मैंने इस रूपमें बात चलाई। प्रिटोरिया और जोहान्सबर्गमें रहनेवाले हिंदुस्तानी नेताओंसे मशविरा करके अंतमें जोहान्स-बर्गमें दफ्तर रखनेका निश्चय हुआ।

ट्रांसवालमें मुझे वकालतकी सनद मिलनेमें भी शंका तो थी ही, पर वकील-समुदायकी ओरसे मेरी दरख्वास्तका विरोध नहीं हुआ और बड़ी अदालतने मेरी दरख्वास्त मंजूर कर ली।

हिंदुस्तानीको उपयुक्त स्थानमें दफ्तरके लिए मकान मिलना भी कठिन काम था। मि० रीचके साथ मेरी अच्छी जान-पहचान हो गई थी। उस समय वह व्यापारीवर्गमें थे। उनके परिचित हाउस-एजेंटके जरिये मुझे दफ्तरका मकान अच्छी जगह मिल गया और मैंने वकालत शुरू कर दी।

: ४ :

बढ़ती हुई त्यागवृत्ति

ट्रांसवालमें हिंदुस्तानियोंके हकोंके लिए किस तरह लड़ना पड़ा और एशियाई विभागके अधिकारियोंके साथ कैसे भुगतना पड़ा, यह बतलानेके पहले अपने जीवनके दूसरे पहलूपर निगाह डाल लेना जरूरी है।

अबतक कुछ पैसे इकट्ठे करनेकी इच्छा थी। परमार्थके साथ स्वार्थ मिला हुआ था।

बंबईमें जब अपना दफ्तर खोला तब एक अमेरिकन बीमा एजेंट मिलने आया था। उसका चेहरा मोहक था और बातें मधुर थीं। उसने मुझसे ऐसे ढंगसे मेरे भावी हितकी बातें की, मानो हम पुराने मित्र हों। "अमरीकामें तो आपकी स्थितिके सभी आदमी अपनी जिन्दगीका बीमा करते है। आपको भी बीमा कराके भविष्यके बारेमें निश्चित हो जाना चाहिए। जिंदगीका कुछ ठिकाना नहीं। अमरीकामें बीमा कराना हम अपना धर्म समझते है। एक छोटीसी पालिसी लेनेके लिए भी क्या मै आपको तैयार नही कर सकता ?"

तबतक दक्षिण अफ्रीकामें और हिंदुस्तानमें कितने ही एजेंटोंको मै लौटा चुका था। मुझे लगता था कि बीमा करानेमें कुछ डरपोकपन और ईश्वरपर अविश्वास रहता है। पर इस बार मै ललचाया। वह आदमी जैसे-जैसे बातें करता जाता वैसे-वैसे मेरे सामने पत्नी और पुत्रोंकी तस्वीर आती जाती। "अरे भले आदमी, तूने पत्नीके करीब-करीब सब जेवर बेच डाले हैं। कलको तुझे कुछ हो जाय तो पत्नी और बच्चोंके पालनका बोझ गरीब भाई-पर ही, जिसने बापका स्थान लिया और शोभित किया है, पड़ेगा न ? यह कोई अच्छी बात न होगी।" अपने मनके सामने मैंने इस तरहकी दलीलें रखी और १०,०००रु० का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण अफ्रीकामें मेरी स्थिति बदल गई और उसने मेरे

विचार भी पलट दिये। दक्षिण अफ्रीकाकी नई आपत्तिके समय मैंने जो-जो कदम उठाये वह ईश्वरको साक्षी रखकर ही उठाये थे। दक्षिण अफ्रीकामें मेरा कितना वक्त जायगा इसका पता मुझे नहीं था। मैंने समझ लिया था कि मैं हिंदुस्तान वापस नहीं जाने पाऊंगा। अपने बाल-बच्चोंको मुझे साथ ही रखना चाहिए। उनका वियोग अब नहीं होना चाहिए। उनका भरण-पोषण दक्षिण अफ्रीकामें ही होना चाहिए। यह विचार मेरे मनमें आनेके साथ ही उक्त पालिसी मेरे लिए दु:खद हो गई। बीमा-एजेंटके जालमें फंस जानेपर मैं लज्जित हुआ। भाई अगर बापके बराबर हैं, तो छोटे भाईकी विधवाका बोझ उन्हें खलेगा, यह तूने कैसे मान लिया? तू ही पहले मरेगा, यह भी कैसे सोच लिया? पालन करनेवाला तो ईश्वर है; न तू है, न भाई। बीमा कराकर तूने अपने बाल-बच्चोंको भी पराधीन बना दिया। वे स्वावलंबी क्यों न हों? अनगिनत गरीबोंके बाल-बच्चोंका क्या होता है? तू उन्हें उन्हींके-जैसा क्यों नहीं समझता?

यह विचार-धारा चली। उसपर अमल तुरंत नहीं कर बैठा। बीमेकी एक किस्त तो दक्षिण अफ्रीकासे भेजनेका मुझे स्मरण है।

पर इस विचार-प्रवाहको बाहरका उत्तेजन मिला। दक्षिण अफ्रीकाकी पहली यात्रामें मैं ईसाई वातावरणके संसर्गमें आकर धर्मके विषयमें जाग्रत रहा। इस बार थियॉसोफीके वातावरणमें आया। मि० रीच थियॉसोफिस्ट थे। उन्होंने मेरा जोहान्सबर्ग-की सोसायटीसे संबंध करा दिया। उसका मैं सदस्य नहीं बना। थियॉसोफीके सिद्धान्तोंसे मेरा मतभेद था, फिर भी लगभग हरएक थियासोफिस्टसे मेरा गाढ़ा परिचय हो गया। उनके साथ नित्य धर्मचर्चा होती थी। मैं उनकी पुस्तकें पढ़ता, उनकी सभामें बोलनेका अवसर भी आ जाता। थियासोफीमें भ्रातृभावनाको जगाना और बढ़ाना मुख्य बात थी। इस विषयकी चर्चा हम लोग खूब करते थे और मैं जहां इस सिद्धांतमें और सदस्योंके आचरणमें भेद पाता वहां आलोचना भी करता था। इस

आलोचनाका असर मुझपर खासा हुआ। मैं आत्मनिरीक्षण सीख गया।

: ५ :

निरीक्षणका परिणाम

सन् १८९३ में जब ईसाई मित्रोंसे मेरा मेल-जोल बढ़ा, तब मैं जिज्ञासु-मात्र था। ईसाई मित्र मुझे बाइबिलका संदेश सुनाने, समझाने और मुझसे उसे मनवानेकी कोशिशमें थे। मैं नम्रतापूर्वक तटस्थ-भावसे उनके उपदेश सुन-समझ रहा था। इस निमित्तसे मैंने हिंदू-धर्मका यथाशक्ति अध्ययन किया और दूसरे धर्मोंको समझनेकीभी कोशिश की। अब १९०३ में जरा हालत बदल गई थी। थियासोफिस्ट मित्र मुझे अपने मंडलमें मिलाना जरूर चाहते थे, पर वह हिंदूके रूपमें मुझसे कुछ पानेकी इच्छासे। थियॉसोफीकी पुस्तकोंमें हिंदू-धर्मकी छाया और उसका प्रभाव तो काफी है ही। इससे इन भाइयोंने मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकता हूं। मैंने उन्हें समझाया कि मेरा संस्कृतका अध्ययन नहींके बराबर है। मैंने हिन्दुओंके प्राचीन धर्मग्रंथ संस्कृतमें नहीं पढ़े हैं, भाषांतरोंके द्वारा भी कम ही पढ़ पाया हूं। फिर भी, चूंकि वे संस्कार और पुनर्जन्मको मानते थे, इसलिए मुझसे थोड़ी-बहुत मदद पानेकी आशा रखते थे और मैं 'निरस्त-पादपे देशे एरंडोऽपि द्रुमायते'[1] हो गया। किसीके साथ विवेकानन्दका तो किसीके साथ मणिलाल नभुभाईका 'राजयोग' पढ़ना शुरू किया। एक मित्रके साथ पातंजल योगदर्शन पढ़ना पड़ा। बहुतोंके साथ गीताका अभ्यास आरंभ हुआ। जिज्ञासुमंडलके नामसे एक छोटा-सा मंडल भी बनाया और नियमित अभ्यास चलने लगा। गीताजीपर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही, अब उसकी गहराईमें उतरनेकी आवश्यकता जान पड़ी। मेरे

[1] जहां कोई पेड़ न हो वहां एरंड ही पेड़ होता है।

पास एक-दो अनुवाद थ । उनकी सहायतासे मूल संस्कृतको समझनेका प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करनेका निश्चय किया ।

सवेरे दातौन और स्नानके समयका उपयोग गीता कंठ करनमें होने लगा। दातौनमें पंद्रह और स्नानमें बीस मिनट लगते थे । दातौन अंग्रेजी तरीकेसे खड़े-खड़े करता था । सामनेकी दीवारपर गीताके श्लोक लिखकर चिपका देता था और जब-जब आवश्यक हो उन्हें देखता था और घोखता जाता था। ये घोखे हुए श्लोक फिर स्नान करनेतक पक्के हो जाते थे। इसी बीच पहले कंठ किये हुए श्लोकोंको भी एक बार दुहरा जाता था। इस प्रकार तेरह अध्याय कंठ कर लेनेकी बात मुझे याद पड़ती है । इसके बाद काम बढ़ गया। सत्याग्रहका जन्म होनेपर इस बच्चेके लालन-पालनमें मेरा विचार करनेका समय भी जाने लगा और कहना चाहिए कि आज भी जा रहा है ।

इस गीताके पढ़नेका असर मेरे साथी पढ़नेवालोंपर तो जो कुछ पड़ा उसे वे जानें, मेरे लिए तो वह पुस्तक आचारकी एक प्रौढ़-पथ-प्रदर्शिका बन गई । वह मेरा धार्मिक कोष हो गई । नये अंग्रेजी शब्दोंके हिज्जे या उनके अर्थके लिए जैसे अंग्रेजी शब्दकोष उलटता वैसे आचरणकी कठिनाइयां, उसकी अटपटी समस्याएं गीताजीसे हल करवाता। उसके अपरिग्रह, समभाव वगैरा शब्दोंने मुझे पकड़ लिया । समभावकी साधना कैसे हो, कैसे उसकी रक्षा हो ? अपमान करनेवाले अधिकारी, रिश्वत लेनेवाले अधिकारी, व्यर्थ विरोध करनेवाले, बीते समयके साथी इत्यादि और जिन्होंने बड़े-बड़े उपकार किये हैं ऐसे सज्जनोंके बीच भेद न करनेके क्या मानी हैं ? अपरिग्रहका पालन कैसे होता होगा ? देह है, यही क्या कम परिग्रह है ? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं तो और क्या हैं ? इन पोथीभरी आलमारियोंको फूंक तापूं ? घर जलाकर तीर्थ करने जाऊं ? तुरंत जवाब मिला कि घर फूंके बिना तीर्थ किया ही नहीं जा सकता। यहां अंग्रेजी कानूनने

मदद की। स्नेलकी कानूनी सिद्धांतोंकी विवेचना याद आई। ट्रस्टी शब्दका अर्थ गीताजीके अभ्यासके फलस्वरूप विशेष रूपसे समझमें आया। विधान-शास्त्रके लिए आदर बढ़ा। उसमें भी मुझे धर्मके दर्शन हुए। ट्रस्टीके पास करोड़ों रुपये हों, तथापि उसमेंकी एक पाई भी उसकी नहीं होती। मुमुक्षुको भी इसी तरह आचरण करना चाहिए, यह शिक्षा मुझे गीताजीसे मिली। अपरिग्रही होनेमें, समभावी होनेमें, हेतुका, हृदयका परिवर्तन आवश्यक है, यह मुझे दीपककी भांति स्पष्ट दिखाई दिया। रेवाशंकर भाईको लिखकर भेज दिया कि बीमेकी पालिसी बंद कर दें। कुछ वापस मिले तो ले लें। न मिले तो जो दिया, उसे गया मान लें। बच्चोंकी और स्त्रीकी रक्षा उन्हें और हमें पैदा करनेवाला करेगा। इस भावका पत्र लिख भेजा। पितृतुल्य भाईको लिखा—"आजतक तो मेरे पास जो कुछ बचा वह आपको अर्पण किया। अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो बचेगा, वह यहीं जातिके काममें आयेगा।"

यह बात मैं भाईको तुरंत नहीं समझा सका। उन्होंने मुझे पहले तो कड़ शब्दोंमें उनके प्रति मेरा धर्म समझाया—"तुम्हें बापसे अधिक बुद्धिमान् नहीं बनना चाहिए। बापने जैसे कुटुंबका पोषण किया वैसे तुम्हें भी करना चाहिए", इत्यादि। मैंने उत्तरमें विनय की कि बापका ही काम मैं कर रहा हूं। कुटुंबका अर्थ थोड़ा विस्तृत कर लें तो मेरे व्यवहारका औचित्य समझमें आ जायगा।

भाईने मेरी आशा छोड़ दी। एक तरहसे बोलना ही बंद कर दिया। मुझे दुःख हुआ, पर जिसे मैं धर्म मानता था, उसे छोड़नेमें और अधिक दुःख होता था। मैंने छोटा दुःख सहन किया। तथापि भाईके प्रति मेरी भक्ति निर्मल और प्रचंड थी। भाईके दुःखका कारण मेरे प्रति उनका प्रेम था। उन्हें मेरे पैसेसे भी मेरे सदाचरणकी अधिक आवश्यकता थी।

अपने अंतिम दिनोंमें भाई पिघले। जब वह मृत्यु शय्यापर थे तो उन्होंने मुझे सूचित किया कि मेरा आचरण ही सही और

धर्मयुक्त था। उनका अत्यंत करुणाजनक पत्र आया। बाप बेटेसे माफी मांग सकता हो तो उन्होंने मुझसे माफी मांगी। मुझे लिखा कि मेरे लड़कोंका अपने ही ढंगसे पालन-पोषण करना। खुद मुझसे मिलनेको अधीर हो गये। मुझे तार दिया। मैंने जवाबमें तारसे ही 'आइए' लिख भेजा। पर हमारा मिलन नहीं बदा था। उनकी उनके पुत्रों-संबंधी इच्छा भी पूरी नहीं हुई। भाईने देशमें ही शरीर छोड़ा। लड़कोंपर उनके पूर्व जीवनका असर पड़ चुका था। वे बदल न सके। मैं उन्हें अपने पास खींच न सका। इसमें उनका दोष नहीं है। स्वभावको कौन पलट सकता है? बलवान संस्कारको कौन मिटा सकता है? हमारा यह मानना मिथ्या है कि जैसे-जैसे हममें परिवर्तन या विकास होता जाय वैसे-वैसे हमारे आश्रितों या संगी-साथियोंमें भी होना चाहिए।

मां-बाप बननेवालोंकी जिम्मेदारी कैसी भयानक है, इसका कुछ अंदाजा इस दृष्टांत से हो सकता है।

: ६ :

निरामिषाहारपर बलिदान

जीवनमें त्याग और सादगी तथा धर्म-जागृति बढ़नेके साथ-साथ निरामिषाहार और उसके प्रचारका शौक बढ़ता गया। प्रचारका काम मैं एक ही तरहसे करना जान पाया हूं; आचारसे और आचारके साथ जिज्ञासुओंसे बातचीत करके।

जोहान्सबर्गमें एक निरामिषाहारी भोजनालय था। एक जर्मन, जो कूनेकी जलचिकित्साको माननेवाला था, उसे चलाता था। मैंने वहां जाना शुरू किया और जितने अंग्रेज मित्रोंको वहां ले जा सकता था, ले जाता था। मैंने देखा कि यह भोजनालय अधिक दिन नहीं चल सकता। उसे पैसेकी तंगी तो बनी ही रहती थी। मैंने जितनी उचित जान पड़ी उतनी मदद उसकी की। कुछ पैसे खोये भी, अंतमें वह बंद हो गया। थियॉसोफिस्टोंमें बहुतेरे

निरामिषाहारी होते हैं। कुछ पूरे, कुछ अधूरे। इस मंडलमें एक साहसी महिला थी। उसने बड़े पैमानेपर एक निरामिषाहारी भोजनालय खोला। यह बहन कलारसिक थी, खर्राच खूब थी और हिसाब-किताब अधिक नहीं समझती थी। उसकी मित्र-मंडली खासी थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमानेपर शुरू हुआ, पर उसने उसे बढ़ाने और बड़ा स्थान लेनेका निश्चय किया। इसमें उसने मेरी मदद मांगी। उस समय मुझे उसके हिसाब वगैराकी कुछ खबर न थी। मैंने समझा कि उसका हिसाब ठीक होगा। मेरे पास पैसेका सुभीता था। बहुतेरे मुवक्किलोंके रुपये मेरे पास जमा रहते थे। उनमेंसे एकसे पूछकर उसके रुपयोंमेंसे लगभग एक हजार पौंड दे दिये। यह मुवक्किल विशाल हृदय और विश्वासी था। वह पहले गिरमिटमें आया हुआ था। उसने कहा—"भाई! आपका दिल चाहे तो पैसे दे दो। मैं कुछ ना जानूं। मैं तो आप हीको जानता हूं।" उसका नाम बद्री था। उसने सत्याग्रहमें बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। जेल भी काटी थी। इतनी सम्मति पाकर मैंने उसके रुपये उधार दिये। दो-तीन महीनेमें ही मुझे मालूम हो गया कि ये रुपये वापस नहीं मिलनेके। इतनी बड़ी रकम डुबा देनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी। मेरे पास दूसरे काम थे, जिनमें इस पैसेको लगा सकता था। पैसा वापस नहीं आया, पर विश्वासी बद्रीका पैसा कैसे जा सकता था? उसने तो मुझीको जाना था। यह रकम मैंने भर दी।

एक मुवक्किल दोस्तसे मैंने इस लेन-देन की बात कही। उसने मुझे मीठा उलाहना देकर सावधान किया—"भाई, (दक्षिण अफ्रीकामें मैं 'महात्मा' नहीं बना था, 'बापू' भी नहीं हुआ था, मुवक्किल दोस्त मुझे 'भाई' कहकर ही पुकारते थे।) यह काम आपका नहीं है। हमतो आपके विश्वासपर चलनेवाले हैं। यह पैसा आपको वापस नहीं मिलनेवाला है। बद्रीको तो आप बचा लेंगे और अपना डुबोवेंगे; पर इस प्रकार सुधारके कामोंमें सब मुवक्किलोंके पैसे देने लग जाइयेगा तो मुवक्किल मर

जायंगे और भिखमंगे बनकर घर बैठेंगे। इससे आपके सार्वजनिक कामको धक्का लगेगा।"

सौभाग्यसे यह मित्र अभी जिंदा है। दक्षिण अफ्रीकामें और अन्यत्र उनसे बढ़कर साफ आदमी मुझे दूसरा नहीं मिला। किसीके बारेमें मनमें शंका उपजी और उन्हें मालूम हुआ कि वह मिथ्या है, तो तुरंत उससे माफी मांगकर अपना दिल साफ कर लेते हैं। मुझे इस मुवक्किलकी चेतावनी ठीक जान पड़ी। बद्रीका पैसा तो मैंने चुका दिया, पर एक हजार पौंड अगर मैंने उस वक्त और खो दिये होते तो उसे चुकानेकी ताकत मुझमें बिलकुल नहीं थी। उसके लिए तो मुझे कर्ज करना पड़ता और यह काम तो मैंने अपनी जिंदगीभरमें कभी नहीं किया। वह मुझे हमेशा सख्त नापसंद रहा है। मैंने समझा कि सुधार करनेके लिए भी अपनी शक्तिसे बाहर जाना मुनासिब नहीं। मैंने यह भी देखा कि इस प्रकार उधार लेने-देनेमें मैंने गीताके तटस्थ निष्काम कर्मके मुख्य पाठका अनादर किया था। यह भूल मेरे लिए दीपस्तंभ-सी हो गई।

निरामिषाहारके प्रचारके लिए ऐसा बलिदान करना मेरी कल्पनाके बाहर था। मेरे लिए यह जबरदस्तीका पुण्य बन गया।

: ७ :

मिट्टी और पानीके प्रयोग

ज्यों-ज्यों मेरे जीवनमें सादगी बढ़ती गई त्यों-त्यों रोगोंके लिए दवा लेनेकी, पहले से जो अरुचि थी वह बढ़ती गई। जब मैं डरबनमें वकालत करता था, तब डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता मुझे देखने आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहती थी और कभी-कभी सूजन भी हो जाती थी। उन्होंने इसका इलाज किया और उससे मुझे आराम हो गया। इसके बाद देश लौटनेतक कोई कहने लायक बीमारी हुई हो, इसकी याद मुझे नहीं है।

पर जोहान्सबर्गमें मुझे कब्ज रहता था और जब-तब सिरदर्द

भी हो जाता था। दस्तकी कोई दवा लेकर तबीयतको संभाले रहता था। खाने-पीनेमें परहेज तो सदा ही रखता था, पर उससे में पूर्णतया व्याधिमुक्त नहीं हुआ। मन बराबर कहा करता कि विरेचनोंसे मुक्ति मिल जाय तो अच्छा हो।

इसी समय मैंने मेंचेस्टरमें 'नो ब्रेकफास्ट एसोसियेशन' (कलेवा-त्याग-संघ) की स्थापनाका समाचार पढ़ा। लेखककी दलील थी कि अंग्रेज बहुत बार और बहुत खाते है। रातको बारह बजेतक खाते रहते हैं और फिर डाक्टर के यहां भटकते फिरते हैं। इस उपाधिसे छूटना हो तो सबेरेका नाश्ता--'ब्रेकफास्ट' छोड़ देना चाहिए। मैंने देखा कि यह दलील यद्यपि मुझपर पूरी तरह नही लगती, फिर भी अंशत: लागू होती है। मैं तीन वक्त पेट भरकर खाता था और दोपहरको चाय भी पीता था। मैं कभी अल्पाहारी नहीं था। निरामिषाहारमें और मसालोंके बिना जो-जो स्वाद लिये जा सकते थे, लेता था। छ:-सात बजेसे पहले शायद ही उठता था। इससे मैंने सोचा कि मैं भी सवेरेका खाना छोड़ दूं तो सिरके दर्दसे जरूर छुटकारा पा जाऊं। मैंने सवेरेका नाश्ता छोड़ दिया। थोड़े दिन खला तो जरूर, पर सिरका दर्द तो चला ही गया। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरी खूराक जरूरत-से ज्यादा थी।

पर कब्जकी शिकायत इस परिवर्तनसे नही गई। कूनेके कटिस्नानका इलाज करनेसे थोड़ा आराम मिला, पर जितना चाहिए उतना नही। इसी बीच उस जर्मन होटलवालेने या किसी दूसरे दोस्तने मुझे जुस्टकी 'रिटर्न टू नेचर' (प्रकृतिकी ओर लौटो) नामक पुस्तक दी। उसमें मैंने मिट्टीके उपचारके बारेमें पढ़ा। सूखे और हरे फल मनुष्यकी कुदरती खुराक है, इस बातका भी इस लेखकने जोरोंसे समर्थन किया है। केवल फलाहारका प्रयोग तो मैंने इस वक्त नहीं किया; पर मिट्टीका इलाज तुरंत शुरू कर दिया। उसका मुझपर आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ। उपचार इस प्रकार था---साफ, खेतकी लाल या काली मिट्टी लेकर उसमें

अंदाजसे पानी मिलाकर, साफ पतले गीले कपड़ेमें लपेटकर पेटपर रखा और उसपर पट्टी बांध दी। यह पुलटिस रातको सोते वक्त बांधता और सवेरे या रातको जब नींद खुलती खोल देता। इससे मेरा कब्ज जाता रहा। ये मिट्टीके उपचार मैंने उसके बाद अपने और अनेक साथियोंपर किये और मुझे स्मरण है कि शायद ही वे किसीपर निष्फल गये हों।

देशमें आनेके बाद मैं ऐसे उपचारोंके विषयमें आत्मविश्वास खो बैठा हूं। प्रयोग करनेका, एक जगह जमकर बैठनेका, मुझे मौका भी नहीं मिला, फिर भी मिट्टीके और पानीके प्रयोगके विषयमें मेरी जो श्रद्धा शुरूमें थी, लगभग वही आज भी है। आज भी मर्यादाके अंदर रहकर मिट्टीके उपचार खुद अपने ऊपर तो करता ही हूं और अपने साथियोंको भी काम पड़नेपर मैं उसकी सलाह देता हूं। जिंदगीमें दो सख्त बीमारियां भोग चुका हूं, फिर भी मानता हूं कि मनुष्योंको दवा लेनेकी शायद ही जरूरत हो। पथ्य और पानी, मिट्टी इत्यादिके घरेलू उपचारोंसे हजारमेंसे नौ सौ निन्यानवे रोगी चंगे हो सकते हैं।

क्षण-क्षणमें वैद्य, हकीमों और डाक्टरोंके यहां दौड़ने और शरीरमें अनेक जड़, छाल, पत्ते और रसायन ठूंसनेसे मनुष्य अपनी जिंदगी छोटी कर लेता है। इतना ही नहीं, अपने मनपर उसका काबू नहीं रह जाता। इससे वह मनुष्यत्व खो बैठता है और शरीरका गुलाम बन जाता है।

रोगशय्यापर पड़ा हुआ मैं लिख रहा हूं। इस कारण इन विचारोंकी कोई अवगणना न करे। अपनी बीमारीका कारण मैं जानता हूं। अपने ही दोषोंके कारण मैं बीमार पड़ा हूं, इसका मुझे पूरा-पूरा ज्ञान और भान है, और यह भान होनेसे मैंने धीरज नहीं खोया है। इस बीमारीको मैंने ईश्वरका अनुग्रह माना है और अनेक दवाइयां करनेके लालचसे दूर रहा हूं। मैं यह भी जानता हूं कि अपने हठसे डाक्टर मित्रोंको मैं परेशान कर देता हूं, पर वे उदारभावसे मेरे हठको सहन करते हैं और मेरा त्याग

नहीं करते हैं ।

पर मुझे अपनी आजकी स्थितिके वर्णनको बढ़ाना उचित नहीं। इसलिए हम सन् १९०४-५ की तरफ फिर आ जायं ।

पर आगे बढ़नेके पहले पाठकको थोड़ा सावधान कर देने की जरूरत है । यह पढ़कर जो जुस्टकी किताब खरीदें, वह उसकी हर बातको वेदवाक्य न मानें । सभी रचनाओंमें लेखककी दृष्टि अधिकतर एकांगी होती है । पर हर बात कम-से-कम सात दृष्टियोंसे देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टियोंसे वह बात सच्ची होती है । पर सब दृष्टियां एक ही समयमें और एक ही मौकेपर सही नहीं हुआ करतीं । इसके सिवा बहुतेरी किताबोंमें बिक्रीका और नामके लालचका दोष भी होता है । अत: जो भाई उक्त पुस्तकको पढ़ें वह विवेकपूर्वक पढ़ें और कोई प्रयोग करना हो तो किसी अनुभवीकी सलाह लेकर करें अथवा धीरजपूर्वक ऐसी चीजका थोड़ा अभ्यास करके प्रयोग आरंभ करे ।

: ८ :

एक सावधानी

प्रवाहपतित कथाके प्रसंगको अभी अगले प्रकरणतक स्थगित रखना पड़ेगा ।

पिछले प्रकरणमें मिट्टी के प्रयोगोंके विषयमें मैं जो कुछ लिख चुका हूं वैसा ही मेरा खूराकका प्रयोग भी था। अत: इस विषयमें इस समय यहां कुछ लिख डालना उचित जान पड़ता है । और कितनी ही बातें प्रसंगानुसार आयेंगी ।

खूराकके मेरे प्रयोगों और तद्विषयक विचारोंका विस्तार इस प्रकरणमें नहीं हो सकता। इस विषयमें मैंने 'आरोग्यविषयक सामान्य ज्ञान' नामक पुस्तकमें, जिसे मैंने दक्षिण अफ्रीकामें 'इंडियन ओपनियन'के लिए लिखा था, विस्तारसे लिखा है । मेरी छोटी-छोटी पुस्तकोंमें यह पुस्तक पश्चिममें और यहां भी, सबसे

अधिक प्रसिद्ध हुई है। इसका कारण मैं आजतक नहीं समझ पाया। यह पुस्तक सिर्फ 'इंडियन ओपीनियन'के पाठकोंके लिए लिखी गई थी, पर उसके आधारपर बहुतेरे भाई-बहनोंने अपने जीवनमें फेर-फार किये हैं और मेरे साथ पत्र-व्यवहार भी किया है। इससे उसके बारेमें यहां कुछ लिखना आवश्यक हो गया है। कारण यह कि यद्यपि उसमें लिखे हुए अपने विचारोंमें फेर-फार करनेकी आवश्यकता मुझे नहीं जान पड़ी, तथापि अपने आचारमें मैंने महत्त्वके फेरफार किये हैं, यह उस पुस्तकके सब पाठक नहीं जानते। उन्हें इसे तुरंत जान लेना जरूरी है।

दूसरी चीजोंकी तरह यह पुस्तकभी मैंने केवल धर्मभावनासे लिखी है और आज भी मेरे हर काममें यही हेतु होता है। इस कारण उसमेंके कितने ही विचारोंपर मैं आज अमल नहीं कर सकता हूं, इसका मुझे खेद है और लज्जा है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य बालकरूपमें माताका जो दूध पीता है उसके सिवा दूसरे दूधकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यकी खूराक वनपक्व फलोंके सिवा—हरे-सूखे दोनों तरहके—दूसरी नहीं है। बादाम आदि मगजों और अंगूर (दाख) आदि फलोंसे उसके शरीर और दिमागको पूर्ण पोषण मिल जाता है। ऐसी खूराकपर जो रह सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्मसंयम बहुत आसान हो जाता है। मैंने और मेरे साथियोंने 'जैसा अन्न वैसा मन' अर्थात्, मनुष्य जैसा खाता है वैसा हो जाता है, इस कहावतमें बहुत तथ्य पाया है।

इन विचारोंका विस्तारपूर्वक समर्थन मेरी आरोग्यविषयक पुस्तकमें किया गया है।

पर मेरे नसीबमें हिंदुस्तानमें अपने प्रयोगोंको पूर्णतातक पहुंचाना नहीं बदा था। खेड़ा जिलेमें रंगरूट-भरतीका काम करते हुए अपनी गलतीसे मैं मरण-सेजपर पड़ गया। दूध बिना जीनेके लिए मैंने बहुत हाथ-पैर मारे। जिन वैद्य, डाक्टरों और रसायनशास्त्रियोंसे परिचय था उनकी मदद मांगी। किसीने

मूंगका पानी, किसीने महुएका तेल, किसीने बादामका दूध सुझाया। इन सब चीजोंका प्रयोग करनेमे मैंने शरीरको निचोड़ डाला, पर खाट न छूटी।

वैद्योंने मुझे चरक इत्यादिसे प्रमाण दिये कि रोग दूर करनेके लिए खाद्याखाद्यकी बाधा नही होती और मांस भी खाया जा सकता है। ये वैद्य ऐसे न थे कि मुझे दुग्ध-त्यागपर दृढ़ रहनेमें मदद कर सकें और डाक्टरोंसे जहां 'बीफ टी' (गोमांसकी चाय) और ब्रांडी ग्राह्य हो, वहां दूधके त्यागमें मदद कैसे मिलती? गाय-भैंसका दूध तो ले ही नही सकता था। यह मेरा व्रत था। व्रतका हेतु तो दूधमात्रका त्याग था। पर व्रत लेते समय मेरे सामने गोमाता और भैंस-माता ही थीं। इससे और जीनेकी आशासे मैंने मनको ज्यों-त्यों फुसला लिया। व्रतके अक्षरका पालन किया और बकरीका दूध लेनेका निश्चय किया। मेरे व्रतकी आत्माका हनन हो गया, यह बात मैंने बकरी माताका दूध लेते समय भी जान ली।

पर मुझे 'रौलट ऐक्ट'के खिलाफ लड़ना है—यह मोह मुझे छोडता नही था। इससे जीनेकी भी इच्छा रही और जिसे मै अपने जीवनका महान् प्रयोग मानता हूं वह रुक गया।

खाने-पीनेके साथ आत्माका संबंध नहीं है। वह न खाता है, न पीता है। जो पेटमें जाता है वह नहीं, बल्कि जो वचन अंदरसे निकलते हैं वे हानि-लाभ करते है इत्यादि दलीलोंसे मैं परिचित हूं। इनमें तथ्यांश है; पर बहसमे उतरे बिना यहां मैं अपना दृढ़ निश्चय ही बताये देता हू कि जो आदमी ईश्वरसे डरकर चलना चाहता है, जो ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है, ऐसे साधक और मुमुक्षुके लिए अपनी खुराकका चुनाव—त्याग और स्वीकार—उतना ही आवश्यक है कि जितना विचार और वाणीका चुनाव—त्याग और स्वीकार।

पर जिस विषयमें मै खुद गिर पड़ा उस विषयमें दूसरोंको मेरे सहारे चलनेकी सलाह मैं नही दे सकता। इतना ही नहीं, मैं उन्हें रोकूंगा। इससे आरोग्यविषयक उक्त पुस्तकके सहारे प्रयोग

करनेवाले सब भाई-बहनोंको मैं सावधान कर देना चाहता हूं। दूधका त्याग सर्वांशमें लाभदायक जान पड़े अथवा अनुभवी वैद्य-डाक्टर उसे छोड़नेकी सलाह दें तभी उसको छोड़ें। केवल मेरी पुस्तक पढ़कर वे दूधका त्याग न करें। यहांका मेरा अनुभव अबतक तो मुझे यही बतलाता है कि जिसकी जठराग्नि मंद हो गई है और जिसने खाट पकड़ ली है उसके लिए दूध-जैसी दूसरी हल्की और पोषक खूराक है ही नहीं। इसलिए इस पुस्तकके पाठकोंसे मेरी विनती और सिफारिश है कि दूधकी मर्यादा जो इस पुस्तकमें बतलाई गई है उसपर जिद न रखें।

इस प्रकरणको पढ़नेवाले कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी सज्जन दूधके बदलेमें वैसी ही, पोषक होते हुए भी सुपाच्य वनस्पति अपने अध्ययनपर नहीं, बल्कि अनुभवके आधारपर, जानते हों तो मुझे बतलाकर मुझपर एहसान करें।

: ९ :

जबर्दस्त मुकाबला

अब एशियाई अधिकारियोंको देखें। एशियाई अधिकारियों-का सबसे बड़ा अड्डा जोहान्सबर्ग था। मैं देखता था कि इस अड्डेमें हिंदियों, चीनियों वगैराका रक्षण नहीं बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं—"हकदार दाखिल नहीं हो पाते और बिना हकवाले सौ-सौ पौंड देकर चले आ रहे हैं। इसका इलाज आप नहीं करेंगे तो कौन करेगा ?" मैं भी यही अनुभव कर रहा था; अगर यह सड़ांध न गई तो मेरा ट्रांसवालमें बसना बेकार ही है।

मैं सबूत इकट्ठे करने लगा। जब मेरे पास काफी सबूत जमा हो गये तब मैं पुलिस-कमिश्नरके पास पहुंचा। जान पड़ा कि उसमें दया और न्याय है। मेरी बातको योंही टाल देनेके बजाय उसने धीरजसे सुना और सबूत पेश करनेको कहा। गवाहोंके

बयान खुद लिये। उसे इतमीनान हो गया। पर जैसे मैं जानता था वैसे वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रीकामें गोरे पंचोंसे गोरे अपराधीको दंड दिलवाना मुश्किल काम है। उसने कहा—"तो भी हमें कोशिश तो करनी ही चाहिए। ऐसे अपराधी जूरीके हाथसे छूट जायंगे इस डरसे उन्हें न पकड़वाना उचित नहीं है। इसलिए मैं तो उन्हें पकड़वाऊंगा ही। मैं आपको इतमीनान दिलाता हूं कि भरसक कसर नहीं रखूंगा।" मुझे तो इतमीनान था ही। अन्य अधिकारियोंपर भी शक तो था, लेकिन उनके खिलाफ मेरे पास कच्चे सबूत थे। दोके बारेमें बिलकुल शक न था। इससे दोपर वारंट निकले।

मेरा आना-जाना ऐसा नहीं था, जो छिप सके। मैं करीब-करीब रोज पुलिस-कमिश्नरके यहां जाता हूं, इसे कितने ही लोग देखते थे। इन दो अफसरोंके छोटे-बड़े जासूस तो थे ही वे मेरे दफ्तरके आस-पास मंडराते रहते और मेरी आवाजाहीकी खबर उक्त अधिकारियोंको पहुंचाते थे। यहां इतना कह देना चाहता हूं कि उक्त अधिकारियोंकी ज्यादतियां इतनी बढ़ गई थीं कि उन्हें जासूस नहीं मिल पाते थे। हिंदुस्तानियों और चीनियोंकी भी मुझे मदद न होती तो ये अधिकारी न पकड़े जाते।

इन दोमेंसे एक अधिकारी भागा। पुलिस-कमिश्नरने बाहरका वारंट निकलवाकर उसे पकड़वा मंगाया। मुकदमा चला। सबूत भी अच्छे गुजरे। एकके तो भागनेका सबूत भी जूरीके पास मौजूद था। फिर भी दोनों छूट गये।

मैं बहुत निराश हुआ। पुलिस-कमिश्नरको भी खेद हुआ। वकालतके पेशेसे मुझे नफरत हो गई। बुद्धिका उपयोग अपराधको छिपानेमें होता देखकर मुझे बुद्धि ही खलने लगी।

दोनों अपराधियोंका अपराध इतना मशहूर हो चुका था कि छूट जानेपर भी सरकार उन्हें रख न सकी। दोनों बरखास्त हो गये और एशियाई अड्डा कुछ साफ हो गया। हिंदुस्तानी भाइयोंको भी धीरज बंधा और हिम्मत भी बढ़ी।

मेरी प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरी वकालत भी चमकी। हिंदुस्तानी भाइयोंके सैकड़ों पौंड हर महीने रिश्वतमें ही जाते थे, उसमें बहुत-कुछ बचत हुई। यह तो नहीं कह सकता कि सब बच गया। बेईमान तो अब भी चरते-खाते थे, पर यह कह सकते हैं कि जो ईमानदार थे अब वे अपना ईमान सलामत रख सकते थे।

ये अधिकारी इतने अधम थे, फिर भी मैं कह सकता हूं कि उनके खिलाफ वैयक्तिक दुर्भाव मेरे मनमें तनिक भी न था। मेरा यह स्वभाव वे जानते थे और जब उन्हें उनकी दीन दशामें मदद करनेका मौका आया तो मैंने उनकी मदद भी की। जोहान्सबर्गकी म्यूनिसिपैलिटीमें मेरा विरोध न हो तो उन्हें नौकरी मिल सकती थी। उनका एक मित्र मुझसे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलानेमें सहायता देना कबूल कर लिया। उन्हें नौकरी मिल भी गई।

इस व्यवहारका असर यह हुआ कि जिन गोरोंसे मेरा साबिका पड़ा वे मेरी ओरसे निर्भय होने लगे और यद्यपि उनके विभागोंके विरुद्ध मुझे बहुत बार लड़ना पड़ता, तीखे शब्द कहने पड़ते, फिर भी मेरे साथ वे मधुर संबंध रखते थे। यह बरतावा मेरे स्वभावका एक अंग है, इसका उस वक्त मुझे ठीक पता नही था। ऐसे बर्तावमें सत्याग्रहका मूल विद्यमान है। यह अहिंसाका अंगविशेष है, यह मैं बादको समझने लगा।

मनुष्य और उसका कार्य ये दो भिन्न वस्तुएं हैं। अच्छे कामके प्रति आदर और बुरे के प्रति तिरस्कार होना ही चाहिए। पर अच्छे-बुरे काम करनेवालेके प्रति सदा आदर अथवा दया होनी चाहिए। यह बात समझनेमें आसान है, फिर भी इसपर अमल कम-से-कम होता है। इसीसे इस जगत्में जहर फैलता रहता है।

ऐसी अहिंसा सत्यकी खोजकी मूलरूप है। मैं प्रतिक्षण अनुभव करता रहता हूं कि जबतक वह हाथ नहीं आती तबतक सत्य दूर ही है। तंत्रकी व्यवस्थाके विरुद्ध झगड़ा शोभा देता है, पर तंत्रीसे लड़ना अपने आपसे लड़ने-जैसा है; क्योंकि सभी एक ही

कूंचीसे रचे हुए हैं। एक ही ब्रह्माकी संतान हैं। तंत्रीमें तो अनंत शक्ति विद्यमान है। तंत्रीका अनादर—तिरस्कार करनेमें तो शक्तियोंका अनादर होता है और वैसा होनेमें तंत्रीको और साथ ही जगत्को नुकसान ही पहुंचता है।

: १० :

एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित्त

मेरे जीवनमें ऐसे संयोग आते ही रहे हैं जिनके द्वारा अनेक धर्मवालोंके और अनेक जातिवालोंसे मेरा बहुत निकटका परिचय हो सका। इन सबके अनुभवोंके आधारपर कहा जा सकता है कि अपने और पराये, देशी और परदेशी, गोरे और काले, हिंदू और मुसलमान या ईसाई, पारसी या यहूदीमें भेद मैंने नही जाना। कह सकता हूं कि मेरा हृदय इस भेदभावको समझ ही न सका। इस चीजको अपने विषयमें मैं गुण नहीं मानता; क्योंकि जैसे अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमोंकी साधनाका प्रयत्न करनेका, और वह प्रयत्न आज भी जारी होनेका मुझे पूरा भान है, वैसे इस प्रकारके अभ्यासका, मैंने कोई विशेष प्रयत्न किया हो, इसकी याद मुझे नहीं है।

जब मैं डरबनमें वकालत करता था, तब बहुत बार मेरे मुंशी मेरे साथ रहते थे। उनमें हिंदू और ईसाई थे और प्रांतके हिसाबसे कहें तो गुजराती और मद्रासी थे। उनके बारेमें मेरे मनमें कभी भेदभाव उपजा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। उन्हें मैं अपने कुटुंबका आदमी समझता था और पत्नीकी ओरसे इसमें कोई विघ्न आता था तो उससे लड़ पड़ता था। एक मुंशी ईसाई था। उसके माता-पिता पंचम वर्णके थे। मेरे घरकी बनावट पश्चिमी ढंगकी थी। उसके कमरेमें नाबदान नहीं थे—मेरी रायमें होने भी नहीं चाहिए। इस कारण हर कमरेमें नाबदानके बजाय पेशाबके लिए खास बर्तन रख दिये गए थे। उन्हें उठानेका काम

नौकर का नहीं था, बल्कि हम घरके मालिक और मालकिनका था। जो मुंशी अपनेको घरका आदमी समझने लगते वे तो अपना बरतन खुद उठाते ही थे। यह पचम कुलमें पैदा हुआ मुंशी नया था। उसका बर्तन हमें ही उठाना चाहिए था। और बरतन तो कस्तूरबाई उठाती थी। पर इसमें उसकी समझमें हद हो गई थी। हममें झगड़ा हुआ। मेरा उठाना उससे देखा न जाता था और खुद उठाना भी जब्र गुजरता था। आंखोंसे मोतीकी बूद टपकती, हाथमें बरतन लिये मुझे अपनी लाल-लाल आंखोंसे उलाहना देती, सीढ़ियोंसे उतरती कस्तूरबाईकी तसवीर मै आज भी खींच सकता हूं।

पर मैं तो जितना प्रेमी उतना ही जानलेवा पति था। मैं अपनेको उसका शिक्षक भी मानता था। और इससे अपने अंध-प्रेमके वश होकर अच्छी तरह सताता था।

इस प्रकार सिर्फ उसके बरतन उठा ले जानेसे मुझे संतोष न हुआ। वह हंसते चेहरेसे ले जाय तभी मुझे संतोष होता। अतः मैंने दो शब्द ऊंचे स्वरसे कहे—"यह कलह मेरे घरमें नहीं चल सकता।" मैं बड़बड़ा उठा।

यह वचन कस्तूरबाईके कलेजेमें तीरकी तरह चुभ गया। वह भड़क उठी—"तो अपना घर अपने पास रखो। मैं जाती हूं।"

मैं तो ईश्वरको भूल गया था। दयाका लेश भी मेरे दिलमें न रह गया था। मैंने हाथ पकड़ा। सीढ़ीके सामने ही बाहर निकलनेका दरवाजा था। मैं उस असहाय अबलाको पकड़-कर दरवाजेतक खींच ले गया। दरवाजा आधा खोला। कस्तूर-बाईकी आंखोंसे गंगा-जमुना बह रही थी। वह बोली—

"तुमको तो शर्म नहीं है, मुझको है। जरा तो शरमाओ। मैं बाहर निकलकर कहां जाऊं? यहां मां-बाप भी नहीं हैं कि उनके यहां चली जाऊं। मैं औरतकी जात ठहरी, इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही होगी। अब शरमाओ और दरवाजा बंद करो। कोई देखेगा तो दोनोंके मुंहपर कालिख लगेगी।"

मैंने चेहरा तो लाल रखा, लेकिन दिलमें शरमाया जरूर। दरवाजा बंद कर दिया। अगर पत्नी मुझे नहीं छोड़ सकती थी तो मैं भी उसे छोड़कर कहां जानेवाला था? हममें झगड़े तो बहुत हुए हैं; पर नतीजा सदा अच्छा ही निकला है। पत्नीने अपनी अद्भुत सहनशक्तिसे विजय पाई है।

यह वर्णन आज मैं तटस्थभावसे कर सकता हूं। कारण, यह घटना हमारे बीते युगकी है। आज मैं मोहांध पति नहीं हूं, शिक्षक नहीं हूं। चाहे तो आज कस्तूरबाई मुझे धमका सकती है। हम आज अनुभवी मित्र है, एक-दूसरेके प्रति निर्विकार होकर साथ रहते है। कस्तूरबाई आज मेरी बीमारीमें किसी बदलेकी इच्छा किये बिना चाकरी करनेवाली सेविका है।

उपर्युक्त घटना १८९८ ई० की है। उस समय ब्रह्मचर्यके पालनके बारेमें मैं कुछ भी न जानता था। यह समय ऐसा था कि जब पत्नी केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दु:खकी साथी है, इसका मुझे स्पष्ट भान नहीं था। मैं जानता हूं कि मैं उस वक्त यह मानकर चलता था कि वह विषय-भोगका भाजन है, पतिकी आज्ञा, चाहे जो हो तो भी, उसे बजा लानको वह सिरजी गई है।

१९००के सालसे मेरे विचारोंमें गंभीर परिवर्तन हुआ, जिसका परिणाम १९०६में प्रगट हुआ। पर इस परिणामकी चर्चा यथास्थान की जायगी। यहां तो इतना ही बता देना काफी है कि ज्यों-ज्यों मैं निर्विकार होता गया त्यों-त्यों मेरा गृहजीवन शांत, निर्मल और सुखी होता गया और होता जा रहा है।

इस पुण्यस्मरणमेंसे किसीको यह नहीं मान लेना चाहिए कि हम आदर्श दंपती हैं या मेरी धर्मपत्नीमें कोई भी दोष नहीं है अथवा हमारे आदर्श अब बिलकुल एक हैं। कस्तूरबाईका खुद कोई स्वतंत्र आदर्श है या नहीं, यह वह बेचारी खुद भी न जानती होगी। यह संभव है कि मेरे बहुतेरे आचरण उसे आज भी न रुचते हों। इसके बारेमें हम कभी चर्चा नहीं करते, करनेमें कोई लाभ भी नहीं है। उसे न उसके मां-बापने शिक्षा दी और न जब

समय था तब मैं दे पाया; पर उसमें एक गुण बड़ी मात्रामें है, जो अन्य बहुतेरी हिन्दू स्त्रियोंमें भी अल्पाधिक मात्रामें होता है। मनसे हो या बेमनसे, ज्ञानसे हो या अज्ञानसे, मेरे पीछे चलनेमें उसने अपने जीवनकी सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नमें मुझे कभी रोका नहीं। इससे मुझे यह लगा है कि यद्यपि हमारी बुद्धिशक्तिमें बड़ा अंतर है, फिर भी मेरा मन कहता है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

: ११ :

अंग्रेजोंसे गाढ़ परिचय

इस प्रकरणको लिखते हुए ऐसा प्रसंग आया है जब मुझे पाठकोंको बतला देना चाहिए कि सत्यके प्रयोगोंकी यह कथा किस तरह लिखी जा रही है।

यह कथा लिखनेका आरंभ करते समय मेरे पास इसकी कोई योजना तैयार नहीं थी। अपने पास कोई किताब, रोजनामचा या दूसरे कागजपत्र रखकर मैं ये प्रकरण नहीं लिखता हूं। कह सकता हूं कि लिखनेके दिन जैसे-जैसे मुझे अंतर्यामी प्रेरणा करता है वैसे-वैसे लिखता हूं। जो क्रिया मुझमें चलती है, उसे अंतर्यामीकी प्रेरणा कह सकते हैं या नहीं यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता। पर बहुत बरसोंसे मैंने जो बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे माने जानेवाले काम किये हैं, उनकी परीक्षा करनेपर वे अंतर्यामीकी प्रेरणासे हुए हैं, यह कहना मुझे अनुचित नहीं जान पड़ा।

अंतर्यामीको मैंने देखा नहीं है, जाना भी नहीं है। जगत्की ईश्वरविषयक श्रद्धाको मैंने अपना लिया। यह श्रद्धा किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती, इससे उसे श्रद्धारूपमें देखना छोड़कर अनुभवरूपमें ही मैं देखने लगा हूं। पर उसे अनुभवरूप कहना भी सत्यपर एक प्रकारका प्रहार है। अतः शायद यही कहना अधिक उचित होगा कि उसे शुद्धरूपमें पाठकोंके सामने रख सकूं, ऐसे

शब्द ही मेरे पास नहीं हैं ।

मेरा यह विश्वास है कि इस अदृष्ट अंतर्यामीके वश होकर ही यह कथा मैं लिख रहा हूं ।

पिछला प्रकरण जब मैंने शुरू किया तब उसका शीर्षक 'अंग्रेजोंका परिचय' रखा था। पर प्रकरण लिखते हुए मेरी समझमें आया कि इन परिचयोंकी चर्चा करनेके पहले मुझे वह 'पुण्य-स्मरण' लिखना चाहिए, जो मैंने लिखा है । उसके लिखे जानेके बाद पहलेका शीर्षक बदलना पड़ा ।

अब यह प्रकरण लिखते हुए फिर नया धर्मसंकट पैदा हुआ है। अंग्रेजोंका परिचय देते हुए क्या कहना और क्या न कहना यह महत्त्वका प्रश्न हो गया है। प्रस्तुत बात न कही जाय तो सत्यको बट्टा लगता है। पर इस कथाका लिखना ही शायद आवश्यक न हो। ऐसी दशामें प्रस्तुत-अप्रस्तुतके झगड़ेका फैसला यकायक करना कठिन हो जाता है ।

इतिहासके रूपमें आत्मकथामात्रकी अपूर्णता और उसकी कठिनाइयोंके विषयमें मने पहले जो-कुछ पढ़ा है उसका अर्थ आज मैं अधिक समझ रहा हूं। इतना तो मैं जानता हूं कि सत्यके प्रयोगोंकी इस आत्मकथामें, जितना मुझे याद है, उतना सब तो मैं नहीं लिख रहा हूं। सत्यको दरसानेके निमित्त मुझे कितना लिखना चाहिए, यह किसे मालूम है ? अथवा एकतरफा अधूरे सबूतका मूल्य न्यायमंदिरमें क्या आंका जायगा? लिखे हुए प्रकरणोंपर कोई ठाला बैठा आदमी मुझसे जिरह करने बैठे और फिर अगर वह आलोचककी दृष्टिसे छानबीन करे तो कितनी 'पोलें' प्रकट करके जगत्को हँसाये और गर्वसे फूलकर कुप्पा बने । इस दृष्टिसे विचारते हुए एकबार यही मनमें आता है, कि क्या ज्यादा अच्छा न होगा कि फिलहाल इन प्रकरणोंको लिखना ही बन्द कर दिया जाय? पर शुरू किये हुए कामका अनीतिमय होना जबतक स्पष्ट दिखाई न दे तबतक उसे नहीं छोड़ना चाहिए, इस न्यायसे अंतमें यही निश्चय किया कि जबतक अंतर्यामी न रोके तबतक ये प्रकरण

लिखता जाऊं ।

यह कथा आलोचकोंको संतुष्ट करनेको नहीं लिखी जा रही है। सत्यके प्रयोगोंमेंसे यह भी एक प्रयोग ही है। फिर यह दृष्टि तो है ही कि साथियोंको उससे कुछ आश्वासन मिले। इसका आरंभ ही उनके सतोषके खातिर है। स्वामी आनंद और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ते तो यह शुरुआत शायद न हुई होती। अतः इसके लिखनेमें जो दोष होता होगा तो उसमें वे हिस्सेदार हैं।

अब प्रकरणके मूल विषयपर आना चाहिए। जैसे मैंने हिन्दी मुशियोंको और अन्य लोगोंको घरमें कुटुंबकी भांति रखा था, वैसे ही अंग्रेजोंको भी रखने लग गया था। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहनेवाले सब लोगों को पसंद नहीं था। पर मैंने हठ करके उन्हें रखा। सबको रखनेमें सदा बुद्धिमानी ही की, यह तो नहीं कह सकता। कितने ही संबंधोंसे कटु अनुभव भी हुए, पर वे अनुभव तो देशी-परदेशी दोनोंके बारेमें हुए। कटु अनुभवोंके लिए मुझे पछतावा नहीं हुआ। कड़वे अनुभवोंके होते हुए, और मित्रोंको अड़चन पड़ती है, कष्ट सहना पड़ता है, यह जानते हुए भी, मैंने अपनी आदत बदली नही; और मित्रोंने उसे उदारतापूर्वक सहन किया। नये-नये आदमियोंके साथ जोड़े हुए संबंध जब मित्रोंको कष्टदायक हुए तब उनका दोष दिखानेमें मैं हिचका नहीं। मेरा विश्वास है कि जो आस्तिक मनुष्यमें, जिसे अपने अंतरमें बसनेवाले ईश्वरको सबमें देखना है, सबके साथ अलिप्त होकर रहनेकी शक्ति होनी चाहिए। और वह शक्ति जब-जब बिना ढूंढे, ऐसे अवसर आएं तब-तब उससे दूर न भागते हुए, केवल नये-नये संबंधोंमें पड़कर और उनमें पड़ते हुए भी राग-द्वेषरहित रहकर ही बढ़ाई जा सकती है।

अतः जब बोअर-ब्रिटिश-युद्ध आरंभ हुआ तब मेरा घर भरा रहनेपर भी मैंने जोहान्सबर्गसे आये हुए दो अंग्रेजोंको टिकाया। दोनों थियॉसोफिस्ट थे। उनमेंसे एकका नाम किचन था, जिसकी चर्चा हमें आगे भी करनी होगी। इन मित्रोंके सहवासमें भी धर्म-

पत्नीको तो रुलाना ही पड़ा था। मेरे लिए रोनेके प्रसंग तो उसके नसीबमें कितने ही बदे थे। इतने निकटका संबंध जोड़कर, किसी भी परदेके बगैर अंग्रेजोंको घरमें रखनेका यह मेरा पहला अनुभव था। इंगलैंडमें मैं उनके घरोंमें जरूर रहा था। तब मैं उनकी रहन-सहनको अपनाकर रहा था और वह रहना करीब-करीब होटलमें रहनेके बराबर था। यहां उससे उलटा था। ये मित्र कुटुंबी-जन बन गये। उन्होंने बहुत अंशोंमें भारतीय रहन-सहनका अनुसरण किया। घरमें बाहरी साज-सामान यद्यपि अंग्रेज ढबका था, फिर भी भीतरका रहन सहन और खान-पान इत्यादि मुख्यत: हिन्दुस्तानी था। मुझे उनके रखनेमें कुछ कठिनाइयां उपस्थित होने की याद है। फिर भी यह जरूर कह सकता हूं कि वे दोनों व्यक्ति घरके और आदमियोंके साथ घुल-मिल गये थे। जोहान्सबर्गमें मेरे ये संबंध डरबनसे अधिक आगे गये।

: १२ :

अंग्रेजोंसे परिचय

जोहान्सबर्गमें मेरे पास एक बार चार हिन्दुस्तानी मुंशी हो गये थे। उन्हें मुंशी कहना चाहिए या बेटा, यह नहीं कह सकता; पर इनसे भी मेरा काम पूरा नहीं पड़ता था। टाइप किये बिना काम चल ही न सकता था। टाइपिंगका कुछ ज्ञान था तो सिर्फ मुझे था। इन चार युवकोंमेंसे दोको टाइप करना सिखाया, पर अंग्रेजीका ज्ञान कच्चा होनेकी वजहसे इनका टाइपका काम कभी अच्छा न हो सका। फिर इन्हींमेंसे मुझे हिसाब रखनेवाला भी तैयार करना था। नेटालसे अपनी पसंदका कोई आदमी बुला नहीं सकता था; क्योंकि बिना परवानेके कोई हिन्दुस्तानी ट्रांसवालमें दाखिल नहीं हो सकता था और अपनी आसानीके लिए अधिकारियोंकी कृपा-याचना करनेको मैं तैयार न था।

मैं परेशान हो उठा। काम इतना बढ़ गया कि चाहे जितनी

मेहनत करूं, फिर भी वकालतका और सार्वजनिक काम दोनोंको पूरा न कर पाता था। अंग्रेज कारकून, फिर वह स्त्री हो या पुरुष, मिले तो रखनेमें मुझे कोई इन्कार नहीं था, पर 'काले आदमी'के यहां गोरा नौकरी करेगा? यह शंका मेरे मनमें थी, पर मैंने प्रयत्न करनेका निश्चय किया। टाइपराइटिंग एजेंटसे मेरी थोड़ी जान-पहचान थी। उनके पास गया और उनसे कहा कि टाइप करनेवाली कोई बहन या भाई मिल सके, जिसे 'काले' आदमीके यहां नौकरी करनेमें उज्र न हो तो ढूढ दीजिए। दक्षिण अफ्रीकामें शार्टहैंडका या टाइपका काम करनेवाली बहुत करके स्त्रियां ही होती हैं। एजेंटने मुझे ऐसा टाइपिस्ट दिलानेकी कोशिश करनेका वचन दिया। उसे मिस डिक नामकी एक स्काच कुमारी मिली। वह हालमें ही स्काटलैंडसे आई थी। अच्छी नौकरी जहां-कहीं मिले करनेमें उसे उज्र नही था। उसे तो तुरत काम चाहिए था। उक्त एजेंटने उसे मेरे पास भेजा। उसे देखते ही मेरी आंख उसपर जम गई।

मैंने उससे पूछा—"तुम्हें हिन्दुस्तानीके यहां काम करनेमें कोई अड़चन तो नहीं है ?"

उसने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"बिलकुल नही।"

"तुम्हें वेतन क्या चाहिए ?"

उसने जवाब दिया—"साढ़े सत्रह पौंड ज्यादा तो न होंगे ?"

"तुमसे जितने कामकी उम्मीद मैं करता हूं उतना कर दोगी तो मैं इसे जरा भी ज्यादा नहीं मानता। कबसे काम शुरू कर सकोगी ?"

"आप चाहें तो अभीसे।"

मैं बहुत खुश हुआ और उस बहनको उसी समय अपने सामने बैठाकर पत्र लिखवाना शुरू कर दिया।

इसने मेरे क्लर्कका नहीं, बल्कि मैं यह मानता हूं कि सगी बेटीका या बहनका पद तुरंत ही और अनायास ले लिया। मुझे उससे कभी कड़ी आवाजमें कुछ कहना नहीं पड़ा। शायद ही उसके

काममें गलती निकालनी पड़ी हो। हजारों पौंडका लेन-देन भी एक वक्त उसके हाथमें था और बहीखाता भी वह रखने लगी थी। उसने तो मेरा विश्वास संपूर्ण रूपसे प्राप्त कर ही लिया था, पर मैंने जो उसकी गुह्यतम भावनाओंको जानने योग्य विश्वास संपादन कर लिया, यह मेरे नजदीक बड़ी बात थी। उसने अपना साथी चुननेमें मेरी राय मांगी। कन्यादान करनेका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ। मिस डिक जब मिसेज मेकडानल्ड हुई तब मुझसे तो पृथक् होना ही चाहिए था, पर ब्याहके बाद भी कामकी भीड़ होनेपर मैं जब चाहता उनसे मदद ले लिया करता था।

पर दफ्तरमें हर वक्त एक स्थायी शार्टहैंड राइटरकी जरूरत तो थी ही। वह भी मिल गई। इस बहनका नाम मिस श्लेशिन था। उसे मेरे पास लानेवाले मि० केलनबैक थे, जिनका परिचय पाठक आगे चलकर पायेंगे। यह बहन एक हाईस्कूलमें अध्यापिका-का काम करती थी। मेरे पास जब आई तो उसकी उम्र सत्रह सालकी रही होगी। उसकी कुछ विचित्रताओंसे मै और मि० केलनबैक हार जाते थे। वह कोई नौकरी करनेके खयालसे नही आई थी। उसे तो अनुभव प्राप्त करना था। उसके अंदर कही राग-द्वेषकी बू-बास नहीं थी। उसे किसीकी परवाह भी नहीं थी। चाहे जिसका अपमान करते हुए नहीं डरती थी और अपने मनमें जिसके बारेमें जो विचार आयें उसे कहनेमें संकोच न करती थी। इस स्वभावके कारण कभी-कभी वह मुझे कठिनाईमें डाल देती थी; पर उसका निष्कपट स्वभाव सब कठिनाइयां दूर कर देता था। उसका अंग्रेजीका ज्ञान मैं सदा अपनेसे ऊंचा मानता था और इसलिए उसकी वफादारीपर मुझे पूरा विश्वास भी था। इससे उसके टाइप किये हुए बहुतेरे कागजोंपर मैं दुहराये बिना दस्तखत कर दिया करता था।

उसकी त्यागवृत्तिकी सीमा नहीं थी। उसने मुझसे बहुत दिनोंतक प्रति मास छह पौंड ही लिये और दस पौंडसे ज्यादा लेनेसे तो वह अंततक साफ इन्कार करती रही। मैं जो ज्यादा लेनेको

कहता तो वह मुझे धमकाती और कहती, "मैं कोई तनख्वाहके लिए नहीं हूं। मुझे तो आपके साथ इस तरहका यह काम करना अच्छा लगता है और आपके आदर्श मुझे रुचते है, इसलिए रहती हूं।"

मुझसे उसने आवश्यकता होनेपर ४० पौंड लिये थे, पर उधार कहकर। पिछले साल सारी रकम उसने लौटा दी।

उसकी त्यागवृत्ति जैसी तीव्र थी वैसी ही उसकी हिम्मत थी। स्फटिकमणिके समान पवित्रता और वीरतामें क्षत्रियको भी लजानेवाली जिन बहनोंसे मिलनेका सोभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, मैं मानता हूं कि यह बहन भी उनमेसे एक है। आज तो वह पूरी प्रौढ़ कुमारिका है। आजकी उसकी मानसिक स्थितिकी मुझे पूरी जानकारी नही है; पर मेरे अनुभवोंसे इस लड़कीका अनुभव मेरे लिए सदा पुण्य-स्मरण रहेगा, इससे जो मैं जानता हूं उसे न लिखू तो मै सत्यके द्रोहका दोषी बनता हूं।

कामकरनेमें उसके लिए रात-दिन बराबर थे। आधी रात-को अकेली चाहे जहां जाना हो, चली जाती थी और मै उसके साथ किसीको भेजनेको कहता तो मुझपर नाराज होती। हजारों उम्रवाले हिन्दुस्तानी भी उसे आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उसकी बात मानते थे। जब हम सब जेलमें थे, कोई जिम्मेदार पुरुष शायद ही बाहर रहा हो, तब वह अकेली सारे आंदोलनोंको संभाल रही थी। लाखोंका हिसाब उसके हाथमें था। सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथमें और 'इंडियन ओपीनियन' भी उसके हाथमें। यह हालत थी, पर उसे थकान न आई।

मिस श्लेशिनके विषयमें लिखते हुए मेरी कलम थकती नहीं; पर गोखलेके प्रमाणपत्रका उल्लेख करके मै यह प्रकरण समाप्त करता हूं। गोखलेने मेरे सब साथियोंसे परिचय किया था। उस परिचयमें उन्हें बहुतोंके विषयमें बड़ा संतोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्रका मूल्य आंकनेका बड़ा शौक था। मेरे सब भारतीय और यूरोपियन साथियोंमें मिस श्लेशिनको उन्होंने प्रधान पद

दिया था। "इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने थोडोंमें ही देखी है। मेरी नजरमें मिस श्लेशिन तुम्हारे साथियोंमें प्रथम पदकी अधिकारिणी है।"

: १३ :

'इंडियन ओपीनियन'

अभी दूसरे यूरोपियनोंके निकट परिचय देने बाकी हैं, लेकिन उसके पहले दो-तीन जरूरी बातें लिख देना आवश्यक है।

एक परिचय तो अभी दे दूं। मिस डिकको नियुक्त कर लेनेसे ही मेरा काम पूरा नहीं होनेवाला था। मि० रीचके बारेमें मैं पहले लिख चुका हूं। उनके साथ मेरा अच्छा परिचय था। वह व्यापारी फर्ममें मैनेजर थे। वहांसे छोड़कर मैंने अपने नीचे आर्टिकल क्लर्क होनेकी सलाह दी। वह उन्हें जंच गई और मेरे दफ्तरमे भर्ती हो गये। मेरे कामका बोझ हल्का हो गया।

इसी अरसेमें श्रीमदनजीतने 'इंडियन ओपीनियन' नामका अखबार निकालनेका इरादा किया। मेरी सलाह और सहायता मांगी। छापाखाना तो वह चला ही रहे थे। पत्र निकालनेके विचारसे मैं सहमत था। इस पत्रका जन्म १९०४ ई० में हुआ। मनसुखलाल नाजर संपादक बने, पर संपादनका असली बोझ मुझपर ही पड़ा। मेरे नसीबमें बहुत करके दूरसे ही अखबारका संपादन करना लिखा है।

मनसुखलाल नाजर संपादन नही कर सकते हों सो बात नहीं थी। देशमें तो वह बहुतेरे अखबारोंके लिए लिखा करते थे; पर दक्षिणी अफ्रीकाके अटपटे प्रश्नोंपर मेरी उपस्थितिमें स्वतंत्र लेख लिखनेकी हिम्मत उन्होंने न की। अतः जिन-जिन विषयोंपर लिखना होता उनपर लिख भेजनेका बोझ मुझपर ही डाल देते थे।

यह पत्र साप्ताहिक था। आज भी वैसा ही है। पहले तो वह

गुजराती, हिन्दी, तामिल और अंग्रेजीमें निकलता था, पर मैंने देखा कि तामिल और हिन्दी-विभाग तो नामके ही थे, उनके द्वारा कौमकी कोई सेवा नही होती। उन्हें कायम रखनेमें मुझे असत्यका आभास हुआ। इसलिए उन विभागोंको बंद कर दिया। इससे मुझे शांति मिली।

इस अखबारमें मझे कुछ पैसे लगाने पड़ेंगे, यह मैंने नहीं सोचा था। पर कुछ ही दिनोंमें मैंने देखा कि मैं पैसे नहीं देता तो अखबार न चलेगा। अखबारका मै संपादक नहीं था, फिर भी मैं ही उसके लेखोंके लिए जिम्मेदार था, यह बात हिन्दुस्तानी और गोरे दोनों जान गये थे। अखबार न निकला होता तो कोई बात नहीं थी; पर निकलनेके बाद बंद होनेमें मेरे खयालसे कौमकी बदनामी होती और कौमका नुकसान भी होता।

मैं उसमें पैसे लगाता गया और आखिरमें तो कह सकता हूं कि जो कुछ बचता था वह सब उसीमें चला जाता था। ऐसा समय मुझे याद है जब मुझे हर महीने ७५ पौड भेजने पड़ते थे।

पर इतने वर्षों बाद मुझे लगता है कि इस अखबारने कौमकी अच्छी सेवा की है। उससे पैसा पैदा करनेका इरादा तो किसीका शुरूसे ही नहीं था।

यह पत्र जबतक मेरे हाथमें था तबतक इसमें जो फेर-फार हुए वह मेरे जीवनमें होनेवाले परिवर्तनोंके सूचक थे। जैसे आज 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवनके कुछ अंशका निचोड़ हैं वैसे ही 'इंडियन ओपीनियन' भी था। उसमें मैं हर हफ्ते अपनी आत्मा उडेलता था और मैं जिसे सत्याग्रह समझता था उसे समझानेका प्रयत्न करता था। जेलके वक्तको बाद देकर दस बरसतकके अर्थात् १९१४ तकके 'इंडियन ओपीनियन' का शायद ही कोई अंक होगा, जिसमें मैंने कुछ लिखा न हो। उसमें एक भी शब्द मैंने बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो या महज किसीको खुश ही करनेके लिए लिखा हो या जान-बूझकर अति-शयोक्ति की हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। मेरे लिए यह अखबार

संयमकी शिक्षा बन गया था, मित्रोंके लिए मेरे विचारोंका वाहन हो गया था। आलोचकोंको उसमें आलोचनाके लिए बहुत कम मसाला मिलता था। मैं जानता हूं कि इसके लेख आलोचकोंको अपनी कलमपर अंकुश रखनेको मजबूर करते थे। इस अखबारके बिना सत्याग्रहकी लड़ाई नहीं चल सकती थी। पाठकवर्ग इस अखबारको अपना मानते थे और उसमें सत्याग्रह-संग्राम और दक्षिण अफ्रीकाके हिन्दुस्तानियोंकी हालतकी सच्ची तस्वीर पाते थे।

इस अखबारसे रंग-बिरंगे मनुष्य-स्वभावको पहचाननेका मुझे बहुत मौका मिला। संपादक और ग्राहकके बीच निकट और स्वच्छ संबंध पैदा करना ही हमारा उद्देश्य होनेके कारण मेरे सामने दिल खोलकर रखनेवालोंके पत्रोंका ढेर लग जाता था। उनमें तीखे, कड़वे, मीठे, तरह-तरहके लेख मेरे पास आते थे। उन्हें पढ़ना, विचारना, उनमेंसे विचारोंका सार निकालकर जवाब देना—यह मेरे लिए अच्छी शिक्षा हो गई। मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानों मैं उसके द्वारा कौममें होनेवाली बातों और विचारोंको ही सुन रहा हूं। संपादककी जिम्मेदारी मैं अच्छी तरह समझने लगा और मुझे कौमके आदमियोंपर जो अधिकार मिला उससे भविष्यमें होनेवाली लड़ाई शक्य और शोभायुक्त हुई और उसमें बल आया।

'इंडियन ओपीनियन'के पहले महीनेकी कारगुजारीसे ही मैंने जान लिया कि समाचार-पत्र सेवाभावसे ही चलाये जाने चाहिए। समाचार-पत्रमें बड़ी शक्ति है; पर जैसे निरंकुश पानी-का बहाव गांव-के-गांव डुबा देता है, और फसल बरबाद कर देता है वैसे ही लेखनीका निरंकुश प्रवाह विनाश करता है। यह अंकुश बाहरसे आता है तो वह निरंकुशतासे ज्यादा जहरीला साबित होता है। भीतरका अंकुश ही लाभदायक हो सकता है।

यदि यह विचार-सरणि सही हो तो इसपर दुनियाके कितने अखबार टिकेंगे? पर निकम्मोंको बन्द कौन कर सकता है? कौन

किसे निकम्मा माने ? कामके और निकम्मे साथ-साथ चलते ही रहेंगे। मनुष्य उनमेंसे अपने लिए चुनाव कर सकता है।

: १४ :

'कुली लोकेशन' या भंगी-बस्ती ?

हिन्दुस्तानमें हमारी बड़ी-से-बड़ी समाज-सेवा करनेवाले ढेड, भंगी वगैरा, जो अस्पृश्य माने जाते हैं वे गांवसे बाहर अलग रखे जाते हैं। गुजरातीमें उनके मुहल्ले, टोलेको ढ़ेड़वाड़ा कहते हैं और उसका नाम लेते घिनाते हैं। इसी तरह ईसाई यूरोपमें एक जमानेमें यहूदी अछूत माने जाते थे और उनके लिए जो 'ढेड़वाड़ा' बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। वह नाम अमंगलसूचक माना जाता था। इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीकामें हम हिन्दुस्तानी वहांके भंगी बन गये हैं। एंड्रूजके आत्मबलिदान और शास्त्रीजीकी जादूकी छड़ीसे हमारी शुद्धि होगी और उसके फलस्वरूप हम भंगीसे सभ्य समझे जायंगे या नहीं, यह अभी देखना है।

हिन्दुओंकी भांति यहूदी अपनेको ईश्वरके लाड़ले बेटे और दूसरोंको हेय मानते थे और उस अपराधका फल उन्होंने विचित्र और अघटित रूपसे पाया। लगभग उसी तरह हिन्दुओंने भी अपनेको संस्कृत या आर्य मानकर अपनेही एक अंगको प्राकृत, अनार्य या ढेड़ माना है। उसके पापका फल विचित्र रूपसे, चाहे अघटित रीतिसे ही हो, दक्षिण अफ्रीका इत्यादि उपनिवेशोंमें वह भोग रहे हैं और मैं जानता हूं कि उसमें उनके पड़ोसी मुसलमान, पारसी भी, जो उन्हींके रंगके और देशके हैं, सन गये हैं।

जोहान्सबर्गके कुली लोकेशनको इस प्रकरणका विषय बनानेका मतलब अब पाठकोंकी समझमें कुछ आगया होगा। हम दक्षिण अफ्रीकामें 'कुली' नामसे मशहूर हैं। 'कुली' शब्दका अर्थ अपने यहां तो सिर्फ मजदूर किया जाता है। पर दक्षिण अफ्रीकामें इस शब्द-

का जो अर्थ किया जाता है वह भंगी, चमार इत्यादि तिरस्कार-सूचक शब्दोंसे ही व्यक्त किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीकामें जो स्थान कुलियोंके रहनेके लिए अलग किये गए है वे 'कुली लोकेशन' कहलाते है। ऐसा एक लोकेशन जोहान्सबर्गमें था और अन्यत्र सब जगहोंमें जो 'लोकेशन' रखे गये थे और आज भी हैं, वहां हिन्दुस्तानियोंको कोई मालिकाना हक नहीं था। पर इस जोहान्सबर्गके 'लोकेशन'में जमीनका निन्यानवें सालका पट्टा दिया गया था। इसमें हिन्दुस्तानी ठसाठस भरे हुए थे। आबादी बढ़ती जाती, पर 'लोकेशन' बढ़नेवाला नहीं था। उसके पाखाने ज्यों-त्यों साफ होते जरूर, पर इसके सिवा और कुछ भी अधिक देख-रेख म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे नहीं होती थी। वहां सड़कपर लालटेन तो होती ही क्यों? इस प्रकार जहां लोगोंके पाखानों वगैराकी सफाईके संबंधमें भी किसीको परवाह नहीं थी, वहां दूसरी सफाईका तो पूछना ही क्या? जो हिन्दुस्तानी वहां बसते थे, वे कोई नगर-सुधार, आरोग्य इत्यादिके नियमोंसे परिचित सुशिक्षित आदर्श भारतीय नहीं थे कि उन्हें म्यूनिसिपैलिटीकी मददकी या उनकी रहन-सहनपर उसकी देख-रेखकी जरूरत न हो। जंगलमें मंगल कर सकनेवाले, धूलमें से धान उपजानेवाले हिन्दुस्तानी वहां जाकर बसे होते तो वहांका इतिहास कुछ और ही होता। दुनियामें कहीं भी इस तरह हजारों-लाखोंकी तादादमें लोग दूसरे देशोंमें आबाद होते नहीं पाये जाते। आमतौरसे तो लोग धन और धंधेके लिए परदेशकी तकलीफें झेलते हैं। हिन्दुस्तानसे तो अधिकांशमें अपढ़, गरीब और दीन-दुःखी मजदूर ही वहां गये थे। उन्हें तो पग-पगपर रक्षाकी जरूरत थी। उनके पीछे जो व्यापारी और अन्य स्वतन्त्र भारतीय गये, वे तो मुट्ठीभर थे।

इस प्रकार सफाईकी रक्षा करनेवाले विभागकी अक्षम्य लापरवाहीसे और भारतीय प्रवासियोंके अज्ञानसे लोकेशनकी स्थिति आरोग्यकी दृष्टिसे बहुत खराब थी। उसे सुधारनेकी मुनासिब कोशिश म्युनिसिपैलिटीने जरा भी न की; बल्कि अपने

ही दोषसे पैदा हुई खराबीको निमित्त बनाकर उसने उक्त लोकेशन-का नाश करनेका निश्चय किया और उस जमीनपर कब्जा कर लेनेका अधिकार वहांकी कौंसिलसे प्राप्त कर लिया। मैं जब जोहान्सबर्गमें जाकर बसा तब वहांकी स्थिति यही थी।

बसनेवाले अपनी जमीनके मालिक थे, अत: उन्हें कुछ हरजाना तो मिलना ही चाहिए। हरजानेकी रकम तय करनेको खास अदालत बैठी थी। म्यूनिसिपैलिटी जो रकम देना चाहती थी उसे यदि मकान मालिकके स्वीकार न करनेकी स्थितिमें उक्त अदालत जो हरजाना तय करती वह लेना पड़ता। अगर म्यूनिसिपैलिटी द्वारा दी जानेवाली रकममें अदालत ज्यादा हरजाना दिलवाती तो उज्रदारके वकीलका खर्च म्यूनिसिपैलिटीको देना पड़ता था।

इनमेंसे अधिकांश दावोंमें मकानमालिकोंने मुझे वकील बनाया। इनसे पैसा पैदा करनेकी मेरी इच्छा नहीं थी। मैंने उनसे कह दिया था—"जो आप जीतेंगे तो जो कुछ खर्च म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे मिल जायगा उसीसे मैं संतोष कर लूंगा। आप हारें या जीतें, मुझे पट्टे पीछे दस पौण्ड दे देना काफी होगा। मैंने उन्हें बतला दिया कि इसमेंसे भी आधी रकम तो गरीबोंके लिए अस्पताल बनाने या ऐसे ही किसी दूसरे सार्वजनिक कामके लिए अलग रखनेका मेरा इरादा है। स्वभावत: इससे सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। लगभग सत्तर दावोंमेंसे एकमें ही हार हुई। अत: मेहनतानेकी रकम मोटी हो गई। पर 'इंडियन ओपीनियन' की मांग तो इस वक्त मेरे सिरपर सवार ही थी। अत: मेरा खयाल है कि उसमेंसे लगभग १६०० पौंडका चेक तो उसीमें चला गया।

इन दावोंमें अपनी धारणाके अनुसार मैंने अच्छी मेहनत की थी। मुवक्किलोंकी तो मेरे पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमेंसे लगभग सभी उत्तरके बिहार इत्यादिसे और दक्षिणके तामिल, तेलुगु, प्रदेशसे पहले गिरमिटमें आये हुए भारतीय थे, और जो पीछे मुक्त होकर स्वतंत्र व्यवसाय करने लगे थे।

इन लोगोंने अपने विशेष कष्टोंको दूर करनेके लिए स्वतंत्र भारतीय व्यापारी वर्गके मंडलसे अलग एक मंडलकी स्थापना की थी। उसमें कुछ बहुत सच्चे दिलके, उदार भावनावाले और चरित्रवान भारतीय भी थे। उनके अध्यक्षका नाम श्री जयराम-सिह था और अध्यक्ष न होते हुए भी अध्यक्षके समान ही दूसरे सज्जन थे श्रीबद्री। दोनोंका स्वर्गवास हो चुका है। दोनोंसे मुझे बड़ी मदद मिली थी। श्रीबद्रीसे तो मेरा बहुत काम पड़ा था और उन्होंने सत्याग्रहमें प्रमुख भाग लिया था। इन और ऐसे ही दूसरे भाइयोंके जरिये मेरा उत्तर-दक्षिणके बहुसंख्यक भारतीयोंसे बहुत निकटका संबंध जुड़ा। और मै उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा और उनके तीनों प्रकारके दुःखोंमें मैं हिस्सेदार बना। सेठ अब्दुल्लाने मुझे 'गांधी' कहनेसे इन्कार किया मे साहब तो मुझे कहता और मानता ही कौन ? उन्होंने अतिशय प्रिय नाम ढूढ निकाला। मुझे वह 'भाई' कहकर पुकारने लगे। वह नाम दक्षिण अफ्रीकामें अन्ततक रहा। पर इन गिरमिटमुक्त हिंदियोंके मुझे 'भाई' कहकर बुलानेमें मेरे लिए खास मिठास थी।

: १५ :

महामारी—१

इस लोकेशनकी मालिकी लेनेके साथ ही म्यूनिसिपैलिटीने हिन्दुस्तानियोंको वहांसे खदेड़ा नही। उन्हें दूसरी अनुकूल जगह देनेकी बात तो थी ही। वह जगह म्यूनिसिपैलिटीने तय नहीं की थी। इससे हिन्दुस्तानी उसी गंदे लोकेशनमें रह गये। दो फेर-फार हुए। हिन्दुस्तानी अब मालिक न रहकर नगर-सुधार-विभागके किरायेदार हो गये। इससे गंदगी और बढ़ गई। पहले जब हिन्दुस्तानी मालिक माने जाते थे तब वे खुशीसे न सही तो डरसे ही कुछ-न-कुछ सफाई रखते थे। अब सुधार-विभागको किसका डर ? मकानमें किरायेदार बढ़े और उसीके साथ गंदगी

और अव्यवस्था बढ़ी ।

यों यह दशा चल रही थी । भारतीयोंके मन उत्तेजित थे । इतनेमें यकायक काला प्लेग फूट निकला । यह महामारी प्राण-घातक थी । यह फेफड़ेका प्लेग था । उसकी गिलटी काले प्लेगसे अधिक भयानक समझी जाती थी ।

सौभाग्यसे महामारीका कारण लोकेशन नहीं था । उसका कारण थी जोहान्सबर्गके आसपासकी सोनेकी खानोंमेंकी एक खान । वहां मुख्यतः हब्शी मजदूर थे । उनकी सफाईकी जिम्मे-दारी तो केवल गोरे मालिकोंके सिर थी । इस खानके काममें कुछ हिन्दुस्तानी भी लगे हुए थे । उनमेंसे तेईसको यकायक छूत लगी और वे एक शामको भयानक महामारीके शिकार होकर लोकेशनमें अपने डेरे पर आये ।

इस समय भाई मदनजीत 'इंडियन ओपीनियन'के ग्राहक बनाने और सालाना चन्दा वसूल करने आये थे । वह लोकेशनमें घूमते थे । उनमें भरपूर निर्भयता थी । इन बीमारोंपर उनकी नजर पड़ी और उनका हृदय धधकने लगा । उन्होंने मुझे पेंसिलसे लिखकर एक चिट भेजी । उसका आशय था—

"यहां यकायक काला प्लेग फूट पड़ा है । आपको फौरन आकर कुछ करना चाहिए । नहीं तो परिणाम भयंकर होगा । तुरन्त आइए ।"

मदनजीतने एक खाली पड़े मकानपर निर्भयतापूर्वक कब्जा कर लिया और उसीमें इन बीमारोंको रखा था । मैं अपनी साइ-किलपर लोकेशन पहुंचा । वहांसे टाउन क्लर्कको हाल भेजा और किस परिस्थितिमें मकानपर कब्जा किया गया था, यह बता दिया ।

डाक्टर विलियम गाडफ्रे जोहान्सबर्गमें डाक्टरी करते थे । समाचार पाते ही वह दौड़े आये और बीमारोंके डाक्टर और नर्स दोनों बन गये । पर तेईस रोगियोंको हम तीनों संभाल लें, यह मुमकिन न था ।

अनुभवके आधारपर मेरा यह विश्वास हो गया है कि नीयत

अच्छी हो तो संकटके मुकाबलेके लिए सेवक और साधन मिल ही जाते हैं। मेरे दफ्तरमें कल्याणदास, माणिकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। अन्तिम दोके नाम इस समय मुझे याद नहीं हैं। कल्याणदासको उनके बापने मुझे सौंप दिया था। उनके-जैसे परोपकारी और सिर्फ आज्ञापालन जाननेवाले सेवक मुझे थोड़े ही मिले होंगे। कल्याणदास सौभाग्यसे उस समय ब्रह्मचारी थे। अतः उन्हें चाहे जैसी जोखिमका काम सौपते मुझे कभी संकोच नहीं होता था। दूसरे सज्जन माणिकलाल मुझे जोहान्सबर्गमें ही मिले थे। मेरा खयाल है कि वह भी कुंवारे थे। इन चारोंको—इन्हें मुंशी कहिए, साथी कहिए या बेटा कहिए—मैंने होमने का निश्चय किया। कल्याणदाससे तो पूछना ही क्या था। दूसरे पूछते ही तैयार हो गये। "जहां आप वहां हम"—यह उनका संक्षिप्त और मधुर उत्तर था।

मि० रीचका परिवार बड़ा था। वह खुद तो कूदनेको तैयार थे, पर मैंने उन्हें रोका। उन्हें इस जोखिममें डालनेको मैं हरगिज तैयार न था। मेरी हिम्मत ही न होती थी, लेकिन उन्होंने बाहरका सारा काम उठा लिया।

शुश्रूषाकी यह रात भयानक थी। मैं बहुत बीमारोंकी शुश्रूषा कर चुका था। पर प्लेगके मरीजकी तीमारदारी करनेका मौका मुझे कभी नहीं मिला था। डाक्टर गाडफ्रेकी हिम्मतने हमें निडर बना दिया। रोगियोंकी सेवा अधिक नही करनी थी। उन्हें दवा देना, तसल्ली देना, पथ्य-पानी देना और उनका पाखाना वगैरा साफ करनेके सिवा ज्यादा काम नहीं था।

चारों युवकोंकी जी-तोड़ मेहनत और निर्भयता देखकर मेरे हर्षकी सीमा न रही।

डाक्टर गाडफ्रेकी और मदनजीतकी हिम्मत भी समझमें आ सकती थी। पर इन युवकोंकी ? रात ज्यों-त्यों बीती। मुझे जहांतक याद है, उस रातको हमने एक भी रोगीको खोया नहीं।

पर यह प्रसंग जितना करुण जनक है उतना ही रोचक और

चलानेको तैयार थे, सिर और सीनेपर जहां दर्द था, मिट्टी रखनेका प्रयोग किया। इन तीन मरीजोंमें से दो बचे। बाकी सब मरीजोंकी मृत्यु हो गई। बीस मरीज तो इस गोदाममें ही चल बसे।

म्युनिसिपैलिटीकी दूसरी तैयारियां चल रही थीं। जोहान्सबर्गसे सात मीलपर छुतहे रोगियोंका अस्पताल था। वहां खेमा खड़ा करके इन तीन रोगियोंको ले गये। प्लेगके और रोगियोंको भी वहां ले जानेका इंतजाम किया गया। हमने इस कामसे छुट्टी पाई। थोड़े ही दिनोंमें हमें मालूम हुआ कि उक्त भली नर्सको प्लेग हो गया और उसकी मृत्यु हो गई। पूर्वोक्त दो रोगियोंका बचना और हमारा रोगसे बचे रहना किस कारणसे हुआ, यह कोई कह नहीं सकता। पर मिट्टीके उपचारपर मेरी श्रद्धा और औषधरूपमें भी शराबके उपयोगमें मेरी अश्रद्धा बढ़ गई। मैं जानता हूं कि यह श्रद्धा और अश्रद्धा दोनों बेबुनियाद मानी जायंगी। लेकिन मुझपर उस वक्त पड़ी हुई छापको, जो अबतक चलती आ रही है, मैं मिटा नहीं सकता और इसीलिए इस प्रसंगमें उसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूं।

यह महामारी फूटनेके बाद फौरन ही मैंने अखबारोंमें म्युनिसिपैलिटीके लोकेशनको अपने हाथमें लेनेके बाद की बढ़ी हुई लापरवाही और महामारीके लिए उसकी जिम्मेदारीपर एक कड़ा पत्र लिखा था। उस पत्रने मुझे मि० हेनरी पोलकसे मिलाया और वह पत्र स्वर्गीय जोसेफ डोकसे परिचय का एक साधन बन गया था।

पिछले प्रकरणोंमें मैं बतला आया हूं कि मैं भोजन करने एक निरामिष भोजनगृहमें जाया करता था। वहां मेरा मि० अलबर्ट वेस्टसे परिचय हुआ। हम बराबर शामको इस गृहमें मिलते और खाकर साथ घूमने जाते। वेस्ट एक छोटे प्रेसमें हिस्सेदार थे। उन्होंने अखबारोंमें महामारीके बारेमें मेरा पत्र पढ़ा और मुझे भोजनके समय होटलमें न पाकर वह घबराये।

मैंने और मेरे साथी सेवकोंने प्लेगके दिनोंमें खुराक घटा

दी थी। बहुत दिनोंसे मेरा यह नियम हो गया था कि प्लेग—महामारी के प्रकोपके समय पेटमें बोझा जितना कम रहे उतना अच्छा। अतः मैंने शामका खाना बन्द कर दिया था और दोपहरको दूसरे खानेवालोंको हर तरहके खतरेसे दूर रखनेके खयालसे मैं ऐसे वक्त जाकर खा आता था जब कोई आया न होता था। भोजनगृहके मालिकसे तो मेरा गहरा परिचय था। उसको मैंने बतला दिया था कि मैं प्लेगके मरीजोंकी तीमारदारीमें लगा हूं, इसलिए दूसरोंका स्पर्श कम-से-कम रखना चाहता हूं।

यों मुझे भोजनगृहमें न पाकर दूसरे या तीसरे ही दिन सबेरेके समय, जब मैं बाहर निकलनेकी तैयारी कर ही रहा था, मि० वेस्टने पहुंचकर मेरे कमरेका दरवाजा खटखटाया। ज्योंही दरवाजा खोला, वेस्ट बोले—

"आपको भोजनगृहमें न पाकर मैं तो घबराया कि कहीं आपको तो कुछ नहीं हो गया? यह सोचकर आया हूं कि इस वक्त तो आप मिल ही जायंगे। मुझसे किसी मददकी जरूरत हो तो अवश्य कहियेगा। मैं रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा के लिए भी तैयार हूं। आप जानते ही हैं कि मुझपर अपना पेट भरनेके सिवा और कोई जिम्मेदारी नहीं है।"

मैंने वेस्टको धन्यवाद दिया। मुझे याद नहीं है कि मैंने सोचनेमें मिनट भी लगाया हो। मैंने कहा—"आपको मैं नर्सके रूपमें तो नहीं लूंगा। और बीमार न निकलें तो हमारा काम एक-दो दिनमें ही खतम हो जायगा। पर एक काम जरूर है।"

"सो क्या?"

"आप डरबन जाकर 'इंडियन ओपीनियन' प्रेसका प्रबंध अपने हाथमें ले लेंगे? मदनजीत तो फिलहाल यहां काममें फंसे हुए हैं। वहां किसीका जाना जरूरी है। आप चले जायं तो मैं उधरकी चिन्तासे बिलकुल छूट जाऊं।"

वेस्टने जवाब दिया—"मेरे पास अपना प्रेस है। यह तो आपको मालूम ही है। बहुत करके तो मैं जानेको तैयार हो

जाऊंगा। अन्तिम उत्तर आपको शामको दूं तो ठीक होगा न? घूमने चल सकें तो बातें हो जायंगी।"

मुझे प्रसन्नता हुई। उसी दिन शामको कुछ बातचीत हुई। वेस्टको हर महीने दस पौंड वेतन और छापेखानेमें बचत होनेपर उसका एक हिस्सा देनेकी बात तय पाई। वेस्ट तनख्वाहके लिए जानेवाले आदमी नहीं थे। इसलिए उसका सवाल उनके सामने नहीं था। दूसरे ही दिन रातकी डाक गाड़ीसे वेस्ट अपना लहना मुझे सौंपकर डरबनको रवाना हो गये। तबसे दक्षिण अफ्रीका छोड़नेतक वह मेरे सुख-दुःखके साथी रहे। मैंने श्री वेस्टको सदा, विलायतके एक परगनेके लाउथ नामक गांवके एक कृषक कुटुंबमें जनमे हुए, स्कूलकी साधारण शिक्षा पाये हुए, अपने श्रमसे अनुभवकी पाठशालामें शिक्षित और गढ़े हुए, संयमी, शुद्ध ईश्वर-भीरु, हिम्मतवाले और परोपकारी अंग्रेजके रूपमें जाना है। उनका और उनके कुटुंबका अधिक परिचय अभी अगले प्रकरणोंमें आनेवाला है।

: १७ :

लोकेशनकी होली

यद्यपि बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषामेंसे मैं और मेरे साथी छुट्टी पा गये थे, तो भी प्लेगके कारण उपस्थित हुए कर्तव्य सिरपर सवार ही थे।

लोकेशनकी स्थितिके संबंधमें म्यूनिसिपैलिटी भले ही लापरवाह हो, पर गोरे नगर-निवासियोंके आरोग्यके विषयमें तो चौबीसों घंटे जागृत थी। उनके आरोग्यकी रक्षाके लिए पैसा खर्च करनेमें उसने कोई कमी नहीं की थी और इस मौकेपर महामारीको आगे फैलनेसे रोकनेके लिए तो उसने पानीकी तरह पैसा बहाया। मैंने म्यूनिसिपैलिटीके हिन्दुस्तानियोंके प्रति तो बहुत दोष देखे थे। फिर भी गोरोंके लिए उसे जो चिन्ता थी, उसकी सराहना किये बिना नहीं रह सका और उसके इस शुभ प्रयत्नमें मुझसे जितनी

मदद हो सकी उतनी मैंने की। मैं मानता हूं कि वह मदद मैंने न की होती तो म्यूनिसिपैलिटीको कठिनाई पड़ती और शायद वह गोलियोंकी बौछारका सहारा लेती, लेते न हिचकती और अपना निश्चय पूरा करती।

पर वैसा होने नहीं पाया। हिन्दुस्तानियोंके बरतावसे म्यूनिसिपैलिटीके अधिकारी प्रसन्न हुए और उसके बादका बहुत-सा काम आसान हो गया। म्यूनिसिपैलिटीकी मांगें पूरी करानेके काममें हिन्दुस्तानियोंपर मेरा जितना असर था, उस सबसे मैंने काम लिया। वह सब करना हिन्दुस्तानियोंके लिए था बड़ा मुश्किल, पर एकने भी मेरी बात टाली हो, यह मुझे याद नहीं आता।

लोकेशनके चारों ओर पहरा पड़ने लगा। उसमेंसे बिना इजाजतके न कोई बाहर जा सकता था, न अंदर आ सकता था। मेरे साथियोंको और मुझे बिना रोक-टोक अंदर जानेका परवाना दे दिया गया था। म्यूनिसिपैलिटीका विचार था कि लोकेशनके सब निवासियोंको तीन सप्ताहतक जोहान्सबर्गसे तेरह मील दूर खुले मैदानमें तंबू डालकर रखे और लोकेशनको जला दे। तंबुओंके होनेपर भी नया गांव बसानेमें, वहां खाने-पीने वगैराका इंतजाम करनेमें कुछ वक्त लगना तो जरूरी था ही। तबतकके लिए पहरेका इंतजाम था।

लोग बहुत घबराये। पर मैं उनकी पीठपर था, इससे उन्हें तसल्ली थी। इनमेंसे बहुतेरे गरीब थे, जो अपना पैसा अपने घरमें गाड़कर रखते थे। अब उसे निकालना पड़ा। उन्हें बैंक नहीं मिलता था। बैंकको वे जानते भी न थे। मैं उनका बैंक बन गया। मेरे पास पैसेका ढेर लग गया। ऐसे वक्तमें मैं इसमें कोई कमीशन तो ले ही न सकता था। ज्यों-त्यों करके काम निबटाया। अपने बैंकके मैनेजरसे मेरा अच्छा परिचय था। मैंने उनसे कहा कि मुझे आपके यहां ज्यादा पैसे रखने होंगे। बैंक तांबे और चांदीके सिक्के ज्यादा लेनेको तैयार नहीं था और दूसरे, यह भी मुमकिन

था कि प्लेगके स्थानमेंसे आये हुए पैसेको छूने, गिननेमें बैंक-कर्मचारी इन्कार करते। मैनेजरने मुझे सब सुभीता कर दिया। पैसा जंतुनाशक पानीमें धोकर बैंकमें रखनेका निश्चय हुआ। मुझे याद है कि इस प्रकार साठ हजार पौंड बैंकमें जमा किये गए। मेरे जिन मुवक्किलोंके पास ज्यादा पैसा था, अपने ऐसे मुवक्किलोंको मैंने मियादी खातेके हिसाबमें उसे जमा करनेकी सलाह दी। उन मुवक्किलोंके नामसे बहुत-सा रुपया जमा हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि उनमेंसे कितनोंको बैंकमें रुपये रखनेकी आदत लग गई।

लोकेशन-निवासियोंको क्लिपस्प्रुट नामके फार्ममें जो जोहान्सबर्गके पास है, स्पेशल ट्रेनमें ले गये। यहां उन्हें सीधा-पानी म्यूनिसिपैलिटीने अपने खर्चसे मुहैया किया। इन तंबुओंके गांवका दृश्य सिपाहियोंकी छावनीका-सा था। लोगोंको इस तरह रहनेकी आदत नहीं थी। इससे उन्हें मानसिक कष्ट हुआ। सब-कुछ नया-नया-सा लगा, पर कोई खास तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। मैं रोज बाइसिकलपर एक चक्कर लगा आता था। तीन हफ्ते इस तरह खुली हवामें रहनेकी वजहसे लोगोंके स्वास्थ्यमें जरूर सुधार हुआ और मनका कष्ट तो सिर्फ पहले चौबीस घंटेका ही था। फिर तो वे मौजसे रहने लगे। मैं जब जाता, उन्हें भजन, कीर्तन और खेल-कूदमें ही लगा हुआ पाता।

जहांतक मुझे याद है जिस दिन लोकेशन खाली हुआ उसीके दूसरे दिन वह जला दिया गया। एक भी चीज उसमेंसे बचा लेनेका लोभ म्यूनिसिपैलिटीने नहीं किया। इसी बीचमें और इन्हीं वजहोंसे म्यूनिसिपैलिटीने अपने मारकेटका लकड़ीका सारा सामान भी जलवा दिया और कोई दस हजार पौंडका नुकसान मत्थे लिया। मारकेट में मरे हुए चूहे पाये गए थे, इसलिए यह उग्र उपाय किया गया। ज्यादा खर्च तो हुआ, पर परिणाम यह हुआ कि बीमारी आगे नहीं बढ़ने पाई। नगर भयमुक्त हो गया।

: १८ :

एक पुस्तकका जादूभरा असर

इस प्लेगने गरीब हिन्दुस्तानियोंपर मेरा काबू, मेरा रोजगार और मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी। इसके सिवा यूरोपियनोंसे मेरा बढ़ता हुआ परिचय भी इतना गहरा होता गया कि उससे भी मेरी नैतिक जिम्मेदारी बढ़ने लगी।

जैसे वेस्टसे मेरा परिचय निरामिषाहारी भोजनगृहमें हुआ वैसे ही पोलकसे भी हुआ। एक दिन मैं जिस मेजपर खा रहा था, उससे दूरकी मेजपर एक नवयुवक भोजन कर रहा था। उसने मुझसे मिलनेकी इच्छासे अपना नाम भेजा। मैंने उसे अपनी मेजपर बुला लिया। वह आया।

"मैं 'क्रिटिक' का उपसंपादक हूं। आपका प्लेग-संबंधी लेख पढ़नेके बादसे आपसे मिलनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी। आज वह पूरी हुई।"

मि० पोलकके निष्कपट भावके कारण मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ। उसी रातको हम दोनों एक दूसरेसे परिचित हो गये और जीवन-विषयक हमारे विचारोंमें हमें बहुत साम्य दिखाई दिया। सादा जीवन उन्हें पसंद था। जिस बातको बुद्धि स्वीकार करले उसपर अमल करनेकी उनकी शक्ति आश्चर्यजनक जान पड़ी। अपने जीवनमें कुछ परिवर्तन तो उन्होंने एकबारगी कर डाले।

'इंडियन ओपीनियन'का खर्च बढ़ता जा रहा था। वेस्टकी पहली रिपोर्ट मुझे चौंका देनेवाली थी। उन्होंने लिखा—"आपने जितना बताया था उतना नफा इस काममें नहीं है, मैं तो घाटा पाता हूं। हिसाब-किताब अव्यवस्थित है। लहना बहुत है, पर उसका सिर-पैर समझमें नहीं आता। बहुत उलट-फेर करना होगा। पर इस रिपोर्टसे आप घबरायें नहीं। जितनी व्यवस्था मुझसे हो सकती है, करूंगा। नफा न होनेकी वजहसे मैं कामको

छोड़ दूं, यह नहीं हो सकता।"

नफा न देखकर काम छोड़ना चाहते तो वेस्ट छोड़ सकते थे और मैं इसके लिए उन्हें कोई दोष नहीं दे सकता था। इतना ही नहीं, बिना जांचे 'यह नफेका काम है' कहनेका दोष मुझपर लगानेका उन्हें हक था। फिर भी उन्होंने मुझे कभी एक कड़वी बाततक न सुनाई। पर मैं समझता हूं कि इस नई जानकारीसे वेस्टकी नजरोंमें मैं झट विश्वास कर लेनेवाला लगने लगा हूंगा। मदनजीतके अंदाजेकी जांच किये बिना उनके कथनके आधारपर मैंने वेस्टसे नफेकी बात कही थी। अब मैं सोचता हूं कि सार्वजनिक काम करनेवालोंको ऐसा विश्वास न रखकर, जिसकी उन्होंने खुद जांच की हो, वही बात कहनी चाहिए। सत्यके पुजारीको तो बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। किसीके मनपर पूरे निश्चयके बिना जितना चाहिए उससे अधिक असर डालना भी सत्यको धुंधला करनेवाली बात है। मुझे कहते दुःख होता है कि इस बातको जानते हुए भी जल्दी विश्वास करके काम लेनेकी अपनी प्रकृतिको मैं पूरी तरह नहीं सुधार सका हूं। इसमें मैं सामर्थ्यसे बाहर काम करनेका लोभ देखता हूं। इस लोभके कारण मुझे तकलीफ उठानी पड़ी है और उससे भी ज्यादा मेरे साथियोंको परेशानी उठानी पड़ती है।

वेस्टका इस तरहका पत्र पाकर मैं नेटालके लिए रवाना हुआ। पोलक तो मेरी सब बातें जान ही गये थे। मुझे स्टेशन पहुंचाने आये और एक किताब मेरे हाथ में देकर बोले—"यह किताब रास्तेमें पढ़ने लायक है, पढ़ जाइयेगा। आपको पसन्द आयेगी।" पुस्तकका नाम था—'अंटु दिस लास्ट'। रस्किनकी किताब थी।

इस पुस्तकको हाथमें लेकर मैं छोड़ ही न सका। उसने मुझे पकड़ लिया। जोहान्सबर्गसे नेटालतक चौबीस घंटेका रास्ता था। ट्रेन शामको डरबन पहुंचती थी। पहुंचनेके बाद सारी रात नींद नहीं आई। पुस्तकमें प्रकट किये हुए विचारोंको अमलमें लानेका इरादा किया।

इसके पहले रस्किनकी एक भी पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी थी।

विद्याभ्यासके दिनोंमें पाठ्य पुस्तकोंके अलावा मेरी दूसरी बाहरी पढ़ाई नहींके बराबर ही समझनी चाहिए। कर्मभूमिमें प्रवेश करनेके बाद वक्त बहुत कम बचता है। अतः आजतक भी, कहा जा सकता है, कि मेरा पुस्तकीय ज्ञान बहुत ही थोड़ा है। मैं मानता हूं कि इस अनायास या विवश होकर किये गए संयमसे मुझे नुकसान नहीं हुआ। पर यह कह सकता हूं कि जो थोड़ी किताबें मैंने पढ़ीं हैं उनको ठीक तरहसे पचा सका हूं। इन पुस्तकोंमेंसे जिसने मेरे जीवनमें तत्काल महत्त्व का रचनात्मक परिवर्तन करा दिया हो वैसी तो यही पुस्तक कही जायगी। बादको मैंने उसका उलथा किया और वह 'सर्वोदय'[1] के नामसे छपा है।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मुझमें गहराईसे भरी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किनके इस ग्रंथरत्नमें देखा और इसके कारण उसने मेरे हृदयपर अपना साम्राज्य जमा लिया और उसमें प्रकट किये हुए विचारोंपर मुझसे अमल कराया। हममें जो भली भावनाएं सुप्त हों, उन्हें जगानेकी शक्ति जिसमें हो, वह कवि है। सब कवियोंका सबपर एक-सा असर नहीं होता; क्योंकि सबमें सब भली भावनाएं समान मात्रामें नहीं होती हैं।

'सर्वोदय' के सिद्धान्त जो मैंने समझे:

१. सबके भलेमें अपना भला समाया हुआ है।

२. वकील और हज्जाम दोनोंके कामकी कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविकाका हक सबको बराबर है।

३. सादा, मेहनत-मशक्कतका, किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज मैं जानता था। दूसरीकी मैं झलक पा रहा था। तीसरीको मैंने सोचा ही नहीं था। पहलीमें पिछली दोनों बातें समाई हुई हैं। यह मुझे 'सर्वोदय' ने दीपककी भांति स्पष्ट दिखा

---

[1] इसका हिन्दी अनुवाद सस्ता साहित्य मंडलसे 'सर्वोदय' के नामसे प्रकाशित हुआ है।

दिया। सवेरा हुआ और मैं उसपर अमल करनेके प्रयत्नमें लग गया।

: १९ :

फिनिक्सकी स्थापना

सबेरे, पहले तो मैंने वेस्टसे बातें कीं। 'सर्वोदय' का मुझपर जो असर हुआ था, वह उन्हें कह सुनाया और सुझाया कि 'इंडियन ओपीनियन' को किसी खेतपर ले चलें। वहां सब एक समान भोजन-व्ययमात्र लें। सब अपने लिए खेती करें और बाकी वक्तमें 'इंडियन ओपीनियन' का काम करें। वेस्टने यह सुझाव मान लिया। हरएकका खाने-पीनेका खर्च कम-से-कम तीन पौण्ड कूता गया। इसमें गोरे-कालेका भेद नहीं रखा गया था।

पर प्रेसमें तो कुल दसके करीब कर्मचारी थे। एक सवाल यह था कि जंगलमें बसना सबको अनुकूल होगा या नहीं और दूसरा सवाल यह था कि सब एक बराबर खाने-पहनने भरको ही पैसे लेनेको तैयार होंगे या नहीं। हम दोनोंने तो यह निश्चय किया कि जो इस योजनामें शामिल न हो सकें, वे अपना वेतन लें। धीरे-धीरे सब संस्थावासी बन जायं, यह आदर्श सामने रहे।

इस दृष्टिसे मैंने कर्मचारियोंसे बात करना शुरू किया। मदनजीतके गले तो वह नहीं उतरी। उन्हें डर लगा कि जिस चीजमें उन्होंने अपनी जान लड़ा दी थी वह मेरी बेवकूफीसे महीने भरमें मिट्टीमें मिल जायगी; 'इंडियन ओपीनियन' न चलेगा। प्रेस भी नहीं चलेगा और काम करनेवाले भाग जायंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी इस छापेखानेमें काम करते थे। उनसे भी मैंने वेस्टके साथ ही बातें की थीं। उनपर कुटुंबका भार था। पर बचपनसे ही उन्होंने मेरी आज्ञाके नीचे रहकर शिक्षा ग्रहण करना और काम करना पसन्द किया था। मुझपर उनका बहुत विश्वास था। अतः बिना दलील किये वह तो शामिल हो गये और आजतक मेरे साथ ही हैं।

तीसरे गोविन्द सामी नामके मशीनमैन थे। वह भी शामिल हो गये। और कर्मचारी यद्यपि संस्थावासी नहीं हुए, पर मैं प्रेसको जहां ले जाऊं वहां जाना उन्होंने कबूल कर लिया।

मुझे जहांतक याद है, इस प्रकार कर्मचारियोंसे बातचीत करनेमें दो दिनसे अधिक नहीं लगे। तुरन्त ही मैंने अखबारमें डरबनके नजदीक किसी भी स्टेशनके पास जमीनके टुकड़ेके लिए विज्ञापन दिया। जवाबमें फिनिक्सकी जमीनकी बात आई। मैं और वेस्ट उसे देखने गये। सात दिनोंके अन्दर २० एकड़ जमीन ली। उसमें एक नन्हा-सा पानीका झरना था, नारंगी और आमके कुछ पेड़ थे। उससे सटा हुआ ही ८० एकड़का दूसरा एक टुकड़ा था। उसमें फलवाले पेड़ अधिक थे और एक झोंपड़ा था। उसे भी कुछ दिनों बाद खरीदा। दोनोंको मिलाकर १००० पौण्ड दिये।

सेठ पारसी रुस्तमजी तो मेरे ऐसे सब साहसवाले कामोंमें हाथ बंटाते थे। उन्हें मेरी यह योजना पसंद आई। एक बड़े गोदामकी टिनकी चादरें वगैरा उनके पास पड़ी थीं, वे उन्होंने मुफ्तमें दे दीं। उनसे इमारत बनवाना शुरू कर दिया। कुछ हिन्दुस्तानी बढ़ई और थवई मेरे साथ लड़ाईमें शामिल हुए थे, उनमेंसे कई मिल गये। उनकी मददसे कारखाना बनना शुरू हो गया। एक महीनेमें मकान तैयार हुआ। वह ७५ फुट लम्बा और ५० फुट चौड़ा था। वेस्ट इत्यादि जानकी जोखिम उठाकर थवइयों-बढ़इयोंके साथ रह गये।

फिनिक्समें घास बहुत थी। आबादी बिलकुल न थी। इससे सांपोंका उपद्रव था और यही खतरा था। पहले तो सभी तंबू तानकर रहे।

मकानका मुख्य भाग तैयार हो जानेपर हम एक हफ्तेमें बहुत-कुछ सामान बैलगाड़ियोंसे फिनिक्स ले गये। डरबन और फिनिक्समें तेरह मीलकी दूरी थी। स्टेशनसे फिनिक्स २॥ मील दूर था। सिर्फ एक ही हफ्ते 'इंडियन ओपीनियन'को मर्क्युरी प्रेसमें छपाना पड़ा।

मेरे साथ मेरे जो रिश्तेदार वगैरा आये थे और व्यापारमें लग गये थे उन्हें अपने मतमें मिलाने और फिनिक्समें दाखिल करनेकी कोशिश मैंने शुरू की। ये सब तो रुपये कमानेकी गरजसे दक्षिण अफ्रीका आये थे। उन्हें समझानेका काम कठिन था, पर कुछ समझ गये। ऐसोंमेंसे आज मगनलाल गांधीका नाम मैं चुनकर खास तौरसे लेता हूं। कारण यह कि जिन दूसरोंने समझा वे तो कुछ दिन फिनिक्समें रहकर द्रव्यसंचयमें लग गये। पर मगनलाल गांधी जो अपना धंधा समेटकर मेरे साथ आये तो तबसे रह ही गये। वह अपने बुद्धि-बल, त्याग-शक्ति और अनन्य भक्तिसे मेरे आन्तरिक प्रयोगोंके मेरे मूल साथियोंमें आज प्रधान पदपर आसीन हैं और स्वयं शिक्षित कारीगरके रूपमें तो उनमें, मेरी दृष्टिसे, उनका स्थान बेजोड़ है।

इस प्रकार सन् १९०४ में फिनिक्सकी स्थापना हुई और कष्ट-कठिनाइयां झेलते हुए भी फिनिक्स-संस्था और 'इंडियन ओपीनियन' दोनों अभी जीवित हैं। पर इस संस्थाकी शुरूकी मुसीबतें और उसमें हुई सफलताएं, विफलताएं जानने-समझने लायक हैं। उनपर दूसरे प्रकरणमें विचार करूंगा।

: २० :

पहली रात

फिनिक्समें 'इंडियन ओपीनियन' का पहला अंक निकालना आसान साबित नहीं हुआ। दो सावधानियां मुझे न सूझी होतीं तो अंक एक सप्ताह बन्द रहता या देरसे निकलता। इस संस्थामें एंजिनसे चलनेवाली मशीनें लगानेका मेरा इरादा कम ही था। सोचा था कि जहां खेती भी हाथोंसे करनी है वहां प्रेस भी हाथोंसे चलनेवाली मशीनोंसे ही चलाया जा सके तो अच्छा है। पर उस समय ऐसा जान पड़ा कि यह सध न सकेगा। इससे वहां आयल एंजिन ले गये थे। पर मैंने वेस्टसे कहा कि अगर यह आयल एंजिन

दगा दे जाय तो उस वक्तके लिए दूसरा कोई कामचलाऊ साधन भी रहना अच्छा होगा। इससे उन्होंने हाथसे चलानेवाला एक चक्र रखा था और उससे छपाई-मशीन चलानेका उपाय कर लिया था। फिर हमारे अखबारका आकार दैनिक पत्रके समान था। बड़ी मशीन बिगड़ जाय तो उसे तुरन्त ठीक करा लेनेका सुभीता यहां नहीं था। इससे भी अखबार बन्द होता। इस कठिनाईसे बचनेके लिए आकार बदलकर साधारण साप्ताहिक के बराबर कर दिया गया, जिसमें अड़चनके समय ट्रेडिलपर भी पैरसे कुछ पन्ने निकाले जा सकें।

शुरूके दिनोंमें 'इंडियन ओपीनियन' के प्रकाशन-दिवसकी पहली रातको सबका थोड़ा-बहुत रतजगा हो जाता था। कागज भांजनेके काममें छोटे-बड़े सब लग जाते थे और काम रातको दस-बारह बजे पूरा होता था। पर पहली रात तो मुश्किलसे भूलेगी। फर्मा मशीनपर कस दिया गया, पर एंजिन चलनेसे इनकार करने लगा! एंजिन बिठाने और चलानेके लिए एक इंजीनियर बुलाया गया। उसने और वेस्टने भरपूर मेहनत की, पर एंजिन नहीं चला। सब चिन्तित हो गये। अन्तमें वेस्ट निराश होकर डबडबाई आंखोंसे मेरे पास आये और बोले—"अब एंजिन आज तो नहीं चलेगा और इस सप्ताह हम लोग वक्तपर अखबार न निकाल सकेंगे।"

"यही होगा तो हम लाचार हैं। आंसू बहानेकी कोई वजह नहीं। अब भी कोई कोशिश बाकी हो तो कर देखनी चाहिए। अच्छा, आपका उस हाथवाले चक्रका क्या हुआ?" यह कहकर मैंने आश्वासन दिया।

वेस्ट बोले—"इस चक्रको चलानेवाले हमारे पास आदमी कहां हैं? हम लोग जितने आदमी हैं उतनेसे यह चक्र नहीं चल सकता। उसे चलानेको बारी-बारीसे चार आदमी चाहिए। हम सब तो थक चुके हैं।"

बढ़ईखानेका काम अभी खतम नहीं हुआ था। इससे बढ़ई

अभी गये नहीं थे। वे छापेखानेमें ही सो रहे थे। उनकी ओर इशारा करके मैंने कहा—"पर ये सब मिस्त्री तो हैं, इनसे कामकी मदद क्यों न लें ? और आज रातभर हम सब अखंड जागरण करेंगे। मुझे लगता है कि इतना करना बाकी रह गया है।"

"मिस्त्रियोंको उठानेकी और उनकी मदद मांगनेकी मेरी हिम्मत नहीं है। और हमारे थके हुए आदमियोंको भी कहा कैसे जाय ?"

"यह काम मेरा है।" मैंने कहा।

"तो संभव है कि हम काम कर ले जायं।"

मैंने मिस्त्रियोंको जगाया और उनकी मदद मांगी। मुझे उनकी मनुहार नहीं करनी पड़ी। वे बोले—"ऐसे आड़े वक्त हम आपके काम न आयं तो हम इन्सान कैसे ? आप आराम कीजिये, हम चक्र चला लेंगे। हमें इसमें ज्यादा मेहनत नहीं पड़ेगी।"

छापेखानेके आदमी तो तैयार ही थे।

वेस्टकी खुशीका पार न रहा। उन्होंने काममें लगे-लगे भजन गाना शुरू किया। चक्र चलानेमें मिस्त्रियोंका हाथ बंटाया; और लोग भी बारी-बारीसे खड़े होने लगे। काम निकलने लगा। सबेरे करीब सातका वक्त होगा। मैंने देखा कि काम अभी काफी बाकी है। वेस्टसे मैंने कहा—"क्यों अब इंजीनियरको जगा सकते हैं ? दिनके उजालेमें फिर मेहनत करें तो शायद एंजिन चल जाय और हमारा काम वक्तसे पूरा हो जाय।"

वेस्टने इंजीनियरको उठाया। वह तुरंत उठकर एंजिनकी कोठरीमें पैठा। शुरू करते ही एंजिन चलने लगा। प्रेस खुशीके नारोंसे गूंज उठा। "यह कैसे हो गया ?" रातको इतनी-इतनी मेहनत की गई तब भी नहीं चला। और अब इस तरह चलाते ही चलने लगा, मानों कुछ हुआ ही न हो।"

वेस्ट या इंजीनियरने जवाब दिया—"इसका जवाब देना मुश्किल है। मशीनोंको भी मानों हमारी तरह आरामकी जरूरत

होती है। कभी-कभी उनको इस तरह व्यवहार करते देखा जाता है !"

मैंने तो माना कि इस एंजिनका न चलना हम सबकी परीक्षा थी और उसका ऐन मौकेपर चलना शुद्ध श्रमका शुभ फल था।

अखबार समयसे स्टेशन पहुंच गया और सब निश्चिंत हुए। इस आग्रहका नतीजा यह हुआ कि अखबार की नियमितताकी छाप पड़ गई और फिनिक्समें मेहनतका वायुमंडल बन गया। इस संस्थामें ऐसा भी एक वक्त आया जब एंजिन चलाना जान-बूझकर बंद कर दिया गया और दृढ़तापूर्वक चक्रसे ही काम चलाया गया। मेरी समझमें फिनिक्सका यह ऊंचे-से-ऊंचा नैतिक काल था।

: २१ :

पोलक कूद पड़े

फिनिक्स-जैसी संस्थाकी स्थापनाके बाद मैं स्वयं उसमें थोड़े ही दिन बस सका, इसका मुझे सदा दु:ख रहा है। इसकी स्थापनाके समय मेरी कल्पना यह थी कि मैं भी वहीं बसूंगा, अपनी आजीविका उसीसे करूंगा। धीरे-धीरे वकालत छोड़ दूंगा, फिनिक्समें रहकर जो सेवा हो सकेगी वह करूंगा और फिनिक्सकी सफलताको ही सेवा मानूंगा। पर इन विचारोंपर सोचे हुए रूपमें तो अमल न हो पाया। मैंने अपने अनुभवमें बहुत बार यह देखा है कि हमने चाहा कुछ और हुआ कुछ और ही। पर साथ-साथ मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहां सत्यकी ही साधना और उपासना हो, वहां हमारा सोचाचाहा हुआ परिणाम भले ही न हो, पर जो अनसोचा परिणाम होता है, वह भी अनिष्ट नहीं होता और कितनी ही बार तो सोचे हुए परिणामसे अधिक अच्छा होता है। फिनिक्समें जो अनसोचे परिणाम सामने आये और फिनिक्सने जो अनसोचा रूप पकड़ा वे अनिष्ट नहीं थे, इतना मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं। सोचे परिणामसे बढ़कर कहे जा सकते हैं या नहीं इस विषयमें

निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता ।

हम सब शारीरिक श्रमसे निर्वाह करेंगे, इस विचारसे छापेखानेके आसपास प्रत्येक संस्थावासीके लिए तीन-तीन एकड़ जमीनके टुकड़े किये गए। इनमेंसे एक टुकड़ा मेरे लिए भी नापा गया। उन सबपर हमने, सबकी इच्छाके विरुद्ध, टीनके घर बनाये। इच्छा तो किसानको फबनेवाले घास, मिट्टी या कच्ची इंटोंकी दीवारका झोंपड़ा बनानेकी थी वह न हो सका। उसमें ज्यादा पैसा, ज्यादा वक्त लग रहा था। सब झटपट घरबारी हो जाने और काममें जुट जानेको आतुर थे।

'इंडियन ओपीनियन' के संपादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे। वह इस योजनामें शामिल नहीं हुए थे। उनका डेरा डरबनमें ही था। डरबनमें 'इंडियन ओपीनियन'की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

कंपोज करनेके लिए यद्यपि तनखाहदार आदमी थे, फिर भी दृष्टि यह थी कि अखबार की छपाईमें कंपोजिंगका काम, जो ज्यादा-से-ज्यादा वक्त लेता है, पर आसान है, सब संस्थावासी सीख लें और करें। इसलिए न जाननेवाले उसे सीखनेको तैयार हो गये। मैं इस काममें आखीरतक सबसे ज्यादा पीछे रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे निकल गये।

मेरी सदा यह धारणा रही है कि उन्हें खुद भी अपनेमें विद्यमान शक्तिकी खबर नहीं थी। छापेखानेका काम कभी किया नहीं था, फिर भी कुशल कंपोजिटर बन गये और गतिमें भी अच्छी प्रगति की। इतना ही नहीं, कुछ समयमें छापेखानेके सब कामोंपर अच्छा काबू पाकर मुझे चकित कर दिया।

यह काम अभी ठिकाने तो नहीं पहुंचा था। मकान भी तैयार नहीं हुए थे। इतनेमें इस नये रचे हुए कुटुंबको छोड़कर मैं जोहान्सबर्ग भागा। मेरी स्थिति ऐसी नहीं थी कि वहां का काम ज्यादा दिनों तक छोड़ सकूं।

जोहान्सबर्ग पहुंचनेपर पोलकसे इस बड़े परिवर्तनकी चर्चा

की। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनंदका पार न रहा। उन्होंने उत्साहभरे गद्गद् हृदयसे पूछा—"तो मैं भी इसमें किसी तरह हिस्सा ले सकता हूं ?"

मैंने कहा—"अवश्य ले सकते हैं। चाहें तो आप इस योजनामें शामिल भी हो सकते हैं।"

पोलकने जवाब दिया—"मुझे भरती करें तो मैं तैयार ही हूं।" इस दृढ़तासे मैं मुग्ध हो गया। पोलकने 'क्रिटिक' से अपनेको मुक्त करनेके लिए मालिकको एक महीनेका नोटिस दिया और मियाद खतम होनेपर फिनिक्स पहुंच गये। अपनी मिलनसारीसे उन्होंने सबके मन हर लिये और हमारे कुटुंबीसे बनकर रहने लगे। सादगी उनकी रग-रगमें थी। इससे फिनिक्सका जीवन उन्हें जरा भी नया-सा या मुश्किल न लगकर स्वाभाविक और रुचिकर लगा।

पर मैं ही उन्हें वहां अधिक दिनतक नहीं रख सका। मि० रीचने कानूनकी पढ़ाई विलायतमें पूरी करनेका निश्चय किया। अकेले दम मैं सारे दफ्तरका भार उठानेमें असमर्थ था। इससे मैंने पोलकको दफ्तरमें रहने और वकील बननेकी सलाह दी। मेरा इरादा यह था कि उनके वकील हो जानेके बाद अंतको हम दोनों फिनिक्समें ही पहुंच जायंगे।

मेरी ये सारी कल्पनाएं झूठी साबित हुई। पर पोलकके स्वभावमें कुछ ऐसी सरलता थी कि जिसपर उनका विश्वास जम जाता उसके साथ दलील न करके उसके मतानुकूल होनेकी कोशिश करते थे। पोलकने मुझे लिखा—"मुझे तो यह जीवन ही भाता है। मैं यहां सुखी हूं और इस संस्थाको हम विकसित कर सकेंगे। पर अगर आप यह मानते हों कि मेरे वहां आनेसे हमारे आदर्श शीघ्र सफल होंगे तो मैं आनेको तैयार हूं।" मैंने इस पत्रका स्वागत किया। पोलक फिनिक्स छोडकर जोहान्सबर्ग आये और मेरे दफ्तरमें वकालतके काममें मेरे सहायक के रूपमें शामिल हो गये।

इन्हीं दिनों एक स्काच थियासोफिस्टसे भी, जिसे मैं कानून-

की परीक्षाके लिए तैयार होनेमें मदद देता था, मैंने पोलकका अनुकरण करनेका अनुरोध किया और वह भी शामिल हो गया। इसका नाम मेकिन टायर था।

इस प्रकार फिनिक्सके आदर्शको झटपट प्राप्त कर लेनेके नेक इरादेसे मैं उसके विरुद्ध जीवनमें अधिकाधिक गहराईमें जाता जान पड़ा और जो ईश्वरीय संकेत कुछ और ही न होता तो सादे जीवनके बहाने बिछाये हुए मोहजालमें मैं स्वयं ही फंस जाता।

जिसकी हममेंसे किसीको कल्पना न थी उस रीतिसे मेरी और मेरे आदर्शकी रक्षा कैसे हुई इस प्रसंगपर पहुंचनेके पहले कुछ प्रकरण और लिखने होंगे।

: २२ :

'जाको राखे साइयां'

फिलहाल जल्दी देश जानेकी या वहां जाकर स्थिर होनेकी उम्मीद मैंने छोड़ दी थी। मैं तो पत्नीको एक बरसकी तसल्ली देकर दक्षिण अफ्रीका वापस आया था। बरस तो बीत गया और मेरा वापस जाना दूर चला गया, इससे बाल-बच्चोंको बुलानेका निश्चय किया।

बच्चे आये। उनमें मेरा तीसरा लड़का रामदास भी था। वह राहमें स्टीमरके कप्तानसे खूब हिल गया था। उसके साथ खेलनेमे उसका हाथ टूट गया था। कप्तानने उसकी बड़ी संभाल रखी थी। डाक्टरने हड्डी बैठा दी थी और जब वह जोहान्सबर्ग पहुचा तो उसका हाथ लकड़ीकी पटरियोंके बीचमें बंधकर रुमाल-की गर्दन-झोलीमें लटका हुआ था। स्टीमरके डाक्टरकी सलाह थी कि जख्मको किसी डाक्टरसे ठीक करा लिया जाय।

पर मेरा यह समय तो जोर-शोरसे मिट्टीके प्रयोग करनेका था। मेरे जिन मुवक्किलोंको मेरी नीमहकीमीपर विश्वास था, उनसे भी मैं मिट्टी और पानीके प्रयोग कराता था। रामदासके

लिए और क्या होता ? उसकी उम्र आठ सालकी थी। मैंने उससे पूछा—"तेरे जख्मकी पट्टी वगैरा मैं कर दूं तो घबरायेगा तो नहीं?" रामदासने हँसकर मुझे इजाजत दी। यद्यपि इस उम्र-में उसे भले-बुरेका ज्ञान नहीं हो सकता था, फिर भी डाक्टरी और नीमहकीमीका भेद तो वह भलीभांति जानता था। उसे मेरे प्रयोगोंका पता था और मुझपर विश्वास था, इससे वह निर्भय रहा।

कांपते-कांपते मैंने उसकी पट्टी खोली, जख्मको साफ किया और साफ मिट्टीकी पुलटिस रखकर जैसे पहले बंधी थी वैसे पट्टी बांध दी। इस प्रकार रोज मैं खुद जख्म साफ करता था और मिट्टी रखता था। महीनेभरमें जख्म बिलकुल भर गया। किसी दिन कोई अड़चन नहीं पड़ी और रोज-बरोज जख्म भरता गया।

स्टीमरके डाक्टरने यह कहलाया था कि डाक्टरी मरहम-पट्टीसे भी इतना वक्त तो लगेगा ही।

इन घरेलू इलाजोंपर मेरा विश्वास और उन्हें आजमानेकी मेरी हिम्मत बढ़ गई। इसके बाद मैंने प्रयोगोंका क्षेत्र खूब बढ़ाया। घाव, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि, रोगोंके लिए मिट्टीके, पानीके और उपवासके प्रयोग छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सभीपर किये और अधिकांश सफल हुए। फिर भी जो हिम्मत मुझमें दक्षिण अफ्रीकामें थी, वह यहां नहीं रह गई और अनुभवसे यह भी देखा है कि इन प्रयोगोंमें जोखिम भी है ही।

इन प्रयोगोंके वर्णनका हेतु अपने प्रयोगोंकी सफलता सिद्ध करना नहीं है। किसी भी प्रयोगके सर्वांशमें सफल होनेका दावा नहीं किया जा सकता। डाक्टर भी ऐसा दावा नहीं कर सकते; पर कहनेका मतलब इतना ही है कि जिसे नये अपरिचित प्रयोग करने हों उसे अपनेसे ही आरंभ करना चाहिए। ऐसा होनेपर सत्य शीघ्र प्रकट होता है और वैसे प्रयोग करनेवालेको ईश्वर उबार लेता है।

मिट्टीके प्रयोगोंमें जो खतरे थे, वैसे ही खतरे यूरोपियनोंसे

निकट संपर्क स्थापित करनेमें थे। भेद केवल प्रकारका था, पर इन खतरोंका मुझे खुद तो खयाल तक नहीं आया।

पोलकको मेरे साथ ही रहनेका न्यौता दिया और हम सगे भाईकी भांति रहने लगे। पोलकने जिस बहनसे ब्याह किया उसके साथ उनकी मित्रता कई बरससे थी। पर मुझे याद है कि पोलक कुछ पैसे इकट्ठा हो जानेकी राह देख रहे थे। रस्किनका उनका अध्ययन मेरी अपेक्षा बहुत अधिक था। पर पश्चिमके वातावरणमें रस्किनके विचारोंपर पूरा-पूरा अमल करनेकी बात वह न सोच सकते थे। मैंने दलील दी—"जिससे हृदयकी गांठ जुड़ गई उसका वियोग केवल द्रव्यके अभावमें सहते रहना अनुचित है। आपके हिसाबसे तो कोई गरीब ब्याहा ही नहीं जा सकता। फिर अब तो आप मेरे साथ रहते हैं। अतः घरखर्चका सवाल नहीं है। मुझे तो यही इष्ट लगता है कि आप जल्दी ही ब्याह कर लें।"

मुझे पोलकके साथ कभी दो बार दलील नहीं करनी पड़ी। उन्होंने तुरंत मेरी दलीलको मान लिया। भावी मिसेस पोलक तो विलायतमें थीं। उनके साथ पत्र-व्यवहार आरंभ किया। वह राजी हुईं और कुछ ही महीनोंमें ब्याहके लिए जोहान्सबर्ग आ पहुंचीं।

ब्याहमें खर्च तो कुछ भी नहीं किया गया। ब्याहके कोई खास कपड़ेतक नहीं थे। इन्हें धर्मविधिकी आवश्यकता भी नहीं थी। मिसेस पोलक जन्मकी ईसाई और पोलक यहूदी थे। दोनोंके बीच जो सामान्य धर्म था वह था नीतिधर्म।

पर इस विवाहका एक रोचक प्रसंग लिख दूं। ट्रांसवालमें गोरोंके ब्याहकी रजिस्टरी करनेवाला अधिकारी काले आदमियों-के ब्याहकी रजिस्टरी नहीं करता। इस विवाहमें शहबाला तो मैं था। ढूंढ़नेसे हमें कोई गोरा मित्र मिल जाता, लेकिन पोलकको यह बरदाश्त नहीं था। इससे हम तीनों आदमी अधिकारीके यहां हाजिर हुए। मैं जिसमें शहबाला रहूं, उस विवाहमें उभय

पक्षके गोरेही होनेका अधिकारीको कैसे विश्वास हो ? उसने जांचके लिए रजिस्टरी मुलतवी रखनी चाही। अगले दिन नेटाल का त्यौहार था। ब्याहका सारा साज-सामान किये हुए स्त्री-पुरुषके ब्याहकी रजिस्टरी तिथि इस तरह बदल दी जाय, यह सबको असह्य लगा। बड़े मजिस्ट्रेटको मै जानता था। वह इस विभागके प्रधान थे। मैं इस दंपतीको लेकर उनके सामने हाजिर हुआ। वह हँसे और मुझे पत्र लिख दिया। यों ब्याहकी रजिस्टरी हो गई।

अबतक कुछ गोरे पुरुष हमारे साथ रहे थे और उनसे थोड़ा-बहुत परिचय भी था ही। अब एक बिना परिचयकी अंग्रेज बहन कुटुबमें दाखिल हुई। मुझे खुद तो किसी दिन कोई टंटा-बखेड़ा होनेकी याद नहीं है, पर जहां अनेक जाति और अनेक स्वभावके हिन्दुस्तानियोंकी आवा-जाही रहती हो, जहां मेरी पत्नीको ऐसे अनुभव अल्प ही थे, वहां हो सकता है उन दोनों (श्री और श्रीमती पोलक) को कभी उद्वेगका प्रसंग आया हो। पर एक ही जातिके कुटुंबमें ऐसे प्रसंग जितने आ सकते हैं उनकी अपेक्षा इस विजातीय कुटुबमें ज्यादा तो नही ही आये; बल्कि जिनके आनेका मुझे स्मरण है वे भी नगण्य ही कहे जायंगे। सजातीय-विजातीयकी भावना हमारे मनकी तरगे है। हम सब एक कुटुंब ही हैं।

वेस्टका ब्याह भी यही मना लू। जीवनके इस कालमें ब्रह्मचर्य-संबंधी मेरे विचार पक्के नहीं हुए थे। इससे मेरा पेशा कुंवारे मित्रोंको ब्याह देनेका था। वेस्ट जब अपने माता-पिताको देखने विलायत जाने लगे तो मैंने उन्हें सलाह दी कि विवाह करके ही लौटें। फिनिक्स हम सबका घर बन गया था और सब किसान बन बैठे थे। इससे विवाह या वंशवृद्धि डरावनी बात नहीं थी।

वेस्ट लेस्टरकी एक सुन्दर कुमारिकाको ब्याह लाये। इस बहनका परिवार लेस्टरमें जूतोंका जो बड़ा कारबार चलता है उसमें काम करता था। मिसज वेस्टने भी कुछ समय जूतोंके कारखानेमें बिताया था। उसे मैंने 'सुंदर' कहा है; क्योंकि उसके

गुणोंका मैं पुजारी हूं और सच्चा सौंदर्य तो गुणमें ही होता है। वेस्ट अपनी सासको भी साथ लाये थे। यह भली वृद्धा अभी जीती है। अपने उद्यम और अपने हँसमुख स्वभावसे वह हम सबको सदा लजाया करती।

मैंने जैसे इन गोरे मित्रोंका ब्याह करवाया वैसे हिन्दुस्तानी मित्रोंको अपने बालबच्चोंको बुलानेके लिए उत्साहित किया। इससे फिनिक्स एक छोटा-सा गांव बन गया और वहां पांच-छः हिन्दी परिवार बसने लगे और फलने-फूलने लगे।

: २३ :

घरमें फेर-फार और बालशिक्षा

डरबनमें बसाये घरमें फेरफार तो किया ही था। खरचा भारी था, फिर भी झुकाव सादगीकी ओर था। पर जोहान्सबर्गमें 'सर्वोदय' के विचारोंने ज्यादा फेर-फार कराये।

बारिस्टरके घरमें जितनी सादगी मुमकिन थी उतनी तो दाखिल कर ही दी, फिर भी कुछ साज-सामानके बिना निबाह मुश्किल था। असली सादगी तो मनकी बढ़ी। हरएक काम अपने हाथसे करनेका शौक बढ़ा और उसमें लड़कोंको भी शामिल करना शुरू किया।

बाजारकी रोटी लेनेके बजाय घरमें बिना खमीरकी, कूनेके बताये प्रकारकी रोटी हाथसे बनानी शुरू की। इसमें मिलका आटा काममें नहीं लाया जाता। मैंने यह भी देखा कि मिलका पिसा आटा काममें लानेकी अपेक्षा हाथका पिसा काममें लानेमें सादगी, आरोग्य तथा पैसे—तीनोंकी अधिक रक्षा होती थी। अतः हाथसे चलानेकी एक चक्की सात पौंडमें खरीदी। इसका पैडल भारी था। उसे दो आदमी आसानीसे चला लेते थे। एकसे मुश्किलसे चलती थी। एक चक्कीके चलानेमें पोलक, मैं और लड़के खास तौरसे लगते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी लगतीं,

यद्यपि उनका वह वक्त भोजन बनानेके लिए नियत था। मिसेज पोलक आईं तो वह भी उसमें शामिल होने लगीं। यह कसरत बच्चोंके लिए बड़ी अच्छी साबित हुई। उनसे यह या कोई काम मैंने जबरदस्ती कभी नहीं कराया, वह अपने आप ही खेल समझकर पैडल चलाने आ जाते। थकनेपर छोड़ देनेकी उन्हें इजाजत थी, पर न जानें क्यों, इन बालकों या दूसरोंने, जिनका परिचय हमें आगे मिलेगा, मेरा तो सदा खूब ही काम किया है। नटखट लड़के भी मेरे पल्ले पड़े हैं, पर अधिकांश सौंपा हुआ काम चावसे करते थे। अब 'थक गया' कहनेवाले इस जमानेके थोड़े ही लड़के मुझे याद हैं।

घर साफ-सुथरा रखनेके लिए एक नौकर था। वह कुटुंबी बनकर रहता था और उसके काममें लड़के पूरा हाथ बंटाते थे। पाखाना कमानेतो म्यूनिसिपैलिटीका नौकर आता था, पर पाखानेकी कोठरीकी सफाई, कदमचे धोने वगैराका काम नौकरसे नहीं लिया जाता था, वैसी आशा भी नहीं रखी जाती थी। यह काम हम खुद करते थे और इसमें भी बालकोंको शिक्षा मिलती थी। नतीजा यह हुआ कि शुरूसे ही मेरे एक भी लड़केको पाखाना साफ करनेकी घिन नहीं रह गई, और आरोग्यके साधारण नियम भी वे अनायास सीख गये। जोहान्सबर्गमें तो शायद ही कोई बीमार पड़ता था, पर ऐसा मौका आ जाता तो सेवा-काममें लड़के तो लगते ही थे और वे यह काम खुशीसे करते थे।

यह तो नहीं कहूंगा कि उनके अक्षरज्ञानके बारेमें मैंने लापरवाही की, पर उसे होमनेमें संकोच नहीं किया और इस त्रुटिके लिए मेरे लड़कोंको मुझसे शिकायत होनेका कारण रह गया है। उन्होंने कितनी ही बार अपना असंतोष भी प्रकट किया है। मैं यह मानता हूं कि इसमें कुछ अंशोमें मुझे अपना कसूर मान लेना चाहिए। उन्हें अक्षरज्ञान देनेकी इच्छा बहुत थी, प्रयत्न भी करता था। पर इस काममें सदा कुछ-न-कुछ विघ्न आ पड़ता था। उनके लिए घरपर दूसरी शिक्षाका प्रबंध नहीं किया था। इसस

उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर ले जाता था। दफ्तर अढ़ाई मील था ; अत: सुबह-शाम मिलाकर कम-से-कम पांच मीलकी कसरत उनकी और मेरी हो जाती थी। रास्ता चलते कुछ सिखानेकी कोशिश करता, पर वह भी तब जब मेरे साथ और कोई चलनेवाला न होता था। दफ्तरमें वे मुवक्किलों और मुंशियोंसे मिलते-जुलते, कुछ पढ़नेको दिया जाता तो पढ़ते, इधर-उधर घूमते, बाजारसे मामूली सौदा-सुलुफ लाते। सबसे बड़े हरिलालके सिवाय सब लड़के इसी तरह पले। हरिलाल देशमें रह गया था। उन्हें अक्षर-ज्ञान देनेके लिए मैं एक घंटा भी नियमित रूपसे बचा सका होता तो मैं मानता हूं कि मैं उन्हें आदर्श शिक्षा दे पाता। यह आग्रह मैंने नहीं रखा, इसका दु:ख मुझे और उन्हें रह गया है। सबसे बड़े लड़केने अपना विलाप बहुत बार मेरे सामने और जनसमाजमें भी प्रकट किया है। औरोंने हृदयकी उदारतावश इस दोषको अनिवार्य समझकर दरगुजर कर दिया है। इस कमीके लिए मुझे पछतावा नहीं है, या है तो इतना ही कि मैं आदर्श पिता नहीं सिद्ध हुआ। मैं मानता हूं कि मैंने उनके अक्षरज्ञानका होम भी—भले ही वह अज्ञानसे हुआ हो—सद्भावसे मानी हुई सेवाके अर्थ किया है। यह कह सकता हूं कि उनके चरित्रगठनके लिए जो कुछ करना उचित था वह करनेमें मैंने त्रुटि नहीं की और मैं मानता हूं कि हर मां-बापका यह फर्ज है। मेरी पक्की धारणा है कि मेरी मेहनतके बावजूद मेरे उन बालकोंके चरित्रमें जहां कोई खामी दिखाई दी है, वह हम दंपतीकी खामियोंका प्रतिबिंब है। बच्चोंको मां-बापकी सूरत-शक्लकी विरासत जैसे मिलती है वैसे उनके गुण-दोषोंकी विरासत भी जरूर मिलती है। उसमें आसपासके वातावरणके कारण अनेक प्रकारकी कमीबेशी जरूर हो जाती है; पर असली पूंजी तो वही होती है जो उन्हें बाप-दादोंकी ओरसे मिली होती है। मैंने देखा है कि ऐसे दोषकी विरासतसे कुछ लड़के अपने-आपको बचा लेते हैं। यह आत्माका मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।

पोलकमें और मुझमें इन बच्चोंकी अंग्रेजी तालीमको लेकर

कई बार गरम बहस हुई है। मैंने शुरू से ही माना है कि जो हिन्दुस्तानी मा-बाप अपने बच्चोंसे बचपनसे ही अंग्रेजी बोलवाने लगते हैं वे उनका और देशका द्रोह करते है। मैंने यह भी माना है कि इससे बालक अपने देशकी धार्मिक और सामाजिक विरासतसे वंचित रहते हैं और उतने अंशमें देशकी और जगत्की सेवा करनेके कम योग्य बनते हैं। इस विश्वासके कारण मै सदा जान-बूझकर बच्चोंके साथ गुजरातीमें ही बोलता था। पोलकको यह अच्छा न लगता था। उनकी दलील थी कि मै बच्चोंका भविष्य बिगाड़ता हूं। वह मुझे आग्रह और प्रेमसे समझाते कि अंग्रेजी-जैसी व्यापक भाषा बालक बचपनसे सीख ले तो दुनियामें चलनेवाली जिंदगीकी दौड़में एक बड़ा डग सहज ही पार कर जाय। यह दलील मुझे नहीं जंची। मुझे आज याद नहीं है कि अंतमें मेरा जवाब उनके गले उतरा या वह मेरा हठ देखकर चुप हो रहे। इस बहसको लगभग बीससाल हो चुके हैं। फिर भी, मेरे ये विचार, जो मैने उस वक्त कायम किये थे, वही, अनुभवके सहारे अधिक दृढ़ हुए हैं, और यद्यपि मेरे पुत्र अक्षरज्ञानमें कच्चे रह गये है, फिर भी मातृभाषाका सामान्य ज्ञान जो वे अनायास पा सके, इससे उनका और देशका लाभ ही हुआ है और आज वे परदेशी-जैसे नही हो गये हैं। वे द्विभाषी तो अनायास हो गये; क्योंकि बड़े अंग्रेज मित्र-मंडलके साथ मिलने-जुलनेसे और जहां अंग्रेजी अधिक बोली जाती थी ऐसे देशमें रहनेसे अंग्रेजी बोलना और मामूली तौरसे लिखना तो उन्हें आ ही गया।

: २४ :

जूलू-बलवा

घर बसानेके बाद स्थिर होकर बैठना मेरे नसीबमें बदा ही न था। जोहान्सबर्गमें थोड़ा स्थिर हुआ ही था कि उसी समय एक अकल्पित घटना घटित हुई। नेटालमें जूलू-बलवा होनेकी खबर

पढ़ी। मुझे जूलू लोगोंसे कुछ दुश्मनी नहीं थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानीका नुकसान नही किया था। 'बलवा' कहनेके औचित्य-में भी मुझे शंका थी ; पर अंग्रेजी सल्तनतको उस समय मै जगतका कल्याण करनेवाला साम्राज्य मानता था। मेरी वफादारी हृदयसे थी। उस सल्तनतका क्षय मै नही चाहता था। अतः बलप्रयोगविषयक नीति-अनीतिका विचार, जो कदम मै उठाने जा रहा था, उससे मुझे रोक नहीं सकता था। नेटालपर संकट आनेपर रक्षाके लिए स्वयसेवकोंकी सेना थी और संकटके समय उसमें कामभरको भरती भी होती थी। मैंने पढ़ा कि स्वयंसेवकोंकी सेना इस बलवेको शांत करनेको निकल पड़ी है।

मैं अपने आपको नेटालवासी मानता था और नेटालके साथ मेरा निकट-संबंध तो था ही। इससे मैंने गवर्नरको पत्र लिखा कि आवश्यकता हो तो घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली हिन्दुस्तानियोंकी टुकड़ी लेकर मैं सेवा के लिए जानेको तैयार हूं। गवर्नरका तुरंत ही 'हां' में जवाब आया। मैंने अनुकूल उत्तरकी और इतनी जल्दी जवाब पा जानेकी उम्मीद नहीं की थी। फिर भी यह पत्र लिखनेके पहले मैंने अपना प्रबंध तो कर ही लिया था। यह तै किया था कि अगर गर्वनरकी ओरसे स्वीकृति आ जाय तो जोहान्सबर्गका घर तोड़ दिया जाय, मि० पोलक अलग छोटा घर लेकर रहें और कस्तूरबाई फिनिक्स जाकर रहें। इस योजनामें कस्तूरबाईकी पूर्ण सम्मति प्राप्त हुई। मुझे याद नही आता कि मेरे ऐसे कामोंमें उसकी ओरसे कभी बाधा पड़ी हो। गवर्नरका जवाब आनेपर मैंने मकानमालिकको घर खाली करनेके बारेमें एक महीनेकी बाकायदा नोटिस दी। कुछ सामान फिनिक्स गया, कुछ मि० पोलकके पास रहा।

डरबन पहुंचते ही मैंने आदमियोंकी मांग की। बड़ी टुकड़ी-की जरुरत नहीं थी। हम चौबीस जने तैयार हुए। उसमें मुझे छोड़कर चार गुजराती थे। बाकी मद्रास इलाकेके गिरमिटमुक्त हिन्दुस्तानी थे और एक पठान था।

हमारे आत्मसम्मानकी रक्षा और कामके अधिक सुभीतेके होनेके खयालसे, और ऐसा रिवाज होनेकी वजहसे भी, चीफ मेडिकल आफिसर ने मुझे 'सारजेंट मेजर' का अस्थायी पद दिया और मेरी पसंदके अन्य तीन सज्जनोंको 'सारजंट' का और 'कारपोरल' का पद दिया। वर्दी भी सरकारकी ओरसे मिली। कहना चाहिए कि इस टुकड़ीने छह हफ्ते लगातार सेवा की।

'बलवे' के मुकामपर पहुंचकर मैंने देखा कि बलवा कहलाने लायक तो कोई बात नहीं है। कोई मुकाबला करता हुआ भी नजर नहीं आता था। बलवा माननेका कारण यह था कि एक जूलू सरदारने जूलू लोगोंपर लगाया गया नया कर न देनेकी उन्हें सलाह दी थी और करकी वसूलीके लिए गये हुए एक सारजंटको उसने कतल कर दिया था। जो हो, मेरा हृदय तो जूलू लोगोंकी ही ओर था और सदर मुकामपर पहुंचनेपर जब हमारे हिस्सेमें खास तौरसे जूलू जख्मियोंकी शुश्रूषा करनेका ही काम आया तो मैं बहुत खुश हुआ। मेडिकल आफिसरने हमारा स्वागत किया। उसने कहा, "कोई गोरा इन जख्मियोंकी शुश्रूषा करनेको तैयार नहीं होता। मैं अकेला कहांतक कर सकता हूं? उनके घाव सड़ रहे हैं। अब आप लोगोंका आ जाना तो मैं इन निर्दोष प्राणियोंपर प्रभुकी कृपा हुई ही मानता हूं।" यह कहकर उसने हमें पट्टियां, जंतुनाशक पानी वगैरा दिया और जूलू जख्मियोंके पास ले गया। जख्मी हमें देखकर खुश हो गये। गोरे सिपाही जालियोंमेंसे झांक-झांककर हमें घाव साफ करनेसे रोकने की कोशिश करते थे। हमारे न माननेसे चिढ़ते थे और जूलुओंके बारेमें ऐसे गंदे शब्दोंका इस्तेमाल करते थे कि कानके कीड़े झड़ जायं।

धीरे-धीरे इन सिपाहियोंसे भी मेरा परिचय हुआ और उन्होंने मुझे रोकना छोड़ दिया। इस सेनामें १८९६ में मेरा घोर विरोध करनेवाले कर्नल स्पार्क्स और कर्नल वायली थे। वे मेरे इस कामसे चकित हो गये। मुझे खास तौरसे बुलाकर कृतज्ञता प्रकट की। मुझे जनरल मेकेंजीके पास भी ले गये और उनसे परिचय कराया।

पाठक यह न समझें कि इनमेंसे कोई पेशेवर सिपाही था। कर्नल वायली नामी वकील थे। कर्नल स्पार्क्स कसाईखानेके मशहूर मालिक थे। जनरल मेकेंजी नेटालके प्रसिद्ध किसान थे। ये सब स्वयंसेवक थे और स्वयंसेवकके रूपमें उन्होंने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

जिन जख्मियोंकी शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, वे लड़ाईमें घायल हुए थे, यह माननेकी गलती कोई न करे। इनमें एक हिस्सा संदेहमें पकड़े हुए कैदियोंका था। उन्हें जनरलने कोड़े लगानेकी सजा दी थी। कोड़ेकी चोट इलाज न होनेसे पक गई थी। दूसरा हिस्सा उन जूलुओंका था जो दोस्त समझे जाते थे। इन मित्रोंने मित्रतासूचक चिन्ह भी धारण कर रखे थे। फिर भी सिपाहियोंने भूलसे उन्हें घायल कर दिया था।

इसके सिवा खुद मुझे तो गोरे सिपाहियोंके लिए भी दवा देनेका काम सौंपा गया था। डाक्टर बूथके छोटे-से अस्पतालमें इस कामकी एक बरस तालीम ली थी, इससे मेरे लिए यह आसान काम था। इस कामने बहुतेरे गोरोंके साथ मेरा परिचय करा दिया। पर लड़ाईमें लगी सेना एक जगह बैठी नहीं रहती। जहांसे संकटका समाचार आये, वहां दौड़ जाती है। बहुतेरे तो घुड़सवार थे ही। हमारा शिविर सदर मुकामसे उठा और हमें भी उसके पीछे-पीछे अपनी डोली कंधेपर धरे चलना पड़ा। दो तीन मौके तो ऐसे आये कि दिन-दिनभरमें चालीस मीलकी मंजिल तै करनी पड़ी। यहां भी हमें तो बस प्रभुका ही काम मिला था। जो जूलू मित्र भूलसे घायल हुए थे, उन्हें डोलियोंमें उठाकर छावनी में पहुंचाना और वहां उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी थी।

: २५ :

हृदय-मंथन

'जूलू-विद्रोह' में मुझे अनेक अनुभव हुए और विचारका बहुत मसाला मिला। बोअर-युद्धमें लड़ाईकी भयंकरता मुझे इतनी प्रतीत नहीं हुई थी जितनी यहां हुई। यहां लड़ाई नहीं, बल्कि आदमियोंका शिकार हो रहा था। सिर्फ मुझे ही नहीं, कई अंग्रेजों-को भी, जिनसे मेरी बातें होतीं ऐसा ही जान पड़ा। सुबह-ही-सुबह जाकर मानों गांवोंमें पटाखे छोड़ते हों इस तरह उनकी बंदूकोंकी आवाज हम दूर रहनेवालोंके कानोंपर पड़ती। इन आवाजोंको सुनना और इनमें रहना मुझे बहुत अखरा, पर मैं यह कड़वा घूंट पी गया। और मुझे जो काम मिला था वह तो केवल जूलू लोगोंकी सेवाका ही था। मैंने देखा कि अगर हम शामिल न हुए होते तो दूसरा कोई यह सेवा न करता। इस बातसे मैंने अपनी अंतरात्माको शांत किया।

यहां आबादी बहुत कम थी। पहाड़ों और घाटियोंमें सीधे-सादे, भले और जंगली मानेजानेवाले जूलूओंके गुंबजदार झोंपड़ोंके सिवा और कुछ न था। इससे दृश्य भव्य लगता था। ऐसे प्रदेशमें जहां मीलोंतक बस्ती न हो, जब हमें किसी घायलको लेकर या खाली चलना होता तो मैं विचारमग्न हो जाता था।

यहां मेरे ब्रह्मचर्यविषयक विचार परिपक्व हुए। अपने साथियोंसे भी मैंने इसकी कुछ चर्चा की। ईश्वरदर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य वस्तु है यह तो मुझे अभी प्रत्यक्ष नही हुआ था, पर सेवाके लिए इसकी आवश्यकता मेरे सामने स्पष्ट हो गइ। मुझे दिखाई दिया कि इस प्रकारकी सेवा तो मेरे हिस्से ज्यादा-ज्यादा आएगी और अगर म भोग-विलासमें, बच्चे पैदा करने और पालनेमें लगा रहूं तो मुझसे पूरी सेवा नहीं बन सकती। दो घोड़ों-की सवारी कैसे हो सकती है। यदि पत्नीके पेटमें बच्चा हो तो मैं निश्चिंत चित्तसे इस सेवा-कार्यमें नहीं कूद सकता था। बिना

ब्रह्मचर्यका पालन किये कुनबा बढ़ाना समाजके अभ्युदयके लिए किये जानेवाले मनुष्यके प्रयत्नकी विरोधी वस्तु बन जाती है। विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो कुटंब-सेवा समाज-सेवाकी विरोधी नहीं होती, मैं ऐसी विचार-तरंगोंमें बहने लगा और व्रत लेनेको कुछ अधीर भी हो गया। इन विचारोंसे मुझे एक तरहका आनंद मिला और मेरा उत्साह बढ़ा। कल्पनाने सेवाका क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया।

ये विचार मैं मनमें गढ़ ही रहा था और शरीरको कस रहा था कि इतनेमें कोई यह अफवाह लाया कि बलवा शांत हो रहा है, अब हमें छुट्टी मिल जायगी। दूसरे दिन हमें घर जानेकी इजाजत मिली। फिर कुछ ही दिनोंमें सब अपने-अपने घर चले गये। इसके कुछ ही दिनों बाद गवर्नरने इस सेवाके लिए मेरे नाम कृतज्ञता-ज्ञापन का विशेष पत्र भेजा।

फिनिक्स पहुंचकर मैंने ब्रह्मचर्यकी बात बड़े रससे छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादिके सामने रखी। सबको यह बात पसंद आई। सबने उसकी आवश्यकता स्वीकार की। पालनकी महान् कठिनाई सबके ध्यानमें आई। कितनोंने प्रयत्न करनेका साहस भी किया और मेरी समझमें कुछ उसमें सफल भी हुए।

मैंने व्रत लिया कि अबसे जन्मभर ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा। इस व्रत का महत्त्व और उसकी कठिनाई उस वक्त पूरे तौरसे मेरे ध्यानमें नहीं आ पाई थी। उसकी कठिनाईका अनुभव तो अबतक किया करता हूं। उसका महत्त्व दिनोंदिन अधिकाधिक सामने आता है। ब्रह्मचर्यसे रहित जीवन मुझे शुष्क और पशुजीवन-सा लगता है। पशु स्वभावत: निरंकुश है। मनुष्यका मनुष्यत्व स्वेच्छासे अंकुशमें रहनेमें है। धर्मग्रंथोंमें पाई जानेवाली ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा में पहले अतिशयोक्ति जान पड़ती थी, पर अब तो यह दिनों-दिन अधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह उचित है और अनुभवपूर्वक लिखी गई है।

ऐसा परिणाम ला सकनेवाला ब्रह्मचर्य सरल नहीं है, वह

केवल शारीरिक वस्तु नहीं है। शारीरिक अंकुशसे ब्रह्मचर्यका आरंभ होता है, पर शुद्ध ब्रह्मचर्यमें तो विचारकी मलिनता भी नहीं होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारीके मनमें स्वप्न में भी विकारयुक्त विचार नहीं आते और जबतक ऐसे विकारी विचार स्वप्नमें आते हों तबतक ब्रह्मचर्यको अति अपूर्ण मानना चाहिए।

मुझे कायिक ब्रह्मचर्यके पालनमें भी महाकष्ट उठाना पड़ा है। आज कह सकता हूं कि उसके बारेमें मैं निर्भय हो गया हूं, पर अपने विचारोंपर जो विजय मिलनी चाहिए, वह मुझे नहीं मिली। मुझे अपने प्रयत्नमें कमी नहीं दिखाई देती। पर कहांसे और कैसे हमारे अनचाहे विचार हमपर चढ़ाई करते हैं, यह मैं अबतक नहीं जान पाया हूं। विचारोंको भी रोकनेकी कुंजी आदमीके पास है, इसविषयमें मेरे मनमें शंका नहीं है। पर आज तो मैं इस निर्णयपर पहुंच गया हूं कि हरएकको अपनी यह कुंजी तलाश करनी है। महापुरुषोंके दिये हुए अनुभव हमारे लिए मार्गदर्शक हैं। वे संपूर्ण नहीं हैं। संपूर्णता केवल प्रभुका प्रसाद है और इसीसे भक्त अपनी तपश्चर्या द्वारा पुनीत किये हुए और हमें पावन करनेवाले राम-नामादि मंत्र हमें दे गये हैं। संपूर्ण ईश्वरार्पणके बिना विचारोंपर संपूर्ण विजय नहीं मिल सकती। यह वचन सभी धर्मपुस्तकोंमें मैंने पढ़ा है, और उसकी सत्यताका अनुभव मुझे इस ब्रह्मचर्यके सूक्ष्मतम पालनके प्रयत्नमें हो रहा है।

मेरे इस महाप्रयासका थोड़ा-घना इतिहास अगले प्रकरणोंमें आवेगा। प्रस्तुत प्रकरणकी पूर्तिमें तो इतना ही और कहना है कि अपने उत्साहमें मुझे पहले तो व्रतका पालन आसान लगा। व्रत लेते ही मैंने एक परिवर्तन कर लिया कि पत्नीके सह-शय्या अथवा एकांत मिलनका त्याग कर दिया। इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्यका इच्छा या अनिच्छासे १९०० ई० से मैं पालन करता आया हूं, उसके व्रतका आरंभ १९०६ ई० के मध्य हुआ।

: २६ :

सत्याग्रहकी उत्पत्ति

जोहान्सबर्गमें मेरे लिए एक ऐसी घटनाका बनाव बन रहा था, जिससे यह सोचा जा सकता है कि इस तरहकी जो आत्म-शुद्धि मैंने की, वह मानों सत्याग्रहके लिए ही हुई हो। आज मैं पाता हूं कि ब्रह्मचर्य-व्रत लेनेतककी मेरे जीवनकी मुख्य घटनावली मुझे अप्रत्यक्ष रूपसे उसीके लिए तैयार कर रही थी।

'सत्याग्रह' शब्दसे पहले उस वस्तुकी उत्पत्ति हुई। उत्पत्तिके समय तो यह क्या है, मैं खुद भी नहीं समझ सका था। उसे गुजरातीमें 'पैसिव रेजिस्टेन्स' इस अंग्रेजी नामसे सब समझने लगे। जब गोरोंकी एक सभामें मैंने देखा कि पैसिव रेजिस्टेन्सका तो संकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बलोंका ही हथियार माना जाता है, उसमें द्वेषकी गुंजाइश है और उसका अंतिम स्वरूप हिंसामें प्रकट हो सकता है, मुझे उसका विरोध करना पड़ा और हिन्दुस्तानियोंके संग्रामका सच्चा स्वरूप समझाना पड़ा। तब हिन्दुस्तानियोंको अपने संग्रामका परिचय देनेके लिए नए शब्दकी योजना करनी पड़ी।

पर वैसा स्वतंत्र शब्द मुझे किसी तरह सूझ नहीं रहा था। अतः उसके लिए नाममात्रका इनाम रखकर 'इंडियन ओपीनियन' के पाठकोंमें इसकी प्रतियोगिता कराई। इस प्रतियोगिताके फल-स्वरूप मगनलाल गांधीने सत्-आग्रहकी संधि करके 'सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा। इनाम उन्हें मिला, पर 'सदाग्रह' शब्दको अधिक स्पष्ट करनेके खयालसे मैंने 'य' अक्षर और बढ़ाकर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया और गुजरातीमें यह लड़ाई इस नामसे अभिहित होने लगी।

कहना चाहिए कि इस संग्रामका इतिहास मेरे दक्षिण अफ्रीकाके जीवनका और विशेषतः मेरे सत्यके प्रयोगोंका इतिहास है। इस इतिहासका अधिकांश मैंने यरवडाके जेलमें लिख डाला

था और बाकी बाहर आनेके बाद पूरा किया। वह सारा 'नव-जीवन' में छप चुका है और बादको 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' नामसे पुस्तकरूपमें भी प्रकाशित हो चुका है।[1] उसका अंग्रेजी उल्था श्री वालजी गोविंदजी देसाई 'करंट थाट' के लिए कर रहे हैं। पर अब उसे जल्दी अंग्रेजीमें पुस्तकाकार निकलवानेकी तजवीज मैं कर रहा हूं, कि जिसमें मेरे दक्षिण अफ्रीकाके बड़े-से-बड़े प्रयोगोंको जो समझना चाहते हों उन्हें वह मिल सके। गुजराती पाठकोंमें जिन्होंने दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास नहीं पढ़ा है, उनसे मैं उसे पढ़ जानेकी सिफारिश करता हूं। उक्त इतिहासमें आ जानेवाले मुख्य कथाभागको छोड़कर, बाकीके दक्षिण अफ्रीकाके मेरे जीवनके जो थोड़े व्यक्तिगत प्रसंग बच गए होंगे, उन्हींको आगेके कुछ प्रकरणोंमें देनेका मेरा विचार है और इनके पूर्ण होते ही हिंदुस्तानके प्रयोगोंका परिचय पाठकोंको कराना चाहता हूं, अतः प्रयोगोंके प्रसंगोंका सिलसिला बनाए रखनेकी इच्छा रखनेवालेको दक्षिण अफ्रीकाके इतिहासके ये प्रकरण अब अपने सामने रखने होंगे।

: २७ :

खूराकके अधिक प्रयोग

मन, वचन, कायासे ब्रह्मचर्यका पालन कैसे हो, एक चिंता तो यह थी, और दूसरी चिंता यह कि सत्याग्रहके युद्धके लिए अधिक-से-अधिक समय कैसे बचे और अधिक शुद्धि कैसे हो। इन दोनों चिंताओंने मुझे खूराकमें अधिक संयम और विशेष परिवर्तन करनेकी प्रेरणा की। इसके सिवा पहले जो परिवर्तन मैं खास तौरसे आरोग्यकी दृष्टिसे करता था वे अब धार्मिक दृष्टिसे होने लगे।

---

[1] हिंदीमें यह सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्लीसे, 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' नामसे प्रकाशित हुआ है। पुस्तक इस आत्म-कथाके आकार-प्रकारकी है। सजिल्द पुस्तकका दाम ३।।) है।

इनमें उपवास और अल्पाहारने अधिक स्थान लिया। विषय-वासनावालेमें स्वाद-लोलुपता भी काफी होती है। यही दशा मेरी भी थी। जननेंद्रिय और स्वादेंद्रियपर अधिकार प्राप्त करनेमें मुझे बड़ी-बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं, और आज भी उन दोनों-पर पूर्ण विजयका दावा मैं नहीं कर सकता। मैंने अपने-आपको अत्याहारी माना है। मित्रोंने जिसे मेरा संयम माना है उसे मैंने स्वयं कभी संयम माना ही नहीं। अपने-आपपर जितना अंकुश रखना मैंने सीखा है उतना भी न रख सका होता तो मैं पशुसे भी गया-बीता होता और कभीका नष्ट हो गया होता। कहना चाहिए कि अपनी त्रुटियोंका मुझे पूरा पता होनेके कारण मैंने उन्हें दूर करनेकी जबर्दस्त कोशिश की है और इसीसे मैं इतने सालोंतक इस शरीरको टिका पाया हूं और उससे कुछ काम ले सका हूं।

इस ज्ञानके कारण और ऐसा संग अनायास पा जानेसे मैंने एकादशीको फलाहार अथवा उपवास आरंभ किया। जन्माष्टमी इत्यादि दूसरे व्रत भी रखने लगा, पर संयमकी दृष्टिसे फलाहार और अन्नाहारमें मैंने बहुत अंतर नहीं पाया। अनाजमें जो मजा हम लेते हैं वही फलाहारमें भी मिल जाता है, और आदत पड़नेपर तो मैंने देखा कि उनमें और ज्यादा मजा मिलता है। इस कारण व्रतके दिन पूरे उपवास या एक वक्त खानेको अधिक महत्त्व देने लगा। इसके सिवा प्रायश्चित्त आदिका कोई निमित्त निकल आता तो उस निमित्तसे भी एक वक्तका उपवास कर डालता था।

इसमेंसे मैंने यह भी अनुभव किया कि शरीर अधिक स्वच्छ होनेसे स्वाद बढ़ा, भूख अधिक अच्छी हुई और मैंने देखा कि उपवासादि जितने संयमके साधन हैं उतने ही वे भोगके साधन भी हो सकते हैं। इस ज्ञानके बाद उसके समर्थनमें ऐसे ही मेरे और दूसरोंके भी अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि शरीरको ज्यादा अच्छा और कसा हुआ बनाना था फिर भी अब मुख्य हेतु तो संयम-साधन—स्वादजय ही था, अतः आहारकी वस्तुओं और उसकी मात्रामें फेर-फार करने लगा। पर रसास्वादन तो छायाकी तरह पीछे लगा ही

रहता। किसी वस्तुको छोड़कर उसकी जगह जो दूसरी चीज लेता उसमेंसे नया ही और ज्यादा मजा मिलने लगता।

मेरे इन प्रयोगोंमें कुछ साथी भी थे। इनमें हरमन केलनबैक मुख्य थे। उनका परिचय 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके इतिहास' में दे चुका हूं, इसलिए फिर इन प्रकरणोंमें देनेकी जरूरत नहीं समझता। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवासमें, एकाशन व्रतमें और दूसरे परिवर्तनमें मेरा साथ दिया था। लड़ाई जोरोंपर होनेके वक्तमें तो मैं उन्हींके मकानमें रहता था। हम दोनों अपने परिवर्तनोंकी चर्चा करते थे और नये परिवर्तनोंमें पुरानसे अधिक स्वाद लेते थे। उन दिनों तो ये संवाद मधुर भी लगते थे। उसमें कुछ अनुचित न जान पड़ता, पर अनुभवने बतलाया कि ऐसे रसोंमें डूबे रहना भी अयोग्य था। यानी मनुष्यको मजेके लिए नहीं, बल्कि शरीर-निर्वाहके लिए ही खाना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय जब केवल शरीरके और शरीरद्वारा आत्माके दर्शनके लिए ही काम करती है तब उसमेंके रस शून्यवत् हो जाते हैं और तभी यह कहा जा सकता है कि वह स्वाभाविक रीतिसे कार्य कर रही है।

ऐसी स्वाभाविकताकी प्राप्तिके लिए जितने भी प्रयोग किये जायं, कम ही है। ऐसा करते हुए अनेक शरीरोंकी आहुति देनी पड़ जाय तो उसे भी हमें अल्प मानना चाहिए। आज तो बहाव उलटा है। नाशवान् शरीरकी शोभा और उसकी उम्र बढ़ानेको हम अनेक प्राणियोंका बलिदान करते हैं। पर उससे शरीर और आत्मा दोनोंका हनन होता है। एक रोगको मिटानेमें, इंद्रियोंके भोग भोगनेमें लगकर हम अनेक नये रोग उपजा लेते हैं, भोग भोगनेकी शक्ति भी अंतमें खो बैठते हैं और हमारी आंखोंके सामने चलती हुई इस क्रियाकी ओरसे आंखें मूंद लेते हैं।

खूराकके जिन प्रयोगोंके वर्णन में कुछ समय लेना चाहता हूं, उनका अर्थ पाठक समझ लें, इस दृष्टिसे उनका उद्देश्य और उनके पीछे रही विचारधाराको प्रस्तुत कर देना आवश्यक था।

: २८ :

पत्नीकी दृढ़ता

कस्तूरबाईपर बीमारीके तीन हमले हुए और तीनोंमेंसे वह केवल घरेलू इलाजोंसे बच गई। उनमें पहला हमला तब हुआ जब सत्याग्रहका युद्ध जारी था। उसे बारंबार रक्तस्राव हुआ करता। एक डाक्टर मित्रने नश्तर लगानेकी सलाह दी थी। बड़ी आना-कानीके बाद पत्नीने नश्तर लगवाना कबूल किया। शरीर बहुत क्षीण हो गया था। डाक्टरने क्लोरोफार्मके बिना नश्तर लगाया। नश्तरके समय पीड़ा बहुत हो रही थी, पर जिस धीरजसे कस्तूरबाईने इसे सहन किया, इससे मैं तो आश्चर्यचकित हो गया। शस्त्र-क्रिया निर्विघ्न पूरी हुई। डाक्टर और उनकी पत्नीने कस्तूरबाईकी अच्छी सेवा-टहल की।

यह सब डरबनमें हुआ था। दो या तीन दिनोंके बाद डाक्टरने मुझे निश्चित होकर जोहान्सबर्ग जानेकी इजाजत दे दी। मैं चला गया। कई दिन बाद खबर मिली कि कस्तूरबाईके शरीरमें ताकत बिलकुल नहीं आ रही है और वह बिछौनेसे उठ-बैठ भी नहीं सकतीं। एक बार बेहोश भी हो गई थी। डाक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना कस्तूरबाईको शराब या मांस दवामें या खानेमें नहीं दिया जा सकता। डाक्टरने मुझे जोहान्सबर्ग टेलीफोन किया—"आपकी पत्नीको मैं मांसका शोरवा या 'बी फटी' देनेकी जरूरत समझता हूं। कृपा करके आज्ञा दें।"

मैंने जवाब दिया, "मैं यह इजाजत नहीं दे सकता। लेकिन कस्तूरबाई स्वतंत्र हैं। वह पूछने लायक हालतमें हो तो पूछिए और वह लेना चाहे तो बेशक दीजिये।"

"मैं बीमारको ऐसे मामलोंमें नहीं पूछा करता। आपका खुद यहां आना जरूरी है। मैं जो पसंद करूं उसे खिलानेकी स्वतंत्रता आप मुझे न देंगे तो आपकी स्त्रीके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं।"

मैंने उसी दिन डरबनकी ट्रेन पकड़ी। डरबन पहुंचा। डाक्टरने बतलाया, "मैंने तो शोरबा पिलाकर आपको टेलीफोन किया था !"

मैंने कहा, "डाक्टर साहब ! मै इसे दगा समझता हूं।"

डाक्टरने दृढ़तासे उत्तर दिया, "दवा करते समय मै दगावगा नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे मौकोंपर बीमारको या उसके संबंधियोंको धोखा देना पुण्य मानते हैं। हमारा धर्म तो चाहे जिस उपायसे बीमारको बचा लेना है !"

मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं शांत रहा। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उनका और उनकी पत्नीका मुझपर उपकार था, पर उक्त व्यवहार सहनेको मैं तैयार नहीं था।

"डाक्टर साहब, अब साफ बता दीजिए कि आप क्या करना चाहते हैं? अपनी पत्नीको मैं कदापि उसकी इच्छाके बिना मांस नहीं देने दूंगा, और उसके न लेनेसे उसकी मृत्यु होती हो तो वह सहन करनेको तैयार हूं।"

डाक्टर बोले, "आपकी फिलासफी तो मेरे घर नहीं चल सकती। मैं आपसे कहे देता हूं कि अपनी पत्नीको मेरे घर जबतक रहने दीजिएगा तबतक मैं उसे जरूर मांस या जो कुछ देना जरूरी समझूंगा, दूंगा। आपको यह मंजूर न हो तो अपनी पत्नीको ले जाइए। अपने ही घरमें अपने हाथसे मैं उसे नहीं मरने दूंगा।"

"तो क्या आपका यह कहना है कि मैं अपनी पत्नीको अभी ले जाऊं?"

"मैं कहां कहता हूं कि ले जाइए? मैं तो कहता हूं कि मुझपर किसी प्रकारका बंधन न लगाइए। तब हम दोनों रोगीकी जितनी सेवा-टहल हमसे बनेगी उतनी करेंगे और आप इत्मीनानसे जाइए। जो यह सीधी-सी बात आप न समझ सकते हों तो मुझे विवश होकर कहना होगा कि अपनी पत्नीको मेरे घरसे ले जाइए।"

मेरा खयाल है कि उस समय मेरा एक लड़का मेरे साथ था, उससे मैंने पूछा। उसने कहा, "आपकी बात मुझे ठीक लगती

है। मांको मांस तो नहीं दिया जा सकता।"

फिर मैं कस्तूरबाईके पास गया। वह बहुत कमजोर हो रही थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था। पर धर्म समझकर मैंने उसे सक्षेपमें उपर्युक्त बातें कह सुनाई। उसने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया, "मुझे मांसका शोरबा नहीं लेना है। मानुसतन बार-बार नहीं मिलता। अच्छा है, आपकी गोदमें मैं मर जाऊं, पर मुझसे यह देह भ्रष्ट नहीं की जायगी।"

मैंने, जितना समझाया जा सकता था, समझाया और कहा, "तुम मेरे विचारोंके अनुसार चलनेको मजबूर नहीं हो।" हमारे परिचित कुछ हिन्दू दवाके निमित्त मांस और मद्य ग्रहण करते थे, यह भी सुनाया। पर वह टस-से-मस न हुई और बोली--"मुझे यहांसे ले चलिए।"

मैं बहुत खुश हुआ। ले जाते कुछ घबराहट हुई, पर निश्चय कर लिया। डाक्टरको पत्नीका निश्चय सुनाया। वह खीझकर बोले--

"आप तो कसाई पति जान पड़ते हो। ऐसी बीमारीकी हालतमें उस बेचारी से ऐसी बात करते आपको शर्म भी न आई? मैं आपको बतलाता हूं कि आपकी स्त्री यहांसे ले जाने लायक नहीं है। उसका शरीर जरा भी हचका सहन करने लायक नहीं है। उसकी जान रास्तेमें ही निकल जाय तो मुझे कोई अचरज न होगा। फिर भी अगर आप अपना हठ न छोड़ें और न मानें तो आप खुद-मुख्तार हैं। मैं अगर उसे शोरबा न दे सकूं तो अपने घरमें एक रात रखनेकी भी जोखिम मैं नहीं उठा सकता।"

रिमझिम-रिमझिम मेंह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबनसे फिनिक्सतक रेलसे और फिनिक्ससे लगभग अढ़ाई मील पैदल जाना था। जोखिम भरपूर थी; पर मैंने भगवानका भरोसा किया। फिनिक्स एक आदमी पहलेसे भेज दिया। फिनिक्समें हमारे पास 'हमक' था। 'हमक' कहते हैं जालीदार कपड़ेका झोला या पालना। उसके सिरे बांससे बांध दिये जायं तो बीमार उसमें

आरामसे झूलता रह सकता है। मैंने वेस्टसे कहलाया कि यह हमक, एक बोतल गरम दूध और एक बोतल गरम पानी और छः आदमी साथ लेकर स्टेशनपर आ जायं।

दूसरी ट्रेन आनेका समय होनेपर मैंने रिक्शा मंगवाया और उसमें, इस भयंकर स्थितिमें, पत्नीको लेकर चल दिया।

पत्नीको मुझे हिम्मत नही दिलानी थी, उसीने मुझे हिम्मत दिलाकर कहा, "कुछ होगा नहीं, आप चिंता न कीजिए।"

इस ठठरीमें वजन तो कुछ रहा ही नही था। खाया कुछ जाता न था। ट्रेनमें डिब्बेतक पहुंचनेके लिए स्टेशनके लंबे प्लेट-फार्मपर दूरतक पैदल जाना था। वहां रिक्शा जा नहीं सकता था। मै उसे उठाकर डिब्बेतक ले गया। फिनिक्समें तो वह झोला आ गया था। उसमें हम रोगिणीको आरामसे ले गए। वहां सिर्फ जल-चिकित्सासे धीरे-धीरे शरीर भरने लगा।

फिनिक्समें पहुंचनेके दो-तीन दिन बाद एक स्वामीजी पधारे। उन्होंने मेरे 'हठ'की बात सुनी और तरस खाकर हम दोनोंको समझाने आए। जहांतक मुझे याद है, मणिलाल और रामदास भी जब स्वामी आये तब मौजूद थे। स्वामीजीने मांसाहारकी निर्दोषतापर लेक्चर देना शुरू किया। मनुस्मृतिके श्लोकोंका प्रमाण दिया। पत्नीके सामने इस तरहका संवाद मुझे नही भाया, पर शिष्टताके लिहाजसे मैंने उसे चलने दिया। मुझे मांसाहारके पक्षमें मनुस्मृतिके प्रमाणकी आवश्यकता न थी। उसके श्लोकोंका मुझे पता था। उन्हें प्रक्षिप्त माननेवाले लोग भी है, यह भी मैं जानता था। पर वे प्रक्षिप्त न हों तो भी निरामिषाहारके संबंधमें मेरे विचार स्वतंत्र रूपसे गढ़े जा चुके थे। कस्तूरबाईकी श्रद्धा काम कर रही थी। वह बेचारी शास्त्रके प्रमाणोंको क्या जानती? उसके लिए बाप-दादोंकी रूढ़ि ही धर्म था। लड़कोंको बापके धर्म-पर विश्वास था, इससे वे स्वामीजीसे मजाक करते थे। अंतमें कस्तूरबाईने यह कहकर वह संवाद बंद किया—"स्वामीजी, आप चाहे जो कहिए लेकिन मुझे मांस खाकर अच्छा नहीं होना है। अब

आप मेरा सिर न पचाइए तो आपकी दया होगी। बाकी बातें आपको लड़कोंके बापसे बादको करनी हों तो कर लीजिएगा। मैंने अपना निश्चय आपको बतला दिया।"

: २९ :

घरमें सत्याग्रह

पहला जेलका अनुभव मुझे १९०८में हुआ। उस समय मैंने देखा कि जेलमें जो अनेक नियम कैदियोंसे मनवाए जाते थे, उन नियमोंका पालन संयमी अथवा ब्रह्मचारीको स्वेच्छासे करना चाहिए।[1] जैसे कैदीका सूर्यास्तसे पहले पांच बजेतक भोजन कर लेना, हिन्दुस्तानी और हब्शी कैदियोंको चाय या कहवा न मिलना, नमक खाना हो तो अलगसे लेना। स्वादके लिए तो कुछ खानेकी जरूरत ही नहीं। जब मैंने जेलके डाक्टरसे हिन्दुस्तानियोंके लिए पिसे मसालेकी मांग की और नमक रसोईमें पकनेके वक्त ही डालनेको कहा तब वह बोले, "यहां आप लोग जबानका मजा लेने नहीं आए हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे मसालोंकी कोई जरूरत नहीं। आरोग्य-दृष्टिसे नमक ऊपरसे लीजिए या पकते वक्त रसोईमें डालिए, दोनों एक ही बात है।"

वहां तो बड़ी कोशिशोंके बाद हम अंतमें जरूरी फेर-फार करा पाये, लेकिन शुद्ध संयमकी दृष्टिसे देखें तो दोनों प्रतिबंध अच्छे ही थे। ऐसा प्रतिबंध बरबस लगाया जाय तो नहीं फलता है, पर स्वेच्छासे पालन किया जाय तो वह प्रतिबंध बहुत उपयोगी हो जाता है। इसलिए जेलसे निकलनेके बाद ये परिवर्तन मैंने तुरत कर डाले। जहांतक हो सके, चाय लेना बंद कर दिया और शामको जल्दी खानेकी आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो गई है।

पर एक ऐसा प्रसंग बन आया जिससे मुझे नमक भी छोड़ देना

[1] 'मेरे जेलके अनुभव' भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। ये मूलं गुजरातीमें लिखे गये थे।

पड़ा और यह नियम लगभग दस बरसतक तो अखंड रूपसे टिका। अन्नाहारसंबंधी कई किताबोंमें मैंने पढ़ा था कि आदमीके लिए नमक खाना जरूरी नहीं और न खानेवालेको तंदुरुस्तीकी दृष्टिसे लाभ ही होता है। ब्रह्मचारियोंको उससे लाभ होता है, यह तो मैं सोचता ही था। जिसका शरीर कमजोर हो उसे दाल नहीं खानी चाहिए, यह भी मैंने पढ़ा और अनुभव किया था। पर मैं उसे तुरंत छोड़ न सका था। दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

पहले नश्तरके बाद यद्यपि कस्तूरबाईका रक्त-स्राव कुछ दिनोंके लिए बंद हो गया था, पर पीछे वह फिर शुरू हो गया और अब किसी तरह बंद न होता था। निरी जलचिकित्सा व्यर्थ सिद्ध हुई। पत्नीको यद्यपि मेरे उपचारोंपर अधिक आस्था नहीं थी, पर उससे नफरत भी नहीं थी। दूसरा इलाज करनेका आग्रह नहीं था। इसलिए मेरे अन्य उपचारोंमें सफलता नहीं मिली तो मैंने उसे नमक और दाल छोड़नेकी सलाह दी। मैंने बहुत मनाया-समझाया। अपने कथनकी पुष्टिमें पोथियोंसे प्रमाण भी पढ़कर सुनाए, फिर भी वह मानती न थी। अंतमें उसने कहा--"दाल और नमक छोड़नेको तो कोई आपको कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।"

मुझे दुःख हुआ और साथ ही हर्ष भी। अपने प्रेमका परिचय देनेका मुझे मौका मिल गया। उस हर्षमें मैंने तुरंत कहा--"तुम गलत समझ रही हो। मुझे रोग हो और वैद्य इस चीज या दूसरी किसी चीजको छोड़नेको कहें तो मैं जरूर छोड़ दूंगा। पर लो, मैं तो एक सालके लिए दाल और नमक दोनों छोड़ता हूं। तुम छोड़ो या न छोड़ो यह अलग बात है।"

पत्नीको बड़ा पछतावा हुआ। वह बोल उठी--"मुझे क्षमा कीजिए। आपका स्वभाव जानते हुए भी बातकी रौमें मेरे मुंहसे निकल गया। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊंगी। पर आप तो अपनी प्रतिज्ञा वापस ले लीजिये। यह तो मरी बड़ी सजा हो जायगी।"

मैंने कहा—"तुम दाल और नमक छोड़ दोगी तब तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ ही होगा; पर की हुई प्रतिज्ञाको वापस ले लेना मुझसे नहीं हो सकता। मुझे तो लाभ ही होगा। आदमी चाहे जिस किसी निमित्तसे संयमका पालन करे, उससे उसकी भलाई ही होती है। अतः तुम मुझे दबाओ मत। फिर मेरे लिए अपनी परीक्षा भी हो जायगी। और उन दोनों चीजोंके छोड़नेका जो निश्चय तुमने किया है उसपर कायम रहनेमें तुम्हें मदद मिलेगी।" इसके बाद मुझे मनानेकी जरूरत तो रही ही नहीं। "आप तो बड़े हठी हैं। किसीका कहा-सुना मानते ही नही", कहकर और थोड़ा आंसू बहाकर शांत हो गई।

इसे मैं सत्याग्रहका नाम देना चाहता हूं और उसे अपने जीवनके मधुर स्मरणोंमेंसे एक मानता हूं।

इसके वाद तो कस्तूरबाईकी तबीयत जल्दी-जल्दी संभलती गई। इसमें नमक और दालका त्याग पूर्णतः या अंशतः कारण था अथवा उस त्यागसे होनेवाले खुराकके छोटे-मोटे दूसरे फेर-फार कारणरूप थे या उसके बादकी दूसरे नियमोंके पालन करानेमें मेरी खबरदारी निमित्त थी या उपर्युक्त प्रसंगसे उत्पन्न हुआ मानसिक उल्लास निमित्त था—यह मै नहीं कह सकता। पर कस्तूरबाईका गला हुआ शरीर फिर पनपने लगा, रक्तस्राव बंद हो गया और 'वैदराज' के रूपमें मेरी साख कुछ बढ़ गई।

खुद मेरे ऊपर तो इन दोनों त्यागोंका असर अच्छा ही हुआ। त्यागके बाद नमक या दालकी इच्छातक न रही। बरस जाते देर न लगी। इंद्रियोंकी शांति अधिक अनुभव करने लगा और संयम की ओर मन अधिकाधिक दौड़ने लगा। कह सकता हूं कि बरस बीत जानेपर भी दाल और नमकका त्याग देश लौटनेतक चला। सिर्फ एक ही बार विलायतमें सन् १९१४ में नमक और दाल खाई थी, पर उसकी कहानी और देशमें लौटनेपर दोनों फिर कैसे ग्रहण किये गए, यह पीछे सुनाऊंगा।

नमक और दाल छोड़नेके प्रयोग मैंने दूसरे साथियोंपर भी काफी किये हैं और दक्षिण अफ्रीकामें तो उसका फल अच्छा ही हुआ था। आयुर्वेदकी दृष्टिसे दोनों वस्तुओंके त्यागके बारेमें दो मत हो सकते हैं, पर संयमकी दृष्टिसे तो दोनों वस्तुओंके त्यागमें लाभ ही है, इस विषयमें मुझे तनिक भी शंका नहीं है। भोगी और संयमीका आहार और उसका मार्ग भिन्न होना चाहिए। ब्रह्मचर्यके पालनकी इच्छा करनेवाला भोगीका जीवन बिताकर ब्रह्मचर्यको कठिन और कितनी ही बार लगभग अशक्य बना देता है।

: ३० :

संयमकी ओर

खूराकके कितने ही परिवर्तन कस्तूरबाईकी बीमारीके निमित्तसे हुए थे, यह पिछले प्रकरणमें कह आया हूं। पर अब तो दिनोंदिन ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे उसमें फेर-फार होते गये।

उसमें प्रथम परिवर्तन दूध छोड़नेका हुआ। दूध इन्द्रिय-विकार पैदा करनेवाली वस्तु है यह बात पहले मैंने रायचंदभाईसे समझी थी। अन्नाहारपर अंग्रेजी पुस्तकें पढनेसे उस विचारमें वृद्धि हुई। पर जबतक ब्रह्मचर्यका व्रत नहीं लिया तबतक दूध छोड़नेका पक्का इरादा न कर पाया। शरीर-निर्वाहके लिए दूध-की आवश्यकता नहीं है यह तो मैं कभीका समझने लग गया था। पर यह झटसे छूटनेवाली चीज नहीं थी। इंद्रिय-दमनके लिए दूध छोड़ना जरूरी है, यह मैं अधिकाधिक समझ रहा था। इतनेमें गाय-भैंसोंपर ग्वालोंकी ओरसे होनेवाले कसाईपनेके विषयमें कुछ साहित्य मेरे पास कलकत्ते से आया। इस साहित्यका मुझपर चमत्कारी प्रभाव पड़ा। मैंने उसके बारेमें केलनबैकसे चर्चा की।

यद्यपि मि० केलनबैकका परिचय मैं सत्याग्रहके इतिहासमें करा चुका हूं और पिछले एक प्रकरणमें भी उनकी कुछ चर्चा कर आया हूं, पर यहां दो शब्द और कहनेकी जरूरत है। उनसे मेरा

मिलना अनायास ही हुआ था। मि० खानके ये दोस्त थे और उन्होंने देखा कि उनमें भीतर-भीतर वैराग्यवृत्ति भरी है। मेरा खयाल है कि इसलिए उन्होंने मुझे उनका परिचय कराया था। जब परिचय हुआ तब उनके शौकों और खर्चीलेपनसे मैं भड़क गया था। पर पहली ही मुलाकातमें उन्होंने मुझसे धर्मके विषयमें प्रश्न किये। उसमें बुद्ध भगवान्‌के त्यागकी बात अनायास आ गई। इस प्रसंगके बाद हमारा परिचय बढ़ता गया और वह इस हदतक पहुंच गया कि उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि जो बात मैं करूं वह उन्हें करनी ही चाहिए। वह अकेले आदमी थे। अपनी अकेली जानपर ही घर-भाड़के सिवा लगभग १२००) हर महीने खर्च करते थे। इस जीवनसे अन्तमें इतनी सादगीपर उतर आये कि कभी उनका मासिक खर्च १२०) पर आ गया। मेरे घरबार उठा देने और पहली जेलकेबाद हम दोनों साथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनोंका जीवन पहलेकी तुलनामें कठोर था।

जब हम इस तरह साथ रहते थे उसी वक्त दूधके सम्बन्धमें उपर्युक्त चर्चा हुई। मि० केलनबैकने कहा—"दूधके दोषोंके विषयमें तो हम अक्सर बातें करते रहते हैं, तो हम दूध छोड़ क्यों न दें? इसकी जरूरत तो है नहीं। मुझे उनके इस विचारसे सानन्दाश्चर्य हुआ। मैंने उनकी सलाहका स्वागत किया और हम दोनोंने टाल्स्टाय फार्ममें उसी क्षण दूधका त्याग कर दिया। यह योग सन् १९१२ में बना।

इतने त्यागसे शांति नहीं हुई। केवल फलोंपर रहनेकी आजमाइश करनेका निश्चय भी दूध छोड़नेके बाद थोड़े ही अरसेमें कर लिया। फलाहारमें भी सस्ते-से-सस्ता फल मिले उसीपर गुजर करनेका इरादा था। गरीब-से-गरीब आदमी जिस तरहका जीवन बिताता है, वही जीवन बितानेकी हम दोनोंकी आकांक्षा थी। फलाहारकी सुविधाओंका भी हमने खूब अनुभव किया। फलाहारमें अधिकांशमें चूल्हा जलानेकी तो जरूरत नहीं होती थी। कच्ची मूंगफली, केले, खजूर, नींबू और जैतूनका तेल—

यही हमारी साधारण खुराक बन गई थी।

ब्रह्मचर्य-पालनके इच्छुकोंको यहां एक चेतावनी देनेकी आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ खुराक और उपवासका नजदीकी रिश्ता बतलाया है, फिर भी यह पक्की बात है कि उसका मुख्य आधार मनके ऊपर है। मैला मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता। खूराक उसपर असर नहीं करती। मनका मैल विचारसे, भगवानके ध्यानसे और अंतमें भगवानके प्रसाद से ही जाता है। पर मनका शरीरके साथ निकटका संबंध है और विकारी मन विकारी खूराक खोजता है। विकारी मन तरह-तरहके स्वाद और भोग ढूंढता है। और फिर उस खुराक और भोगका असर मनपर होता है। इससे और उतने अंशमें खूराकपर अंकुश रखनेकी और निराहारकी आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

विकारी मन शरीर और इंद्रियोंपर काबू पानेके बजाय उनके वश होकर काम करता है। इससे भी शरीरको शुद्ध और कम-से-कम विकार उत्पन्न करनेवाले आहारकी, मर्यादाकी और मौके-मौकेसे निराहारकी--उपवासकी आवश्यकता रहती है। अतः जो यह कहते हैं कि संयमीको खूराककी मर्यादाकी या उपवासकी जरूरत नहीं है वे उतने ही भ्रममें हैं, जितने कि खूराक और निराहारको सर्वस्व मान लेनेवाले। मेरा अनुभव तो मुझे यह सिखलाता है कि जिसका मन संयमकी ओर जा रहा है उसके लिए खूराककी मर्यादा और निराहार बहुत मददगार है। इनकी मददके बिना मनकी निर्विकारता असंभव जान पड़ती है।

: ३१ :

उपवास

दूध और अन्न छोड़कर जब फलाहारका प्रयोग शुरू किया, तभी संयमके हेतुसे उपवास भी आरंभ किये। इसमें भी मि० केलनबैक शामिल हुए। पहले जो उपवास करता था उसमें केवल आरोग्यकी

दृष्टि रहती थी। देहदमनके लिए उपवासकी आवश्यकता तो एक मित्रकी प्रेरणासे समझमें आई। वैष्णव-कुटंबमें जन्म हुआ था और माता कठिन व्रतोंका पालन करनेवाली थी, इससे एकादशी वगैरा व्रत देशमें रखे थे, पर वह देखा-देखी या माता-पिताको खुश करनेके खयालसे रखता था। ऐसे व्रतोंसे कोई लाभ होता है, यह उस वक्त नहीं समझ पाया था। मानता भी न था। पर उक्त मित्रको व्रत रखते देखकर और अपने ब्रह्मचर्य-व्रतको सहारा देनेके लिए मैंने उनका अनुकरण आरंभ किया और एकादशीके दिन उपवास करना तै किया। साधारणत: लोग एकादशीके दिन दूध और फल खाकर मान लेते हैं कि हमने एकादशीका व्रत रख लिया। पर फलाहारका उपवास तो अब मैं रोज ही करने लग गया था। अत: मैंने केवल पानीकी छूट रखकर पूरा उपवास शुरू किया।

उपवासके प्रयोग प्रारंभ करते समय सावनका महीना था। उस समय रमजान और सावन एक साथ पड़े थे। गांधी-कुटंबमें वैष्णव-व्रतोंके साथ शैव-व्रत भी रखे जाते थे। हमारे घरवाले जैसे वैष्णव देवालयोंमें जाते थे वैसे शिवालयों में भी जाते थे। सावन महीनेका प्रदोष कुटंबमें कोई-न-कोई तो हर साल जरूर रखता था। इसलिए इस सावन मासके व्रत रखनेका मैंने विचार किया।

इस महत्त्वके प्रयोगका प्रारंभ टाल्स्टाय-आश्रममें हुआ। वहां सत्याग्रही कैदियोंके कुटुंबको इकट्ठे करके मैं और केलनबक रहते थे। इनमें लड़के और नवयुवक भी थे; उनके लिए पाठशाला चलती थी। नवयुवकोंमें चार-पांच मुसलमान थे। उन्हें इस्लाम-के नियम-पालनमें मैं मदद करता था और बढ़ावा देता था। नमाज वगैराका सुभीता कर देता था। आश्रममें पारसी और ईसाई भी थे। इन सबको अपने-अपने धर्मके अनुसार चलनेमें प्रोत्साहन देनेका नियम था। अत: इन मुसलमान नवयुवकोंको रोजा रखनेमें मैंने प्रोत्साहन दिया। मुझे तो प्रदोष रखना ही था, पर हिन्दुओं, पारसियों और ईसाइयोंको भी मैंने मुसलमान युवकोंका साथ देनेकी सलाह दी। मैंने उन्हें यह समझाया कि संयममें सबका

साथ देना अच्छा है। अनेक आश्रमवासियोंने मेरी बात मान ली। हिन्दू और पारसी, मुसलमान साथियोंका सोलह आना अनुकरण तो नहीं करते थे, करनेकी जरूरत भी नहीं थी। मुसलमान सूरज डूबनेकी राह देखते थे, पर दूसरे लोग कुछ पहले खा लेते थे, जिससे मुसलमानोंको वह परोस सकें और उनके लिए खास चीजें तैयार करदें। इसके सिवा मुसलमान जो सहरी[1] खाते थे उसमें दूसरोंको शामिल होनेकी जरूरत नहीं थी और मुसलमान दिनमें पानी भी न पीते थे, दूसरोंको पानी पीनेकी छूट थी।

इस प्रयोगका एक फल यह हुआ कि उपवास और एक ही वक्तका भोजनका महत्त्व सब समझने लगे। परस्परके प्रति प्रेम और उदार भावनाकी वृद्धि हुई। आश्रममें अन्नाहारका नियम था। इस नियमका स्वीकार मेरी भावनाका खयाल रखकर हुआ था, यह बात मुझे यहां कृतज्ञतापूर्वक कबूल कर लेनी चाहिए। रोजेके दिनोंमें मुसलमानोंको मांसका त्याग मुश्किल मालूम हुआ होगा, पर नवयुवकोंमें से किसीने मुझे इसकी खबर न होने दी। वे अन्नाहार आनंद और मौजके साथ करते थे। हिन्दू लड़के कुछ लज्जतदार चीजें भी, जो आश्रम-जीवनके अयोग्य न होतीं, उनके लिए बना देते थे।

अपने उपवासके वर्णनमें यह विषयांतर मैंने जान-बूझकर किया है; क्योंकि इस मधुर प्रसंगके वर्णनके लिए मैं दूसरा स्थल नहीं पा सकता था। इस विषयांतर द्वारा मैंने अपनी एक वृत्ति भी बतला दी। जहां मेरा मन कहता है कि मैं यह अच्छी बात कर रहा हूं, उसमें मैं अपने साथियोंको सदा सम्मिलित कर लेनेकी कोशिश करता हूं। यह उपवास और एक जून भोजनक प्रयोग नई चीज थे, पर प्रदोष और रमजानके बहाने मैंने सबको उसमें खींच लिया।

यों आश्रममें संयमका वातावरण अपने-आप बढ़ गया। दूसरे उपवासों और एकाशनमें भी आश्रमवासी सम्मिलित होने

१. एक बार भोजन।

लगे और मेरा खयाल है कि इसका नतीजा अच्छा ही निकला। संयमका असर सबके हृदयपर कितना हुआ और सबकी विषय-वासनाओंको रोकनेमें उपवासादिने कितना कार्य किया, यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। पर मेरा यह अनुभव है कि मुझपर तो आरोग्य और विषयवासना दोनोंकी दृष्टिसे बहुत अच्छा असर हुआ। फिर भी मै जानता हूं कि उपवासादिका ऐसा असर सभीपर होना अनिवार्य नियम नही है। विषय-वासनाको रोकनेमें इंद्रिय-दमनकी इच्छासे किये हुए उपवासका ही प्रभाव होता है। कुछ मित्रोंका अनुभव यह भी है कि उपवासके अंतमें विषयेच्छा और स्वाद तीव्र हो जाते है। यानी उपवास-कालमें विषय-वासनाको रोकने और स्वादको जीतनेकी सतत् भावना हो तभी उसका शुभ फल होता है। बिना हेतु और बिना मनके किये हुए शारीरिक उपवासका स्वतंत्र परिणाम विषयवासनाके दमनके रूपमें प्रकट होगा, यह मानना निरा भ्रम है। गीताजीके दूसरे अध्यायका यह श्लोक यहां बहुत विचारणीय है --

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते ।।

उपवासीके विषय (उपवासकालमें) शांत हो जाते है, उसका रस नही जाता है। इसका तो ईश्वर-दर्शनसे ही——ईश्वर-प्रसाद से ही शमन होता है।

मतलब यह कि, उपवासादि संयमीके मार्गमें एक साधनके रूपमें आवश्यक है, पर वही सब कुछ नहीं है। अगर शरीरके उपवासके साथ मनका उपवास न हो तो वह दंभमें परिणत हो जाता है और हानिकारक सिद्ध हो सकता ह।

: ३२ :

गुरुजी

'द० अ० के सत्याग्रहके इतिहास' में जो बात न आ सकी या थोड़े ही अंशमें आ पाई वही इन प्रकरणोंमें आ रही है। पाठक इतना याद रख लें तो इन प्रकरणोंका पारस्परिक संबंध उनकी समझमें आ जायगा।

टाल्स्टाय-आश्रममें लड़के और लड़कियोंके लिए शिक्षाका कुछ प्रबंध करना आवश्यक था। मेरे साथ हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे; और थोड़ी हिन्दू लड़कियां भी थीं। खास शिक्षक रखना अशक्य था और मुझे अनावश्यक भी लगता था। अशक्य इसलिए था कि हिन्दुस्तानी शिक्षकोंका तोड़ा था और कोई मिलता भी तो मोटी तनख्वाहके बिना डरबनसे २१ मील दूर कौन आता? मेरे पास पैसोंकी बहुतायत न थी। बाहर-से शिक्षक बुलाना मुझे भी अनावश्यक जान पड़ा; क्योंकि वर्तमान शिक्षा-पद्धति मुझे पसंद न थी। ठीक पद्धतिका अनुभव करके तो मैंने नहीं देखा था। इतना समझता था कि आदर्श स्थितिमें सच्ची शिक्षा तो मां-बापके हाथोंके नीचे ही हो सकती है। उस स्थितिमें बाहरी मदद कम-से-कम होनी चाहिए। मैंने सोचा कि टाल्स्टाय-आश्रम एक कुटुंब है और उसमें मैं पितारूप हूं, इसलिए मुझे यथा-शक्ति इन नवयुवकोंके निर्माणकी जिम्मेदारी उठानी चाहिए।

इस कल्पनामें अनेक दोष तो थे ही। नवयुवक मेरे पास जन्मसे नहीं थे, हरएक भिन्न-भिन्न वातावरणमें पला था। सब एक धर्मके भी न थे। ऐसी स्थितिके लड़के और लड़कियोंको मैं पिता बनकर भी कैसे न्याय दे सकता हूं।

पर मैंने हृदयकी शिक्षाको अर्थात् चरित्रके विकासको सदा प्रथम पद दिया है और उसका परिचय चाहे जिस उम्रमें और जितने प्रचारके वातावरणोंमें पले हुए लड़के और लड़कियोंको अल्पाधिक परिमाणमें कराया जा सकता है। यह सोचकर इन

लड़कों और लड़कियोंके साथ मैं रात-दिन पिता रूपसे रहता था। चरित्रको मैंने उनकी शिक्षाका आधाररूप माना था। बुनियाद-मजबूत हो तो और बातें लड़के अवकाश मिलनेपर दूसरोंकी सहायता लेकर या अपने आप सीख ले सकते हैं।

फिर भी मैं समझता था कि अक्षरज्ञान थोड़ा-बहुत तो देना ही चाहिए। इसलिए क्लास खोले और उनमें मि० केलनबैक और प्रागजी देसाईकी मदद ली।

शारीरिक शिक्षाकी भी आवश्यकता समझता था। यह शिक्षा उन्हें अनायास मिल रही थी।

आश्रममें नौकर तो थे ही नहीं। पाखाना साफ करनेसे लगाकर रसोइतकके सब काम आश्रमवासियोंको ही करने होते थे। फलोंके बहुत पेड़ थे। नई बोआई करनी ही थी। मि० केलनबैक-को खेतीका शौक था, स्वयं सरकारी आदर्श बागोंमें जाकर कुछ दिनों सीख आये थे। रोज एक खास वक्तपर, छोट-बड़े सबको, जो रसोईके काममें न लगे हों, बागमें काम करना ही पड़ता था। इनमें बालकोंका बड़ा भाग था। बड़े-बड़े गड्ढे खोदना, पेड़ काटना, बोझा ढोना वगैरा कामोंमें उनके शरीर अच्छी तरह गठ जात थे। इन कामोंमें उन्हें आनंद आता था और इसमें उन्हें दूसरी कसरत या खेल की जरूरत न रह जाती थी। काम करनेमें कभी-कभी कुछ और कई बार सब विद्यार्थी नखरे करते थे, आलस्य करते थे। अक्सर इन बातोंकी ओरसे मैं आंख मूद लेता था। कितनी ही बार उनसे सख्तीसे काम लेता था। यह भी देखता था कि जब सख्ती करता था तब वे घबराते थे। तथापि मुझे याद नहीं है कि लड़कोंने सख्तीका कभी विरोध किया हो। जब-जब सख्ती करता था तब-तब उन्हें समझाता था और उन्हींसे कबूल करवाता था कि कामके वक्त खेलना अच्छी आदत नहीं है। उस वक्त तो समझ जाते थे, दूसरे ही क्षण भूल जाते थे। यों गाड़ी चलती रहती थी। पर उनके शरीर कसते जाते थे।

आश्रममें बीमारी शायद ही आती थी। यह कहना चाहिए कि

इसमें हवा-पानीका तथा अच्छे और नियमित आहारका भी बड़ा हाथ था। मैं शारीरिक शिक्षाके सिलसिलेमें ही शारीरिक पेशेकी शिक्षाको भी शामिल कर लेता हूं। यह इरादा था कि सबको कोई एक उपयोगी धंधा सिखाना चाहिए। इसमें मि० केलनबैक ट्रेपिस्ट मठमें चप्पल बनाना सीख आये। उनसे मैंने सीखा और मैंने उन लड़कोंको, जो यह धंधा सीखनेको तैयार हुए सिखाया। मि० केलनबैकको बढ़ईके कामकी भी थोड़ी जानकारी थी और आश्रममें यह काम जाननेवाला एक और साथी था। इससे वह काम भी थोड़ा-थोड़ा सिखलाया जाता था। खाना पकाना तो लगभग सब लड़के सीख गये।

ये सब काम लड़कोंके लिए नये थे। उन्होंने तो स्वप्नमें भी काम सीखनेकी बात न सोची होगी। जो कुछ शिक्षा भारतीय बालक दक्षिण अफ्रीकामें पाते थे वह केवल प्राथमिक अक्षरज्ञानकी ही होती थी। टाल्स्टाय-आश्रममें शुरूसे यह रिवाज रखा गया था कि जो काम हम शिक्षक खुद न करें वह लड़कोंसे न करावें, और हमेशा उनके साथ-साथ वही काम करनेवाला एक शिक्षक रहता था, इससे बालकोंने चावसे सीखा।

चरित्र और अक्षरज्ञानके बारेमें इसके बाद लिखा जायगा।

: ३३ :

अक्षरज्ञान

पिछले प्रकरणमें मैंने बतलाया कि शारीरिक शिक्षा और उसके सिलसिलेमें कुछ हाथकी कारीगरी सिखानेका काम टाल्स्टाय-आश्रममें किस तरह शुरू किया गया। यद्यपि काम मैं इस तरह नहीं कर सका कि मुझे उससे संतोष हो, फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिली थी। पर अक्षरज्ञान देना कठिन लगा। मेरे पास उसकी सफलताके लिए सामग्री नहीं थी। मेरे पास उतना समय नहीं था, जितना मैं देना चाहता था। उतना ज्ञान

भी नहीं था। सारे दिन शारीरिक काम करनके बाद मैं थक जाता था, और जिस समय जरा आराम लेनेकी तबीयत चाहती थी, वही वक्त क्लास लेनेका होता था। इससे मैं ताजा होनेके बजाय जबरदस्ती जाग्रत रह पाता था। सबेरेका वक्त खेती और घरके काममें जाता था और दोपहरको खाना खानेके बाद तुरंत पाठशाला चलती थी। इसके सिवा दूसरा कोई वक्त अनुकूल न होता था।

अक्षरज्ञान के लिए ज्यादा-से-ज्यादा तीन घंटे रखे गए थे। इसके सिवा क्लासमें हिन्दी, तामिल, गुजराती और उर्दू सिखानी होती थी। शिक्षा प्रायः बालकको उसकी मातृभाषाके द्वारा ही देनेका आग्रह था। अंग्रेजी भी सबको सिखाई जाती थी। इसके सिवा गुजराती हिन्दू-बालकोंको थोड़ी संस्कृतका और सबको थोड़ी हिन्दीका ज्ञान करा देना, इतिहास, भूगोल और अंकगणित सबको सिखाना—यह हमारा शिक्षण-क्रम था। तामिल और उर्दू पढ़ानेका काम मेरे जिम्मे था।

मेरा तामिलका ज्ञान तो स्टीमरोंमें और जेलमें जितना मिला था, उतना ही था। उसमें भी पोपकृत उत्तम 'तामिल स्वयं शिक्षक' से आगे मैं न बढ़ पाया था। उर्दू लिपिका ज्ञान वही था, जो जहाजपर पा सका था और खास फारसी-अरबी शब्दोंका परिचय उतना ही था जितना मुसलमान दोस्तोंकी सोहबतसे हासिल हो गया था, संस्कृत, जो हाईस्कूलमें सीख पाया था। गुजराती भी स्कूली ही थी।

इतनी ही पूंजीसे मुझे काम चलाना था और इसमें जो मदद-गार थे वे मुझसे भी कम जाननेवाले थे। पर देशकी भाषाओंपरका मेरा प्रेम, अपनी शिक्षण-शक्तिपर मेरी श्रद्धा, विद्यार्थियोंका अज्ञान और उससे भी बढ़कर उनकी उदारता मुझे मेरे काममें सहायक सिद्ध हुए।

तामिल विद्यार्थी दक्षिण अफ्रीकामें ही जन्मे हुए थे, इससे तामिल बहुत थोड़ी जानते थे। उन्हें लिपि तो बिलकुल न आती थी। अतः मुझे लिपि सिखानी पड़ती थी और व्याकरणके मूल

तत्त्व। वह आसान था। विद्यार्थी जानते थे कि तामिल बोलनेमें तो वे मुझे सहज ही हरा सकते थे और जब केवल तामिल जाननेवाले मुझसे मिलने आते तब वे मेरे दुभाषियेका काम करते थे। यों मेरी गाड़ी चली; क्योंकि विद्यार्थियोंके सामने अपना अज्ञान ढांकनेकी मैंने कभी कोशिश ही नहीं की। सब चीजोंमें जैसा मैं था वैसा ही मुझे वे जान गए थे। इसमें अक्षरज्ञानकी भारी न्यूनता होते हुए भी मैंने उनका प्रेम और आदर कभी नहीं गंवाया।

मुसलमान बालकोंको उर्दू सिखाना इसकी बनिस्बत अधिक आसान था। वे लिपि जानते थे। उनमें पढ़नेका शौक बढ़ाना और उनके अक्षर सुधारना ही मेरा काम था।

मुख्यत: सभी लड़के निरक्षर और पाठशालामें नही पढ़े हुए थे। सिखाते-सिखाते मैंने देखा कि मुझे उन्हें सिखाना कम ही था। उनका आलस्य छुड़ाना, उन्हें अपने-आप पढ़ते रहनेकी आदत डलवाना और उनकी पढ़ाईकी खबरदारी रखना--खास काम यही था। मैं इतनेसे ही संतोष कर लेता था। इसीसे भिन्न-भिन्न उम्रके भिन्न-भिन्न विषयोंवाले विद्यार्थियोंको एक ही कमरेमें बिठाकर काम ले सकता था।

पाठ्यपुस्तकोंके लिए जो समय-समयपर शोर सुनाई देता है, मुझे उनकी जरूरत कभी न पड़ी। जो पुस्तकें थीं उनका भी बहुत उपयोग करनेका मुझे स्मरण नहीं है। हरएक लड़केको ज्यादा किताबें देना मुझे जरूरी नहीं दिखाई दिया। मेरी समझमें विद्यार्थीकी पाठ्यपुस्तक शिक्षक ही होता है। शिक्षकोंने पाठ्यपुस्तकोंमेंसे जो सिखाया था, उसमेंसे थोड़ा ही मुझे याद है। जिन्होंने जबानी सिखाया था, उसकी याद आज भी बनी है। बालक आंखसे जितना ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा कानसे सुना हुआ थोड़े परिश्रमसे और बहुत ज्यादा ग्रहण कर सकता है। मुझे याद नहीं है कि बालकोंसे मैंने एक किताब भी पूरी पढ़वाई हो।

पर अनेक पुस्तकोंमेंसे जो कुछ मैंने हजम किया था वह उन्हें अपनी भाषामें सुना गया और मैं समझता हूं कि यह उन्हें आज भी

याद होगा। पढ़वाया हुआ याद रखनेमें उन्हें कष्ट होता था। मैं जो उन्हें सुनाता था वे उसी क्षण मुझे सुना देते थे। पढ़नेमें उन्हें परेशानी होती थी। सुननेमें, जब मैं खुद थकानस या अन्य कारणों-से ढीला और नीरस न होता तब वे रस लेते थे और सुनाते थे। उनके अंदर उठे हुए प्रश्नोंको सुलझानेमें उनकी ग्रहणशक्तिका अंदाजा मिल जाता था।

: ३४ :

आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियोंके शरीर और मनके शिक्षणकी अपेक्षा उनकी आत्माको शिक्षित करनेमें मुझे बहुत अधिक श्रम पड़ा। आत्माका विकास करानेमें मैंने धर्मकी पोथियोंका सहारा कम लिया था। मैं मानता था कि विद्यार्थियोंको अपने-अपने धर्मके मूल तत्त्व जानने चाहिए और अपनी धर्मपुस्तकोंका साधारण ज्ञान उन्हें होना चाहिए। उन्हें यह ज्ञान मिल जाय, इसके लिए मैंने यथाशक्ति सुभीता कर दिया था, पर उसे मैं बुद्धिके विकासका अंग मानता हूं। आत्मशिक्षण शिक्षाका एक स्वतंत्र विषय है, यह बात मैंने टाल्स्टाय-आश्रमके बालकोंकी शिक्षा आरंभ करनेके पहले ही समझ ली थी। आत्माका विकास करनेका अर्थ है चरित्रका गठन, ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना। आत्मज्ञान प्राप्त करना। यह ज्ञान प्राप्त करनेमें बालकोंको बड़ी मददकी जरूरत है। और यह मैं मानता था कि उनके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, और हानिकारक भी हो सकता है।

यह वहम सुना है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रममें मिलता है। पर यह सार्वजनिक अनुभव है कि जो चौथे आश्रमतक इस अमूल्य वस्तुको मुल्तवी रखते हैं, वे आत्मज्ञान नहीं पाते, बल्कि बुढ़ापा और दूसरा, दयाजनक बचपन पाकर 'भुविभारभूता' होकर जीते हैं। ये विचार मैं इस भाषामें सन् १९११-१२ में शायद प्रकट न

करता, पर उस समय मेरे ऐसे विचार थे, इसका मुझे पूरा स्मरण है।

आत्मिक शिक्षा कैसे दी जाय ? बालकोंसे भजन गवाता था, नीतिकी पुस्तकें पढ़कर सुनाता था। पर उससे संतोष न होता था। ज्यों-ज्यों उनसे संपर्क बढ़ता गया त्यों-त्यों मैंने देखा कि यह ज्ञान पोथियों द्वारा तो नही दिया जा सकता। शरीरकी शिक्षा शरीरकी कसरतसे दी जा सकती है, दी जानी चाहिए। बुद्धिकी बुद्धिकी कसरतसे, वैसे ही आत्माकी आत्माकी कसरतसे। आत्माकी कसरत शिक्षकके आचरणसे ही मिल सकती है। अतः युवकोंकी उपस्थिति हो या न हो, शिक्षकको सावधान रहना ही चाहिए। लंकामें बैठा हुआ शिक्षक अपने आचरणसे अपने शिष्योंकी आत्माको हिला सकता है। मैं झूठ बोलता रहूं और अपने शिष्योंको सच्चा बनानेकी कोशिश करूं तो वह बेकार जायगी। डरपोक शिक्षक शिष्योंको वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्योंको संयम कैसे सिखा सकता है ? मैंने देखा कि मुझे अपने साथ रहनेवाले लड़के और लड़कियोंके सामने पदार्थ पाठरूप होकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बन गए। अपने लिए नहीं तो उनके लिए मुझे भला होकर रहना चाहिए, यह मैंने समझा और कहना चाहिए कि टाल्स्टाय-आश्रमका मेरा अधिकतर संयम इन युवकों और युवतियोंका एहसानमंद है। आश्रममें एक युवक था, जो बड़ा ऊधम मचाता था, झूठ बोलता था, किसीकी परवा न करता था, दूसरोंसे लड़ता था। एक दिन उसने बड़ा ही तूफान उठाया। मैं घबराया। मैं विद्यार्थियोंको कभी दंड न देता था। उस दिन मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैं उसके पास गया। समझानेसे वह किसी तरह समझता न था। मुझे छलनेकी भी उसने कोशिश की। मैंने अपने पास पड़ा रूल उठाया और उसकी बांहपर जमा दिया। मारते समय मैं कांप रहा था। यह उसने देखा होगा। ऐसा अनुभव किसी विद्यार्थीको मेरी ओरसे पहले कभी न हुआ था। विद्यार्थी रो पड़ा। मुझसे माफी मांगी।

उसे रूल लगा और तकलीफ हुई, इससे वह नहीं रोया। वह मुकाबला करना चाहता तो मुझसे निबटने भरकी ताकत उसमें थी। उसकी उम्र सत्रह सालकी रही होगी। गठन मजबूत था। पर मेरे रूल मारनेमें उसने मेरी पीड़ाका अनुभव किया। इस संयोगके बाद वह कभी मेरे खिलाफ न गया। पर मुझे वह रूल मारनेका पछतावा आजतक बना है। मुझे भय है कि मैंने उसे मारकर अपनी आत्मा का नहीं बल्कि अपनी पशुताका दर्शन कराया था।

बालकोंको मार-पीटकर सिखानेके खिलाफ मैं सदासे रहा हूं। एक ही मौका मुझे याद है जब मैंने अपने लड़कोंमेंसे एकको मारा था। रूल मारनेमें मैंने उचित किया या नहीं इसका निर्णय मैं आजतक न कर पाया। इस दंडके औचित्यमें मुझे शंका है, क्योंकि उसमें क्रोध भरा हुआ था और दंड देनेका भाव था। उसमें केवल मेरे दुःखका ही प्रदर्शन होता तब तो मैं उस दंडको उचित मानता। पर उसके भीतर जो भावना थी, वह मिली-जुली थी। इस प्रसंगके बाद तो मैंने विद्यार्थियोंको सुधारनेकी अधिक अच्छी रीति सीख ली। इस कलाका उपयोग मैंने उक्त प्रसंगपर किया होता तो क्या फल होता, यह मैं नहीं कह सकता। यह प्रसंग उक्त युवक तो फौरन भूल गया। उसमें बहुत सुधार हो गया, यह तो मैं नहीं कह सकता; पर इस प्रसंगने मुझे विद्यार्थीके प्रति शिक्षकके धर्मके संबंधमें अधिक जागरूक बना दिया। इसके बाद युवकोंसे ऐसे ही दोष हुए, पर मैंने दंडनीतिसे काम न लिया। यों दूसरोंको आत्मज्ञान देनेके प्रयत्नमें मैं स्वयं आत्माके गुणको अधिक समझने लगा।

: ३५ :

भले-बुरेका मिश्रण

टाल्स्टाय-आश्रममें मि० केलनबैकने मेरे सामने एक सवाल उठाया। उनके उपस्थित करनेके पहले मैंने उसपर विचार

नहीं किया था। आश्रममें कुछ लड़के बड़े उपद्रवी और खराब थे। कई आवारा भी थे। उन्हीके साथ मेरे तीन लड़के थे। और भी उन्हींकी तरह पाले हुए लड़के थे, पर मि० केलनबैकका ध्यान तो इसी ओर था कि उक्त आवारा और मेरे लड़के किस तरह साथ रह सकते हैं? एक दिन वह बोल पड़े--"आपकी यह रीति मुझे तनिक भी नहीं सुहाती। इन लड़कोंके साथ आपके लड़कोंके मिलनेका नतीजा तो एक ही हो सकता है--इन आवारा लड़कोंकी सोहबतका असर उनपर पड़ेगा और फिर वे बिगड़े बिना कैसे रह सकते हैं?"

मैं क्षणभर सोच-विचारमें पड़ा या नहीं, यह तो मुझे आज याद नहीं आता, पर मेरा जवाब मुझे याद है। मैंने कहा--"अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंके बीच मैं भेद कैसे कर सकता हूं? इस समय दोनोंके लिए मैं एक-सा जिम्मेदार हूं। ये युवक मेरे बुलानेसे आये हैं। मैं इन्हें खर्च दे दू तो आज ही ये फिर जोहान्स-बर्ग लौटकर जैसे रहते थे वैसे रहने लगेंगे। यहां आनेमें उन्होंने मुझपर कुछ मेहरबानी की है यह भी वे और उनके माता-पिता मानते हों तो कोई अचरज नहीं है। यहां आकर वे कुछ दिक्कतें ही उठा रहे हैं, यह तो मैं और आप दोनों देखते हैं। पर मेरा धर्म स्पष्ट है। मुझे उन्हें यहीं रखना चाहिए। अतः मेरे लड़कोंको भी उनके साथ ही रहना है। फिर क्या मैं आजसे ही अपने लड़कों-को यह भेदभाव सिखाऊं कि वह दूसरोंसे ऊंचे हैं? यह विचार उनके दिमागमें डालना ही उन्हें गलत रास्तेपर ले जाना होगा। इस स्थितिमें रहनेसे वे गढ़े जायंगे, भले-बुरेकी पहचान खुद करना सीखेंगे। हम यह क्यों न मानें कि उनमें अगर सचमुच गुण होगा तो उल्टे उन्हींकी छूत उनके साथियोंको लगेगी। जो हो, पर मुझे तो उन्हें यहां रखना है। और यदि इसमें कोई जोखिम हो ही तो उसे उठाना फर्ज है।" मि० केलैनबैकने सिर हिलाया।

प्रयोगका परिणाम बुरा हुआ यह तो नहीं कह सकते। मैं नहीं मानता कि इससे मेरे लड़कोंको कोई हानि हुई हो। लाभ

होता मैं जरूर देख सका। उनमें बड़प्पनकी भावना थोड़ी-बहुत रही होगी तो वह बिलकुल चली गई। वे सबक साथ मिलना सीख गए। वे तप गए।

इस और ऐसे दूसरे अनुभवोंसे मुझे यह जान पड़ा है कि माता-पिताकी देखरेख ठीक-ठीक हो तो अपने भले-बुरे लड़कोंके साथ रहने और पढ़नेसे भलोंको कोई नुकसान नहीं होता। अपने लड़कों-को संदूकमें बंद कर रखनेसे वे शुद्ध ही रहें और बाहर निकालनेसे नापाक हो जाते हैं, कोई ऐसा नियम नहीं है। हां, यह जरूर है कि जहां अनेक प्रकारके लड़के-लड़कियां साथ रहते और पढ़ते हों वहां मां-बापकी और शिक्षककी कड़ी परीक्षा होती है, उन्हें खबर-दार रहना पड़ता है।

: ३६ :

प्रायश्चित्तरूपमें उपवास

लड़के और लड़कियोंको ईमानदारीसे पालने और शिक्षा देनेमें कितनी और कैसी कठिनाइयां हे, इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और संरक्षकके रूपमें उनके हृदयमें प्रवेश करन था, उनके सुख-दुःखमें शामिल होना था, उनकी जीवन-गुत्थियां सुलझानी थीं, उनकी उभरती जवानीकी तरंगोंको सही रास्तेपर लगाना था।

कुछ जेलवालोंके छूट जानेपर टाल्स्टाय-आश्रममें थोड़े ही आदमी रह गए। ये विशेषतः फिनिक्सके रहनेवाले थे। इससे आश्रमको फिनिक्स ले गया। फिनिक्समें मेरी कड़ी परीक्षा हुई। टाल्स्टाय-आश्रममें बचे हुए आश्रमवासियोंको फिनिक्स पहुंचाकर मैं जोहान्सबर्ग गया। जोहान्सबर्ग थोड़े दिन रहा होऊंगा; वहीं मुझे दो व्यक्तियोंके भयंकर पतनका समाचार मिला। सत्याग्रहके महान् संग्राममें कहीं विफलता-सी दिखाई देनेपर मुझे चोट न लगती थी, पर इस घटनाने मुझपर वज्र-सा गिरा दिया। मेरा दिल चोट खा गया। मैंने उसी दिन फिनिक्सकी गाड़ी पकड़ी।

मि० केलनबैकने साथ जानेका आग्रह किया। वह मेरी दयनीय स्थिति समझ गये थे। उन्होंने मुझे अकेले जाने देनेसे साफ इन्कार कर दिया। पतनकी खबर मुझे उन्हींके द्वारा मिली थी।

रास्तेमें मैंने अपना धर्म समझ लिया या यों कहूं कि ऐसा मान लिया। मैंने सोचा कि अपनी रक्षामें रहनेवालोंके पतनके लिए संरक्षक या शिक्षक कुछ अंशमें तो जिम्मेदार होते ही हैं। इस घटनामें अपनी जिम्मेदारी मुझे साफ दिखाई दी। मेरी पत्नी मुझे चेतावनी दे चुकी थी, पर स्वभावत: विश्वासी होनेके कारण मैंने उसकी चेतावनीकी उपेक्षा की। फिर मुझे यह भी दिखाई दिया कि मैं इस पतनके लिए प्रायश्चित करूं तभी जो पतित हुए हैं वे मेरा दु:ख समझ सकेंगे और इससे उन्हें अपने दोषका ज्ञान होगा और उसकी गंभीरताको समझ पायेंगे। इससे मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार महीने एकाशन करनेका व्रत लिया। मि० केलनबैकने मुझे रोकनेका प्रयत्न किया, पर वह निष्फल रहा। अंतमें प्रायश्चित्तका औचित्य उन्होंने माना और उन्होंने भी मेरे साथ वही व्रत रखनेका निश्चय किया। उनके निर्मल प्रेमको मैं रोक न सका। यह निश्चय करते ही मेरा जी हल्का हो गया, शांत हो गया, दोषियोंपर आया हुआ गुस्सा उतर गया और उनपर केवल दया रह गई।

इस प्रकार केवल ट्रेनमें ही मन हल्का करके मैं फिनिक्स पहुंचा। जांच करके जितना कुछ जानता था जान लिया। यद्यपि मेरे उपवाससे सबको कष्ट तो हुआ, पर इससे वातावरण शुद्ध हो गया। पाप करनेकी भयंकरता सबको मालूम हो गई और विद्यार्थियों तथा विद्यार्थिनियों और मेरे बीचका संबंध दृढ़ और सरल हो गया।

इस संयोगमेंसे ही कुछ समय बाद मुझे चौदह दिनोंका उपवास करना पड़ा था। मै मानता हूं कि उसका परिणाम धारणासे भी अधिक अच्छा हुआ था।

इस बातसे मैं यह सिद्ध करना नहीं चाहता कि शिष्योंके हर

कसूरके लिए शिक्षकोंको सदा उपवासादि करने ही चाहिए। पर मैं यह मानता हूं कि कुछ मौकोंपर ऐसे प्रायश्चित्तरूप उपवासके लिए स्थान अवश्य है। पर उसके लिए विवेक और अधिकार होना चाहिए। जहां शिक्षक-शिष्यमें शुद्ध प्रेम-संबंध नहीं है, जहां शिक्षकको अपने शिष्यके दोषसे सच्ची चोट नहीं लगी है, जहां शिष्यको शिक्षकके प्रति आदर नहीं है, वहां उपवास निरर्थक है और शायद नुकसान भी करे। पर ऐसे उपवास और एकाशनके औचित्यके विषयमें भले ही शंका हो, पर शिक्षक शिष्यके दोषोंके लिए थोड़े-बहुत अंशोंमें जिम्मेदार है, इसमें मुझे तनिक भी शंका नहीं।

ये सात उपवास और साढ़े चार महीने का एकाशन व्रत हममें-से किसीको कठिन नहीं गुजरा। उस बीच मेरा कोई भी काम बंद या मंदा नहीं हुआ। उस कालमें मैं केवल फलाहारपर ही रहा। चौदह उपवासका अंतिम भाग मुझे काफी कठिन लगा था, तबतक रामनामका चमत्कार मैं पूरी तरह नहीं समझ पाया था, अतः दुःख सहन करनेकी शक्ति कम थी। उपवासके बीच चाहे जैसे हो, पानी खूब पीना चाहिए, इस बाह्य कलाका मुझे ज्ञान नहीं था। इस कारण भी ये उपवास कठिन गुजरे। इसके पहलेके उपवास सुख-शांतिसे बीते थे, इससे चौदह दिनोंके उपवासके समय लापरवाह हो गया था। पहले उपवासमें बराबर कूनेका कटिस्नान लेता था। चौदह दिनके उपवासमें दो या तीन दिनके बाद वह बंद कर दिया। पानीका स्वाद ही अच्छा न लगता था और पीनेपर मतली आती थी, इससे पानी बहुत ही कम पीता था। इस कारण गला सूख गया, कमजोर हो गया, और आखिरी दिनोंमें केवल धीमी आवाजसे ही बोल पाता था। इतनेपर भी लिखनेका जरूरी काम अंतिम दिनतक कर सका था और रामायण इत्यादि अंततक सुनता था। किसी प्रश्नके संबंधमें सलाह-मशविरा देनेका आवश्यक कार्य भी कर सकता था।

: ३७ :

गोखलेसे मिलने

दक्षिण अफ्रीकाके अनेक स्मरण अब छोड़ देने पड़ रहे हैं। सन् १९१४ ई० में सत्याग्रह-संग्रामका अंत होनेपर गोखलेकी इच्छासे मुझे इंगलैंड होकर देश जाना था। इसलिए जुलाईमें कस्तूरबाई, केलनबैक और मैं—ये तीन जनें विलायतके लिए रवाना हुए। सत्याग्रहकी लड़ाईके दिनों में मैंने रेलके तीसरे दर्जेमें सफर करना शुरू कर दिया था, इससे जहाजमें भी तीसरे दर्जेका टिकट कटाया। पर इस तीसरे दर्जेमें और अपने यहांके तीसरे दर्जेमें बड़ा फर्क है। अपने यहां सोने-बैठनेकी जगह भी मुश्किलसे मिलती। सफाईका तो जिक्र ही क्या! जहाजके तीसरे दर्जेमें जगह मुनासिब थी और सफाई भी माकूल रखी जाती थी। कोई हमें तंग न करे, इस खयालसे एक पाखानेपर ताला लगाकर कुंजी हमें सौंप दी गई थी। और हम तीनोंके फलाहारी होनेकी वजहसे हमें सूखे मेवे और ताजा फल भी देनेकी आज्ञा स्टीमरके खजांचीको दे दी गई थी। साधारणतः तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंको फल कम ही मिलते हैं, सूखा मेवा बिलकुल नहीं मिलता। इन सुभीतोंकी वजहसे हमने समुद्रके अठारह दिन बड़ी शांतिसे बिताये।

इस यात्राके कुछ स्मरण विशेष रूपसे जानने योग्य है। मि० केलनबैकको दूरबीनका बड़ा शौक था। एक-दो कीमती दूरबीनें उनके पास थीं। उनके विषयमें हममें रोज बातचीत हुआ करती। मैं उन्हें समझानेकी कोशिश करता कि हमारे आदर्शके और हम जिस सादगीपर पहुंचना चाहते हैं, उसके यह अनुकूल नहीं है। एक दिन हममें इस प्रश्नपर तीव्र वाद-विवाद हुआ। हम दोनों अपनी केबिनकी खिड़कीके पास खड़े थे।

मैंने कहा—"हममें यह तकरार होती रहे इससे क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि इस दूरबीनको समुद्रमें फेंक दें और उसकी बात ही न करें?"

मि० केलनबैकने तुरंत जवाब दिया—"जरूर इस गलत-फहमी पैदा करनेवाली चीजकों फेंक दीजिए।"

मैंने कहा—"मै फेंकता हूं ?"

उन्होंने उतनी ही शीघ्रता से कहा—"मैं सचमुच कहता हूं, जरूर फेंक दीजिए।"

मैंने दूरबीन फेंक दी। करीब सात पौंडकी थी, पर उसकी कीमत उसके दामोंमें नहीं, बल्कि मि० केलनबैकका उसपर जो मोह था उसमें थी। फिर भी मि० केलनबैकने उसके लिए कभी दुःख नहीं किया। उनके और मेरे बीचके ऐसे अनुभव अनेक हुआ करते थे। उनमेंसे मैंने यह एक नमूनेके तौरपर पाठकोंके सामने रखा है।

हमारे आपसके संबंधमें हमें रोज कुछ नया सीखनको मिलता था; क्योंकि दोनों सत्यका अनुसरण करके ही चलनेकी कोशिश करते थे। सत्यका अनुगमन करने से क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादिका सहज ही शमन हो जाता था। शमन न हो तो सत्यकी प्राप्ति न हो पाती। राग-द्वेषसे भरा हुआ मनुष्य सरल भले ही हो जाय, वाणीका सत्य भले ही पाले, पर उसे शुद्ध सत्य नहीं मिल सकता। शुद्ध सत्यकी खोज करना राग-द्वेषादिके द्वंद्वसे सर्वथा मुक्ति पाना है।

हमने यात्रा जब शुरू की थी तो मुझे उपवास पूरा किये अधिक समय नहीं बीता था। मुझमें पूरी ताकत नहीं आ पाई थी। स्टीमरमें मैं रोज डेकपर चलनेका व्यायाम करके काफी खानेकी और खाये हुएको पचानेकी कोशिश करता था। इससे मेरी पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द होने लगा। विलायत पहुंचनेपर मेरा दर्द कम न होकर और बढ़ गया। विलायतमें डाक्टर जीवराज मेहतासे परिचय हो गया था। उनको उपवास और दर्दका इतिहास बतलानेपर बोले—"अगर आप कुछ दिनों बिलकुल आराम न लेंगे तो पैर हमेशाके लिए बेकार हो जानेका डर है।" इसी समय मुझे मालूम हुआ कि लंबा उपवास करनेवालोंको गई हुई ताकत झटसे

पा लेनेको या बहुत खानेका लोभ न रखना चाहिए। उपवास करनेकी अपेक्षा उसे उतारनेमें अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद उसमें संयम भी अधिक करना पड़ता है।

मदीरामें हमें खबर मिली कि महायुद्ध छिड़नेमें बस अब कुछ घंटोंकी ही देर है। इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुंचनेपर लड़ाई छिड़ जानेका समाचार मिला और हमें रोका गया। जगह-जगह समुद्रमें सुरंगे बिछा दी गई थीं। उनसे बचाकर हमें साउदेम्पटन पहुंचानेमें एक-दो दिनकी देर हो गई। युद्धकी घोषणा चौथी अगस्तको हुई। हम छठीको विलायत पहुंचे।

: ३८ :

लड़ाईमें हिस्सा

विलायत पहुंचे तो पता चला कि गोखले तो पेरिसमें फंस गये हैं। पेरिससे आवागमनका संबंध टूट गया है और यह पता नहीं कि वह कब आयंगे। गोखले स्वास्थ्य-सुधारके लिए फ्रांस गये थे जहां लड़ाईकी वजहसे अटक गये। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था और वह कब आ सकेंगे यह कोई कह नहीं सकता था।

इस बीच मैं क्या करूं? लड़ाईमें मेरा फर्ज क्या है? मेरे जेलके साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजनिया विलायतमें ही बारिस्टरी पढ़ रहे थे। अच्छे-से-अच्छे सत्याग्रहीकी हैसियतसे वह बारिस्टरीकी तालीमके लिए इंग्लैंड भेजे गये थे कि वहांसे लौटकर दक्षिण अफ्रीकामें मेरी जगह लें। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवन-दास मेहता देते थे। उनके साथ और उनके जरिये डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादिसे, जो विलायतमें पढ़ रहे थे, मशविरा किया। विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक बैठककी और उनके सामने अपने विचार रखे। मेरे मनने कहा कि विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको लड़ाईमें अपना हिस्सा देना चाहिए।

अंग्रेज विद्यार्थी लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय प्रकट कर चुके थे। हिन्दुस्तानी उनसे पीछे क्यों रहें? इन दलीलोंके खिलाफ इस सभामें बहुत-सी दलीलें दी गई। हमारी और अंग्रेजोंकी स्थितिमें जमीन-आसमानका अंतर है। एक गुलाम और दूसरा मालिक। ऐसी स्थितिमें गुलाम मालिककी विपत्तिमें स्वेच्छासे मदद कैसे कर सकता है? गुलामीसे छुटकारा पानेके इच्छुक गुलामका क्या धर्म नहीं है कि मालिक की विपत्तिका उपयोग अपनी मुक्तिके लिए करे? यह दलील उस समय मेरे गले कैसे उतरती? मैं दोनोंकी स्थितिका भेद समझता था, पर मुझे अपनी दशा शुद्ध गुलामीकी नहीं लगती थी। मुझे तो यह जान पड़ता था कि अंग्रेजी राज्य-पद्धतिमें जो दोष हैं उसकी अपेक्षा अंग्रेजी अधिकारियोंमें दोष अधिक हैं। वह दोष हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं। अगर अंग्रेजोंके द्वारा और उनकी मददसे हम अपनी स्थिति सुधारना चाहते हों तो हमें उनकी विपत्तिमें उनकी मदद करके अपनी दशा सुधारनी चाहिए। राज्य-पद्धति सदोष होनेपर भी मुझे जैसे वह आज असह्य लगती है वैसे उस समय नहीं लगती थी। पर जैसे पद्धतिपरसे मेरा विश्वास आज उठ गया है और इससे मैं आज अंग्रेजोंकी मदद नहीं कर सकता, वैसे जिनका विश्वास अंग्रेजी पद्धतिपरसे ही नहीं, बल्कि अंग्रेज अधिकारियोंपरसे भी उठ चुका था, वे मददके लिए कैसे तैयार होते?

उन्होंने इस वक्त प्रजाकी मांग दृढ़तासे सामने रखने और शासन-व्यवस्थामें सुधार करा लेनेका आग्रह करनेका अवसर देखा। मैंने अंग्रेजोंकी इस विपत्तिको अपनी मांग पेश करनेका अवसर नहीं माना। लड़ाईके समय हक मांगना मुल्तवी रखनेके संयममें सभ्यता और दीर्घदृष्टि देखी। इससे मैं अपनी सलाहपर अड़ा रहा और सूचित किया कि जिन्हें भरतीमें नाम लिखाना हो वे लिखाएं। नाम अच्छी तादादमें आये। उनमें लगभग सब प्रांतों और सब धर्मोंके लोगोंके नाम थे।

लार्ड क्रूको इस विषयमें पत्र लिखा और लिख दिया कि

हिन्दुस्तानियोंकी मांग मंजूर होनेपर घायल सिपाहियोंकी सेवा करनेकी तालीम लेना जरूरी हो तो हम उसके लिए तैयार हैं। कुछ मशविरेके बाद लार्ड क्रूने हिन्दुस्तानियोंकी मांग मंजूर कर ली और आड़े वक्तमें साम्राज्यकी मदद करनेको तैयार होनेके लिए कृतज्ञता प्रकट की।

नाम देनेवालोंने प्रसिद्ध डाक्टर कैंटलीकी देख-रेखमें घायलोंकी सेवा -शुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीम लेना आरंभ किया। छह हफ्तेका छोटा-सा क्रम था, पर उसमें घायलोंको प्राथमिक उपचार देनेकी सारी क्रियाएं सिखा दी जाती थीं। हम लगभग ८० आदमी इस विशेष वर्गमें शामिल हुए। छह हफ्तेके बाद परीक्षा ली गई। उसमें एक ही आदमी फेल हुआ। जो पास हुए उनके लिए सरकारकी ओरसे कवायद वगैरा सिखानेका प्रबंध हुआ। कर्नल बेकरको यह कवायद करानेका काम सौंपा गया और वह इस टुकड़ीके नायक बना दिये गए।

इस समयका विलायतका दृश्य देखने लायक था। लोग घबरा नहीं रहे थे, बल्कि सब लड़ाईमें यथाशक्ति मदद करनेमें लग गये थे। तगड़े शरीरवाले युवक तो युद्ध-शिक्षा लेनेमें जुट गये। पर अशक्त, बूढ़े, स्त्रियां आदि क्या करें? उनके लिए भी, चाहें तो काम तो निकल ही सकता था। वे लड़ाईमें घायल होनेवालोंके लिए कपड़े वगैरा सीने-काटनेके काममें लगीं। वहां स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक क्लब है। उसकी सदस्याओंने युद्ध-विभागके लिए आवश्यक कपड़ोंमेंसे जितना हो सके उतना तैयार कर देने का भार लिया। सरोजिनीदेवी भी इस क्लबकी सदस्या थीं। उन्होंने इस काममें पूरा हिस्सा लिया। मेरा उनके साथ यह पहला ही परिचय था। उन्होंने ब्योंते हुए कपड़ोंका मेरे पास ढेर लगा दिया और जितने सिल सकें उतने सी-सिलाकर उनके हवाले कर देनेको कहा। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत किया और घायलोंकी सेवाकी शिक्षाकालमें जितना कुछ हो सका तैयार कराके उन्हें दे दिया।

: ३९ :

धर्मकी समस्या

युद्धमें काम करनेके लिए हम कुछ लोगोंने इकट्ठे होकर सरकारको अपने नाम दिये है, यह खबर दक्षिण अफ्रीका पहुंचते ही तुरन्त मरे नाम वहांसे दो तार आये। उसमें एक पोलकका था। उसमें पूछा गया था--"आपका यह काम क्या आपके अहिसाके सिद्धातके विरुद्ध नही है ?"

ऐसे तारकी मुझे कुछ उम्मीद तो थी ही, क्योंकि इस विषय-पर मैंने 'हिद स्वाराज्य' में चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीकामें मित्रोंके साथ तो इसकी चर्चा बराबर होती ही रहती थी। युद्धकी अनीति हम सभी मानते थे। अपने ऊपर हमला करनेवालोंपर जब मुकदमा चलानेको मै तैयार नही था, तो जब दो राज्योंमे युद्ध होता हो, उसके गुण-दोषका हमें पता न हो तो उसमे मै कैसे शामिल हो सकता हू ? यद्यपि बोअर-युद्धमे मेरा हिस्सा लेना मित्रोंको मालूम था, तथापि उन्होंने मान लिया था कि उसके बाद मेर विचारोंमें परिवर्तन हुआ होगा।

वास्तवमें जिस विचारसरणिके वशवर्ती होकर मै बोअर-युद्धमें शामिल हुआ था उसीका अनुसरण मैंने इस बार भी किया था। युद्धमे शामिल होना अहिसाके साथ मेल नही खाता, यह मै साफ देख रहा था, पर कर्त्तव्यका बोध सदा दीपकके प्रकाशकी भांति स्पष्ट नहीं होता। सत्यके पुजारीको बहुत बार गोते खाने पड़ते है।

अहिसा व्यापक वस्तु है। हिसाकी होलीकी लपेटमें आये हुए हम पामर प्राणी है। 'जीवहिं जीव अधार' गलत बात नहीं है। मनुष्य क्षणभर भी बाह्य हिंसाके बिना नही जी सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, सब कर्मोमें इच्छासे हो या अनिच्छासे कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। उस हिसासे निकलनेका उसका महाप्रयास हो, उसकी भावनामें केवल अनुकंपा हो, वह छोटे-से-

छोटे प्राणीका भी नाश न चाहे और यथाशक्ति उसे बचानेकी कोशिश करे, तो वह अहिंसाका पुजारी है। उसकी प्रवृत्तिमें निरंतर संयमकी वृद्धि होगी, उसमें निरंतर करुणा बढ़ती जायगी, पर कोई देहधारी बाह्य हिंसासे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

इसके सिवा अहिंसामें ही अद्वैत भावना समाई हुई है, और यदि प्राणिमात्रमें अभेद है तो एकके पापका असर दूसरेके ऊपर होना लाजिमी ही है। इस वजह से भी मनुष्य हिंसासे नितांत अछूता नहीं रह सकता। समाजमें रहनेवाला मनुष्य समाजकी हिंसामें बिना चाहे भी साझी बनता है। जब दो राष्ट्रोंके बीच युद्ध हो तब अहिंसाको माननेवाले व्यक्तिका धर्म उस युद्धको रोकना है। जो उस धर्मका पालन न कर सके, जिसमें विरोध करनेकी शक्ति न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्ध-कार्यमें शामिल हो जाय और शामिल होते हुए भी, उसे चाहिए कि उसमेंसे अपने-आपको, अपने देशको और वैसे ही जगत-को उबारनेकी दिलसे कोशिश करता रहे।

मुझे अंग्रेजी राज्यके जरिए अपनी अर्थात् अपने देशकी जनता-की स्थिति सुधारनी थी। मैं इंग्लैंडमें बैठा हुआ ब्रिटिश जंगी बेड़ेके द्वारा सुरक्षित था। उस बलका इस प्रकार उपयोग करके मैं उसमें विद्यमान हिंसकतामें सीधे-सीधे हिस्सेदार होता था। इसलिए अगर आखिरमें मुझे उस राज्यके साथ व्यवहार रखना हो, उस राज्यके झंडेके नीचे रहना हो तो या तो मुझे युद्धका खुले तौरपर विरोध करके जबतक उस राज्यकी युद्धनीति न बदले तबतक उसका सत्याग्रहशास्त्रके अनुसार बहिष्कार करना चाहिए, अथवा उसके तोड़ने योग्य कानूनोंका सविनय-भंग करके जेलका रास्ता लेना चाहिए या मुझे उसके युद्ध-कार्यमें योग देकर उसका विरोध करनेकी शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। यह शक्ति मुझमें नहीं थी। अत: मैंने माना कि मेरे सामने एक ही रास्ता—युद्धमें शरीक होनेका रह गया है। मैंने बंदूकधारी और उसकी मदद करनेवालेके बीच हिंसाकी दृष्टिसे कोई अंतर नहीं पाया।

जो आदमी डाकूदलमें उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका बोझ उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसका पहरा देने और वह घायल हो जाय तो उसकी सेवा-टहल करनेका काम करता है, वह डाकेके लिए डाकूके बराबर ही जिम्मेदार है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर सेनामें केवल घायलोंकी सेवा-टहल करनेवाला भी युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं रह सकता।

ये बातें पोलकका तार आनेके पहले ही मैं सोच चुका था। उनका तार आनेपर मैंने उसकी चर्चा कुछ मित्रोंमें की। युद्धमें शामिल होना मैंने धर्म माना और आज भी उसका विचार करता हूं तो मुझे ऊपरकी विचारधारामें कोई दोष नहीं दिखाई देता। ब्रिटिश साम्राज्यके बारेमें उस समय मेरे जो विचार थे उनका अनुसरण करते हुए मैंने युद्धकार्यमें योग दिया, उसका मुझे पछतावा भी नहीं है।

मैं जानता हूं कि अपने उपर्युक्त विचारोंका औचित्य मैं उस समय भी सब मित्रोंके निकट सिद्ध नहीं कर पाया था। प्रश्न सूक्ष्म है। उसमें मतभेदकी गुंजाइश है। इसलिए अहिंसाधर्मको माननेवालों और सूक्ष्म रीतिसे उसका पालन करनेवालोंके सामने यथासंभव स्पष्टतासे मैंने अपना मत रखा है। सत्यके आग्रहीको चाहिए कि रूढ़िसे चिपककर ही कोई काम न करे और अपने विचारसे हठपूर्वक न चिपटे। उसमें दोष होनेकी सभावना सदा माने और उस दोषका ज्ञान जब हो जाय तब चाहे जितनी बड़ी जोखिम हो, उसे उठाकर भी उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त भी करे।

: ४० :

खिलौना-सत्याग्रह

इस प्रकार धर्म समझकर मैं युद्धमें पड़ा तो जरूर, पर मेरे भाग्यमें उसमें सीधे भाग लेना नहीं लिखा था। यही नहीं, बल्कि ऐसे नाजुक वक्तमें सत्याग्रह करने तककी नौबत आ गई।

हमारे नाम मंजूर होकर दर्ज हो जानेपर हमें पूरी कवायद सिखानेको एक अधिकारीके नियुक्त किये जानेकी बातका मैं उल्लेख कर चुका हूं। हम सबकी धारणा यह थी कि यह अफसर युद्धकी तालीम देने भरको हमारा नायक है। दूसरी सब बातोंमें टुकड़ीका नायक मै हूं। अपने साथियोंके प्रति जिम्मेदारी मेरी थी और उनकी मेरे प्रति; यानी हम लोगोंका खयाल था कि उक्त अफसरको सब काम मेरी मारफत लेना चाहिए। पर जैसे पूतके पांव पालनेमें दिखाई दे जाते है, वैसे ही उस अफसरकी नजर हमें पहले ही दिनस कुछ और मालूम हुई। सोहराबजी बड़े होशियार थे। उन्होंने मुझे चेताया--"भाई, देखना। जान पड़ता है यह आदमी अपनी नवाबी चलाना चाहता है। हमें उसका हुक्म नही चाहिए। हम उसे शिक्षक मानते है, पर ये जो नवयुवक आये हैं वे भी, मै देखता हूं, हमपर हुकूमत चलाने आये है।" ये युवक आक्सफोर्डके विद्यार्थी थे और तालीमके लिए आये थे और उन्हें बड़े अफसर न हमारे नायव अफमरके रूपमें नियुक्त कर दिया था। सोहराबजीने जो बात कही वह मेरी निगाहमें भी आ चुकी थी। मैंने सोहराबजीको सांत्वना दी और बेफिक्र रहनेको कहा। पर सोहराबजी झट माननेवाले आदमी नहीं थे।

वह हंसते हुए बोले--"आप सीधे है। ये लोग मीठी-मीठी बातें करके आपको ठगेंगे और जब आपको होश होगा, तब आप कहेंगे--चलो, सत्याग्रह करो, और फिर आप हमें हैरान करेंगे।"

मैंने जवाब दिया--"मेरा साथ करके हैरानीके सिवा आपने कभी और कुछ भी पाया है? और सत्याग्रही तो ठगे जानेको को ही तो पैदा होता है न? इसलिए भले ही ये साहब मुझे खुशीसे ठग लें। आपसे मैंने हजारों बार नही कहा है कि अन्तमें ठगनेवाला ही ठगाता है।"

सोहराबजी खिलखिलाकर हंस पड़े। "अच्छी बात है, तो ठगाते रहिए। किसी दिन सत्याग्रहमें मरियेगा और अपने साथ हम-जैसोंको भी ले डूबियेगा।"

स्वर्गीय मिस हाब हाउसके शब्द मुझे याद आ रहे हैं, जो असहयोग आन्दोलनके अवसरपर उन्होंने मुझे लिखे थे। "आपको सत्यके लिए किसी दिन फांसीपर चढ़ना पड़े तो मुझे अचरज न होगा। भगवान आपको सीधे ही रास्ते ले जायं और आपकी रक्षा करें।"

सोहराबजीके साथ ये बातें उक्त अफसरके गद्दीनशीन होनेके बादके आरम्भकालमें हुई थी। आरम्भ और अन्तके बीचका अन्तर थोड़े ही दिनोंका था। पर इस बीच मुझे पसलीकी सूजनकी गहरी शिकायत पैदा हो गई। चौदह दिनके उपवासके बाद मेरा शरीर ठीक तौर परसे पनप नही पाया था; पर कवायदमें मैं डटकर हिस्सा लेने लगा था और अक्सर घरसे कवायदके स्थानतक पैदल जाता था। दो मीलका फासला तो जरूर ही था। इसका नतीजा यह हुआ कि अन्तमें मुझे खाट पकड़नी पड़ी।

इस दशामें भी मुझे औरोंके साथ कैंपमें जाना पड़ा था। दूसरे लोग वहां रहते और मै शामको घर वापस लौट आता। यही सत्याग्रहका प्रसग उपस्थित हो गया।

अफसरने अपनी शान दिखाना शुरू किया। उसने साफ बता दिया कि वह हर बातमें हमारा अफसर है। अपनी अफसरीके दो-चार पदार्थ-पाठ भी उसने हमें पढ़ा दिये। सोहराबजी मेरे पास पहुचे। वह यह नवाबी बर्दाश्त करनेको तैयार न थे। उन्होंने कहा—"सब हुक्म आपकी मारफत ही मिलने चाहिए। अभी तो हम लोग शिक्षण-शिविरमें है और हर मामलेमें बेहूदा हुक्म निकला करते हैं। उन युवकोंमें और हममें अनेक बातोंमें भेद रखा जा रहा है। यह सब सह्य नहीं है। इसकी सफाई तुरन्त हो जानी चाहिए, अन्यथा हमारे काममें बाधा पड़ जायगी। ये सब विद्यार्थी और अन्य लोग जो इस काममें शामिल हुए है, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त करनेको तैयार नहीं है। आत्म-सम्मानकी रक्षाके लिए उठाये हुए काममें अपमान ही सहन करना पड़े, यह नहीं हो सकता।"

मैं अफसरके पास गया। मेरे पास आई हुई सब शिकायतें उसे सुनाई। उसने एक पत्रमें सब शिकायतें लिखकर देनेको कहा और साथ-साथ अपने अधिकारकी बात भी कही। उसने कहा--"शिकायत आपकी मारफत नहीं होनी चाहिए। वह नायब अफसरोंकी मारफत सीधे मेरे पास आनी चाहिए।"

मैंने जवाबमें कहा--"मुझे अधिकार नहीं चाहिए। सैनिक रीतिसे मै तो साधारण सिपाही ही कहा जाऊंगा, पर हमारी टुकड़ीके नायब की हैसियतसे आपको मुझे उनके प्रतिनिधिरूपमें स्वीकार करना चाहिए।" मैने अपने पास आई हुई शिकायतें भी बताई--"उप-नायक हमारी टुकड़ीसे पूछे बिना बना दिये गए हैं और उनके विषयमें बड़ा असंतोष फैला हुआ है। अत: वे हटा दिये जायं और टुकड़ीको अपना अफसर चुननेका अधिकार दिया जाय।"

यह बात उसके गले नहीं उतरी। उसने मुझे बताया कि इन उप-नायकोंको टुकड़ी चुने यह बात ही सैनिक नियमके विरुद्ध है और ये हटा दिये जायं तो आज्ञापालनका नामनिशान भी नहीं रह जायगा।

हमने सभा की। सत्याग्रहके गंभीर परिणाम सामने रखे। लगभग सबने सत्याग्रहकी शपथ ली। हमारी सभाने यह प्रस्ताव किया कि यदि वर्तमान नायक न हटाये जायंगे, और टुकड़ीको नया नायक चुनने न दिया जायगा तो हमारी टुकड़ी कवायदमें और कैंपमें जाना बन्द कर देगी।

मैंने अफसरको एक पत्र लिखकर अपना घोर असंतोष प्रकट किया और जताया कि मुझे अधिकार नहीं भोगना है, मुझे तो सेवा करनी है और यह काम सांगोपांग पूरा करना है। मैंने उसे यह भी बतलाया कि बोअर-युद्धमें मैंने कोई अधिकार नहीं लिया था, फिरभी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ीके बीच कभी किसी तकरारकी नौबत नहीं आई, और वह मेरी टुकड़ीकी इच्छा मेरी मारफत जानकर ही सब बातें करते थे। पत्रके साथ अपनी

टुकड़ीके पास किये हुए प्रस्तावकी नकल भी भेज दी।

अफसरपर इसका कोई असर न हुआ। उसे तो लगा कि हमारी टुकड़ीने सभा करके प्रस्ताव किया यही सैनिक नियमका गंभीर भंग था।

इसके बाद मैंने भारत-मंत्रीको एक पत्र लिखकर सारी हकीकत जता दी और अपनी सभाका प्रस्ताव भेजा।

भारत-मंत्रीने मुझे जवाबमें सूचित किया कि दक्षिण अफ्रीका-की स्थिति भिन्न थी। यहां तो टुकडीके बड़े अफसरको उप-नायक चुननेका हक है, फिर भी भविष्यमें वह अफसर आपकी सिफारिश-का ध्यान रखेगा।

इसके बाद तो हमारा पत्र-व्यवहार बहुत हुआ, पर वे सारे कटु अनुभव देकर मैं इस प्रकरणको बढाना नहीं चाहता। पर इतना कहे बिना तो नही रहा जा सकता कि जो अनुभव हमें रोज हिन्दुस्तानमें होते रहते है, वे वैसे ही थे।

अफसरने धमकीसे, जोड़-तोड़से हममें फूट डाली। कुछ शपथ ले चुकनेपर भी छल या बलके वशमें आ गए। इतनेमें नेटली अस्पतालमें अनसोची संख्यामें घायल सिपाही आ पहुंचे और उनकी सेवा-शुश्रूषाके लिए हमारी सारी टुकड़ीकी जरूरत हुई। अफसर जिन्हें खींच सका था वे तो नेटली गये, पर दूसरे नही गये। यह इंडिया आफिस को अच्छा नहीं लगा। मैं तो खाटपर था, पर टुकड़ीके लोगोंसे मिलता रहता था। मि० राबर्ट्ससे मेरी अच्छी जान-पहचान हो गई थी। वह मुझसे मिलने आये और जो बाकी बचे थे उन्हें भेजनेका आग्रह किया। उनका सुझाव था कि वे अलग टुकड़ीके रूपमें जायं। नेटली अस्पतालमें तो टुकड़ीको वहांके मुखियाके अधीन रहना होगा। इसलिए मानहानि नहीं होगी। सरकारको उनके जानेसे संतोष होगा और भारी संख्या में आये हुए घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा होगी। मेरे साथियोंको और मुझे यह सलाह पसंद आई और बचे हुए विद्यार्थी भी नेटली गये। एक मैं ही हाथ मलता हुआ बिस्तरे पर पड़ा रहा।

: ४१ :

गोखलेकी उदारता

विलायतमें मुझे पसलीका वरम होनेकी बात लिख चुका हूं। इस रोगके समय गोखले विलायत आ चुके थे। उनके पास मैं और केलनबैक हमेशा जाया करते थे। बहुत करके लड़ाईकी ही चर्चा होती। जर्मनीका भूगोल केलनबैककी जबानपर था और उन्होंने यूरोपकी यात्रा भी खूब की थी। इससे गोखलेको नक्शा खींचकर युद्धके मुख्य स्थान बताया करते। मेरी बीमारी भी चर्चाका एक विषय बन गई। मेरे खूराकके प्रयोग तो चल ही रहे थे। उस वक्तकी मेरी खूराक मूंगफली, कच्चे और पके केले, जैतूनका तेल, टमाटर और अंगूर वगैरा थी। दूध-अनाज, दाल आदि बिलकुल न लेना था। मेरी तीमारदारी जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने दूध पीने और अनाज खानेका जबरदस्त आग्रह किया। शिकायत गोखलेतक पहुंची। फलाहारके पक्षमे मेरी दलीलके लिए उनके मनमें कुछ आदर न था। वह इस बातपर जोर देते थे कि आरोग्यकी रक्षाके लिए डाक्टर जो कहे वह लेना चाहिए।

गोखलेके आग्रहको टालना मेरे लिए कठिन बात थी। उन्होंने जब बहुत जोर दिया तब मैंने सोचनेके लिए चौबीस घंटेकी मुहलत मांगी। मैं और केलनबैक घर आये। रास्तेमें, मेरा कर्त्तव्य क्या है इस विषयमें, उनसे चर्चा की। मेरे प्रयोगमें वह साथी थे। उन्हें ये प्रयोग भाते भी थे, पर मुझे उनका रुख यह दिखाई दिया कि अपने स्वास्थ्यकी खातिर मैं उसे छोड़ दूं तो अच्छा है। उनकी यह वृत्ति मैंने समझ ली; अब अपने अन्तर्नाद-को सुनना-समझना था।

सारी रात विचारमें बिताई। जो मैं मारे प्रयोग छोड़ दूं तो मेरे किये हुए समस्त विचार धूलमें मिले जा रहे है। उन विचारोंमें मुझे कहीं भूल न दिखाई देती थी। अब खयाल यह था

कि कहांतक गोखलेके प्रेमके अधीन होना धर्म है अथवा शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोगोंका कहांतक त्याग कर्त्तव्य है। इससे मैंने निश्चय किया कि इन प्रयोगोंमेंसे जो प्रयोग केवल धर्मकी दृष्टिसे किया जा रहा हो उस पर तो जमे रहना और बाकी सब बातोंमें डाक्टरकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। दूधके त्यागमें धर्म-भावना मुख्य थी। कलकत्तेमें गाय-भैंसपर फूंकेके जो जुल्म होते थे वे मेरे सामने नाच रहे थे। जैसे मांस वैसे जानवरका दूध भी मनुष्यकी खूराक नही है, यह बात भी मेरे सामने थी। इससे दूधके त्यागपर दृढ़ रहनेका निश्चय करके मै सबेरे उठा। इतने निश्चय-से मेरा मन बहुत हल्का हो गया। गोखलेका डर था, पर यह विश्वास था कि वह मेरे निश्चयका आदर करेंगे।

शामको नेशनल लिबरल क्लबमें हम उनसे मिलने गये। उन्होंने तुरन्त सवाल किया—"क्यों डाक्डरका कहना माननेका निश्चय कर लिया ?"

मैंने धीरे-से जवाब दिया—"मै सब करूंगा, पर एक बातका आग्रह आप न करें। दूध और दूधकी बनी हुई चीज अथवा मांस मै नही लूंगा। मेरा मन कहता है कि उन्हें न लेनेमें शरीर चला जाय तो उसे जाने देना धर्म है।"

गोखलेने पूछा—"यह आपका अन्तिम निर्णय है ?"

मैंने जवाब दिया—"मै समझता हूं कि मै दूसरा जवाब नही दे सकता। मैं जानता हूं कि आपको इससे दुःख होगा। पर मुझे क्षमा कीजियेगा।"

गोखलेने कुछ दुःखसे, पर बड़े प्रेमसे कहा—"आपका निश्चय मुझे पसद नही है। इसमें मैं धर्म नही देखता, पर अब मै आग्रह नही करूंगा।" यह कहकर जीवराज मेहताकी ओर मुड़कर उन्होंने कहा—"अब गांधीको तंग न कीजिएगा। वह जो कहते हैं उसके अन्दर रहकर आप जो दे सकते हों दीजिएगा।"

डाक्टरने नाखुशी जाहिर की, लेकिन लाचार हो गये। मुझे मूंगका पानी लेनेकी सलाह दी। उसमें हींगका बघार देनेको

कहा। मैंने इसे मंजूर कर लिया। एक-दो दिन यह खूराक ली। उससे मेरी तकलीफ बढ़ी। मुझे वह मआफिक नहीं आई। इससे मैं फिर फलाहारपर आया। डाक्टरने बाहरी उपचार तो किये ही। उससे थोड़ा आराम मिलता था, पर मेरे बंधनोंसे वह बहुत घबराते थे। इस बीच गोखले लन्दनका अक्तूबर-नवम्बरका कुहरा सहन न कर सकनेके कारण देश जानेको रवाना हो गये।

: ४२ :

दर्दके लिए क्या किया ?

पसलीका दर्द मिट नही रहा था, इससे मैं घबराया। औषधोपचारसे नही, बल्कि खुराकके फेर-फार और कुछ बाहरी उपचारसे दर्द जाना ही चाहिए, इतना जानता था।

सन् १८९० में अन्नाहारी और खूराकके मार्फत बीमारियोंका इलाज करनेवाले डाक्टर एलिन्सनसे मै मिला था। उन्हें मने बुलाया। वह आए। उन्हे शरीर दिखाया और दूधके बारमें अपनी आपत्तिकी बात कही। उन्होंने मुझे तुरन्त ढाढस दिया और कहा—"दूधकी कोई आवश्यकता नही है, और मुझे तो तुम्हे कुछ दिनों बिना किसी चिकनाईके ही रखना है।" फिर पहले तो मुझे सिर्फ रूखी रोटी और कच्चे साग और फल बतलाए। कच्ची तरकारियोंमें मूली, प्याज और इसी तरहके कंद तथा हरी तरकारियां और फलोंमें खास तौरसे नारंगी लेनेको कहा। ये तरकारियां कद्दू कसपर कसकर या चटनी बनाकर खानी थीं। इस तरह कोई तीन दिन चला। पर कच्चे साग बहुत मुआफिक नहीं पड़े। मेरा शरीर ऐसा न था कि इस प्रयोगकी पूरी परीक्षा कर सकूं, और ऐसी श्रद्धा भी न थी। इसके सिवा उन्होंन चौबीसों घंटे खिड़कियां खुली रखने, रोज गुनगुने पानीसे नहाने, दर्दवाले भागपर तेल-मालिश करने और पाव-आध घंटा खुली हवामें घूमनेकी सलाह दी। यह सब मुझे रुचा। घरमें फ्रेंच तरीकेकी

खिड़कियां थीं। उन्हें पूरा खोल देनेसे बारिशका पानी अन्दर आता था। ऊपरी रोशनदान खुलनेवाला नहीं था। इससे उसका पूरा शीशा तुड़वाकर उससे चौबीसों घंटे हवा आनेका सुभीता कर लिया। फ्रेंच खिड़कियां इतनी खुली रखता कि बौछार न आये।

यह सब करनेसे तबीयत कुछ सुधरी। बिलकुल अच्छी तो नहीं हुई। कभी-कभी लेडी सिसिलिया राबर्ट्स मुझे देखने आती थी। उनसे अच्छा परिचय था। उनकी मुझे दूध पिलानेकी प्रबल इच्छा थी। वह मैं लेता न था, इससे दूधके गुण रखनेवाले पदार्थों-की उन्होंने तलाश की। उनके किसी मित्रने उन्हें माल्टेड मिल्क बताया और अनजानमें कह दिया कि इसमें दूधका स्पर्शतक नहीं होता। यह रासायनिक प्रयोगसे तैयार की हुई दूधके गुणवाली बुकनी है। मैं जान गया था कि लेडी राबर्ट्सको मेरी धर्म भावना के प्रति बड़ा आदर था। इससे मैंने उस बुकनीको पानीमें मिलाकर पिया। मुझे उसमें, दूधका सारा स्वाद आया। मैंने 'पानी पी घर पूछनेवाली' कहावत की। बोतलपरका चिट पढने-पर मालूम हुआ कि यह तो दूधसे ही बनाई हुई चीज है। इसलिए एक ही बार पीनेपर उसे छोड़ना पड़ा। लेडी राबर्ट्सको सूचित किया और लिखा कि आप तनिक भी फिक्र न करें। वह जल्दी-जल्दी मेरे यहां आई और खेद प्रकट किया। उनके मित्रने बोतल-परका लेबल पढ़ा ही न था। मैंने इस भली बहनको आश्वासन दिया और इसके लिए उनसे माफी मांगी कि उनकी कष्ट करके लाई हुई चीजका मैं उपयोग न कर सका। यह भी जता दिया कि अनजानमें मैंने बुकनी ले ली है, इसके लिए मुझे कोई पछतावा नहीं है, न प्रायश्चित्तकी जरूरत है।

लेडी राबर्ट्सके साथके जो और मधुर स्मरण हैं उन्हें मैं छोड़ देना चाहता हूं। ऐसे स्मरण बहुत हैं, जिनका महान् आश्रय अनेक विपत्तियों और विरोधोंमें मुझे मिल सका है। श्रद्धालु ऐसे मधुर स्मरणोंमें यह पाता है कि ईश्वर दु:खरूपी कड़वी दवा देता

है तो उसके साथ मैत्रीके मीठे अनुपान भी जरूर देता है।

डाक्टर एलिन्सन जब दूसरी बार देखने आये तो उन्होंने अधिक स्वतन्त्रता दी और चिकनाईके लिए सूखे मेवे अर्थात् मूंगफली आदिकी गिरीका मक्खन या जैतूनका तेल लेनेको कहा। कच्चे साग न रुचें तो उन्हें पकाकर भातके साथ खानेकी सलाह दी। यह सुधार मुझे बहुत अनुकूल पड़ा।

पर दर्द जड़से न गया। सावधानीकी जरूरत तो थी ही। खाट न छोड़ सका। डाक्टर मेहता समय-समयपर आकर देख ही जाया करते थे। "मेरा इलाज कीजिए तो अभी अच्छा कर दूं", यह तो सदा उनकी जबानपर रहता था। यह सब हो रहा था कि इतनेमें एक दिन मि० राबर्ट्स आ पहुंचे और उन्होंने देश जानेका आग्रह किया। "इस हालतमें आप नेटली कदापि न जा सकेंगे। कड़ी सर्दी तो अभी आगे पड़ेगी। मेरा तो आपसे विशेष अनुरोध है कि आप अब देश जायं और वहां अच्छे हों। तबतक लड़ाई चलती रही तो मदद करनेके बहुत मौके आपको मिलेंगे। अन्यथा आपने यहां जो किया है उसे मैं कम नहीं मानता।"

मैंने यह सलाह मान ली और देश जानेकी तैयारी की।

: ४३ :

रवाना

मि० केलनबैक हिन्दुस्तान जानेके निश्चयसे मेरे साथ निकले थे। विलायतमें हम साथ ही रहते थे। पर लड़ाईकी वजहसे जर्मनोंपर कड़ी नजर रखी जाती थी; अत: केलनबैकके साथ आ सकनेके संबंधमें हम सबको संदेह था। उनके लिए पासपोर्ट पानेकी मैंने बड़ी कोशिश की। मि० राबर्ट्स स्वयं उनके लिए पासपोर्ट दिला देनेको तैयार थे। उन्होंने सारी बातें तारसे वाइसरायको सूचित कीं, पर लार्ड हार्डिंगका सीधा और दो टूक जवाब आया—"हमें खेद है, इस समय ऐसी कोई जोखिम उठानेको

हम तैयार नहीं हैं।" हम सबने इस जवाबका औचित्य समझा। केलनबैकके वियोगका दुःख मुझे तो हुआ ही, पर मैंने देखा कि उन्हें मुझसे भी अधिक हुआ है। वह हिन्दुस्तान आ पाते तो आज एक सुंदर किसान और बुनकरका सादा जीवन बिताते होते। अब वह दक्षिण अफ्रीकामें अपना असली जीवन बीता रहे हैं और गृहनिर्माण-कला-संबंधी व्यवसाय धड़ल्लेसे चला रहे हैं।

हमने तीसरे दरजेका टिकट लेनेकी कोशिश की, पर पी० एंड० ओ० के जहाजमें तीसरे दरजेका टिकट न मिलता था, इससे दूसरे दरजेका लेना पड़ा। दक्षिण अफ्रीकासे साथ बांधकर लाया हुआ कुछ फलाहारका सामान, जो जहाजमें न मिल सकता था, साथ ले लिया था। और चीजें तो जहाजमें मिल जाती थीं।

डा० मेहताने शरीरको मीड्ज प्लास्टरकी पट्टीसे बांध दिया था, और उसे बंधे रहने देनेकी सिफारिश की थी। मैंने दो दिन तो उसे बरदाश्त किया, पर आगे न सह सका। इस-लिए थोडी मेहनतसे उसे उतार दिया और नहाने-धोने लगा। खानेमें तो खास तौरसे सूखे मेवे और ताजे फल ही लेने लगा। तबीयत दिन-दिन सुधरती गई और स्वेज नहरमें पहुंचते-पहुचते तो बहुत अच्छी हो गई। शरीर निर्बल था, फिर भी मेरा डर चला गया और मै धीरे-धीरे रोज थोड़ी कसरत बढाता गया। मुझे जान पडा कि यह शुभ परिवर्तन केवल शुद्ध और शीतोष्ण पवनका प्रसाद है।

पिछले अनुभवके कारण हो या चाहे जिस कारणसे, पर अंग्रेज यात्रियोंमें और हम लोगोंमें मैंने जो फर्क यहां पाया वह दक्षिण अफ्रीकासे आते हुए भी न पाया था। वहां भी फर्क तो था, पर यहां कुछ और ही तरीका दिखाई दिया। किसी-किसी अंग्रेजके साथ बातें होतीं, लेकिन वह 'साहब सलामत' भरको ही। हृदयकी भेंट नहीं हुई। स्टीमरमें और दक्षिण अफ्रीकामें हृदयकी भेंट हो पाई थी। इस भेदका कारण मैंने यही समझा कि इन जहाजों-पर अंग्रेजोंके मनमें 'मैं शासक हूं' और हिन्दुस्तानियोंके मनमें

'मैं पराधीन हूं' की भावना जाने-अनजाने काम कर रही थी।

ऐसे वातावरणमेंसे जल्दी निकलने और देश पहुंचनेको मैं उतावला हो रहा था। अदन पहुंचनेपर कुछ घर पहुंच जानेकासा भास हुआ। अदनवालोंके साथ हमारा समुचित संबंध दक्षिण अफ्रीकामें जुड़ गया था; क्योंकि भाई कैकोबाद कावसजी दीनशा डरबन हो आये थे, और उनसे तथा उनकी पत्नीसे मेरा अच्छा परिचय हो चुका था। थोड़े ही दिनोंमें हम बंबई पहुंचे। जिस देशमें १९०५ में ही लौटनेकी आशा रखता था, वहां दस बरस बाद पहुंच पानेपर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। बंबईमें गोखलेने स्वागत इत्यादिका आयोजन कर रखा था। उनकी तबीयत नाजुक थी, फिर भी बंबई आ गये थे। उनसे भेंट करने, उनके जीवनमें समाकर, अपने ऊपरसे भार उतार डालनेकी हविससे मैं बंबई पहुंचा था, पर विधाताने मेरे लिए दूसरा ही कुछ सोच रखा था।

: ४४ :

वकालतके कुछ संस्मरण

हिन्दुस्तानमें आनेके बाद मेरा जीवन कैसे प्रवाहित हुआ इसका वर्णन आरम्भ करनेके पहले दक्षिण अफ्रीकाके जीवनके जिन भागोंको मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया था, उनका कुछ अंश यहां दे देना जरूरी मालूम होता है। कुछ वकील दोस्तोंने वकालतके दिनोंके और वकीलके रूपमें हुए अनुभवोंके संस्मरण सुनानेकी मांग की है। ये स्मरण इतने अधिक हैं कि उन्हें सुनाने बैठूं तो उन्हींकी एक किताब बन जाय, ऐसे वर्णन मेरी निश्चित की हुई मर्यादासे बाहर पड़ते हैं। पर कुछको, जिनका संबंध सत्यसे है, देना शायद अनुचित न होगा।

जहांतक मुझे याद है, मैं यह तो बता चुका हूं कि वकालतके पेशेमें मैंने कभी झूठसे काम नहीं लिया और मेरी वकालतका बड़ा भाग केवल सेवाके लिए ही अर्पित था। और उसके लिए

जेबखर्चके सिवा मैं कुछ न लेता था। कितनी ही बार वह भी छोड़ देता था। मैंने मान रखा था कि इतनी प्रतिज्ञा इस विभागके लिए काफी है, पर मित्रोंकी मांग उससे आगे जाती है। वे मानते है कि यदि मै सत्यके पालनके प्रसंगोंका जैसा-तैसा भी वर्णन दे दूं तो वकीलोंको उसमेंसे कुछ जानने लायक मिल जायगा।

मै विद्यार्थी-अवस्थामें भी सुनता था कि वकालतके पेशेमें झूठ बोले बिना नहीं चल सकता। मुझे तो झूठ बोलकर न तो पद लेना था और न पैसा। इसलिए इन बातोंका असर मुझपर न पड़ता था।

दक्षिण अफ्रीकामें इसकी परीक्षा तो बहुत बार हुई थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षीके गवाह सिखाये हुए हैं और मैं तनिक भी मुवक्किल या गवाहको झूठ बोलनेको उत्साहित कर दूं तो मुवक्किलका मुकदमा डिग्री हो जायगा। पर मैंने सदा इस लोभको दूर रखा। ऐसे एक ही मौकेकी मुझे याद है जब मुवक्किलका मुकदमा जीतनेके बाद मुझे यह शक हुआ कि मुवक्किलने मुझे धोखा दिया है। मेरे अन्तरमें भी सदा यही रहता था कि यदि मुवक्किलका मुकदमा सच्चा हो तो वह जीत जाय और झूठा हो तो हार जाय। मेहनताना लेनेमें मैंने हार-जीतपर मेहनतानाकी दर कभी ठहराई हो, इसकी याद मुझे नही है। मुवक्किल हारे चाहे जीते, मैं तो सदा मेहनताना ही मांगता था और जीत होनेपर भी उसीकी आशा रखता था। मुवक्किलसे पहले ही कह देता था--"झूठा केस हो तो मेरे पास मत आना। गवाहको सिखाने-पढ़ानेकी तो मुझसे उम्मीद ही न रखना।" अन्तमें मेरी साख तो ऐसी हो गई कि झूठे मुकदमें मेरे पास आते ही न थे। एसे मुवक्किल भी मेरे पास थे जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें जरा भी खोट-खराबी होती उन्हें दूसरे वकीलके पास ले जाते थे।

एक अवसर ऐसा आया, जब मेरी बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। मेरे अच्छे-से-अच्छे मुवक्किलोंमेंसे एकका यह मुकदमा था। उसमें

बहीखातेकी बड़ी उलझनें थीं। मुकदमा बड़ा लंबा चला था। उसके कुछ-कुछ हिस्से अनेक अदालतोंमें गये थे। अन्तमें अदालतके चुने हुए हिसाब जाननेवाले पंचोंको उसका हिसाबी हिस्सा सौंपा गया था। पंचके फैसलेमें मेरे मुवक्किलकी पूरी जीत थी, पर उसके हिसाबमें एक छोटी किन्तु गंभीर भूल रह गई थी। जमा-खर्चकी रकम पंचके दृष्टिकोणसे इधरकी उधर ले ली थी। प्रति-पक्षीने पंचका यह फैसला रद करनेकी दरख्वास्त दी। मुवक्किलकी ओरसे मैं छोटा (जूनियर) वकील था। बड़े वकीलने पंचकी भूल देखी थी, पर उनका मत था कि पंचकी भूल कबूल करना मुवक्किलका फर्ज नहीं है। उनकी पक्की राय थी कि अपने प्रतिपक्षीकी किसी बातको कबूल करनेके लिए कोई वकील मजबूर नहीं है। मैंने कहा, "इस मुकदमेमें जो भूल है, वह स्वीकार की जानी चाहिए।"

बड़े वकीलने कहा, "ऐसा होनेपर इस बातका पूरा डर है कि अदालत सारे फैसलेको ही रद कर दे और ऐसी जोखिममें मुवक्किलको कोई होशियार वकील नहीं डालेगा। मैं तो यह जोखिम उठानेको कभी तैयार नहीं हो सकता। मुकदमा फिरसे चलाना पड़े तो मुवक्किल कितने खर्चमें पड़ेगा और कौन कह सकता है कि आखिरी नतीजा क्या होगा?"

इस बातचीतके समय मुवक्किल उपस्थित था। मैंने कहा—"मैं तो समझता हूं कि मुवक्किलको और हमें दोनोंको यह जोखिम तो उठानी ही चाहिए और हमारे स्वीकार न करनेपर भी अदालत भूलभरे फैसलेको भूल मालूम होनेपर बहाल रखेगी, इसीका क्या भरोसा है? और भूल सुधारनेमें मुवक्किलको नुकसान उठाना भी पड़े तो क्या हर्ज होगा?"

बड़े वकीलने कहा—"लेकिन हम गलती मानें तब न?"

मैंने जवाब दिया—"हमारे भूल स्वीकार न करनेपर भी अदालत भूल न पकड़ेगी या विरोधी पक्ष भी पता नहीं लगायेगा, इसका भी क्या भरोसा है?"

बड़े वकीलने दृढ़तासे पूछा––"तो इस मुकदमेमें आप बहस करेंगे ? भूल कबूल करनेकी शर्तपर मैं उसमें हाजिर रहनेको तयार नही ।"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा––"यदि आप न खड़े हों और मुवक्किल चाहे तो मैं खड़ा होनेको तैयार हूं । जो भूल कबूल न की जाय तो मैं समझता हूं मुझसे इस मुकदमेमें काम होना असंभव है ।

इतना कहकर मैंने मुवक्किलकी ओर देखा । मुवक्किल जरा उलझनमें पड़ा । मुकदमेमें मैं तो शुरूसे ही था । मुवक्किलका विश्वास मुझपर पूरा था । मेरे स्वभावसे भी पूरी तरहसे वाकिफ था । उसने कहा––"ठीक है, तब आप ही आदालतमें पैरवी करें । भूल कबूल कर लें । हारना नसीबमें होगा तो हार जायंगे । सच्चेका रखवाला तो राम है न ?''' मुझे खुशी हुई । मैंने दूसरे जवाबकी उम्मीद ही न रखी थी । बढ़े वकीलने मुझे फिर चेताया और मेरे 'हठ' के लिए मुझपर तरस खाया और धन्यवाद भी दिया ।

अदालतमें क्या हुआ, यह आगे बताया जायगा ।

: ४५ :

चालाकी ?

अपनी सलाहके औचित्यके विषयमें मुझे तनिक भी शंका नहीं थी, पर उस मुकदमेकी पूरी पैरवी करनेकी अपनी योग्यताके संबंधमें बहुत शंका थी । ऐसे जोखिमवाले मामलेमें बड़ी अदालतमें मेरा बहस करना मुझे बहुत जोखिमभरा लगा । इससे मनमें कांपते-कांपते मैं न्यायाधीशके सामने उपस्थित हुआ । ज्योंही उक्त भूलकी बात निकली कि एक न्यायाधीश बोल उठे–– "यह चालाकी नहीं कहलायेगी ?"

मैं जल-भुन गया । जहां चालाकीकी गंधतक नहीं थी वहां चालाकीका शक होना असह्य लगा । मैंने मनमें सोचा––"जहां

पहलेसे ही जजका खयाल बिगड़ा हुआ है, वहां यह मुश्किल मुकदमा कैसे जीता जा सकता है ?"

अपने गुस्सेको दबाया और शांत होकर जवाब दिया—"मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बात सुननेके पहले ही चालाकी का इलजाम लगाते है !"

जजने कहा—"मैं इलजाम नही लगाता । केवल शंका करता हूं ।"

मैंने जवाब दिया—"आपकी शंका ही मुझे आरोपरूप लगती है । मैं अपनी हकीकत समझा लूं और फिर शंकाकी गुंजाइश हो तो आप जरूर शंका करें ।"

जजने शांत होकर कहा—"मुझे खेद है कि मैंने आपको बीच-में ही रोका । आप अपनी बात समझाकर कहिए ।"

मेरे पास स्पष्टीकरणके लिए पूरा-पूरा मसाला था । शुरूमें ही शंका पैदा हुई और जजका ध्यान मैं अपनी दलीलकी ओर खींच सका, इससे मुझमें हिम्मत आ गई और मैंने मामला ब्योरेवार समझा दिया । जजोंने उसे धैर्यपूर्वक सुना और वे समझ गए कि भूल अनवधानतावश ही हुई है और बड़े परिश्रमसे तैयार किया हुआ हिसाब रद करना मुनासिब न: मालूम हुआ ।

प्रतिपक्षीके वकीलको तो विश्वास ही था कि भूल स्वीकार लनेके बाद उन्हें ज्यादा बहस करनेकी जरूरत नही रह जाती; पर जज ऐसी स्पष्ट और सुधर सकनेवाली भूलको लेकर पंचका फैसला रद करनेको बिलकुल तैयार न थे । प्रतिपक्षी वकीलने बहुत माथापच्ची की, पर जिस जजको शंका पैदा हुई थी वही मेरे हिमायती बन बैठे ।

जज बोले—"मि० गांधीने गलती कबूल न की होती तो आप क्या करते ?"

"जिस हिसाब-विशेषज्ञको हमने नियुक्त किया है उससे अधिक होशियार या ईमानदार विशेषज्ञ हम कहांसे लाएं ?"

"हमें मानना चाहिए कि आप अपने मुकदमेको अच्छी तरह

समझते हैं। किसी भी हिसाबके अनुभवीसे जो गलती हो सकती है उसके अलावा कोई दूसरी गलती अगर आप न बता सकें तो कायदे की एक मामूली-सी गलतीके लिए दोनों पक्षोंको नये सिरेसे खर्चमें डालनेको अदालत तैयार नहीं हो सकती। और अगर आप कहें कि यही अदालत यह मुकदमा नये सिरेसे सुने तो यह मुमकिन न होगा।"

इस और इस तरहकी दूसरी दलीलोंसे प्रतिपक्षीके वकीलको शांत करके भूल सुधारकर अथवा इतनी भूल सुधार कराकर फिर फैसला देनेका हुक्म पंचोंको देकर अदालतने उस सुधरे हुए फैसलेको बहाल रखा।

मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुवक्किल और बड़े वकील खुश हुए और वकालतके काममें भी सत्यकी रक्षा करते हुए काम हो सकता है, मेरी यह धारणा दृढ हो गई।

पर पाठकोंको यह बात याद रखनी चाहिए कि पेशेके लिए की हुई वकालतमात्रके मूलमें जो दोष विद्यमान है उसे यह सत्य-की रक्षा ढांक नहीं सकती।

: ४६ :

मुवक्किल साथी हो गये

नेटाल और ट्रांसवालकी वकालतमें यह फर्क था कि नेटालमें एडवोकेट और एटर्नीका भेद होनेपर भी, दोनों सब अदालतोंमें समान रूपसे वकालत कर सकते थे और ट्रांसवालमें बंबईका-सा भेद था। वहां मुवक्किल-संबंधी सारा व्यवहार एडवोकेट-एटर्नीकी मारफत ही कर सकता है। नेटालमें मैंने एडवोकेटकी सनद ली थी, ट्रांसवालमें एटर्नीकी। एडवोकेट रहकर हिन्दुस्तानियोंके साथ मेरा सीधा संबंध नहीं हो सकता था और गोरे एटर्नी मुझे मुकदमे दें, ऐसा वातावरण दक्षिण अफ्रीकामें नहीं था।

ट्रांसवालमें इस तरह वकालत करते हुए मैजिस्ट्रेटके इजलास-

पर बहुत बार मैं जा सकता था। ऐसा करते हुए एक अवसर तो ऐसा आया कि जब विचाराधीन मुकदमेमें मैंने देखा कि मेरे मुवक्किलने तो मुझे ठगा था। उसका मुकदमा झूठा था। वह कटघरेमें खड़ा कांप रहा था मानों गिर पड़ता हो। इससे मैंने मैजिस्ट्रेटको मुवक्किलके खिलाफ फैसला देनेको कहा और बैठ गया। प्रतिपक्षीका वकील दंग रह गया। मैजिस्ट्रेट खुश हुआ। मुवक्किलको मैंने उलाहना दिया। उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता। उसने यह बात कबूल की और मैं मानता हूं कि मैंने खिलाफ फैसला मांगा, इसके लिए वह नाराज नहीं हुआ। जो हो, पर मेरे बर्तावका बुरा असर मेरे धंधेपर नहीं हुआ और अदालतमें मेरा काम आसान हो गया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्य-पूजासे वकील-बंधुओंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी और विचित्र सयोगोंके होते हुए भी उनमेंसे कितनोंकी प्रीति मैं संपादन कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने एक यह आदत भी डाल ली थी कि अपना अज्ञान मैं न मुवक्किलसे छिपाता था, न वकील से। जहां-जहां मैं समझ न पाता वहां-वहां मुवक्किलको दूसरे वकीलके पास जानेको कहता या वह मुझे रखे तो अधिक अनुभवी वकीलसे सलाह लेकर काम करनेको कहता था। इस सरल व्यवहारके कारण मुवक्किलोंका मैं असीम प्रेम और विश्वास प्राप्त कर सका था। बड़े वकीलके पास जानेसे जो फीस देनी पड़ती उसके पैसे भी वे खुशीसे देते थे।

इस विश्वास और प्रेमका पूरा-पूरा लाभ मुझे सार्वजनिक काममें मिला। पिछले प्रकरणोंमें मैं बता चुका हूं कि दक्षिण अफ्रीकामें वकालत करनेका हेतु केवल लोकसेवा था। इस सेवाके लिए भी मुझे लोगोंका विश्वास संपादन करनेकी आवश्यकता थी। उदार हृदयके भारतीयोंने पैसा लेकर की हुई वकालतको भी सेवारूप माना और मैंने जब उन्हें उनके हकोंके लिए जेलके कष्ट उठानेकी सलाह दी तो उनमेंसे बहुतेरोंने उस सलाहका स्वीकार

ज्ञानपूर्वक करनेकी बजाय मेरे ऊपर उनकी जो श्रद्धा और प्रेम था उसके दबावमें पड़कर किया था।

यह लिखते हुए वकालतके ऐसे अनेक मधुर स्मरण मेरी कलमपर आ रहे हैं। सैकड़ों मुवक्किल न रहकर दोस्त हो गये थे। सार्वजनिक सेवामें मेरे सच्चे साथी बन गये थे और मेरे कठिन जीवनको उन्होंने सरस बना दिया था।

: ४७ :

मुवक्किल जेलसे कैसे बचा ?

पारसी रुस्तमजीके नामसे तो इन प्रकरणोंके पाठक भली-भांति परिचित हैं। वह एक ही समयमें मेरे मुवक्किल और सार्वजनिक काममें साथी बने अथवा उनके बारेमें यह भी कहा जा सकता है कि वह पहले साथी बने और फिर मुवक्किल। उनका विश्वास मैंने इस सीमातक प्राप्त किया था कि अपनी निजी और घरेलू बातोंमें भी वह मेरी सलाह लेते और उसका अनुसरण करते थे। उन्हें बीमारी होती तो भी मेरी सलाहकी जरूरत जान पड़ती और हमारी रहन-सहनमें बड़ा फरक होनेपर भी वह अपने-आपपर मेरे ही इलाज आजमाते थे।

इन साथीपर एक बार भारी विपत्ति आ पड़ी। यद्यपि अपने व्यापारकी बहुत-सी बातें मुझसे किया करते थे, फिर भी एक बात तो उन्होंने मुझसे छिपा रक्खी थी। पारसी रुस्तमजी जकात (चुंगी) की चोरी किया करते थे। वह बंबई-कलकत्तेसे माल मंगाया करते थे। इसीके सिलसिलेमें यह चोरी चलती थी। सब अधिकारियोंसे उनका अच्छा मेलजोल था, इससे कोई उनपर शक नहीं करता था। जो बीजक वह पेश करते उसीपर चुंगी ले ली जाती। ऐसे भी अधिकारी रहे होंगे कि जो उनकी चोरीकी ओरसे आंखें बंद भी कर लेते होंगे।

पर अखा भगतकी वाणी कहीं गलत हो सकती है ?

"काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरी नुं धन ।"[1]

पारसी रुस्तमजीकी चोरी पकड़ी गई। दौड़े मेरे पास आये। आंखोंसे आंसू बह रहे थे और वह कह रहे थे—"भाई ! मैंने आपसे कपट किया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया। मैंने जकातकी चोरी की है। अब मरे भाग्यमें तो जेल ही है। और मैं तो बरबाद होनेवाला हूं। इस आफतसे तो आप ही मुझे बचा सकते है। मैंने आपसे कुछ भी नही छिपाया। पर व्यापारकी चोरीकी बात आपसे क्या कहनी है, यह-सोचकर मैंने यह चोरी छिपा रखी। अब पछताता हू।"

मैंने धीरज देकर कहा—"मेरा तरीका तो आप जानते हैं। छुड़वाना न छुड़वाना तो खुदाके हाथ है। अपराध स्वीकृत करके छुड़ाया जा सके तभी मै छुड़वा सकता हूं।"

इन भले पारसीका चेहरा उतर गया।

रुस्तमजी सेठ बोले —"लेकिन मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना काफी नही है ?"

मैंने धीरे-से जवाब दिया—"आपने अपराध तो सरकारका किया और कबूलते हैं मेरे सामने, तो इससे क्या होता है ?"

पारसी रुस्तमजीने कहा—"मुझे अंतमें करना तो है वही, जो आप कहते है, पर मेरे पुराने वकील है उनकी सलाह तो लीजियेगा न ? वह मेरे मित्र है ?"

जांचसे मालूम हुआ कि चोरी बहुत दिनोंसे चलती थी। पकड़ी गई चोरी तो थोड़ी ही थी। पुराने वकीलके पास हम लोग गये। उन्होंने केसकी जांच की। वकीलने कहा—"यह मामला जूरीके सामने जायगा। यहांके जूरी हिन्दुस्तानीको कहां छोड़नेवाले हैं ? पर मै आशा तो नही छोड़ता।"

इस वकीलसे मेरा अधिक परिचय नही था। पारसी रुस्तमजीने जवाब दिया—"आपको धन्यवाद देता हू, पर इस मामलेमें मुझे मि० गांधीकी सलाहके अनुसार चलना है। वह मुझे

[1] कच्चा पारा खाना और चोरीका धन खाना एक-सा है।

ज्यादा जानते हैं। आप इन्हें जो सलाह जरूरी हो देते रहियेगा।"

इस मामलेको यों निबटाकर हम रुस्तमजी सेठकी दुकानपर गये। मैंने समझाया कि मै इस मामलेको अदालतमें जानेलायक नहीं मानता। मुकदमा चलाना न चलाना जकातके अफसरके हाथमें है। उसे भी सरकारके मुख्य वकीलकी सलाहके अनुसार चलना होगा। मैं दोनोंसे मिलनेको तैयार हूं। पर मुझे तो जिस चोरीके बारेमें वे नहीं जानते उसको भी स्वीकार करना पड़ेगा। मै सोचता हूं कि जो दंड वे ठहरायें उसे कबूल कर लेना चाहिए। बहुत करके तो वह मान जायंगे। पर शायद न मानें तो जेलके लिए तैयार रहना होगा। मेरा तो मत है कि लज्जा जेलमें नहीं है, बल्कि चोरी करनेमें है। लज्जाका काम तो हो चुका। जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त समझिएगा। सच्चा प्रायश्चित्त तो अब आगे जकातकी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञामें है।

रुस्तमजी सेठ इन बातोंको ठीक तौरसे समझ गये, यह मैं नही कह सकता। वह बहादुर आदमी थे, पर इस वक्त हिम्मत हार गये थे। उनकी इज्जत जानेका वक्त आ गया था और उन्हें यह भी डर था कि कहीं उनकी अपनी मेहतनसे बनाई हुई इमारत ढह न जाय।

वह बोले—"मै आपसे कह चुका हूं कि मरी गर्दन आपके हाथमें है। आपको जैसा करना हो वैसा कीजिये।"

मैंने इस मामलेमें अपनी सारी विनयकी शक्ति लगा दी। मैं अधिकारीसे मिला। सारी चोरीकी बात निर्भय होकर उससे कह दी। सब कागज-पत्र दिखा देनेको कहा और पारसी रुस्तमजीके पश्चात्तापकी बात भी कही। अफसरने कहा—"मुझे यह वृद्ध पारसी भला लगता है। उसने बेवकूफी तो की ही है, पर मेरा फर्ज तो आप जानते हैं। मुझे तो बड़े वकील जैसा कहेंगे वैसा करना है। अत: अपनी समझानेकी शक्तिका उपयोग आपको उनके सामने करना है।"

मैंने कहा—"पारसी रुस्तमजीको अदालतमें घसीटनेपर

जोर न दिया जाय तो मुझे संतोष हो जायगा।"

इस अधिकारीसे अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकीलसे पत्र-व्यवहार आरंभ किया। उनसे मिला। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्यप्रियता उनकी निगाहमें आ गई। मैंने उनके सामने सिद्ध कर दिया कि मैं कुछ छिपा नहीं रहा हूं।

इसमें या किसी दूसरे मामलेमें उनसे साबिका पड़नेपर उन्होंने मुझे प्रमाण-पत्र दिया था--"मैं देखता हूं कि आप 'ना' में जवाब तो लेनेवाले ही नहीं हैं।"

रुस्तमजी पर मुकदमा नही चला। उनकी कबूल की हुई जकातकी चोरीके दूने रुपये लेकर मुकदमा उठा लेनेका हुक्म निकल गया।

रुस्तमजीने अपनी जकात-चोरीकी कहानी लिखकर शीशेमें मढ़वा ली और अपने दफ्तर में टांगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारियोंको चेतावनी दी।

रुस्तमजी सेठके व्यापारी मित्रोंने मुझे चेताया--"यह सच्चा वैराग्य नहीं है, श्मशान-वैराग्य है।"

इसमें कितनी सच्चाई थी, यह मैं नहीं जानता, यह बात भी मैंने रूस्तमजी सेठसे कही थी। उनका जवाब यह था--"आपको धोखा देकर मैं कहां जाऊंगा?"

चौथा भाग संपूर्ण

पांचवां भाग

: १ :

पहला अनुभव

मेरे देशमें आनेके पहले फिनिक्ससे जो लोग वापस आनेवाले थे वे आ पहुंचे थे। हिसाबसे तो मैं उनसे पहले पहुंचनेवाला था, लेकिन लड़ाईकी वजहसे मैं लंदनमें रुक गया था। इसलिए मेरे सामने यह एक सवाल था कि फिनिक्सवासियोंको कहां रखूंगा। मेरे मनमें यह था कि सब साथ ही रह सकें और फिनिक्स-आश्रमका जीवन बिता सकें तो अच्छा है। किसी आश्रम-संचालकको मैं जानता न था कि उन्हें वहां जानेको लिख सकूं। इससे मैंने उन्हें लिखा कि वे एंड्रूजसे मिलें और वह जैसी सलाह दें वैसा करें।

वे पहले कांगड़ी गुरुकुलमें रखे गये, जहां स्वर्गीय श्रद्धानंदजीने उन्हें अपने बच्चोंकी भांति रखा। इसके बाद वे शांतिनिकेतनमें रखे गये। वहां कविवर और उनके समाजने उनपर इसी प्रकार प्रेम बरसाया। इन दो स्थानोंमें उन्हें जो अनुभव मिला वह उनके लिए और मेरे लिए भी बहुत उपयोगी साबित हुआ।

कविवर, श्रद्धानंदजी और श्री सुशील रुद्रको मैं एंड्रूजकी 'त्रिमूर्त्ति' मानता था। दक्षिण अफ्रीकामें वह (एंड्रूज) इन तीनोंकी सराहना करते थकते ही न थे। हमारे दक्षिण अफ्रीकाके स्नेह-सम्मेलनके अनेक स्मरणोंमें यह तो मेरी आंखोंके सामने फिरा ही करता है कि इन तीन महापुरुषोंके नाम सदा उनके हृदयमें और होंठपर रहते थे। सुशील रुद्रके पास भी एंड्रूजने मेरे बच्चोंको रखा था। रुद्रके पास आश्रम नहीं था, अपना घर ही था। पर उस घरका कब्जा उन्होंने मेरे इस कुटुंबको सौंप दिया

था। उनके लड़के-लड़की इनके साथ एक ही दिनमें ऐसे मिल-जुल गये कि उन्हें फिनिक्स भूल गया।

मैं जब बंबई बंदरपर उतरा तभी मुझे खबर मिली कि उस समय यह कुटुंब शांतिनिकेतनमें था। अतः गोखलेसे मिलकर मैं वहां जानेको अधीर हो गया था।

बंबईमें अभिनंदन स्वीकार करनेमें ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ गया। मि० पेटिटके यहां मेरे स्वागतमें जलसा किया गया था। वहां तो मेरी हिम्मत गुजरातीमें जवाब देनेकी न हुई। इस महलमें और आंखोंमें चकाचौंध पैदा करने-वाले वैभवमें गिरमिटियोंके सहवासमें रहा हुआ मैं अपने मनमें देहाती-सा लगा। आजकी मेरी पोशाककी तुलनामें उस समय पहना हुआ कुरता, साफा वगैरा अपेक्षाकृत सुधरा हुआ पहनावा कहा जायगा, फिर भी मैं इस सजे-ब्रजे समाजमें अलग-सा लग रहा था। पर ज्यों-त्यों वहां तो मैंने अपना काम निभाया और फीरोजशाह मेहताकी गोदमें आश्रय लिया।

इसके बाद गुजराती भाई जलसा किये बिना कब माननेवाले थे। स्व० उत्तमलाल त्रिवेदीने इसका आयोजन किया था। इस उत्सवका कुछ कार्यक्रम मैंने पहले से जान लिया था। मि० जिना भी गुजराती होनेके नाते उसमें उपस्थित थे। वह अध्यक्ष थे या प्रधान वक्ता, यह मैं भूल गया हूं। पर उन्होंने अपना संक्षिप्त और मधुर भाषण अंग्रेजीमें किया। मेरी धुंधली स्मृतिके अनुसार अन्य भाषण भी बहुत करके अंग्रेजीमें ही हुए। अब मेरे बोलनेकी बारी आई तो मैंने उत्तर गुजरातीमें ही दिया और गुजराती तथा हिन्दुस्तानीके प्रति अपना पक्षपात मैंने थोड़े शब्दोंमें प्रकट करके, गुजरातियोंकी सभामें अंग्रेजीके उपयोगके प्रति अपना नम्र विरोध दिखाया। मेरे मनमें ऐसा करनेमें हिचक तो थी ही। मुझे शंका हो रही थी कि लंबी मुद्दतकी गैरहाजिरीके बाद परदेशसे लौटा हुआ अनुभवहीन आदमी चलते, प्रवाहके विरुद्ध जाय इसमें कहीं अविवेक तो नहीं है। पर गुजराती में उत्तर देनेकी मैंने हिम्मत

की, इसका किसीने उलटा अर्थ नहीं लगाया और सबने मेरा विरोध सहन कर लिया, यह देखकर मुझे खुशी हुई। इस सभाके अनुभवसे मैंने यह नतीजा निकाला कि अपने नए जान पड़नेवाले दूसरे विचारोंको जनताके सामने रखनेमें मुझे अड़चन नहीं पड़ेगी।

इस प्रकार बंबईमें दो-एक दिन रहा और आरंभिक अनुभव लेकर मैं गोखलेकी आज्ञासे पूना गया।

: २ :

गोखलेके साथ पूनामें

मेरे बंबई पहुंचते ही गोखलेने मुझे खबर दी--"गवर्नर तुमसे मिलना चाहते हैं और अच्छा हो कि पूना आनेके पहले तुम उनसे मिलते जाओ।" अत: मैं उनसे मिलने गया। साधारण बातें करनेके बाद उन्होंने कहा--"आपसे मैं एक वचन मांगता हूं। मैं यह चाहता हूं कि सरकारके बारेमें आपको कुछ करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातें कर लें।"

मैंने जवाब दिया--"यह वचन देना मेरे लिए बहुत आसान है, क्योंकि सत्याग्रहीकी हैसियतसे मेरा यह नियम ही है कि किसीके खिलाफ कोई कदम उठाना हो तो पहले तो उसका दृष्टिबिंदु उसीसे समझ लूं, और उसके जितना अनुकूल होना संभव हो उतना हो जाऊं। दक्षिण अफ्रीकामें इस नियमका मैंने सदा पालन किया है, और यहां भी वैसा ही करनेवाला हूं।"

लार्ड विलिंग्डनने धन्यवाद दिया और कहा--"जब मिलना हो तब आप मुझसे तुरंत मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुरी बात करना नहीं चाहती।"

मैंने जवाब दिया--"यही विश्वास तो मेरा सहारा है।" मैं पूना पहुंचा। वहांके सब संस्मरण देनेमें मैं असमर्थ हूं। गोखलेने और भारत-सेवक-समितिके सदस्योंने मुझे अपने प्रेमसे सराबोर कर दिया। जहांतक मुझे याद है, सब सदस्योंको उन्होंने पूना

बुलवाया था। सबके साथ अनेक विषयोंपर दिल खोलकर मेरी बातें हुई। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसायटीमें शामिल हो जाऊं। मेरी इच्छा तो थी ही। पर सदस्योंको ऐसा जान पड़ा कि सोसायटीके आदर्श और उसके काम करनेका ढंग मुझसे भिन्न था। इसलिए मुझे सदस्य होना चाहिए या नहीं, इस विषयमें उन्हें शंका थी। गोखलेका खयाल था कि मुझमें अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेका, जितना आग्रह है उतना ही दूसरोंके आदर्शको निभा लेनेको और उनके साथ मिल जानेका स्वभाव है। उन्होंने कहा--"हमारे सदस्य अभी तुम्हारे इस निभानेवाले स्वभावको पहचान नहीं पाये हैं। वे अपने आदर्शपर अविचल रहनेवाले, स्वतंत्र और पक्के विचारवाले हैं। मैं उम्मीद तो रखता ही हूं कि वे तुम्हें स्वीकार करेंगे। पर स्वीकार न करें तो यह न समझना कि उनका तुम्हारे प्रति कम प्रेम या आदर है। इस प्रेमको अखंडित रखनेके लिए ही वे कोई जोखिम उठाते डरते हैं। पर तुम सोसायटीके नियमित सदस्य बनो या न बनो, मैं तो तुम्हें सदस्य ही मानूंगा।'

मैंने अपना विचार उन्हें बता दिया था। सोसायटीका सदस्य बनूं या न बनूं, मुझे एक आश्रम स्थापित करके उसमें फिनिक्सके साथियोंको लेकर बैठ जाना था। गुजराती होने के नाते गुजरातके द्वारा सेवा करनेकी मेरे पास अधिक पूंजी होनी चाहिए, इस खयालसे गुजरातमें कहीं स्थिर होनेकी मेरी इच्छा थी। गोखलेको यह विचार पसंद आया। इसमें उन्होंने कहा--

"आप यह जरूर करें। सदस्योंके साथ बातचीतका नतीजा चाहे जो हो, पर आपको आश्रमके लिए पैसा मुझसे ही लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम मानूंगा।"

मेरा हृदय फूल उठा। पैसा इकट्ठा करनेके झंझटसे मुझे मुक्ति मिली, यह सोचकर मैं तो बहुत खुश हुआ और अब मुझे अपनी जिम्मेदारीपर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हर कठिनाईमें मेरे लिए एक रहनुमा होगा, इस विश्वाससे जान पड़ा मानो मेरे सिरसे बोझ उतर गया हो।

गोखलेने स्व० डाक्टर देवको बुलाकर कह दिया--"गांधी-का खाता अपने यहां खोल लो और उन्हें उनके आश्रमके लिए और उनके सार्वजनिक कामोंके लिए जितने रुपये जरूरी हों आप देते रहें।"

अब मैं पूना छोड़कर शांतिनिकेतन जानेकी तैयार कर रहा था। अंतिम रातको गोखलेने अपने खास दोस्तोंकी मुझे पसंद आने लायक पार्टी की। उसमें जो चीजें मैं खाता था वही यानी सूखे और ताजे फल ही उन्होंने मंगवाये थे। पार्टी उनके कमरेसे चंद कदमके फासलेपर थी। उसमें भी आने लायक उनकी हालत नहीं थी। पर उनका प्रेम उन्हें कैसे पड़ा रहने देता? उन्होंने आनेका आग्रह किया। आये तो जरूर, पर उन्हें मूर्च्छा आ गई और वापस जाना पड़ा। ऐसा उन्हें जब-तब हो जाया करता था। इससे उन्होंने यह संदेशा भेजा कि हमें पार्टी तो जारी रखनी ही है। पार्टीके मानी थे सोसायटीक आश्रममें मेहमान-घरके पासके आंगनमें जाजम बिछाकर बैठना। मूंगफली, खजूर वगैरा खाना और प्रेमभरी चर्चा करना और एक-दूसरेके हृदयको अधिक जानना।

पर यह मूर्च्छा मेरे जीवनके लिए साधारण अनुभव होनेवाली नहीं थी।

: ३ :

धमकी ?

अपने बड़े भाईकी विधवा पत्नी और अन्य कुटुंबियोंसे मिलने-को बंबईसे राजकोट और पोरबन्दर जाना था। वहां गया। दक्षिण अफ्रीकामें सत्याग्रह-संग्रामके सिलसिलेमें मैंने अपना पहनावा, गिरमिटिये मजदूरके ढंगका, जितना हो सकता था, उतना कर लिया था। विलायतमें भी घरमें यही पोशाक पहनता था। देशमें आकर अपना काठियावाड़का पहनावा रखना था। वह

दक्षिण अफ्रीकामें मेरे पास था। इससे बंबईमें मैं इस पहनावेमें उतर सका था। वह पहनावा था--कुरता, अंगरखा, धोती और सफेद साफा। यह सब देशी मिलके ही कपड़ेके बने हुए थे। बंबईसे काठियावाड़ तीसरे दरजेमें ही जाता था। उसमें साफा और अंगरखा मुझे जंजालरूप लगे। इससे कुरता, धोती और आठ-दस आनेकी काश्मीरी टोपी रखी। ऐसी पोशाक पहननेवाला गरीब ही समझा जाता था। इन दिनों वीरमगांव और वढ़वाणमें प्लेगके कारण तीसरे दरजेके यात्रियोंकी जांच होती थी। मुझे थोड़ा ज्वर था। जांच करनेवाले अधिकारीने हाथ देखा तो उसे गरम लगा, इसलिए मुझे राजकोटमें डाक्टरसे मिलनेकी आज्ञा दी और नाम दर्ज कर लिया।

बंबईसे किसीने तारसे सूचना भेजी होगी, इसलिए वढ़वाण स्टेशनपर वहांके प्रसिद्ध प्रजासेवक दरजी मोतीलाल मुझसे मिले थे। उन्होंने मुझसे वीरमगांवकी चुंगी-जांचकी और उससे होनेवाले कष्टोंकी चर्चा की। ज्वरकी तकलीफके कारण मेरी बातें करनेकी इच्छा कम ही थी। मैंने उन्हें थोड़ेमें ही जवाब दिया--

"आप जेल जानेको तैयार हैं ?"

बिना विचारे उत्साहमें जवाब देनेवाले अनेक युवकोंकी भांति ही मैंने मोतीलालको समझा था। पर उन्होंने बड़ी दृढ़तासे उत्तर दिया--

"हम जरूर जेलमें जायंगे, पर आपको हमें रास्ता दिखाना होगा। काठियावाड़ीकी हैसियतसे आपपर हमारा पहला हक है। आज तो हम आपको नहीं रोक सकते, पर लौटते हुए आपको बढ़वाण उतरना होगा। यहांके युवकोंका काम और उत्साह देख-कर आप खुश होंगे। हमें अपनी सेनामें आप जब चाहें भरती कर सकते हैं।"

मोतीलालपर मेरी नजर गड़ी। उनके अन्य साथियोंने उनकी तारीफ करते हुए कहा--

"यह भाई हैं तो दरजी। अपने पेशेमें कुशल हैं। इससे रोज

एक घंटा काम करके हर महीने करीब १५ रुपया अपने खर्चभरको कमा लेते हैं और बाकीका सारा समय लोकसेवामें लगाते हैं और हम सब पढ़े-लिखोंको रास्ता दिखाते और लजवाते हैं।"

बादको मुझे भाई मोतीलालको नजदीकसे जाननेका मौका मिला और मैंने देखा कि उनकी उपर्युक्त प्रशंसामें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं थी। सत्याग्रह-आश्रम स्थापित होनेपर वह हर महीने कुछ दिन तो वहां रह ही जाते। लड़कोंको सीना सिखाते और आश्रमका सिलाईका काम भी कर जाते। वीरमगांवकी बात तो मुझे रोज सुनाते। मुसाफिरोंको वहां जो तकलीफें उठानी पड़ती थीं वे उनके लिए असह्य थीं। इन मोतीलालको भरी जवानीमें बीमारी उठा ले गई और वढ़वाण उनके बिना सूना हो गया।

राजकोट पहुंचनेपर दूसरे दिन सवेरे मैं पूर्वोक्त आज्ञाके अनुसार अस्पतालमें हाजिर हुआ। वहां तो मैं अजनबी नहीं था। डाक्टर शरमाये और उक्त जांच करनेवाले कर्मचारीपर गुस्सा होने लगे। मुझे क्रोध का कोई कारण न दिखाई दिया। उस कर्मचारीने तो अपने कर्त्तव्यका पालनमात्र किया था। वह मुझे पहचानता नहीं था और पहचानता हो तो भी जो हुक्म दिया गया था उसकी तामिल करना उसका फर्ज था। पर सुपरिचित होनेके कारण राजकोटमें जांच कराने जानेके बजाय लोग घर आकर जांच करने लगे।

तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी ऐसी बातोंके लिए जांच होना जरूरी है। बड़े समझे जानेवाले आदमी भी तीसरे दरजेमें यात्रा करें तो उन्हें गरीबोंपर लगनेवाले नियमोंका स्वेच्छासे पालन करना चाहिए और अधिकारियोंको भी पक्षपात न करना चाहिए। पर मेरा अनुभव यह है कि अधिकारी तीसरे दरजेके मुसाफिरोंको आदमी समझनेके बजाय जानवर समझते हैं। तू के सिवा उनके लिए दूसरा संबोधन नहीं होता। तीसरे दरजेका मुसाफिर न सामने जवाब दे सकता है, न बहस कर सकता है। उसे इस तरह

व्यवहार करना पड़ता ह मानो वह अधिकारीका चाकर ही हो। उसे अधिकारी पीट देता है, उसे लूटता है, उसकी ट्रेन छुड़वा देता है, उसे टिकट देनेमें हैरान करता है, यह सब मैंने खुद अनुभव किया है। और इस वस्तुस्थितिमें सुधार तभी मुमकिन है जब कुछ पढ़े-लिखे और पैसेवाले गरीबों-सरीखे बनें और तीसरे दरजेमें यात्रा करके गरीब यात्रीको न मिलनेवाली एक भी सुविधा न लें और अड़चनें, अविवेक, अन्याय, बीभत्सताको चुपचाप न सहकर उनका मुकाबला करें और उन्हें दूर करायं।

काठियावाड़में मै जहां-जहां गया वहां-वहां वीरमगांवमें चुंगीकी जांचके सिलसिलेमें होनेवाली परेशानियोंकी शिकायत सुनी।

अत: अब मैंने लार्ड विलिंग्डनके दिये हुए निमंत्रणका तुरंत उपयोग किया। इस संबंधमें जितने कागज-पत्र मिले सब पढ़ गया। मैंने शिकायतोंमें बहुत तथ्य पाया। इस विषयमें बंबई-सरकारसे मैंने पत्र-व्यवहार शुरू किया। सेक्रेटरीसे मिला। लार्ड विलिंग्डनसे भी मिला। उन्होंने खेद प्रकट किया, पर दिल्लीकी ढिलाईकी शिकायत की।

सेक्रेटरीने कहा--"हमारे ही हाथकी बात होती तो हमने यह जकात कभीकी उठा दी होती। आप भारतसरकारके पास जायं।"

मैने भारत-सरकारसे लिखा-पढ़ी शुरू की, पर पत्रकी पहुंचके सिवा कोई जवाब न मिला। जब मुझे लार्ड चेम्सफोर्डसे मिलनेका अवसर मिला तब, अर्थात् लगभग दो बरस बाद, सुनवाई हुई। लार्ड चेम्सफोर्डसे जब मैंने बात की तो उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। उन्हें वीरमगांवके बारेमें कुछ मालूम न था। मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनकर उन्होंने उसी वक्त टेलीफोन करके वीरमगांवके कागज मंगाये। यदि मेरे बयानके विरुद्ध अधिकारियोंको कोई एतराज न हुआ तो चुंगी रद कर देनेका वचन दिया। इस मुलाकातके बाद कुछ ही दिनोंमें जकात उठ जानेकी खबर मैंने

अखबारमें पढ़ी ।

मैंने इस जीतको सत्याग्रहकी नीव माना, क्योंकि वीरमगांवके संबंधमें बातें करते हुए बंबई-सरकारके सेक्रेटरीने मुझसे कहा था कि मैंने इस विषयमें बगसरामें जो भाषण किया था उसकी नकल उनके पास है । उसमें सत्याग्रहके उल्लेखपर उन्होंने नाराजी भी जाहिर की । उन्होंने पूछा—

"आप इसे धमकी नहीं मानते ? और कोई शक्तिशाली सरकार कहीं धमकियोंसे डरा करती है ?"

मैंने जवाब दिया—

"यह धमकी नहीं है, यह लोकशिक्षा है । लोगोंको अपने दु:ख दूर करानेके सब वास्तविक उपायोंका बताना मुझ जैसोंका-धर्म है । जो जनता स्वतंत्रता चाहती है उसके पास अपनी रक्षाका अंतिम उपाय होना चाहिए । साधारणत: ऐसे उपाय हिंसात्मक होते हैं । सत्याग्रह शुद्ध अहिंसक शस्त्र है । उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म मानता हूं । अंग्रेज सरकार शक्तिमान है, इस विषयमें मुझे शक नहीं है । पर सत्याग्रह सर्वो-परि शस्त्र है, इस विषयमें भी मुझे शंका नहीं है ।"

चतुर सेक्रेटरीने सिर हिलाया और बोला—"अच्छा, देखेंगे ।"

: ४ :

शांतिनिकेतन

राजकोटसे मैं शांतिनिकेतन गया । वहांके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया । स्वागतकी विधिमें सादगी, कला और प्रेमका सुंदर मिश्रण था । वहीं काकासाहब कालेलकरसे मेरी पहली मुलाकात हुई ।

कालेलकर 'काकासाहब' क्यों कहलाते थे ? इसका तो उस समय मुझे पता न था । पीछे मालूम हुआ कि केशव राव देशपांडे,

जो विलायत में मेरे समकालीन थे और जिनसे मेरा वहां अच्छा परिचय हो गया था, बड़ौदा-राज्यमें 'गंगानाथ विद्यालय' चलाते थे। उनकी अनेक भावनाओंमें एक यह भी थी कि विद्यालयमें कौटुंबिक भावना होनी चाहिए। इससे सब अध्यापकोंको नाम बांटे गये थे। उनमें कालेलकरने 'काका' (चाचा) नाम पाया, फड़के 'मामा' हुए, हरिहर शर्मा 'अन्ना' हुए तथा औरोंको भी उनके योग्य नाम मिले। काकाके साथीरूपमें आनंदानंद (स्वामी) और मामाके मित्ररूपमें पटवर्धन (आप्पा) आगे चलकर इस कुटुंबमें शामिल हुए। इस कुटुंबके उपर्युक्त पांचों एक-एक करके मेरे साथी हुए। देशपांडे 'साहब' नामसे प्रसिद्ध हुए। 'साहब'का विद्यालय बंद होनेके बाद यह कुटंब बिखर गया, पर इन लोगोंने अपना आध्यात्मिक संबंध न छोड़ा। काकासाहब भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करने लगे और उन अनुभवोंके लिए ही इन दिनों शांतिनिकेतनमें रहते थे। उसी मंडलके एक दूसरे चिंतामणि शास्त्री वहां रहते थे। ये दोनों संस्कृतकी शिक्षा देनेका काम करते थे।

शांतिनिकेतनमें मेरे मंडलको अलग डेरा दिया गया था। यहां मगनलाल गांधी उस मंडलकी देखरेख कर रहे थे और फिनिक्स-आश्रमके सब नियमोंका सूक्ष्मतासे पालन करते-कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने शांतिनिकेतनमें अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योगकी बदौलत अपनी सुवास फैला दी थी। यहां एंड्रूज तो थे ही। पियर्सन थे। जगदानंदबाबू, नेपालबाबू, संतोषबाबू, क्षितिमोहनबाबू, नगेनबाबू, शरदबाबू और कालीबाबूसे भी हमारा अच्छा हेल-मेल हो गया था।

अपने स्वभावके अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकोंके साथ मिल गया और शारीरिक श्रमके विषयमें चर्चा करने लगा। मैंने सोचा, तनखाहदार रसोइया रखनेके बदले अगर शिक्षक और विद्यार्थी अपना भोजन खुद बना लें तो अच्छा हो, भोजनालयपर आरोग्य और नीतिकी दृष्टिसे शिक्षक वर्गका

अधिकार स्थापित हो जाय और विद्यार्थी स्वाश्रय और स्वयंपाकका पदार्थ-पाठ पाएं। यह बात मैंने शिक्षकोंके सामने रखी। एक-दो शिक्षकोंने सिर हिलाया। कुछको यह प्रयोग बहुत पसंद आया और लड़कोंको तो नई चीज, चाहे जो हो, भाती ही है। इससे यह भी रुची। प्रयोग शुरू हुआ। यह बात कविवरके सामने रखनेपर उन्होंने अपना मत दिया कि अगर शिक्षकगण अनकूल हों तो मुझे तो यह प्रयोग जरूर पसंद होगा। उन्होंने विद्यार्थियोंसे कहा—"इसमें स्वराज्यकी कुंजी है।"

पियर्सनने प्रयोगको सफल करनेमें जी-जानसे मेहनत की। उन्हें वह बहुत रुचा। एक मंडली साग काटनेवाली बनी, दूसरी अनाज साफ करनेवाली। रसोईघरके आसपास ठीक तरहसे सफाई रखनेमें नगेनबाबू वगैरा लगे। उन लोगोंको फावड़ा लेकर काम करते देखकर मेरा हृदय हर्षसे भर गया।

पर यह मेहनतका काम ऐसा न था कि सवा सौ लड़के और शिक्षक भी, एकबारगी बरदाश्त कर लें। इससे रोज बहस होती। कुछ लोग थके। पर पियर्सन क्यों थकने लगे? वह तो मुस्कराते हुए रसोईके किसी-न-किसी काममें लगे ही रहते थे। बड़े-बड़े बरतनोंका मांजना तो इन्हींका काम था। बरतन मांजनेवाली टुकड़ीकी थकावट दूर करनेको कुछ विद्यार्थी वहां सितार बजाते थे। हर एक कामको विद्यार्थियोंने पूरे उत्साहसे उठा लिया और सारा शांतिनिकेतन मधुमक्खियोंके छत्तेकी तरह गूंजने लगा।

इस प्रकारके फेरफार एक बार आरंभ होकर फिर रुकते नहीं। फिनिक्स-भोजनालय स्वाश्रयी था। यही नहीं, बल्कि उसमें रसोई बहुत सादी भी थी। मसालोंका त्याग था। इससे भापसे भात, दाल, साग और गेहूंकी चीजें भी पका ली जाती थीं।

पर अंत में कुछ कारणोंको लेकर यह प्रयोग बंद हो गया। मैं मानता हूं कि इस जगद्विख्यात संस्थाने यह प्रयोग थोड़े दिनोंके लिए भी चलाकर कुछ गंवाया नहीं और उससे प्राप्त कुछ अनुभव उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुए।

मेरा इरादा शांतिनिकेतनमें कुछ दिन रहनेका था, पर विधाता मुझे जबरदस्ती घसीट ले गये। मैं मुश्किलसे एक सप्ताह रहा होऊंगा कि पूनासे गोखलेके देहावसानका तार मिला। शांतिनिकेतन शोकमें डूब गया। मेरे पास सब मातमपुरसी करने आये। मंदिरमें विशेष सभा हुई। यह गंभीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूनाके लिए रवाना हुआ। साथ पत्नीको और मगनलालको लिया। बाकी सब लोग शांतिनिकेतन में रहे।

एंड्रूज बर्दवानतक मेरे साथ आये। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको ऐसा लग रहा है कि आपको हिन्दुस्तानमें सत्याग्रह करना पड़ेगा? और लगता हो तो कबतक, इसकी कुछ कल्पना होती है?"

मैंने उत्तर दिया, "इसका जवाब देना कठिन है। मुझे एक साल तो कुछ करना ही नहीं है। गोखलेने मुझसे वचन लिया है कि मैं एक सालतक भ्रमण करता रहूं, किसी सार्वजनिक प्रश्नपर राय न कायम करूं और न उसे प्रकट करूं। इस वचनका मैं अक्षरशः पालन करना चाहता हूं। उसके बाद किसी प्रश्न पर मेरा बोलना जरूरी होगा तभी बोलूंगा। अतः, पांच साल तक सत्याग्रह करनेका अवसर आता मुझे नहीं दिखाई देता।"

यहां इतना बता देना उचित होगा कि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने जो विचार दरसाये हैं, उनका गोखले मजाक उड़ाया करते थे और कहते थे, "एक साल हिन्दुस्तानमें रहकर देख लोगे तो तुम्हारे सब विचार अपने आप ठिकाने आ जायंगे।"

: ५ :

तीसरे दर्जेकी दुर्दशा

बर्दवान पहुंचकर हमें तीसरे दरजेका टिकट लेना था। उसे लेनेमें कठिनाई पड़ी। "तीसरे दर्जेके मुसाफिरको टिकट पहलेसे नहीं दिया जाता", यह जवाब मिला। मैं स्टेशनमास्टरके पास

गया । मुझे उनके पास कौन जाने देता ? किसीने दया करके स्टेशनमास्टरको दिखा दिया । वहां पहुंचा । उनसे भी वही जवाब मिला । खिड़की खुली तो टिकट लेने गया । पर टिकट आसानीसे मिलनेवाला न था । मजबूत मुसाफिर एकके बाद एक घुसते जाते और मुझ-जैसोंको पीछे ढकेलते जाते । अंतमें टिकट मिला ।

गाड़ी आई । वहां भी जो मजबूत थे वे घुस गये । बैठे हुओंमें और चढ़नेवालोंमें द्वंद्व मच रहा था । धक्कमधक्का चल रहा था । इसमें मैं हिस्सा लेनेमें असमर्थ था । हम तीनों इधर-से-उधर दौड़ रहे थे । सब जगह एक ही जवाब मिलता था—"यहां जगह नहीं है ।" मैं गार्डके पास गया । वह बोला, "जगह मिले तो बैठो, नहीं तो दूसरी गाड़ीमें जाना ।"

मैंने नम्रतासे कहा, "पर मुझे जरूरी काम है ।" यह सुननेके लिए गार्डके पास वक्त नहीं था । मैं निरुपाय हो गया । मगनलाल से जहां जगह मिले बैठ जानेको कहा । पत्नीको लेकर मैं तीसरे दर्जेके टिकटसे इंटरमें घुसा । गार्डने मुझे उसमें जाते देखा था ।

आसनसोल स्टेशनपर गार्ड ज्यादा किरायेके पैसे लेने पहुचा । मैंने कहा, "मुझे जगह बताना आपका फर्ज था । जगह न मिलनेकी वजहसे मैं इसमें बैठ गया । मुझे आप तीसरे दर्जेमें जगह दिलाएं तो मैं उसमें जानेको तैयार हूं ।"

गार्डसाहब बोले, "मुझसे बहस करनेकी जरूरत नहीं है । मेरे पास जगह नही है । पैसे न देने हों तो गाड़ीसे उतरना पड़ेगा ।"

मुझे तो किसी तरह पूना पहुचना था । गार्डके साथ लड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं थी । मैंने पैसे चुका दिये । उसने ठेठ पूनातकका इंटरका भाड़ा लिया । मुझे यह अन्याय अखरा ।

सवेरे मुगलसराय पहुंचा । मगनलालने तीसरे दर्जेमें जगह कर ली थी । मुगलसरायमें मैं भी तीसरे दर्जेमें गया । टिकट-कलेक्टरसे मैंने सारी कैफियत सुना दी । उससे अपनी बातका प्रमाणपत्र मांगा । उसने देनेसे इन्कार किया । मैंने अधिक

किराया वापस मिलनेके लिए रेलवेके बड़े साहबको पत्र लिखा।

"प्रमाणपत्रके बिना फाजिल किराया लौटानेका हमारे यहां रिवाज नही है, पर आपके मामलेमें हम लौटाये दे रहे हैं। बर्दवानसे मुगलसराय तकका डेवढ़ेका किराया वापस नही मिल सकता।" इस आशयका जवाब मिला।

इसके बादके मेरे तीसरे दर्जेकी यात्राके अनुभव तो इतने है कि उनकी एक पोथी बन जाय; पर उनमेंसे कुछकी चर्चा प्रसंगानुरोधसे कर देनेके अतिरिक्त इन प्रकरणोंमें वे नहीं समा सकते। शारीरिक असमर्थताके कारण मेरा तीसरे दर्जेका सफर बंद हो गया, यह बात मुझे सदा खटकती है और खटकती रहेगी। तीसरे दर्जेकी सफरमें रेलके अधिकारियोंकी नवाबीकी जिल्लत तो जरूर है, लेकिन तीसरे दर्जेमें बैठनेवाले कुछ मुसाफिरोंका उजड्डपन, उनकी गंदगी, उनकी स्वार्थ-बुद्धि और उनका अज्ञान भी साधारण नहीं होता। खेद तो यह है कि कितनी ही बार मुसाफिर यह जानते भी नहीं कि वे अशिष्टता कर रहे हैं या गंदगी फैला रहे हैं या खुदगर्जीपर उतारू हैं। जो करते हैं वह उन्हें स्वाभाविक लगता है। हम सुधरे हुओंने इसकी परवा नहीं की।

थके-मांदे कल्याण जंक्शन पहुंचे। नहानेकी तैयारी की। मगनलालने और मैंने स्टेशनके पंपसे पानी लेकर स्नान किया। पर-पत्नी के लिए कोई उपाय सोच रहा था कि इतनेमें भारत-सेवक-समितिके भाई कौलने पहचाना। वह भी पूना जा रहे थे। उन्होंने पत्नीको सेकिंड क्लासके स्नानागारमें स्नान कराने ले जानेकी बात कही। इस सौजन्यके स्वीकारमें मुझे संकोच हुआ। पत्नीको सेकिंड क्लासके स्नानागारक कमरेको काममें लानेका अधिकार नहीं था, इसका मुझे ज्ञान था। पर मैंने इस कमरेमें उसे नहाने देनेके अनौचित्यकी ओरसे आंखें मूंद लीं। सत्यके पुजारीको यह भी शोभा नहीं देता। पत्नीको वहां जानेका कोई आग्रह नहीं था। पर पतिके मोहरूप सुवर्णपात्रने सत्यको ढंक लिया।

: ६ :

मेरा प्रयत्न

पूना पहुंचकर और उत्तरक्रिया आदिसे निवृत्त हो कर हम सब इस विचारमें लगे कि सोसायटी कैसे चलाई जाय और मैं उसमें शामिल होऊं या नहीं ? मेरे ऊपर भारी बोझ आ पड़ा। गोखलेके जीते-जी मुझे सोसायटीमें दाखिल होनेका प्रयत्न करनेकी आवश्यकता न थी। मुझे तो केवल गोखलेकी आज्ञाके और इच्छाके अधीन होकर चलना था। यह स्थिति मुझे पसंद थी। भारतवर्षके तूफानी समुद्रमें कूदते हुए मुझे एक कर्णधारकी आवश्यकता थी और गोखले-सरीखे कर्णधारके नीचे मैं सुरक्षित था।

अब मुझे लगा कि मुझे सोसायटीमें दाखिल होनेक लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिए। मुझे यह भी जान पड़ा कि गोखलेकी आत्मा यही चाहती है। मैंने बिना सकोचके और दृढ़तापूर्वक यह प्रयत्न आरंभ किया। इस समय सोसायटीके लगभग सभी सदस्य पूनामें मौजूद थे। मैंने उन्हें समझाना-बुझाना और मेरे विषयमें उन्हें जो डर था उसे दूर करना शुरू किया। पर मैंने देखा कि सदस्योंमें मतभेद था। एक पक्ष मुझे दाखिल कर लेनेके पक्षमें था, दूसरा दृढतापूर्वक मेरे प्रवेशका विरोध करता था। दोनोंका मेरे प्रति जो प्रेम था उसको मैं देख सकता था। पर मेरे प्रति जो प्रेम था उसकी अपेक्षा सोसायटीकी ओर उनकी वफादारी शायद अधिक थी। उससे कम तो कदापि नहीं थी।

इससे हमारी सारी चर्चा मधुर थी और केवल सिद्धांतको लेकर चल रही थी। विरुद्ध पक्षके लोगोंको यही लगाकि अनेक विषयोंमें मेरे और उनके विचारोंमें उत्तर-दक्षिणका अंतर था। इससे अधिक उन्हें यह लगा कि जिन ध्येयोंको सामने रखकर गोखलेने सोसायटीकी रचना की थी, मेरे सोसायटीमें रहनेसे उन ध्येयोंके ही खतरेमें पड़ जानेकी पूरी संभावना थी।

बहुत विचार-बहसके बाद हम अलग हुए। सदस्योंने अंतिम

निर्णय करना दूसरी बैठकके लिए मुलतवी रखा।

घर पहुंचकर मै विचारोंके भंवरमें पड़ गया। अधिक मतोंसे मेरा दाखिल होना क्या इष्ट माना जायगा? यह गोखलेके प्रति मेरी वफादारी होगी? अगर मेरे खिलाफ मत पड़े तो क्या उसमें सोसायटीकी स्थिति विकट बनानेमें मै निमित्त नहीं बनूगा? मुझे साफ मालूम हुआ कि सोसायटीके सदस्योंमें जबतक मुझे दाखिल करनेके बारेमें मतभेद हो तबतक मुझे ही दाखिल होनेका आग्रह छोड़कर, विरोधी पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिए और इसीमें सोसायटी और गोखलेके प्रति मेरी सच्ची निष्ठा है। अंतरात्मामें ज्योंही यह निर्णय स्फुरित हुआ, मैंने तुरत श्री. शास्त्रीको पत्र लिखा कि उन्हें मेरे प्रवेशके विषयमें सभा करनेकी जरूरत नहीं है।

विरोध करनेवालोंको यह निश्चय बहुत पसंद आया। वे धर्मसंकटमेंसे बच गये। उनके और मेरे बीचकी स्नेहगांठ अधिक दृढ़ हो गई और सोसायटीमें दाखिल होनेकी अपनी दरख्वास्त वापस लेकर मै उसका सच्चा सदस्य बन गया।

अनुभवसे मै देखता हूं कि मेरा सोसायटीका रूढ़िपूर्वक सदस्य न होना उचित था और कुछ सदस्योंने मेरे दाखिलेके खिलाफ जो विरोध किया था वह वास्तविक था। अनुभवने बता दिया है कि उनके सिद्धांतोंके और मेरे सिद्धांतोंके बीच भेद था। पर मतभेद जान लेनेपर भी, हमारे बीच आत्माका अंतर कभी नहीं पड़ा, कभी तुरशी नहीं आई। मतभेद होते हुए भी हम बंधु और मित्र बने रहे हैं। सोसायटीका स्थान मेरे लिए तीर्थस्थल रहा है। लौकिक दृष्टिमें मै भले ही उसका सदस्य नही बना, आध्यात्मिक दृष्टिसे मै सभ्य रहा ही हूं। लौकिक संबंधकी अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक मूल्यवान् है। आध्यात्मिकता-रहित लौकिक संबंध प्राणरहित देहके तुल्य है।

: ७ :

कुंभ

मुझे डाक्टर प्राणजीवनदास मेहतासे मिलने रंगून जाना था। वहां जाते समय कलकत्तेमें श्री भूपेन्द्रनाथ वसुके निमंत्रणपर मैं उनके यहां उतरा था। यहां बंगाली सौजन्यकी हद हो गई थी। इन दिनों मैं फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा लड़का रामदास था। जितनी तरहके मेवे और फल कलकत्तेमें मिलते थे, जुटाये गए थे। स्त्रियोंने रातों-रात जागकर पिस्तों वगैराको भिगोकर उनके छिलके उतारे थे। ताजे फल भी जितनी सुघराईसे सजाये जा सकते हैं, सजाये गए थे। मेरे साथियोंके लिए अनेक प्रकारके पकवान तैयार किये गए थे। यह प्रेम और शिष्टाचार मेरी समझमें आया, लेकिन एक-दो मेहमानोंके लिए सारा घर सारा दिन लगा रहे, यह मुझे असह्य लगा। पर मेरे सामने इस मुसीबतसे छुटकारा पानेका कोई रास्ता न था।

रंगून जाते हुए स्टीमरमें मैं डेकका मुसाफिर था। अगर श्री बसुके यहां प्रेमकी मुसीबत थी तो स्टीमरमें अभावकी विडंबना थी। डेकके यात्रीकी तकलीफ मैंने बुरी तरह अनुभव की। नहानेकी जगह इतनी गंदगी थी कि खड़ा होना कठिन था। पाखाने नरककुंड, मल-मूत्रादिमेंसे चलकर या उसे लांघकर पाखाने जाना--ये कष्ट मेरे लिए असह्य थे। मैं जहाजके बड़े अफसरके पास पहुंचा। पर कौन सुनता है? यात्रियोंने अपनी गंदगीसे डेकको बिगाड़ डाला था। जहां बैठे थे वहीं थूकते थे, वहीं सुरती-की पीककी पिचकारियां चलाते थे। खा-पीकर वहीं जूठन' छिलके वगैरा डाल देते थे। बातचीतसे होनेवाले शोरकी हद नहीं थी। हर आदमी अधिक-से-अधिक जगह छेंक लेनेकी कोशिश करता, कोई दूसरेके सुभीतेका विचारतक न करता था। खुद जितनी जगह लेते, सामान उससे ज्यादा लेता। ये दो दिन बड़े कष्टसे काटे।

रंगून पहुंचकर मैंने एजेंटको सारा हाल लिखा। लौटते हुए भी डेकपर आया, पर इस पत्रके प्रयत्न और डाक्टर मेहताके प्रबंधके फलस्वरूप पहलेसे अधिक सुभीता रहा।

मेरे फलाहारका झंझट तो यहां भी जरूरतसे ज्यादा ही था। डाक्टर मेहतासे ऐसा संबंध था कि मैं उनके घरको अपना ही समझ सकता था। इससे मैंने पदार्थोंकी संख्या और प्रकारपर तो रोक लगा ली थी, लेकिन मैंने कोई हद नहीं बांधी थी, इससे बहुत तरह-के फल, मेवे आते थे और उनका विरोध मैं नहीं करता था। उनकी विविधता आंखों और जीभको रुचती थी। तथापि रातके आठ-नौ तो अनायास बज ही जाते थे।

इस साल--१९१५ में हरद्वारमें कुंभका मेला था। उसमें जानेकी मेरी कोई बहुत इच्छा न थी। पर मुझे महात्मा मुंशीराम-जीके दर्शनोंको तो जाना ही था। कुंभके समय गोखलेके सेवक-समाजने एक बड़ी टुकड़ी भेजी थी। उसकी व्यवस्था श्री हृदय-नाथ कुंजरूके हाथमें थी। स्वर्गीय डाक्टर देव भी उसमें थे। यह तय हुआ कि उसमें मदद करनेको हम अपनी टुकड़ी भी ले जायं। मगनलाल गांधी शांतिनिकेतनमें विद्यमान टुकड़ीको लेकर मुझसे पहले हरद्वार पहुंच गये थे। मैं रंगूनसे लौटकर उनके साथ मिल गया।

कलकत्तेसे हरद्वार पहुंचनेमें खूब परेशानी उठानी पड़ी। डिब्बोंमें कितनी ही बार रोशनीतक न होती। सहारनपुरसे तो मालगाड़ी या जानवरोंके डिब्बोंमें ही यात्रियोंको ठूंस दिया था। खुले (छतरहित) डिब्बेपर दोहपरका सूर्य तपता था और नीचे लोहेके फर्श, फिर कष्टका क्या पूछना? फिर भी भावुक हिन्दू प्याससे गला खूब सूखता होनेपर भी 'मुसलमान पानी' आता तो न पीते थे। 'हिन्दू पानी' की आवाज आती तभी पीते थे। इन्हीं भावुक हिन्दुओंको दवामें डाक्टर शराब दे, मुसलमान या ईसाई पानी दे, मांसका सत दे तो उसे लेनेमें उन्हें हिचक नहीं होती और न कुछ पूछने-जांचनेकी जरूरत होती।

हमने शांतिनिकेतनमें ही देखा था कि भंगीका काम करना तो हिन्दुस्तानमें हमारा खास पेशा हो ही जायगा। स्वयंसेवकोंके लिए किसी धर्मशालामें तंबू लगाये गये थे। पाखानोंके लिए डाक्टर देवने गड्ढे खुदवाये थे? पर उन गड्ढोंकी सफाईका इंतजाम डाक्टर देव तो ऐसे मौकेपर, जो थोड़ेसे तनखाहदार भंगी मिल सकते थे, उन्हींके जरिये करा सकते थे, इन गड्ढोंमें पड़नेवाले पाखानेको समय-समयपर ढांकते रहनेका और उसे और तरहसे साफ रखनेका काम फिनिक्सकी टुकड़ीके जिम्मे कर देनेकी मेरी प्राथना डाक्टर दवन खुशीसे स्वीकार कर ली थी। इस सेवाकी मांग करनेवाला तो मैं था, पर करनेका बोझ उठानेवाले थे मगनलाल गांधी।

मेरा काम तो एक तरहसे तंबूमें बैठकर 'दर्शन' देनेका और जो अनेक यात्री आते थे उनके साथ धर्मचर्चा और इसी तरहकी और बातचीत करना हो गया। दर्शन देते-देते मैं घबरा गया। इस कामसे एक मिनटकी भी फुरसत न मिलती थी। नहाने जाता तो भी दर्शन। दर्शनाभिलाषी मेरा पीछा नहीं छोड़ते थे। फलाहार करते समय तो एकांत मिलता ही क्यों? तंबूमें कहीं मैं एक क्षणके लिए भी अकेला बैठ न पाता था। दक्षिण अफ्रीकामें जो कुछ मुझसे सेवा हो पाई थी उसका इतना गहरा असर सारे भारतखंडमें हुआ होगा, इसका पता मुझे हरद्वारमें ही चला।

मैं तो चक्कीके पाटोंके बीच पिसने लगा। जहां पहचाना नहीं जाता वहां बतौर तीसरे दर्जेके मुसाफिरके रूपमें तकलीफें उठाता, जहां उतरता वहां दर्शनार्थियोंके प्रेमसे परेशान किया जाता। दोनोंमेंसे कौन-सी स्थिति अधिक दयनीय है यह कहना अक्सर मेरे लिए कठिन हो गया है। इतना जानता हूं कि दर्शनार्थियोंके प्रेमके प्रदर्शनसे मुझे कितनी ही बार क्रोध आया है और मनमें तो उससे अधिक बार संतप्त हुआ हूं। तीसरे दर्जेकी कठिनाइयोंसे मुझे कष्ट हुआ है, पर क्रोध शायद ही आया हो और इससे मेरी तो उन्नति ही हुई है।

इन दिनों मुझमें घूमने-फिरनेकी शक्ति अच्छी थी। इससे मैं खूब चक्कर लगा सका। उस समय इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ था कि राह चलना भी कठिन हो जाता। भ्रमणमें मैंने लोगोंकी धर्म-भावनाकी अपेक्षा उनका बौड़मपन, उनकी अस्थिरता, पाखंड और अव्यवस्था अधिक देखी। साधुओंके तो दल-के-दल टूट पड़े थे। ऐसा जान पड़ता था जैसे वे केवल खीर और मालपूआ उड़ानेको ही पैदा हुए हों। यहां मैंने पांच पैरोंवाली गाय देखी। मुझे अचंभा हुआ, पर जानकारोंने मेरा अज्ञान तुरंत दूर कर दिया। पांच परोंवाली गाय तो दुष्ट लोभियोंके लोभकी बलिरूप थी। यह पैर गायके कंधेपर इस तरह लगाते कि बछड़ेका जीता पैर काटते और गायके कंधेको चीरते फिर दोनोंको जोड़ देते और यह दोहरा कसाईपन अज्ञानी मनुष्यको ठगनेके लिए किया जाता था। पांच पैरोंवाली गायके दर्शन करनेको कौन हिन्दू होगा जो न ललचाये? उस दर्शनके लिए जितना दान दे उतना कम है।

कुंभका दिन आया। मेरे लिए यह धन्य घड़ी थी। मैं यात्राकी भावनासे हरद्वार नहीं गया था। मुझे तीर्थक्षेत्रोंमें पवित्रताकी तलाशमें जानेका मोह कभी नहीं रहा। पर सत्रह लाख आदमी पाखंडी नहीं हो सकते। मेलेमें सत्रह लाख आदमियोंके आनेका अंदाजा किया गया था। इनमें असंख्य मनुष्य पुण्य कमानेको, शुद्धि प्राप्त करनेको आये हैं, इस विषयमें मुझे शंका नहीं थी। इस प्रकारकी श्रद्धा आत्माको कितना ऊंचा उठाती होगी, यह कहना अशक्य नहीं, तो कठिन तो है ही।

बिस्तरेपर पड़ा-पड़ा मैं विचार-सागरमें गोते लगाने लगा। चारों ओर फैले हुए पाखंडमें उक्त पवित्र आत्माएं भी हैं। वे ईश्वरके दरबारमें दंडकी पात्र नहीं मानी जा सकती। जो हरद्वारमें ऐसे समय आना ही पाप हो तो मुझे प्रकटरूपसे विरोध करके कुंभके दिन तो हरद्वार छोड़ ही देना चाहिए। यदि आने और कुंभके दिन रहनेमें पाप न हो तो मुझे कोई-न-कोई कठिन

व्रत लेकर चलते हुए पापका प्रायश्चित्त करना चाहिए। मेरा जीवन व्रतोंके पायेपर रचा हुआ है, इसस कुछ कठिन व्रत लेनेका निश्चय किया। कलकत्ते और रंगूनमें मेरे लिए मेजबानोंको जो अनावश्यक परिश्रम पड़ा, उसका मुझे स्मरण आया। इससे मैंने खूराककी चीजोंकी हद बांध देनेका और अंधेरेके पहले भोजन कर लेनेका व्रत लेनेका निश्चय किया। मैंने देखा कि यदि मैं मर्यादा नहीं रखता तो मेजबानोंके लिए मै भारी मुसीबत बन जाऊंगा और सेवा करनेके बजाय हर जगह मेरी सेवामें ही लोग लगे रह जायंगे। इससे चौबीस घंटोंमें पांच चीजोंके सिवा और कुछ न खाने और रातमें भोजन न करनेका व्रत ले लिया। दोनोंकी कठिनाईका पूरा विचार कर लिया था। इन व्रतोंमें एक भी छूट न रखनेका निश्चय किया। बीमारीमें दवाके रूपमें अधिक चीजें लूं या न लू, दवाको खानेकी चीजोंमें गिनना चाहिए या नहीं, इन सब बातोंपर विचार कर लिया और निश्चय किया कि खानेका कोई भी पदार्थ पांचके ऊपर मुझे नही लेना है। इन दो व्रतोंको लिये तेरह बरस हो गये। इनसे मेरी अच्छी परीक्षा हो गई। पर जैसे मेरी परीक्षा हुई वैसे ये मेरे लिए ढालरूप भी बन गये। मेरा विश्वास है कि इन व्रतोंने मेरी जिन्दगीको बढ़ाया है। मै मानता हूं कि बहुत बार इनकी बदौलत मैं बीमारियोंसे बचा हूं।

: ८ :

लछमनझूला

पहाड़-जैसे विशाल महात्मा मुंशीरामजीके दर्शन कर और उनका गुरुकुल देखकर मुझे बड़ी शांति मिली। हरद्वारके शोरगुल और गुरुकुलकी शांतिका भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्माने मुझे प्रेमसे नहला दिया। ब्रह्मचारी मेरे पाससे हटते ही न थे। रामदेवजीकी मुलाकात भी उसी समय हुई और उनकी शक्तिका परिचय मैं तुरंत पा गया। यद्यपि हमें अपने बीच कुछ मतभेद

दिखाई दिया, फिर भी हमारी स्नेह-गांठ बंध गई। गुरुकुलमें उद्योगशिक्षाकी व्यवस्था करनेकी आवश्यकताके विषयमें रामदेव-जी तथा अन्य शिक्षकोंके साथ मैंने काफी चर्चा की। मुझे गुरुकुल तुरंत छोड़ते हुए दु:ख हुआ।

मैंने लछमनझूलेकी तारीफ बहुत सुनी थी। ऋषीकेश गये बिना हरद्वार न छोड़नेकी मुझे बहुतोंकी सलाह मिली थी। मुझे तो वहां पैदल जाना था। इससे एक मंजिल ऋषीकेशकी और दूसरी लछमनझूलेकी की।

ऋषीकेशमें अनेक संन्यासी मिलने आये थे। उनमें एककी मेरे जीवनमें गहरी दिलचस्पी पैदा हो गई। फिनिक्स-मंडल मेरे साथ था; उन सबको देखकर उन्होंने अनेक प्रश्न किये। हममें धर्मकी चर्चा हुई। उन्होंने देखा, मेरे भीतर धर्मकी तीव्र भावना है। मैं गंगा-स्नान करके आया था, अत: नंगे बदन था। मेरे सिरपर चुटिया और गले में जनेऊ न देखकर वह दु:खी हुए और मुझसे पूछा—"आप आस्तिक होते हुए भी यज्ञोपवीत और शिखा नहीं रखते, यह देखकर हम-जैसोंको दु:ख होता है। ये दोनों हिन्दू-धर्मके बाह्य चिह्न हैं और हरएक हिन्दूको इन्हें धारण करना चाहिए।"

कोई दस बरसकी उम्रमें पोरबंदरमें ब्राह्मणोंके जनेऊमें बंधी हुई चाबियोंकी झंकार मैं सुनता तो मुझे उसकी ईर्ष्या होती थी। मनमें सोचता कि झनझनाती हुई कुंजियां जनेऊमें बांधकर घूमूं तो कैसा मजा आये। काठियावाड़में वैश्यकुटुंबमें जनेऊका चलन उस समय नहीं था; पर पहले तीन वर्णोंको जनेऊ पहनना ही चाहिए, यह नया प्रचार चल रहा था। उसके फलस्वरूप गांधी-कुटुंबके कुछ आदमी जनेऊधारी हो गये थे। जो ब्राह्मण हम दो-तीन भाइयोंको रामरक्षाका पाठ सिखाता था उसने हमें जनेऊ पहनाया। और मेरे पास कुंजी रखनेका कोई कारण न होनेपर भी, मैंने दो-तीन कुंजियां लटका लीं। जनेऊ टूट गया तब उसका मोह उतर गया था या नहीं, यह तो याद नहीं है, पर मैंने

नया नहीं पहना।

बड़ी उम्र होनेपर दूसरोंने मुझे जनेऊ पहनानेका प्रयत्न हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ्रीकामें भी किया था, पर मुझपर उनकी दलीलोंका असर न हुआ। शूद्र जनेऊ न पहनें तो दूसरे वर्ण क्यों पहनें? जिस बाह्य वस्तुका चलन हमारे कुटुंबमें नहीं था उसे प्रविष्ट करनेका मुझे एक भी सबल कारण नहीं मिला था। मेरे लिए जनऊका अभाव नही था, पर उसे पहननेके कारणका अभाव था। वैष्णव होनेके कारण मैं कंठी पहनता था। शिखा तो बुजुर्ग लोग हम भाइयोंके सिरपर रखाते थे। विलायत जाते समय वहां सिर नंगा रखना होगा। गोरे उसे देखकर हँसेंगे और जंगली समझेंगे--इस शर्मसे शिखा कटा दी थी। मेरे साथ रहनेवाले मेरे भतीजे छगनलाल गांधी दक्षिण अफ्रीकामें बड़ी श्रद्धासे शिखा धारण किये हुए थे। वह शिखा उनके सार्वजनिक काममें बाधक होगी--इस वहमसे मैंने उनका मन दुखाकर भी उसे कटवा दिया था। इस प्रकार शिखाकी मुझे शर्म थी।

स्वामीको यह कैफियत सुनाकर मैंने कहा--"जनेऊ तो मैं धारण न करूंगा। अगणित हिन्दू जिसे नहीं पहनते, फिर भी हिन्दू माने जाते हैं, उसे पहननेकी जरूरत मैं नहीं देखता। इसके सिवा जनेऊ पहननेके मानी हैं, दूसरा जन्म लेना अर्थात् संकल्पपूर्वक हमें शुद्ध होना--ऊर्ध्वगामी होना चाहिए। आज हिन्दू-समाज और हिन्दुस्तानी गिरे हुए हैं। उसमें जनेऊ पहननेका हमें अधिकार ही कहां है? हिन्दूसमाज अस्पृश्यताकी गंदगी दूर कर, ऊंच-नीचकी बात भूल जाय, अपने भीतर घुसे हुए दूसरे दोषोंको हटाये, चारों ओर फैले हुए अधर्म, पाखंडको दूर करे, तब भले ही उसे जनेऊका अधिकार हो सकता है। अत: जनेऊ धारण करनेकी आपकी बात तो मेरे गले नहीं उतरती; पर शिखाविषयक आपकी बातपर मुझे जरूर विचार करना होगा। वह तो मैं रखता था। वह मैंने शर्म और डरसे कटा दी है। मुझे लगता है कि उसे धारण करना चाहिए। अपने साथियोंसे मैं इस विषयमें विचार करूंगा।

स्वामीको जनेऊविषयक मेरी दलील नहीं जंची। जो कारण मैंने न पहननेके पक्षमें दिये वे उन्हें पहननेके पक्षमें दिखाई दिये। जनेऊके विषयमें ऋषीकेशमें मैंने जो विचार प्रकट किया था, आज भी लगभग वही कायम है; जबतक भिन्न-भिन्न धर्म विद्यमान हैं, तबतक प्रत्येक धर्मको किसी विशेष बाह्य चिह्नकी शायद जरूरत हो सकती है। लेकिन जब बाह्य चिह्न केवल आडंबर हो जाय अथवा अपने धर्मको दूसरे धर्मोसे अलग और ऊंचा सिद्ध करनेका साधन बन जाय, तब वह त्याज्य हो जाता है। आज जनेऊ हिन्दू-धर्मको ऊंचे ले जानेका साधन है यह मुझे नहीं दिखाई देता, अतः उसके विषयमें मैं तटस्थ हूं। शिखाके त्यागपर मुझे खुदको शर्म आ रही थी, इससे साथियोंसे मैंने इस विषयमें चर्चा की और उसे धारण करनेका निश्चय किया। पर अब हमें लछमनझूला चलना चाहिए।

ऋषीकेश और लछमनझूलेके प्राकृतिक दृश्य बहुत पसंद आये। अपने पुरखोंकी प्रकृतिकी कलाको पहचाननेकी शक्तिके विषयमें और कलाको धार्मिक स्वरूप देनेकी उनकी दूरंदेशीके प्रति मनमें बड़ा आदर पैदा हुआ। पर मनुष्यकी कृतिको देखकर चित्तको शांति न मिली। जैसे हरद्वारमें वैसे ऋषीकेशमें लोग रास्तों और गंगाके सुंदर तटको गंदा कर डालते थे। गंगाके पवित्र जलको दूषित करते हुए भी उन्हें तनिक संकोच न होता था। पाखाने जानेवाले दूर जानेके बजाय जहां आदमियोंकी आमदरफ्त होती थी वहीं बैठ जाते थे। यह देखकर भारी चोट लगी। लछमनझूला जाते हुए लोहेका झूलता पुल देखा। लोगोंसे सुना कि यह पुल पहले रस्सियोंका था और बहुत मजबूत था। उसे तोड़कर एक उदारहृदय मारवाड़ीने बहुत रुपये लगाकर लोहेका पुल बनवा दिया और उसकी कुंजी सरकारके हवाले कर दी। रस्सियोंके पुलकी मुझे कोई कल्पना नहीं है, पर लोहेका पुल प्राकृतिक वातावरणको कलुषित कर रहा था और बहुत भद्दा लगता था। यात्रियोंके इस रास्तेकी कुंजी सरकारको सौंप दी गई। यह बात

मेरी उस समयकी वफादारीको भी असह्य लगी।

वहांसे अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रमका था। टीनके छाजन-की तबेले-जैसी कोठरियोंको 'स्वर्गाश्रम' नाम दिया गया था। मुझे बतलाया गया कि ये साधकोंके लिए बनवाई गई हैं। उनमें शायद ही कोई साधक उस वक्त रहता था। इससे सटी हुई खास इमारतमें रहनेवालोंकी भी मुझपर अच्छी छाप नही पड़ी।

पर हरद्वारके अनुभव मेरे लिए अमूल्य सिद्ध हुए। मुझे कहां बसना और क्या करना चाहिए, इसका निश्चय करनेमें हरद्वारके अनुभवोंने मेरी बड़ी सहायता की।

: ९ :

आश्रमकी स्थापना

कुंभकी यात्रा मेरी हरद्वारकी दूसरी यात्रा थी। सत्याग्रहा-श्रमकी स्थापना १९१५ ई० की २५ मईको हुई। श्रद्धानदजीकी इच्छा थी कि मै हरद्वारमें बसू। कलकत्तेके कुछ मित्रोंकी सलाह वैद्यनाथधाममें बसनेकी थी। कुछ मित्रोंका प्रबल आग्रह राजकोट-में बसनेका था।

पर जब मै अहमदाबादसे गुजरा तो अनेक मित्रोंने अहमदा-बादको चुननेपर जोर दिया और आश्रमके खर्चका बीड़ा उन्होंने उठानेका जिम्मा लिया। मकान ढूढनेका भार भी उन्होंने उठा लिया।

अहमदाबादपर मेरी नजर पहलेसे जमी थी। म जानता था कि मैं गुजराती हूं, इससे गुजराती भाषाके द्वारा देशकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूंगा। यह भी खयाल था कि अहमदाबाद पहले हाथकी बुनाईका केंद्र रहा है, इससे चरखेका काम यहीं ज्यादा अच्छी तरह हो सकेगा। यह भी आशा थी कि गुजरातका प्रधान नगर होनेकी वजहसे यहांके धनाढ्य लोग धनकी अधिक सहायता कर सकेंगे।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ हुई बातचीतमें अस्पृश्यताके प्रश्नकी चर्चा हुई थी। मैंने साफ कह दिया था कि कोई लायक अंत्यज भाई आश्रममें दाखिल होना चाहेगा तो मैं उसे जरूर दाखिल कर लूंगा।

"आपकी शर्तोंको पाल सकनेवाले अंत्यज कहां पड़े मिलते हैं?" यों कहकर एक वैष्णव मित्रने अपने मनको संतोष कर लिया और अंतमें अहमदाबादमें बसनेका निश्चय हो गया।

मकानकी तलाश करते हुए कोचरबमें श्री जीवनलाल बारिस्टरका मकान, जो मुझे अहमदाबाद बसानेमें प्रमुख थे, किराये पर लेना तै पाया।

आश्रमका नाम क्या रखा जाय यह प्रश्न तुरंत उठा। मित्रोंसे मशविरा किया। कितने ही नाम सामने आये। सेवाश्रम, तपोवन आदि सुझाये गए थे। सेवाश्रम नाम रुचता था, पर उसमें सेवाकी रीतिका परिचय नहीं मिलता था। तपोवन नाम पसंद नहीं किया जा सकता था, ; क्योंकि यद्यपि तपश्चर्या हमें प्रिय थी, फिर भी यह नाम भारी लगा। हमें तो सत्यकी पूजा, सत्यकी खोज करनी थी, उसीका आग्रह रखना था और दक्षिण अफ्रीकामें जिस पद्धतिको मैंने अपनाया था उसका परिचय भारतवर्षमें कराना था और शक्ति कितनी व्यापक हो सकती है, यह देखना था। इससे मैंने और साथियोंने सत्याग्रहाश्रम नाम पसंद किया। उसमें सेवा और सेवाकी पद्धति दोनोंका भाव अपने-आप आ जाता था।

आश्रम चलानेको नियमावलीकी आवश्यकता थी। इससे नियमावलीका मसविदा बनाकर उसपर राय मांगी। बहुसंख्यक सम्मतियोंमेंसे सर गुरुदास बनर्जीकी सम्मति मुझे याद रह गई है। उन्हें नियमावली पसंद आई, पर उन्होंने सुझाया कि व्रतोंमें नम्रता के व्रतको स्थान देना चाहिए। उनके पत्रकी ध्वनि यह थी कि हमारे युवक-वर्गमें नम्रताकी कमी है। यद्यपि नम्रताके अभावका अनुभव मुझे जगह-जगह हो रहा था, फिर भी नम्रताको व्रतमें स्थान देनेसे नम्रताके नम्रता न रह जानेका आभास होता

था। नम्रताका पूरा अर्थ तो शून्यता है। शून्यताकी प्राप्तिके लिए दूसरे व्रत करने होते हैं। शून्यता मोक्षकी स्थिति है। मुमुक्षु या सेवकके प्रत्येक कार्यमें यदि नम्रता--निरभिमानता न हो तो वह मुमुक्षु नहीं है, सेवक नहीं है। वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रममें इस समय लगभग तेरह तामिल थे। मेरे साथ दक्षिण अफ्रीकासे पांच तामिल बालक आये थे। वे और यहांके लगभग पच्चीस स्त्री-पुरुषोंसे आश्रमका आरंभ हुआ था। सब एक रसोईमें भोजन करते थे और इस तरह रहनेकी कोशिश करते थे मानो सब एक ही कुटुंबके हों।

: १० :

कसौटीपर चढ़े

आश्रमको जन्म लिये अभी कुछ ही महीने हुए थे, इतनेमें हमारी ऐसी अग्निपरीक्षा हो गई जिसकी मुझे आशंका नहीं थी। भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र आया, "एक गरीब और ईमानदार अंत्यज कुटुंब है। उसकी इच्छा आपके आश्रममें आकर रहनेकी है। उसे लेंगे ?"

मैं चौंका तो जरूर। ठक्कर बापा-जैसे पुरुषकी सिफारिश लेकर आनेवाला अंत्यज कुटुंब इतनी जल्दी आयगा, इसकी मुझे हरगिज उम्मीद न थी। साथियोंको चिट्ठी दिखाई। उन्होंने उसका स्वागत किया। भाई अमृतलाल ठक्करको लिख दिया कि वह कुटुंब आश्रमके नियमोंका पालन करनेको तैयार हो तो उसे लेनेको हम तैयार हैं।

दूदाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और बैया-बैयां चलती दूधपीती लक्ष्मी आये। दूदाभाई बंबईमें शिक्षकका काम करते थे। नियमोंका पालन करनेको तैयार थे। उन्हें आश्रममें लिया।

सहायक मित्र-मंडलमें खलबली मच गई। जिस कुएंमें बंगलेके मालिकका हिस्सा था उस कुएंसे पानी भरनेमें ही अड़चन

पड़ने लगी। चरसवालेपर हमारे पानीके छींटे पड़ जायं तो वह अपवित्र हो जाय। उसने गालियां देना और दूदाभाईको तग करना शुरू किया। मैंने सबसे कह दिया कि गालियां सहते जाओ और दृढ़तापूर्वक पानी भरते जाओ। हमें चुपचाप गालियां सुनते देखकर चरसवाला लजाया और गालियां बंद कर दी; पर पैसेकी मदद तो बंद हो गई। जिस भाईने आश्रमके नियमोंका पालन करनेवाले अंत्यजोंके प्रवेशके संबंधमें पहलेसे ही शंका की थी उसे तो आश्रममें अंत्यजके दाखिल होनेकी आशा ही न थी। पसेकी मदद बद हुई। बहिष्कारकी अफवाहें मेरे कानोंमें पड़ने लगी। मैंने साथियोंके साथ विचार कर रखा था--"यदि हमारा बहिष्कार हो और हमें कहींसे मदद न मिले तो भी अब हम अहमदाबाद न छोड़ेंगे। भंगीटोलेमें जाकर उन्हींके साथ रहेंगे और जो कुछ मिल रहेगा उसपर या मजदूरी करके गुजर करेंगे।"

अंतमें मगनलालने मुझे नोटिस दिया--"अगले महीनेमें हमारे पास आश्रमका खर्च चलानेको पैसे नही हैं।" मैंने धीरजसे जवाब दिया--"तो हम भंगीटोलेमें चलकर रहेंगे।"

मुझपर ऐसा सकट आनेका यह पहला ही मौका न था। हर वार आखिरी घड़ीमें 'सबके दाता राम' ने मदद भेज दी थी।

मगनलालके नोटिस देनेके कुछ ही दिन बाद एक दिन सवर किसी लड़केने आकर खबर दी--"बाहर मोटर खड़ी है और सेठ आपको बुला रहे हैं।" मैं मोटर के पास गया। सेठने मुझसे पूछा--"मेरी इच्छा आश्रमको कुछ मदद देनेकी है, आप स्वीकार करेंगे?" मैंने जवाब दिया--"कुछ दीजिएगा तो मैं जरूर लूंगा। मुझे उसे स्वीकार करना चाहिए क्योंकि इस वक्त मैं सकटमें भी हूं।"

"मैं कल इसी समय आऊंगा, उस वक्त आप आश्रममें होंगे ? मैंने जवाब में 'हां' कहा और सेठ चले गये। दूसरे दिन नियत समयपर मोटरका भोंपू बजा। लड़कोंने खबर दी। सेठजी अंदर नहीं आये। मैं मिलने गया। वह मेरे हाथपर १३०००

रुपयेके नोट रखकर चलते बने ।

इस मददकी मैंने कभी आशा नही रखी थी । मदद देनेकी यह रीति भी मेरे लिए नई थी । उन्होंने आश्रममें पहले कभी कदम नहीं रखा था । मुझे याद आता है कि उनसे मैं एक ही बार मिला था । न आश्रममें आना, न कुछ पूछना, बाहर-ही-बाहर पैसे देकर चलते बनना; मेरा यह पहला ही अनुभव था । इस सहायतासे भंगीटोलेमें जाना रुक गया । लगभग एक सालका खर्चा मुझे मिल गया ।

पर जैसे बाहर खलबली मची वैसे ही आश्रममें भी मची । यद्यपि दक्षिण अफ्रीकामें मेरे यहां अंत्यज आदि आते, रहते, खाते थे, पर यहां अंत्यज-कुटुंबका आना पत्नीको और आश्रमकी दूसरी स्त्रियोंको पसंद आया हो, यह नहीं कहा जा सकता । दानी बहनके प्रति नफरत तो नही, पर उसके प्रति उदासीनताकी बात मेरी सूक्ष्म आंखें देख लेती और तेज कान सुन लेते थे । पैसेकी मदद बंद हो जानेके डरने मुझे जरा भी चितामें नही डाला था । पर यह भीतरके क्षोभका सामना करना कठिन लगा । दानी बहन साधारण स्त्री थी । दूदाभाईकी शिक्षा भी साधारण थी, पर उनकी समझ अच्छी थी । उनका धीरज मुझे पसंद आया था । उन्हें कभी-कभी गुस्सा आता था, पर कुल मिलाकर उनकी सहन-शक्तिकी मुझपर अच्छी छाप पड़ी थी । छोटे-छोटे अपमान पी जानेके लिए मै दूदाभाईको समझाता था और वह समझ जाते थे और दानी बहनसे सहन करवाते थे ।

इस कुटुबको आश्रममें रखनेसे आश्रमको बहुत-से-सबक मिले हैं; और अस्पृश्यताकी आश्रममें गुंजाइश नही है, यह आरंभमें ही स्पष्ट हो जानेसे आश्रमकी मर्यादा निश्चित हो गई तथा इस दिशामें उसका काम बहुत आसान हो गया । यह होते हुए भी और आश्रमको उसका खर्च बढ़ते जाते हुए भी, वह मुख्यत: कट्टर समझे जानेवाले हिन्दुओंकी ओरसे ही मिलता आया है । यह शायद इस बातकी स्पष्ट सूचना है कि अस्पृश्यताकी जड़ अच्छी

तरह हिल गई है। इसके और सबूत तो बहुत हैं ही, पर अंत्यजके साथ जहां रोटी-तकका व्यवहार रखा जाता हो, वहां भी अपनेको सनातनी माननेवाले हिन्दू मदद दें, यह कोई छोटा प्रमाण नही माना जायगा।

इसी मसलेको लेकर आश्रममें हुई एक और सफाई, उसके सिलसिलेमें उठे हुए नाजुक प्रश्नोंका निर्णय, कुछ अकल्पित अड़चनोंका स्वागत करना इत्यादि सत्यकी खोजके सिलसिलेमें हुए प्रयोगोंका वर्णन प्रस्तुत होनेपर भी मुझे छोड देना पड़ रहा है, इसका मुझे दु:ख है। पर अब आगेके प्रकरणोंमें यह त्रुटि तो रहा ही करेगी। आवश्यक तथ्य मुझे छोड़ने पड़ेंगे, क्योंकि उनमें हिस्सा लेनेवाले पात्रोंमेसे बहुतेरे आज मौजूद है और उनकी अनुमतिके बिना, उनके नामोंका और उनके साथ घटित प्रसंगोंका स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करना अनुचित जान पड़ता है। सबकी सम्मति समय-समयपर मगवाना और उनसे संबंध रखनेवाली बातोंको उनके पास भेजकर सुधरवाना, यह हो सकनेवाली बात नही है और यह आत्मकथाकी मर्यादाके बाहरकी बात है। इससे आगेकी कथा, यद्यपि मेरी दृष्टिसे सत्यके शोधकके लिए जानने योग्य है, फिर भी मुझे डर है कि अधूरी दी जाया करेगी। इतनेपर भी असहयोगके युगतक ईश्वर पहुचने दे तो पहुंच जाऊं, यह मेरी इच्छा और आशा है।

: ११ :

गिरमिटकी प्रथा

अब समय आ गया है कि नये बसे हुए, और भीतरी-बाहरी तूफानोंमेंसे उबरे हुए आश्रमको छोड़कर गिरमिटप्रथापर थोड़ा विचार कर लिया जाय। 'गिरमिटिया' उसे कहते है जो पांच बरस या इससे कमकी मजदूरीके इकरारनामेपर सही करके हिन्दुस्तानके बाहर मजदूरी करने गया हो। ऐसे नेटाली गिरमिटियोंपरसे तीन पौंडका कर सन् १९१४ में रद्द कर

दिया गया था। पर यह प्रथा अभी बंद नहीं हुई थी। सन् १९१६में भारतभूषण पंडित मालवीयजीने यह सवाल बड़ी कौंसिलमें उठाया था और लार्ड हार्डिंगने उनका प्रस्ताव स्वीकार करके प्रकट किया था कि यह प्रथा 'वक्त आनेपर' उठा देनेका वचन सम्राट्की ओर से मुझे मिल गया है। पर मुझे तो साफ दिखाई देता था कि यह प्रथा तत्काल बद करनेका निर्णय हो जाना चाहिए। इस प्रथाको हिन्दुस्ताननें अपनी लापरवाहीसे बहुत बरसोंतक चलने दिया था। मेरा खयाल था कि अब लोगोंमें इतनी काफी जागृति हो गई है कि यह प्रथा बंद कराई जा सके। कुछ नेताओंसे मिला, कुछ अखबारोंमें इस विषयमें लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथाको निकाल देनेके पक्षमें है। इसमें सत्याग्रहका उपयोग हो सकता है, इस विषयमे तो मुझे कोई शंका नही थी पर कैसे किया जाय, यह मै नहीं जानता था।

इस बीच वाइसरायने 'वक्त आनेपर' शब्दोंका अर्थ समझानेका मौका ढूढ लिया था। उन्होंने प्रकट किया कि 'दूसरी व्यवस्था करनेमें जितना वक्त लगेगा उतने समयमें' यह प्रथा उठा दी जायगी। अत: सन् १९१७के फरवरीमें भारतभूषण पंडित मालवीयजीने गिरमिट-प्रथा तुरंत उठा देनेका कानून बड़ी कौंसिलमें पेश करनेकी इजाजत मांगी तो वाइसरायने उसे देनेसे इन्कार कर दिया। अत: इस प्रश्नको लेकर मैंने हिन्दुस्तानका दौरा शुरू किया।

भ्रमण आरंभ करनेके पहले वाइसरायसे मिल लेना मुनासिब मालूम हुआ। उन्होंने तुरंत मेरे मिलनेकी तारीख तै कर दी। उस समयके मि० मेफी (अब सर जान मेफी) उनके सेक्रेटरी थे। मि० मेफीके साथ मेरा समुचित संबंध स्थापित हो गया। लार्ड चेम्सफोर्डके साथ संतोषजनक बातचीत हुई। उन्होंने निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा, पर मुझे अपनी मददकी आशा दिलाई।

दौरेका आरंभ बंबईसे किया। बंबईमें सभा करनेका भार मि० जहांगीर पेटिटने अपने मत्थे लिया। 'इंपीरियल सिटीजन-

शिप एसोसिएशन'के नामसे सभा हुई। उसमें पेश किये जानेवाले प्रस्तावको तैयार करनेके लिए समिति बनी। उसमें डा० रीड, सर लल्लूभाई शामलदास, मि० नटराजन आदि थे। मि० पेटिट तो थे ही। प्रस्तावमें गिरमिटकी प्रथा बंद करनेकी प्रार्थना की गई थी। सवाल यह था कि कब बंद की जाय। तीन सुझाव थे--'जितनी जल्दी हो सके', '३१वी जुलाईतक' और 'तुरत'। ३१ जुलाई मेरा सुझाव था। मुझे तो निश्चित तारीखकी जरूरत थी, जिससे उस अरसेमें कुछ न हो तो आगे क्या करना है या क्या हो सकता है यह सोच लिया जाय। सर लल्लूभाईका सुझाव 'तुरत' शब्द रखनेका हुआ। उन्होंने कहा--"३१ जुलाईकी अपेक्षा तो 'तुरत' अधिक शीघ्रतासूचक शब्द है।" मैंने यह समझानेकी कोशिश की कि जनता 'तुरत' शब्द नहीं समझ सकती। जनतासे कुछ काम लेना हो तो उसके सामने निश्चयात्मक शब्द होना चाहिए। 'तुरत' का अर्थ तो सब अपनी मरजीके मुताबिक करेंगे। सरकार एक करेगी, जनता दूसरा करेगी। '३१ जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे और उस तारीख तक कुछ न हुआ हो तो हमें कौन-सा कदम उठाना चाहिए यह सोचा जा सकेगा। यह दलील डा० रीडको तुरत जंच गई। आखिरमें सर लल्लूभाईको भी ३१वी जुलाई पसंद आई और प्रस्तावमें वह तारीख रखी गई। सार्वजनिक सभामें यह प्रस्ताव पेश किया गया और सर्वत्र ३१वीं जुलाईकी हद रखी गई।

बंबईसे श्री. जायजी पेटिटके अथक् परिश्रमसे स्त्रियोंका एक डेपुटेशन वाइसरायके पास गया। उसमें लेडी ताता, स्वर्गीय दिलशाद बेगम इत्यादि थीं। सब बहनोंके नाम तो मुझे याद नहीं, पर इस डेपुटेशनका असर बहुत अच्छा हुआ और वाइसराय साहबने उन्हें आशापूर्ण उत्तर दिया था।

मैं कराची, कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी हो आया था। सब जगह अच्छी खासी सभाएं हुईं और सर्वत्र लोगोंमें भरपूर उत्साह था। इन सभाओंका सिलसिला शुरू करते समय ऐसी

सभाएं होने और उनमें इतनी उपस्थिति होनेकी आशा मैंने नहीं की थी।

इन दिनों मेरी यात्रा अकेले ही होती थी। इससे अलौकिक अनुभव होते थे। खुफिया पुलिसवाले तो पीछे लगे ही रहते थे। इनके साथ मेरा झगड़ा होनेका कोई कारण न था। मुझे कुछ छिपाना नहीं था, इससे न वे मुझे तंग करते थे और न मैं उन्हें तंग करता था। सौभाग्यवश तबतक मुझे 'महात्मा'की उपाधि नहीं मिली थी। यद्यपि जहां मैं पहचान लिया जाता था वहां इस नामसे पुकार तो मचती थी। एक बार रेलमें जाते हुए अनेक स्टेशनोंपर खुफिया पुलिसवाले मेरा टिकट देखने आते, नंबर वगैरा लेते रहे। मैं तो वे जो बात पूछते, उसका तुरत जवाब दे देता था। साथी यात्रियोंने मान रखा था कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूं। जब दो-चार स्टेशनोंतक खुफिया पुलिसवाले लगातार आये तब ये यात्री बिगड़े और उन्हें गालियां देकर धमकाया--"इस बेचारे साधुको नाहक क्यों सताते हो।" मेरी ओर मुखातिब होकर बोले--"इन बदमाशोंको टिकट मत दिखाओ।"

मैंने धीरे-से इन यात्रियोंसे कहा--"उनके देखनेमें मुझे कोई परेशानी नहीं होती है, वे अपना कर्त्तव्य करते हैं, इसमें मुझे कोई दुःख नहीं है।" यात्रियोंके गले यह बात नहीं उतरी और वे मुझपर ज्यादा तरस खाने लगे और आपसमें बातें करने लगे कि बेकसूर आदमियोंको इतना हैरान क्यों किया जाता है?

खुफिया पुलिसवालोंसे तो मुझे कोई तकलीफ न मालूम हुई, पर रेलवेकी भीड़के कष्टका कड़ुए-से-कड़ुआ अनुभव मुझे लाहौरसे दिल्लीके बीच हुआ। करांचीसे कलकत्ते लाहौरके रास्ते जाना था। लाहौरमें ट्रेन बदलनी पड़ती थी। वहांकी ट्रेनमें मेरी दाल कहीं गल नहीं पाती थी। यात्री जबर्दस्ती अपना रास्ता कर ले रहे थे। दरवाजा बंद होता तो खिड़कियोंमें से अंदर घुस रहे थे। मुझे कलकत्ते नियत समय पर पहुंचना था। यह ट्रेन

खो दूं तो कलकत्ते नहीं पहुंच सकता था। मैं जगह मिलनेकी आशा छोड़ रहा था। कोई मुझे अपने डिब्बेमें जगह नहीं देता था। अंतमें एक कुलीने मुझे जगह ढूंढ़ते देखकर कहा--"मुझे बारह आने दो तो मै जगह दिला दूं।" मैंने कहा--"मुझे जगह दिला दो तो जरूर बारह आने दूंगा।" बेचारा कुली यात्रियोंसे विनती कर रहा था, पर कोई मुझे लेनेको तैयार न होता था। ट्रेन छूटन ही वाली थी कि एक डिब्बेके कुछ यात्रियोंने कहा--"यहां जगह नही है, लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो। खड़ा रहना होगा।" कुलीने पूछा--"क्यों जी ?" मैंने 'हां' की और उसने मुझे उठाकर खिड़कीमेंसे अंदर डाल दिया। मैं अंदर घुसा। कुलीने बारह आने पैसे बना लिये।

मेरी यह रात बड़े कष्टसे बीती। दूसरे यात्री ज्यों-त्यों करके बैठ गये। मै ऊपरकी बेंचकी जंजीर पकड़कर दो घंटे खड़ा ही रहा। इस बीचमें कुछ यात्री मुझे धमकाते ही रहे--"अजी, अबतक क्यों नही बैठता है ?" मैंने बहुतेरा समझाया कि कही जगह भी तो हो। पर उन्हें तो मेरा खड़ा रहना भी सहन नहीं होता था, यद्यपि वह ऊपरकी बेंचोंपर आरामसे लंबे हो रहे थे। बार-बार तंग करते थे। जब तंग करते तब मैं शांतिसे जवाब देता था इससे वे कुछ शांत हो जाते थे। मेरा नाम-धाम पूछा। मुझे नाम बतलाना पड़ा; तब वे शरमाए। माफी मांगी और मेरे लिए अपनी बगलमें जगह कर दी। 'सब्रका फल मीठा होता है' कहावत याद आई। मैं थककर चूर हो रहा था, सिर घूमरहा था। बैठनेकी जगहकी जब सच्ची आवश्यकता थी तब ईश्वरने दिला दी। यों धक्कम-धक्केमें कलकत्ते समय पर पहुंच गया। कासिम बाजारके महाराजने अपने यहां उतरनेका निमंत्रण दे रखा था। वही कलकत्तेकी सभाके अध्यक्ष थे। करांचीकी तरह कलकत्तेमें भी लोगोंका उत्साह उमड़ा पड़ता था। थोड़ेसे अंग्रेज भी सभामें उपस्थित थे।

३१वीं जुलाईके पहले गिरमिटकी प्रथा बंद होनेकी घोषगा

निकली। सन् १८९४में इस प्रथाका विरोध करनेवाली पहली दरख्वास्त मैंने तैयार की थी और यह उम्मीद रखी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध गुलामी' जरूर रद्द होगी। पर इसके पीछे शुद्ध सत्याग्रह था यह कहे बिना नही रहा जाता।

इस संबंधमें विशेष ब्योरा और उसमें भाग लेनेवाले पात्रोंका परिचय दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके इतिहासमें पाठकोंको अधिक मिलेगा।

: १२ :

नीलका धब्बा

चंपारन राजा जनककी भूमि है। चंपारनमें जैसे आमोंके वन हैं वैसे वहां सन् १९१७में नीलके खेत थे। चंपारनके किसान अपनी ही जमीनके ३।२० हिस्सेमें नीलकी खेती उसके असल मालिकके लिए करनेको कानूनसे मजबूर थे। इस प्रथाको 'तिनकठिया' कहते थे। बीस कट्ठेका वहांका एक एकड़ था और उसमें तीन कट्ठेकी बोआईका नाम था 'तिनकठियाका रिवाज'।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वहां जानेके पहले मैं चंपारनका नामतक नहीं जानता था। वहां नीलकी खेती होती है, इसका खयाल भी नहींके बराबर ही था। नीलकी गोटियां देखी थीं, पर यह चंपारनमें बनती है और उसके कारण हजारों किसानोंको कष्ट भोगना पड़ता है, इसकी तनिक भी खबर नहीं थी।

राजकुमार शुक्ल चंपारनके एक किसान थे। उनपर दुःख पड़ा। यह दुःख उन्हें खलता था। पर इस दुःखसे उनके भीतर नीलका धब्बा सबके लिए धो डालनेकी आग जली।

लखनऊकी महासभामें मैं गया था, वहीं इन किसानोंने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकील बाबू आपको सब हाल बतायेंगे", यह कहते जाते और मुझे चम्पारन आनेका न्योता देते जाते थे। वकील बाबूसे मतलब था मेरे चंपारनके प्रिय साथी, बिहारके सेवा-

जीवनके प्राण ब्रजकिशोरबाबू। राजकुमार शुक्ल उन्हें मेरे तंबूमें लाये। उन्होंने काले आलपकेकी अचकन, पतलून वगैरा पहन रखी थी। मेरे मनपर उनकी कोई अच्छी छाप न पड़ी। मैंने मान लिया कि "वह भोले किसानोंको लूटनेवाले कोई वकील साहब होंगे।

मैंने चम्पारनकी कथा उनसे थोड़ी-सी सुनी। अपनी साधारण रीतिके अनुसार मैंने जवाब दिया, "खुद देखे बिना इस विषयपर मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप महासभामें बोलियेगा। मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिये।" राजकुमार शुक्लको महा-सभाकी मददकी तो जरूरत थी ही। चंपारनके बारेमें महासभामें ब्रजकिशोरबाबू बोले और सहानुभूति-प्रकाशक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्लको खुशी हुई। पर इतनेसे ही उन्हें संतोष नहीं हुआ। वह तो खुद मुझे चंपारनके किसानोंका दु:ख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा, "अपने दौरेमें मैं चंपारनको भी शामिल कर लूंगा और एक-दो दिन दूंगा।" उन्होंने कहा, "एक दिन काफी होगा, अपनी नजरोंसे देखिये तो सही।"

लखनऊसे मैं कानपुर गया। वहां भी राजकुमार शुक्ल मौजूद थे। "यहांसे चंपारन बहुत नजदीक है, एक दिन दे दीजिए।" "अभी मुझे माफ करें। पर मैं आऊंगा, यह वचन देता हूं।" यह कहकर मैं अधिक बंध गया।

मैं आश्रम गया तो राजकुमार शुक्ल वहां भी मेरे पीछे लगे हुए थे। "अब तो दिन मुकर्रर कीजिए।" मैंने कहा, "जाइए, मुझे फलां तारीखको कलकत्ते जाना है, वहां आइयेगा और मुझे ले जाइयेगा।" कहां जाना, क्या करना, क्या देखना है, इसका मुझे कुछ पता नहीं था। कलकत्तेमें भूपेनबाबूके यहां मेरे पहुंचनेके पहले उन्होंने वहां डेरा डाल रखा था। इस अपढ़, अनगढ़ पर निश्चयवान् किसानने मुझे जीत लिया।

सन् १९१७ के आरंभमें कलकत्तेसे हम दोनों जने रवाना हुए। दोनोंकी एक-सी जोड़ी थी। दोनों किसान-जैसे ही लगते

थ। राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ीमें ले गए उसमें हम दोनों घुसे। सबेरे पटनेमें उतरे।

पटनेकी यह मेरी पहली यात्रा थी। वहां मेरा किसीसे ऐसा परिचय नही था कि उसके घर टिक सकू। मेरे मनमें था कि राजकुमार शुक्ल यद्यपि अनपढ़ किसान हैं तथापि उनका कोई वसीला तो होगा ही। ट्रेनमें मुझे उन्हें कुछ अधिक जाननेका मौका मिला। पटनेमें उनका परदा खुल गया। राजकुमार बिलकुल भोले थे। उन्होंने जिन्हें मित्र मान रखा था वह वकील उनके मित्र नहीं थे, बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित सरीखे थे। किसान मुवक्किल और वकीलोंके बीच तो चौमासेकी गंगाके चौड़े पाटके जितना अंतर था।

मुझे वह राजेंद्रबाबूके यहां लिवा ले गए। राजेंद्रबाबू पुरी या और कहीं गये हुए थे। बंगलेपर एक-दो नौकर थे। खानेको कुछ मेरे पास था। मुझे खजूरकी जरूरत थी। वह बेचारे राजकुमार शुक्ल बाजारसे ले आये।

पर बिहारमें छूआछूतका बड़ा जोर था। मेरे डोलके पानीके छींटोंसे नौकरोंको छूत लग जाती थी। नौकरको क्या मालूम कि मै किस जातिका हू। राजकुमारने अंदरका पाखाना काममें लानेको कहा। नौकरने बाहरके पाखानेकी ओर अंगुली दिखाई। मेरे लिए इसमें कहीं परेशानी या रोषका कारण नही था। ऐसे अनुभवोंमें मै पक्का हो गया था। नौकर तो अपने धर्मका पालन कर रहा था और राजेंद्रबाबूके प्रति उसका जो फर्ज था उसे बजाता था। इन मनोरंजक अनुभवोंसे राजकुमार शुक्लके लिए मेरे मनमे आदर बढा। उसीके साथ उनके विषयमें मेरा ज्ञान भी बढ़ा। पटनेसे मैने लगाम अपने हाथ में ले ली।

: १३ :

बिहारी सीधापन

मौलाना मजहरूलहक और मैं लंदनमें साथ रहते थे। उसके बाद हम बंबईमें सन् १९१५की कांग्रेसमें मिले थे। उस साल वह मुस्लिम लीगके अध्यक्ष थे। उन्होंने पुराना परिचय बताकर कहा था कि आप कभी पटने आएं तो मेरे यहां अवश्य पधारेंगे। इस निमंत्रणके आधारपर मैंने उन्हें पत्र लिखा और अपना काम बतलाया। वह तुरंत अपनी मोटर लाये और मुझे यहां ले जानेका आग्रह किया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि जहां मुझे जाना है वहां आप पहली ट्रेनसे मुझे रवाना कर दें। रेलवे गाइड-से मुझे कुछ पता नहीं चल सकता था। उन्होंने राजकुमार शुक्लसे बातें की और बताया कि मुझे पहले तो मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन, शामको मुजफ्फरपुर जो ट्रेन जाती थी, उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। आचार्य कृपलानी उन दिनों मुजफ्फरपुरमें ही रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। मैं जब हैदराबाद गया तब उनके महान् त्यागकी, उनके जीवनकी और उनके पैसेसे चलनेवाले आश्रमकी बात डा० चोइथरामकी जबानी सुनी थी। वह मुजफ्फरपुर कालिजमें प्रोफेसर थे। इन दिनों उससे अलग होकर बैठे थे। मैंने उन्हें तार दिया। मुजफ्फरपुर ट्रेन आधी रातको पहुंचती थी। वह अपने शिष्यमंडलको लेकर स्टेशनपर उपस्थित थे। पर उनके घर-बार नहीं था। वह अध्यापक मलकानीके यहां रहते थे। मुझे उनके यहां ले गए। मलकानी वहांके कालिजमें प्रोफेसर थे और उस समयके वातावरणमें सरकारी कालेजके प्रोफेसरका मुझे अपने यहां टिकाना, यह असाधारण बात मानी जा सकती है।

कृपलानीजी ने बिहारकी, और उसमें भी तिरहुत विभागकी दीन-दशाका वर्णन किया और मेरे कामकी कठिनाईका अंदाजा कराया। कृपलानीजीने बिहारके साथ गहरा संबंध जोड़ लिया

था। उन्होंने मेरे कामकी बात उन लोगोंसे कर रखी थी। सवेरे छोटा-सा वकील-मंडल मेरे पास आया। उनमेंसे रामनवमीप्रसाद मुझे याद रह गये हैं। उन्होंने अपने आग्रहसे मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा।

"आप जो काम करने आये है वह यहांसे नहीं होनेका। आपको हम-जैसोंके यहां ठहरना चाहिए। गयाबाबू यहांके नामी वकील है। आपसे, उनकी ओरसे मैं यहां उतरनेका आग्रह करता हूं। हम सब सरकारसे डरते तो जरूर है, पर हमसे जितनी बनेगी उतनी मदद हम आपको देंगे। राजकुमार शुक्लकी बहुत-सी बातें सच्ची है। दु:ख यह है कि हमारे अगुआ आज यहां नहीं है। बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद और राजेंद्रप्रसादको मैंने तार दिये हैं। दोनों यहां तुरत आ जायंगे और आपको पूरी बातें बताएंगे और मदद दे सकेंगे। मेहरबानी करके आप गयाबाबूके यहां चलें।"

इस भाषणसे मैं लुभाया। मुझे ठहरानेसे गयाबाबू कठिनाई-में न पड़ जायं, इस डरसे मुझे संकोच होता था, पर गयाबाबूने मुझे निश्चित कर दिया।

मैं गयाबाबूके यहां गया। उन्होंने और उनके कुटुंबियोंने मुझे अपने प्रेममें सराबोर कर दिया।

ब्रजकिशोरबाबू दरभंगेसे आये। राजेंद्रबाबू पुरीसे आये। यहां देखा तो वह लखनऊवाले ब्रजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनमें बिहारवासीकी नम्रता, सादगी, भलमनसी, असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्षसे भर गया। बिहारी वकील-मंडलका ब्रजकिशोरबाबूके प्रति आदर देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ।

इस मंडलके और मेरे बीच जन्मभरके लिए स्नेहगांठ बंध गई।

ब्रजकिशोरबाबूने मुझे सारी बातोंसे वाकिफ कराया। वह गरीब किसानोंके लिए मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे चल रहे थे। ऐसे मुकदमोंकी पैरवी करके वह कुछ व्यक्तिगत आश्वासन प्राप्त कर लिया करते थे। कभी-कभी उसमें भी

नाकामयाब हो जाते थे। इन भोले किसानोंसे मेहनताना तो लेते ही थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोरबाबू या राजेंद्रबाबू मेहनताना लेनेमें संकोच नहीं रखते थे। उनकी दलील यह थी कि पेशेके काममें मेहनताना न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगोंकी मदद भी नहीं कर सकते। उनके मेहनतानेके तथा बंगालके और बिहारके बारिस्टरोंको दिये जानेवाले मेहनतानेकी कल्पनामें न आ सकनेवाले आंकड़े सुनकर मैं सुन्न हो गया।

"... साहबको हमने 'ओपीनियन' (राय) के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारसे कमकी बात ही मैंने नहीं सुनी।

इस मित्रमंडलने इस संबंधमें मेरा मीठा उलाहना स्नेह-सहित सुन लिया। इसका उन्होंने विपरीत अर्थ नहीं लिया।

मैंने कहा—"इन मुकदमोंको पढ़ जानेके बाद मेरा मत तो यह है कि अब ये मुकदमे लड़ना हमें बंद ही कर देना चाहिए। ऐसे मुकदमोंसे फायदा बहुत कम होता है। जो रैयत इतनी कुचली हुई हो, जहां सब इतने भयभीत रहते हों, वहां कचहरियोंके जरिये थोड़ा ही इलाज हो सकता है। लोगोंका डर निकालना उनके रोग की असली दवा है। यह 'तिनकठिया' प्रथा न जाय तबतक हम चैनसे नहीं बैठ सकते। मैं तो दो दिनमें जितना देखा जा सके, उतना देखने आया हूं। पर अब देखता हूं कि यह काम तो दो साल भी ले सकता है। इतना समय लगे तो भी मैं देनेको तैयार हूं। इस काममें क्या करना चाहिए यह तो मैं सोच सकता हूं, लेकिन आपकी मददकी जरूरत है।"

ब्रजकिशोरबाबूको मैंने बहुत ठंडे दिमागका आदमी पाया। उन्होंने शांतिसे जवाब दिया—"हमसे जो मदद हो सकेगी वह हम देंगे। पर वह किस तरहकी होनी चाहिए, यह हमें समझाइए।"

हमने इस बातचीतमें रात बिता दी। मैंने कहा—"मुझे आपकी वकालतकी योग्यताका थोड़ा ही उपयोग होगा। आप-जैसोंसे मैं तो मुहर्रिर और दुभाषियेका काम चाहूंगा। इसमें जेल

जानेकी संभावना भी मुझे दिखाई देती है। मै यह पसद करूंगा कि आप यह जोखिम उठाएं। लेकिन आप उसे न लेना चाहें तो न लें। पर वकील न रहकर मुहर्रिर बनना और अपना धंधा अनिश्चित अवधिके लिए छोड़ देना, यह मेरी कोई छोटी मांग नहीं है। यहांकी हिंदी बोली समझनेमें मुझे भारी कठिनाई होती है। कागज-पत्र सब कैथी या उर्दूमें लिखे हुए होते है, जिन्हें मैं नहीं पढ़ सकता। इनका उल्था कर देनेकी मै आपसे आशा रखता हूं। यह काम पैसे देकर करा सकना मुमकिन नहीं है। यह सब सेवाभावसे और बिना पैसके होना चाहिए।"

ब्रजकिशोरबाबू समझ गये। लेकिन उन्होंने मुझसे और अपने साथियोंसे जिरह शुरू की। मेरी बातोंके गर्भितार्थ पूछे। मेरे अंदाजके अनुसार वकीलोंको कबतक त्याग करना होगा, कितनोंकी जरूरत होगी, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधिक लिए आयें तो काम चलेगा या नहीं, इत्यादि प्रश्न पूछे। वकीलोंसे पूछा कि आप लोग कितना त्याग कर सकते हैं?

अंतमें उन्होंने यह निश्चय जताया--"हम इतने आदमी, आप जो काम सौपेंगे, वह कर देनेको तैयार रहेंगे। इनमेंसे जितनोंको जिस समय मांगियेगा, उतन आपक पास रहेंगे। जेल जानेकी बात नई है। उस बारेमें हम शक्ति प्राप्त करनेकी कोशिश करेंगे।"

: १४ :

अहिंसा देवीका साक्षात्कार

मुझे तो किसानोंकी हालतकी जांच करनी थी। नीलकी कोठियोंके मालिक गोरों (निलहों) के खिलाफ जो शिकायतें थी, उनमें कितनी सचाई है यह देखना था। इस कामके सिलसिलेमें हजारों किसानोंसे मिलनेकी जरूरत थी, पर उनसे इस प्रकार मिलनेके पहले नीलके मालिकोंकी बात सुन लेना और कमिश्नरसे मिलना मैंने जरूरी समझा। दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मंत्रीन मुलाकातके समय साफ कह दिया कि आप परदेशी हैं, आपको हमारे और किसानोंके बीचमें दखल नहीं देना चाहिए। फिर भी अगर आपको कुछ कहना हो तो मुझे लिखकर जताइएगा। मैंने मंत्रीसे नम्रतापूर्वक कहा कि मैं अपनेको परदेशी नहीं मानता और किसान चाहें तो उनकी हालतकी जांच करनेका मुझे पूरा अधिकार है। कमिश्नर साहबसे मिले। उन्होंने तो धमकाना ही शुरू कर दिया और मुझे आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ देनेकी सलाह दी।

मैंने साथियोंको सब बातें बताकर कहा कि जांच करनेमें मुझे सरकार रोकेगी, ऐसी संभावना है और जेल-यात्राका समय मैंने जो सोचा था, उससे जल्दी भी आ सकता है। अगर मुझे अपने आपको गिरफ्तार कराना ही हो तो मुझे मोतिहारी और मुमकिन हो तो बेतियामें गिरफ्तार कराना चाहिए। और इससे जहांतक जल्दी मुमकिन हो वहां पहुंचना चाहिए।

चंपारन तिरहुत कमिश्नरीका एक जिला है और मोतीहारी उसका सदर मुकाम। बेतियाके आसपास राजकुमार शुक्लका घर था और उसके आसपासकी कोठियोंके किसान सबसे ज्यादा कंगाल थे। उनकी दशा दिखानेका राजकुमार शुक्लको लोभ था और मुझे अब उसे देखनेकी इच्छा थी।

अतः साथियोंको लेकर मैं उसी दिन मोतिहारीके लिए रवाना हो गया। मोतिहारीमें गोरखबाबूने आश्रय दिया और उनका घर धर्मशाला बन गया। हम सब ज्यों-त्यों करके उसमें अट सकते थे। जिस दिन हम पहुंचे उसी दिन सुना कि मोतिहारीसे कोई पांच मील दूर एक किसान रहता था, उसपर जुल्म हुआ था। यह तै हुआ कि उसे देखनेको मैं धरणीधरप्रसाद वकीलको लेकर सुबह जाऊं। हम सवेरे हाथीपर सवार होकर निकल पड़े। चंपारनमें हाथीका उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरातमें बैलगाड़ियोंका। आधे रास्ते पहुंचे होंगे कि पुलिस सुपरिंटेंडेंटका आदमी आ पहुंचा और मुझसे बोला—"आपको

सुपरिटेंडेंट साहबने सलाम दिया है।" मैं समझ गया। धरणीबाबूको मैंने आगे जानेको कहा। मैं उक्त संदेशवाहकके साथ उसकी किरायेकी की हुई गाड़ीमें बैठा। उसने चंपारन छोड़नेकी नोटिस मुझे दी, मुझे अपने स्थानपर ले गया और मेरी सही मांगी। मैंने जवाब लिख दिया कि मैं चंपारन नहीं छोड़ना चाहता और मुझे तो आगे बढ़ना है और जांच करनी है। चंपारन छोड़ देनेका हुक्म न माननेके कारण दूसरे ही दिन अदालतमें हाजिर होनेका समन मिला।

सारी रात जागकर जो पत्र मुझे लिखने थे वे लिखे और जो-जो सूचनाएं देनी थीं वे ब्रजकिशोरबाबूको दीं।

समनकी बात क्षणभरमें सर्वत्र फैल गई और लोग कहते थे कि मोतिहारीमें ऐसा दृश्य देखने में आया जैसा इसके पहले कभी देखनेमें न आया था। गोरखबाबूके घर और कचहरीमें लोग उमड़ पड़े। सौभाग्यसे मैंने अपना सब काम रातको निबटा लिया था, इससे इस भीड़को सम्हाल सका। साथियोंकी कीमत मुझे पूरी-पूरी मालूम हुई। वे लोगोंको नियमसे रखनेमें जुट गए। कचहरी-में जहां जाता वहां दल-के-दल लोग मेरे पीछे आते। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट वगैराके साथ भी मेरा एक तरहका संबंध जुड़ गया। सरकारी नोटिसों वगैराके खिलाफ कानूनी विरोध करना होता तो मैं कर सकता था, इसके बजाय मैंने उनकी सब नोटिसोंको स्वीकार कर लिया और अधिकारियोंके साथ निजी व्यवहारमें मिठाससे काम लिया। इससे वे समझ गए कि मुझे उनका विरोध नहीं करना है; बल्कि उनके हुक्मका विनयपूर्वक विरोध करना है। इससे वे मेरी ओरसे एक तरहसे निर्भय हो गए। मुझे तंग करनेके बजाय उन्होंने लोगोंको नियममें रखनेमें मेरी और मेरे साथियोंकी सहायताका खुशीसे उपयोग किया। पर साथ ही वे समझ गये कि उनकी हुकूमत आजसे गई। लोग क्षणभरके लिए दंडका भय छोड़कर उनके नये मित्रके प्रेमके शासनके अधीन हो गये।

याद रहे कि चंपारनमें मुझे कोई पहचानता नहीं था। किसानवर्ग बिल्कुल अपढ़ था। चंपारन गंगाके उस पार ठेठ हिमालयकी तराईमें नैपालका निकटस्थ प्रदेश है; यानी नई दुनिया ही। यहां न कहीं कांग्रेसका नाम सुनाई देता था, न कांग्रेस-का कोई सदस्य दिखाई देता था। जिन्होंने नाम सुना था वे नाम लेने या उसमें शामिल होते डरते थे। आज महासभा (कांग्रेस) के नाम बिना महासभाने और महासभाके सेवकोंने प्रवेश किया और महासभाकी दुहाई फिरी।

साथियोंसे मशविरा करके मैंने निश्चय किया था कि महासभाक नामसे कोई भी काम न किया जाय। हमें नामसे नहीं, बल्कि कामसे काम है; 'कथनी' नहीं, 'करनी'की जरूरत है। महासभाका नाम यहां अप्रिय है। इस प्रदेशमें महासभाका अर्थ है वकीलोंकी बहसा-बहसी, कानूनी छिद्रोंसे सटक जानेकी कोशिश। महासभाके मानी है बमगोला, महासभाके मानी है 'कथनी' और, 'करनी' और। ये धारणाएं सरकार और सरकारकी सरकार निलहे गोरोंकी थी। महासभा यह नहीं है; वह महासभा दूसरी ही चीज है, यह हमें साबित करना था। इसलिए हमने महासभाका नाम ही कहीं न लेने और लोगोंको महासभाके भौतिक देहका परिचय न कराने का निश्चय किया था। हमने सोच लिया था कि वे उसके अक्षरको न जानकर उसकी आत्माको जानें और अनुसरण करें तो काफी है, यही असल बात है।

अतः महासभाकी ओरसे गुप्त या प्रकट दूतोंके द्वारा कोई भूमिका तैयार नहीं कराई गई थी। राजकुमार शुक्लमें हजारों आदमियोंमें प्रवेश करनेकी शक्ति नहीं थी। उनके अंदर किसीने आजतक राजनीतिक काम किया ही न था। चंपारनके बाहरकी दुनियाको वह जानते नहीं थे, फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रोंका-सा जान पड़ा। इससे मैंने ईश्वरका, अहिंसाका और सत्यका साक्षात्कार किया, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है; पर अक्षरशः सत्य है। इस साक्षात्कारमें अपने अधिकारका

विचार करता हूं तो मुझे लोगोंके प्रति प्रेमके सिवा और कुछ नहीं मिलता। प्रेम अथवा अहिंसामें मेरी अचल श्रद्धाके सिवा और कुछ नहीं।

चंपारनका यह दिन मेरी जिंदगीमें ऐसा था जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। यह मेरे लिए और किसानोंके लिए उत्सवका दिन था। सरकारी कानूनके अनुसार मुझपर मुकदमा चलाया जानेवाला था। पर सच पूछिए तो मुकदमा सरकारपर ही चलाया जा रहा था। कमिश्नरने जो जाल मेरे लिए बिछाया था, उसमें सरकारको ही फंसा दिया।

: १५ :

मुकदमा वापस लिया गया

मुकदमा चला। सरकारी वकील और मजिस्ट्रेट वगैरा घबराये हुए थे। उन्हें सूझता नहीं था कि क्या करना चाहिए। सरकारी वकील सुनवाई मुल्तवी रखनेकी प्रार्थना कर रहे थे। मैं बीचमें पड़ा और विनय की कि मुल्तवी रखवानेकी कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि मुझे चंपारन छोड़नेकी नोटिस का अनादर करनेका अपराध कबूल कर लेना है। यह कहकर मैंने जो बहुत ही छोटा-सा बयान तैयार किया था, उसे पढ़ सुनाया। वह इस प्रकार था—

"जाब्ता फौजदारी दफा १४४के अनुसार दी हुई आज्ञाका स्पष्ट अनादर करनेका गंभीर कदम मुझे क्यों उठाना पड़ा? इस विषयमें छोटा-सा बयान अदालतकी इजाजतसे देना चाहता हूं। मेरी नम्र सम्मतिमें यह अनादरका प्रश्न नहीं है, बल्कि स्थानीय सरकार और मेरे बीच मतभेदका प्रश्न है। मैं इस प्रदेशमें जनसेवा और देशसेवाके उद्देश्यसे ही आया हूं। रैयतसे निलहे न्यायका बर्ताव नहीं करते। इस कारण उनकी मददके लिए आनेका मुझसे

प्रबल आग्रह किया गया; इसीसे मुझे आना पड़ा है। सब बातोंको जाने-समझे बिना मैं उनकी मदद कैसे कर सकता हूं? अतः मैं इस प्रश्नका, संभव हो तो सरकार और निलहोंकी सहायता लेकर, अध्ययन करने आया हूं। मेरा कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है और मेरे आनेसे लोगोंकी शांति भंग होगी और खून-खराबी होगी, यह मैं नहीं मान सकता। मेरा दावा है कि इस बारेमें मुझे यथोचित अनुभव है। पर सरकारका विचार इस विषयमें मुझसे भिन्न है। उसकी कठिनाई मैं समझता हूं, और मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि उसे प्राप्त सूचनाओंपर ही भरोसा करना पड़ता है। कानूनका आदर करनेवाले प्रजाजनकी हैसियत से तो मुझे जो हुक्म दिया गया है उसे स्वीकार करनेकी स्वाभाविक इच्छा होती है और हुई होती; पर मुझे लगा कि वैसा करनेमें मैं जिनके लिए यहां आया हूं उनके प्रति मैं अपने कर्तव्यका घात करूंगा। मुझे लगता है कि उनकी सेवा आज मुझसे उनके बीचमें रहकर ही बन सकती है। अतः स्वेच्छासे चंपारन छोड़ना संभव नहीं है। इस धर्मसंकटमें मुझे चंपारनसे हटानेकी जिम्मेदारी मैं सरकारपर डालनेको मजबूर हो गया।

"इस बातको मैं अच्छी तरह समझता हूं कि हिन्दुस्तानके लोकजीवनमें मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले आदमीको कोई कदम उठाकर उदाहरण उपस्थित करनेमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस परिस्थितिमें हम डाल दिये गए हैं उसमें मुझ-जैसी परिस्थितिमें पड़े हुए स्वाभिमानी मनुष्यके सामने इसके सिवा कोई दूसरा निरापद और मानयुक्त मार्ग नही है, सिवा इसके कि आज्ञाका उल्लंघन करके उसके बदलेमें जो सजा हो उसे चुपचाप स्वीकार कर ले।

"मुझे आप जो सजा देना चाहते हैं उसे कम करानेकी नीयतसे यह बयान मैं नहीं दे रहा हूं। मुझे सहज यह जता देना था कि आज्ञाका उल्लंघन करनमें मेरा उद्देश्य कानूनसे स्थापित सरकारका अपमान करना नहीं है, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े

कानूनको स्वीकार करता है अर्थात् अंतरात्माकी आवाज, उसका अनुसरण करना है।"

अब मुकदमेकी सुनवाई मुल्तवी रखनेकी जरूरत नहीं रही। पर मजिस्ट्रेट या वकील इस नतीजेकी उम्मीद नहीं रखते थे। इससे सजा सुनानेके लिए अदालतने मुकदमेको मुल्तवी रखा। मैंने वाइसरायको सारी स्थिति तारसे सूचित कर दी थी। पटना भी तार दिया था। भारतभूषण पंडित मालवीयजी आदिको भी हालातके तार भेज दिये थे। सजा सुननेके लिए अदालतमें जानेका समय आनेके पहले मेरे पास मजिस्ट्रेटका हुक्म आया कि लाट साहबके हुक्मसे मुकदमा वापस ले लिया गया और कलेक्टरका पत्र मिला कि आपको जो जांच करनी हो वह कीजिए और उसमें अधिकरियोंसे जिस मददकी जरूरत हो वह मांग लें। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणामकी आशा हममेंसे किसीने नहीं की थी।

मैं कलेक्टर मि० हेकोकसे मिला। वह खुद भला आदमी जान पड़ा और न्याय करनेमें तत्पर। उसने कहा कि आपको जो कागजपत्र या और कुछ देखना हो वह मांग लें और मुझसे जब मिलना हो मिल सकते हैं।

दूसरी ओर सारे हिन्दुस्तानको सत्याग्रहका अथवा कानूनके सविनय भंगका पहला स्थानीय पदार्थपाठ मिला। अखबारोंमें इसकी खूब चर्चा हुई; और चंपारनको तथा मेरी जांचको अकल्पित प्रसिद्धि मिल गई।

अपनी जांचके लिए यद्यपि मुझे सरकारके निष्पक्ष रहनेकी जरूरत थी, फिर भी अखबारोंमें चर्चा होने और उनके संवाददाताओंकी रिपोर्टोंकी जरूरत न थी। इतनी ही नहीं, उनके बहुत अधिक टीका-टिप्पणी करने और जांचकी लंबी रिपोर्टोंसे, हानि होनेका भय था। इससे मैंने खास-खास अखबारोंके संपादकोंसे प्रार्थना की थी कि वे अपने रिपोर्टर भेजनेके खर्चमें न पड़ें। जितना छापनेकी जरूरत होगी उतना खुद मैं भेजता रहूंगा और उन्हें खबर देता रहूंगा।

चंपारनके निलहे खूब खीझे हुए हैं, यह मैं जानता था। अधिकारी भी मनमें खुश नहीं होंगे, यह भी मैं समझता था। अखबारोंमें सच्ची-झूठी खबरें छपनेसे वे ज्यादा चिढ़ेंगे और उनकी खीझ मुझपर तो क्या उतरेगी; पर बेचारी गरीब, डरपोक रैयतपर उतरे बिना न रहेगी; और ऐसा होनेसे जो सच्ची स्थिति मैं जानना चाहता हूं उसमें विघ्न आयगा। निलहोंकी ओरसे विषैला आंदोलन शुरू हो गया। उनकी ओरसे अखबारोंमें मेरे और साथियोंके विषयमें खूब झूठे प्रचार हुए, पर मेरे अत्यंत सावधान रहने और छोटी-से-छोटी बातोंमें भी सत्यको पकड़े रहनेकी आदतके कारण उनके तीर खाली गये।

ब्रजकिशोरबाबूकी अनेक प्रकारसे निंदा करनेमें जिन्होंने तनिक भी कसर नहीं की। पर ज्यों-ज्यों वे उनकी निंदा करते गये त्यों-त्यों ब्रजकिशोरबाबूकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक स्थितिमें रिपोर्टरोंको आनेके लिए मैंने तनिक भी उत्साह नहीं दिलाया। नेताओंको नहीं बुलाया। मालवीयजीने मुझे कहला दिया था "जब मेरी जरूरत हो तब बुला लेना। मैं तैयार हूं।" उन्हें भी तकलीफ नहीं दी। इस लड़ाईको कभी राजनैतिक रूप नहीं लेने दिया। जो कुछ होता था उसकी रिपोर्ट मैं मौकेसे खास-खास अखबारोंको भेज दिया करता था। राजनैतिक कामके लिए भी, जहां राजनीतिकी गुंजाइश न हो वहां राजनैतिक रूप देनेसे 'माया मिली न राम' वाली बात हो जाती है, और इस प्रकार विषयका स्थानांतर न करनेसे दोनों सुधरते हैं। यह मैंने बीसियों बारके अनुभवसे देख लिया था। शुद्ध लोकसेवामें प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीतिसे राजनीति रहती ही है। चंपारनकी लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी।

: १६ :

कार्य-पद्धति

चंपारनकी जांचका हाल देनेके मानी है चंपारनके किसानों-का इतिहास देना। ऐसा हाल इन प्रकरणोंमें देना संभव नही है। फिर चंपारनकी जांच अहिंसा और सत्यका एक बड़ा प्रयोग है। इससे लगाव रखनेवाली जितनी बातें हर हफ्ते मेरे दिमागपर चढ़ती हैं उतनी दे देता हूं। उसका अधिक ब्यौरा तो पाठकोंको बाबू राजेंद्रप्रसादलिखित इस युद्धके इतिहासमें[1] और 'युगधर्म' प्रेससे प्रकाशित उसके गुजराती उल्थेसे मिल सकता है।

अब इस प्रकरणके विषयपर आना चाहिए। गोरखबाबूके यहां रहकर यह जांच होती तो उन्हें अपना घर खाली करना पड़ता। मोतिहारीमें किरायेपर मांगनेपर भी कोई झट अपना मकान दे दे, इतनी निर्भयता लोगोंमें नही आई थी। पर चतुर ब्रजकिशोरबाबूने एक बड़े सहनवाला मकान किरायेपर लिया और हम उसमें चले गये।

बिलकुल बिना पैसेके काम चल जाय, ऐसी स्थिति नहीं थी। आजतककी प्रथा प्रजावर्गसे सार्वजनिक कामके लिए पैसा लेनेकी नहीं थी। ब्रजकिशोरबाबूका मंडल खासकर वकीलोंका मंडल था, अतः वे मौका आनेपर अपनी जेबसे खर्च कर लेते थे और कुछ मित्रोंसे मांग लेते थे। उनका खयाल था कि जो खुद रुपये-पैसेसे सुखी हो वह लोगोंसे द्रव्य-भिक्षा कैसे मांग सकता है? इधर मेरा दृढ़ निश्चय था कि चंपारन की रैयतसे एक कौड़ी भी नहीं लेनी है। उससे लेनेसे गलत अर्थ निकाला जायगा। यह भी निश्चय था कि इस जांचके लिए हिन्दुस्तानमें आम जनतासे चंदा न मागूंगा। ऐसा करनेसे यह जांच राष्ट्रीय और राजनैतिक रूप धारण कर सकती थी। बंबईसे कुछ मित्रोंका १५०००)रु०

---

[1] 'चंपारनमें महात्मा गांधी'। यह पुस्तक 'मंडल'से प्राप्त हो सकती है।

मदद देनेका तार आया। उनकी सहायता धन्यवादपूर्वक अस्वीकार कर दी। मैंने निश्चय किया कि चंपारनके बाहरसे लेकिन बिहारके ही संपन्न जनोंसे ब्रजकिशोरबाबूका मंडल जो सहायता प्राप्त कर सके वह ले लूं और जो कमी रह जाय वह मैं डाक्टर प्राणजीवनदास मेहतासे रुपये लेकर पूरी कर लूं। डाक्टर मेहताने लिखा था कि जितने रुपयेकी जरूरत हो मंगा लीजिएगा। पैसेके बारेमें हम निश्चित हो गये। गरीबीसे कम-से-कम खर्च करके लड़ाई चलानी थी। इससे ज्यादा पैसोंकी जरूरत नहीं पड़नेवाली थी; वास्तवमें पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो या तीन हजारसे ज्यादाका खर्च नहीं था। जो इकट्ठा किया था उसमेंसे ५००) या १०००) बच जानेका मुझे खयाल आ रहा है।

हमारी आरंभकालकी रहन-सहन विचित्र थी और मेरे लिए वह रोजके विनोदका विषय हो गई थी। वकील-मंडलमें हरएकके पास नौकर और रसोइया होता था। हरएककी रसोई अलग बनती थी। वे रातको बारह बजेतक भी भोजन करते थे। ये लोग रहते तो थे अपने खर्चसे, फिर भी मेरे लिए यह रहन-सहन उपद्रवरूप थी। मेरी और मेरे साथियोंकी स्नेहगांठ इतनी पक्की हो गई थी कि हममें कोई गलतफहमी न हो पाती थी। वे मेरे शब्दबाण प्रेमसे सह लेते थे। अंतमें यह तै पाया कि नौकरोंको छुट्टी दे दी जाय, सब साथ खायं और खानेके नियमोंकी पाबंदी करें। सब निरामिषाहारी नहीं थे और दो चौका चलानेमें खर्च बढ़ता था, इससे निरामिष भोजन ही पकाकर एक ही चौका चलानेका निश्चय हुआ। भोजन भी सादा रखनेका आग्रह था। इससे खर्चमें बड़ी बचत हुई, काम करनेकी शक्ति बढ़ी और समयकी भी बचत हुई।

अधिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी थी, क्योंकि किसानोंके दल-के-दल अपनी कहानियां लिखाने आने लगे। कहानियां लिखनेवालेके पास लिखानेवालोंकी भीड़ लगी रहती। मकानका सहन भर जाता था। मुझे दर्शनार्थियोंसे सुरक्षित रखनेको

मेरे साथी बड़े-बड़े प्रयत्न करते और विफल हो जाते। एक नियत समयपर दर्शन देनेको मुझे बाहर कर देनेपर ही जान छूटती। कहानी लिखनेवाले भी कभी छः-सातसे कम न होते, फिर भी शामको सबके बयान पूरे न हो पाते। इतने सब लोगोंके बयान लेनेकी जरूरत नहीं थी, फिर भी उसे लिख लेनेसे लोगोंको संतोष हो जाता था और मुझे उनकी भावनाओंका पता चल जाता था।

कहानी लिखनेवालेको कुछ नियमोंका पालन करना पड़ता था। हरएक किसानसे जिरह करनी चाहिए। जिरहमें जो उखड़ जाय उसका बयान न लिखा जाय। जिसकी बात शुरूमें ही निराधार लगे उसका बयान न लिखा जाय। इन नियमोंके पालनसे यद्यपि समय कुछ अधिक जाता था तथापि बयान अधिक सत्य और साबित होने लायक मिलते थे।

ये बयान लेते समय खुफिया पुलिसका कोई कर्मचारी तो रहता ही था। हम उनका आना रोक सकते थे; पर हमने शुरूसे ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें आनेसे न रोकेंगे। इतना ही नहीं, परंतु उनके साथ विनयका बरताव भी करेंगे और देने लायक खबर दे दिया करेंगे। उनके आंख और कानके सामने सारे बयान लिये जाते थे। इसका फायदा यह हुआ कि लोगोंमें अधिक निर्भयता आई। खुफिया पुलिससे लोग बहुत डरते थे, उनका वह डर चला गया और उनकी निगाहके सामने लिये जानेवाले बयानमें अतिशयोक्तिका डर कम रहता था। झूठ बोलनेसे खुफिया पुलिसवाले उन्हें फांस देंगे इस डरसे किसानोंको सावधान रहकर बोलना पड़ता था। मुझे निलहोंको खिझाना नहीं था, बल्कि उन्हें भलमनसीसे जीतनेका प्रयत्न करना था। इससे जिनके खिलाफ ज्यादा शिकायतें आती थीं उन्हें पत्र लिखता था और उनसे मिलनेकी भी कोशिश करता था। निलहोंके मंडलसे भी मैं मिला था, और रैयतकी शिकायतें उनके सामने रखकर उनकी बात भी सुन ली थी। उनमेंसे कुछ मुझसे नफरत करते थे कुछ उदासीन थे और कोई-कोई सौजन्य भी दिखाते थे।

: १७ :

साथी

ब्रजकिशोरबाबू और राजेंद्रबाबूकी जोड़ी तो बेजोड़ थी। उन्होंने अपने प्रेमसे मुझे ऐसा अपाहिज बना दिया कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे नहीं जा सकता था। उनके शिष्य कहिये या साथी शंभूबाबू, अनुग्रहबाबू, धरणीबाबू और रामनवमी-बाबू—ये वकील करीब-करीब सदा साथ ही रहते थे। विंध्याबाबू और जनकधारीबाबू भी जब-तब आया करते। यह तो हुआ बिहारी-संघ। उसका खास काम था लोगोंके बयान लेना।

अध्यापक कृपलानी इसमें शामिल हुए बिना कैसे रह सकते थे? खुद सिंधी होते हुए भी वह बिहारीसे भी बढ़कर बिहारी थे। ऐसे कम सेवकोंको मैंने देखा है कि जिनकी शक्ति जिस प्रांतमें जायं उसमें पूरी तरह घुल-मिल जानेकी हो; और वह खुद दूसरे प्रांतके हैं, यह किसीको मालूम न होने दें! इनमें कृपलानी एक हैं। उनका खास काम द्वारपालका था। दर्शन करनवालोंसे मुझे बचा लेनेमें उन्होंने इस समय अपन जीवनकी सार्थकता मान ली थी। किसीको मजाक करके मेरे पास आनेसे रोकते थे तो किसी-को अहिंसक धमकीसे। रात होनेपर अध्यापकका धंधा शुरू करते और सब साथियोंको हँसात, और कोई कच्चे दिलका आदमी पहुंच जाय तो उसे हिम्मत दिलाते थे।

मौलाना मजहरुलहकने मेरे सहायकके रूपमें अपना नाम दर्ज करा रखा था और महीनेमें एक-दो फेरे कर जाते थे। उस वक्तके उनके ठाठ और दबदबे और आजकी उनकी सादगीमें जमीन-आसमानका अंतर है। हममें आकर वह अपना दिल मिला जाते थे, पर अपनी साहबीसे बाहरके आदमियोंको तो हमसे अलग-से लगते।

ज्यों-ज्यों मैं अनुभव प्राप्त करता गया त्यों-त्यों मुझे दिखाई दिया कि चंपारनमें सच्चा काम करना हो तो गांवोंमें शिक्षाका

प्रवेश होना चाहिए। लोगोंका ज्ञान दयनीय था। गांवोंके बच्चे मारे-मारे फिरते थे या मां-बाप दो-तीन पैसेकी आमदनीके लिए उनसे सारे दिन नीलके खेतोंमें मजदूरी करवाते थे। इस समय पुरुषोंकी मजदूरी वहां दस पैसेसे अधिक नहीं थी। स्त्रियोंकी छह पैसे और लड़कोंकी तीन पैसे थी। चार आनेकी मजदूरी पानेवाला मजदूर भाग्यशाली समझा जाता था।

साथियोंसे सलाह करके पहले तो छह गांवोंमें बच्चोंकी पाठशालाएं खोलनेका निश्चय हुआ। शर्त यह थी कि उन गांवोंके मुखिया मकान और शिक्षकका भोजन-व्यय दें। उसके और खर्च हम चलावें। यहांके गांवमें पैसेकी बहुतायत तो नहीं थी, पर अनाज वगैरा देनेकी लोगोंकी शक्ति थी। इसलिए लोग कच्चा अनाज देनेको तैयार हो गये थे।

अब बड़ा प्रश्न यह था कि शिक्षक कहांसे लाये जायं। बिहार-में थोड़ा वेतन लेनेवाले या कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षकोंका मिलना कठिन था। मेरा खयाल यह था कि साधारण शिक्षकके हाथमें बच्चोंको नहीं देना चाहिए। शिक्षकको अक्षर-ज्ञान भले ही थोड़ा हो, पर उसमें चारित्र्य-बल होना चाहिए।

इस कामके लिए मैंने सार्वजनिक रूपसे स्वयंसेवकोंकी अपील की। उसके जवाबमें गंगाधरराव देशपांडेने बाबा साहब सोमण और पुंडलीकको भेजा। बंबईसे अवंतिकाबाई गोखले आईं। दक्षिणसे आनंदीबाई आईं। मैंने छोटेलाल, सुरेंद्रनाथ और अपने लड़के देवदासको बुला लिया। इसी बीचमें महादेव देसाई और नरहरि परीख मुझसे मिल गये थे। महादेव देसाईकी पत्नी दुर्गाबहन तथा नरहरि परीखकी पत्नी मणिबहन भी आईं। कस्तूरबाईको भी मैंने बुला लिया था। इतने शिक्षकों और शिक्षिकाओंका संघ काफी था। श्रीमती अवंतिकाबाई और आनंदीबाई तो शिक्षिता मानी जा सकती थीं, पर मणिबहन परीख और दुर्गाबहन देसाईको सिर्फ थोड़ीसी गुजराती आती थी। कस्तूरबाईकी पढ़ाई तो नहींके बराबर थी। ये बहनें बच्चोंको

हिन्दी कैसे पढ़ावें ?

मैंने बहनोंको बतलाया कि उन्हें बच्चोंको व्याकरण नहीं बल्कि तौर-तरीका सिखाना है । पढ़ना-लिखना सिखानेकी बनिस्बत उन्हें सफाईके नियम सिखाना ज्यादा जरूरी है। यह भी बतलाया कि हिन्दी, गुजराती, मराठीमें अधिक भेद नहीं है और पहले दर्जेमें तो मुश्किलसे अंक लिखना सिखाना है, इस-लिए उन्हें कठिनाई न होगी । फल यह हुआ कि बहनोंके दर्जे बड़ी अच्छी तरह चले। बहनोंमें आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया और उन्हें अपने काममें रस भी मिला। अवंतिकाबाईकी पाठशाला आदर्श पाठशाला बन गई। उन्होंने अपनी पाठशालामें जान डाल दी। उनका शिक्षण-कलाका ज्ञान भी भरपूर था । इन बहनोंके द्वारा गांवके स्त्री-समुदायमें भी हमारा प्रवेश हो सका था।

पर मुझे पढ़ाईके प्रबंधसे ही संतोष नहीं करना था। गांवकी गंदगीकी कोई हद न थी । गलियोंमें कूड़ा, कूओंके आसपास कीचड़ और बदबू, आंगनोंकी ओर देखा नहीं जाता था। बड़ोंको स्वच्छताकी शिक्षाकी जरूरत थी । चंपारनके लोग रोगोंसे पीड़ित दिखाई देते थे। जितना हो सके उतना सुधारका काम करें और वह करके लोगोंके जीवनके हरएक विभागमें प्रवेश करें, यह हमारा विचार था।

इस काममें डाक्टरकी मददकी जरूरत थी । इसमें मने गोखलेकी सोसायटीसे डा० देवकी मांग की। उनके साथ मेरी स्नेहगांठ तो बंध ही चुकी थी। छह महीनेके लिए उनकी सेवाका लाभ मिला । उनकी देख-रेखमें शिक्षकों और शिक्षिकाओंको काम करना था ।

सबको यह समझा दिया गया था कि कोई भी निलहोंके खिलाफ की जानेवाली शिकायतोंमें न पड़ें, राजनीतिके स्पर्श न करें, शिकायतें करनेवालेको मेरे पास भेज दें, कोई भी अपने क्षेत्रसे बाहर एक कदम भी न रखे। चंपारनके इन साथियोंका नियम-

पालन अद्‌भुत था। ऐसे किसी मौकेकी मुझे याद नहीं है जब किसी ने दी हुई सूचनाका उल्लंघन किया हो।

: १८ :

ग्राम-प्रवेश

प्राय: हरएक पाठशालामें एक पुरुष और एक स्त्रीके रखनेका प्रबंध किया गया था। उन्हींके द्वारा दवा-इलाज और सफाईके काम कराने थे। स्त्रियोंके जरिये स्त्री-वर्गमें प्रवेश करना था। दवाका काम बहुत आसान बना लिया गया था। अंडीका तेल, कुनैन और एक मरहम, इतनी ही चीजें हर पाठशालामें रखी जाती थीं। जीभ जांचनेपर मैली दिखाई दे और कब्जकी शिकायत हो तो अंडीका तेल पिला देना। ज्वरकी शिकायत हो तो अंडीका तेल देनेके बाद कुनैन पिला देना और जो फोड़े हों तो उन्हें धोकर उनपर मरहम लगा देना। खानेकी दवा या मरहम ले जानेको शायद ही दी जाती थी। कहीं खतरेवाली या न समझमें आनेवाली बीमारी होती तो डाक्टर देवके दिखानेके लिए छोड़ दी जाती। डाक्टर देव भिन्न-भिन्न स्थानोंपर नियत समयपर हो आते थे। ऐसी सादी व्यवस्थाका लाभ लोग काफी उठा रहे थे। आम तौरसे होनेवाले रोग थोड़े ही है और उनके लिए बड़े चिकित्सा-विशारदों-की जरूरत नहीं होती। यह बात ध्यानमें रखी जाय तो उपर्युक्त रीतिसे की हुई योजना किसीको हास्यजनक नहीं लगेगी। लोगोंको तो नहीं ही लगी।

सफाईका काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करनेको तैयार नही थे। जो लोग रोज खेतपर जाकर काम करते थे वह भी अपने हाथसे मला साफ करनेको तैयार नहीं थे। डाक्टर देव झट हार मान लेनेवाले आदमी नही थे। उन्होंने खुद और स्वयंसेवकोंने एक गांवके रास्ते साफ किये, लोगोंके आंगनसे कूड़ा निकाला, कुओंके आसपासके गड्ढे भरे, कीचड़ निकाला और गांववालोंको

स्वयंसेवक देनेके लिए प्रेमपूर्वक समझाते रहे। कुछ जगहोंमें लोगोंने शरमाकर काम करना शुरू किया और कुछ जगह तो लोगोंने मेरी मोटर गुजरनेके लिए सड़कें भी अपनी मेहनतसे बना दीं। ऐसे मधुर अनुभवोंके साथ ही लोगोंकी लापरवाहीके कटु अनुभव भी मिलते थे। मुझे याद है कि सफाईकी बात सुनकर कुछ जगहोंमें लोगोंको नफरत भी पैदा हुई।

इन अनभवोंमेंसे एकको, जिसका वर्णन मैंने स्त्रियोंकी अनेक सभाओंमें किया था, यहां देना अनुचित न होगा। भीतिहरवा एक छोटा-सा गांव है। उसके पास उससे भी छोटा एक पुरवा है। वहां कुछ बहनोंके कपड़े बहुत मैले दिखाई दिये। इन बहनोंको कपड़े धोने-बदलनेके बारेमें समझानेको मैंने कस्तूरबाईसे कहा। उसने बहनोंसे बात की। इनमेंसे एक बहन उसे अपनी झोंपड़ीमें ले गई और बोली—"आप देखिए, यहां कोई पेटी-संदूक नहीं है कि जिसमें कपड़े बन्द हों। मेरे पास यह मैंने जो पहन रखी ह बस यही साड़ी है। इसे मैं कैसे धोऊं? महात्माजीसे कहो कि वह कपड़े दिलवाए तो फिर मैं रोज नहाने और रोज कपड़े बदलनेको तैयार रहूंगी।" ऐसे झोंपड़े हिन्दुस्तानमें अपवादरूप--गिनतीके दो-चार नही हैं। अगणित झोपड़ोंमें कोई साज-सामान, संदूक-पिटारा, कपड़े-लत्ते नही होते और अगणित मनुष्य सिर्फ पहने हुए कपड़ेपर ही निर्वाह करते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी देने योग्य है। चंपारनमें बांसकी या घासकी कमी नहीं थी। लोगोंने भीतिहरवाम जो पाठशालाका छप्पर बनाया था वह बांस और घासका था। किसीने उसे रातको जला दिया। संदेह तो आसपासके निलहोंके आदमियोंपर हुआ था। इसके बाद फिर बांस और घासका मकान बनाना ठीक नही जचा। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाईके मातहत थी। श्री सोमणने ईटोंका पक्का मकान बनानेका निश्चय किया और उनकी जाती मेहनतकी छूत दूसरोंको लगी। इसस दखते-देखत ईटोंका मकान बनकर तैयार हो गया और फिर मकान जलनेका

अंदेशा जाता रहा।

पर मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि इस कामको स्थायी कर देनेका मेरा मनोरथ सफल न हुआ। जो स्वयंसेवक मिले थे वह एक खास मुद्दतके लिए ही मिले थे। दूसरे नये आदमियोंके मिलनेमें कठिनाई पड़ी और बिहारमें इस कामके लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी, चंपारनका काम पूरा हुआ ही था कि दूसरा काम, जो तयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतनेपर भी छह महीनेतक हुए कामने इतनी जड़ पकड़ ली कि एक नहीं तो दूसरी शक्लमें उसका असर आजतक बाकी है।

: १९ :

उज्ज्वल पक्ष

एक ओर तो समाजसेवाका काम, जिसका मैंने पिछले प्रकरणमें वर्णन किया है, हो रहा था और दूसरी ओर लोगोंकी दुःख-गाथाएं लिखनेका काम चल रहा था और दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। हजारों आदमियोंकी कहानियां लिखी गई। इसका असर हुए विना कैसे रहता? मेरे डेरेपर ज्यों-ज्यों लोगोंकी आवाजाही बढ़ती गई त्यों-त्यों निलहोंका क्रोध बढ़ता चला। मेरी जांचको बन्द करानेकी उनकी ओरसे होनेवाली कोशिशें बढ़ती गई।

एक दिन मुझे बिहारकी सरकारका पत्र मिला। उसका भावार्थ यह था--"आपकी जांच काफी लम्बे अरसेतक चल चुकी और अब आपको उसे बन्द करके बिहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र नरम था, लेकिन मतलब साफ था। जवाबमें मैंने लिखा कि जांच अभी और चलेगी और वह पूरी हो जानेपर भी लोगोंकी तकलीफें जबतक दूर न हों, तबतक मेरा इरादा बिहार छोड़नेका नहीं है।

मेरी जांच बन्द करनेका सरकारके पास मुनासिब इलाज

एक ही था और वह यह कि लोगोंकी शिकायतोंको सच्ची मानकर उन्हें दूर करे या शिकायतोंपर ध्यान देकर अपनी जांच-कमेटी बैठाये। गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया और खुद जांच-कमेटी नियुक्त करनेका इरादा जाहिर किया और उसमें सदस्य होनेका मुझे निमन्त्रण दिया। दूसरे नाम देखकर और अपने साथियोंसे सलाह करके इस शर्तपर सदस्य होना कबूल किया कि मुझे साथियोंसे मशविरा करनेकी आजादी रहे और सरकार यह समझ रखे कि मैं सदस्य बनकर किसानोंका हिमायती न रहूं सो नहीं होगा, और जांच होनेके बाद मुझे संतोष न हुआ तो किसानोंकी रहनुमाई करनेकी अपनी आजादी भी मैं न छोड़ूंगा।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोंको मुनासिब मानकर कबूल कर लिया। स्व० सर फ्रेंकस्लाई इस कमेटीके अध्यक्ष चुने गये थे। जांच-कमेटीने किसानोंकी सब शिकायतोंको सही माना, निलहोंके अनुचित रीतिसे लिये हुए रुपयोंका अमुक भाग वापस लौटानेकी और 'तिनकठिया' पद्धतिको रद्द करनेकी सिफारिश की।

इस रिपोर्टके मुकम्मल होने और अन्तमें कानून पास होनेमें सर एडवर्ड गेटका बहुत बड़ा हिस्सा था। वह दृढ़ न रहे होते या अपनी कुशलताका पूरा उपयोग न किया होता तो जो रिपोर्ट एकमतसे तैयार हुई वह न हो पाती और जो कानून अन्तमें पास हुआ वह न बन पाता। निलहों की ताकत जबरदस्ती थी। रिपोर्ट प्रकाशित हो जानेपर भी उनमेंसे कुछने बिलका तीव्र विरोध किया था; पर सर एडवर्ड गेट अन्ततक दृढ़ रहे और कमेटीकी सिफारिशोंपर पूरा-पूरा अमल किया।

इस प्रकार तिनकठियाका कानून, जो सौ सालसे चला आ रहा था, टूटा और उसके साथ निलहोंका राज्य अस्त हुआ। रैयत जो दबी हुई रहती थी उसे अपनी शक्तिका कुछ ज्ञान हुआ और नीलका दाग धोये नहीं धुलता—यह वहम दूर हो गया।

मेरी इच्छा थी कि चंपारनमें आरम्भ किया हुआ रचनात्मक काम जारी रखकर कुछ बरस लोगोंमें काम करूं और अधिक

पाठशालाएं खोलूं और अधिक गांवोंमें प्रवेश करूं। क्षेत्र तैयार था, पर मेरे मनसूबे ईश्वरने बहुत बार पूरे नहीं होने दिये। मैंने सोचा था कुछ और, दैवने मुझे घसीट लिया दूसरेही काम में।

: २० :

मजदूरोंसे संबंध

मैं चंपारनमें कमेटीका काम खतम कर ही रहा था कि इतनेमें खेड़ासे मोहनलाल पंड्या और शंकरलाल परीखका पत्र मिला कि खेड़ा जिलामें फसल मारी गई है और लगानका माफ किया जाना जरूरी है। वहां जाकर लोगोंकी रहनुमाई करनेका उन्होंने आग्रह किया। मौकेपर जाकर जांच किये बिना कोई सलाह देनेकी मेरी इच्छा नहीं थी, न अपनमें इसका बूता या हिम्मत थी।

दूसरी ओरसे श्रीमती अनसूयाबाईका पत्र मिला, जो उनके मजदूर-संघके संबंधमें था। बहुत दिनोंसे उनकी मांग थी कि उनका वेतन बढ़ाया जाय। इस विषयमें उनकी रहनुमाई करनेका मुझमें हौसला था। यह परिमाणमें छोटा-सा दिखाई देनेवाला काम भी दूरसे बैठे-बैठे कर सकूं यह योग्यता मुझमें नहीं थी। इससे मौका मिलते ही मैं अहमदाबाद पहुंचा। मैंने सोचा था कि दोनों कामोंकी जांच करके थोड़े ही दिनोंमें मैं चंपारन लौट आऊंगा और वहांके रचनात्मक कामकी देख-रेख करूंगा। पर अहमदाबाद पहुंचनेके बाद ऐसे काम निकल पड़े कि मैं कुछ अरसेतक चंपारन न जा सका और जो पाठशालाएं चल रही थीं वे एक-एक करके टूट गईं। मेरे साथियोंने और मैंने कितने ही हवाई महल बनाये थे, तत्काल वे ढह गए। चंपारनमें ग्रामपाठशालाओं और ग्रामसुधारके अतिरिक्त गोरक्षाका काम भी मैंने हाथमें लिया था। गोशाला और हिन्दीप्रचारके कामका इजारा मारवाड़ी भाइयोंने ले रखा था, यह अपने भ्रमणमें मैं देख चुका था। बेतिया में एक मारवाड़ी सज्जन ने अपनी धर्म-

शालामें मुझे आश्रय दिया था। बेतियाके मारवाड़ी सज्जनोंने मुझे अपनी गोशालामें लपेट लिया था। गोरक्षाके विषयमें मेरी जो कल्पना आज है वही कल्पना उस समय बन चुकी थी। गोरक्षाके मानी हैं गोवंश-वृद्धि, गोजाति-सुधार, बैलसे सीमित काम लेना, गोशालाको आदर्श दुग्धशाला बनाना इत्यादि। इस काममें मारवाड़ी भाइयोंने पूरी मदद देनेका वचन दिया था। पर मैं चंपारन जा न सका, अतः वह काम अधूरा ही रह गया। बेतिया-में गोशाला तो आज भी चलती है, लेकिन वह आदर्श दुग्धशाला न बन सकी। चंपारनके बैलोंसे आज भी ताकतके बाहर काम लिया जाता है। हिन्दु कहलानेवाले आज भी बैलोंको बेरहमीसे पीटते हैं और धर्मकी दुर्दशा करते हैं। यह कांटा मेरे मनमें सदाके लिए रह गया है और जब-जब चंपारन जाता हूं तब-तब इन अधूरे रहे हुए जरूरी कामोंको याद करके लंबी सांस लेता हूं तथा उन्हें अधूरा छोड़ देनेके लिए मारवाड़ी भाइयों और बिहारियोंको मीठा उलाहना देता हूं। पाठशालाओंका काम तो एक नहीं तो दूसरी रीतिसे, दूसरे स्थानों में चलता है, पर गोसेवाके कार्यक्रमने जड़ ही नहीं पकड़ी थी, इसलिए उसे इष्ट दिशामें गति न प्राप्त हो सकी।

अहमदाबादमें जब खेड़ाके कामके बारेमें सलाह-मशविरा हो रहा था, उस बीचमें मजदूरोंका काम मैंने उठा लिया था।

मेरी स्थिति बहुत ही नाजुक थी। मजदूरोंका पक्ष मुझे मजबूत जान पड़ा। श्री० अनसूयाबहनको अपने सगे भाईके साथ लड़ना था। मजदूरों और मालिकोंके बीच इस दारुण युद्धमें श्री अंबालाल साराभाई अगुआ थे। मिलमालिकोंसे मेरा संबंध प्रेमका था। उनके साथ लड़ना टेढ़ा काम था। उनके साथ बातचीत करके मजदूरोंकी मांगके बारेमें पंच चुननेकी प्रार्थना की। पर मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीचमें पंचके बिचवई बननेका औचित्य स्वीकार नहीं किया।

मजदूरोंको मैंने हड़ताल करनकी सलाह दी। यह सलाह देनेके पहले मजदूरों और उनक नेताओंसे अच्छी तरह मिलजुल

लिया था। उन्हें हड़तालकी शर्तें समझाईं। वे थीं——

१. किसी भी दशामें शांतिका भंग कदापि न करना।

२. जो कामपर जाना चाहे उसपर जोर-जबरदस्ती न करना।

३. मजदूर भीखपर न जीयें।

४. हड़ताल चाहे जितने दिन चले वे दृढ़ रहें और अपने पास पैसा न रह जाय तो दूसरी मजदूरी करके खानेभर कमा लें।

ये शर्तें अगुआ लोगोंनें समझ लीं और स्वीकार कीं। मजदूरोंकी आम सभा हुई और उसमें उन्होंने निश्चय किया कि जबतक हमारी मांग मंजूर न हो जाय या उसके औचित्य-अनौचित्यकी जांचके लिए पंचकी नियक्ति न हो तबतक वे कामपर न जायंगे।

कहना चाहिए कि इस हड़तालके दौरानमें श्रीवल्लभभाई और श्रीशंकरलाल बैंकरकी मुझे सच्ची पहचान हुई। श्री-अनसूयाबहनका परिचय मुझे इसके पहले ही अच्छी तरह हो चुका था।

हड़तालियोंकी सभा रोज नदी-किनारे एक पेड़की छाया तले होने लगी। उसमें वे सैकड़ोंकी तादादमें रोज उपस्थित होते। अपनी प्रतिज्ञाकी याद मैं उन्हें रोज दिलाता था। शान्तिरक्षाकी, और अपने सम्मानकी आवश्यकता समझाता था। वे अपना एक टेकका झंडा लेकर रोज शहरमें घूमते और जलूस के रूपमें सभामें उपस्थित होते थे।

यह हड़ताल इक्कीस दिन चली। इस बीच समय-समयपर मालिकोंके साथ मैं बातचीत किया करता था। इन्साफ करनेको मनाता था। मुझ जवाब मिलता——"हमारी भी तो टेक है!" हममें और हमारे मजदूरोंमें बाप-बेटेका संबंध है। उसके बीचमें किसीका टांग अड़ाना हमें कैसे बरदाश्त हो सकता है? इसमें पंचका क्या काम?"

: २१ :

आश्रमकी झांकी

मजदूरोंका प्रकरण आगे बढ़ानेके पहले, आश्रमकी एक झांकी कर लेना जरूरी है। चंपारनमें रहते हुए भी मैं आश्रमको भूल नहीं सकता था। कभी-कभी तो वहां हो भी आता था।

कोचरब अहमदाबादके पास एक छोटा-सा गांव है और आश्रमका स्थान इसी गांवमें था। कोचरबमें प्लेग फैला। बालकोंको मैं गांवके अन्दर सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छताके नियमोंका चाहे जितनी सावधानीसे पालन किया जाता, आसपासकी अस्वच्छतासे आश्रमको अछूता रखना असंभव था। कोचरबके लोगोंसे स्वच्छताके नियमोंका पालन करानेकी अथवा उनकी ऐसे वक्त सेवा करनेकी शक्ति हममें नहीं थी। हमारा आदर्श तो यह था कि आश्रमको शहर या गांव दोनोंसे दूर रखें, पर इतनी दूर भी नहीं कि वहां पहुंचनेमें कठिनाई हो। किसी दिन जब आश्रम आश्रमरूपमें सुशोभित होगा उसके पहले उसे अपनी जमीनपर और खुली जगहमें स्थिर होना ही था।

प्लेगको मैंने कोचरब छोड़नेकी नोटिस माना। श्रीपूंजाभाई हीराचन्द आश्रमके साथ बहुत निकटका संबंध रखते थे और आश्रमकी छोटी-बड़ी सेवा शुद्ध, निरभिमान भावसे करते थे। उन्हें अहमदाबादके कारबारी जीवनका बहुत अनुभव था। उन्होंने आश्रमके लिए आवश्यक जमीन तुरन्त ढूंढ़ देनेका बीड़ा उठाया। कोचरबके उत्तर-दक्षिणके भागमें मैं उनके साथ फिरा। उसके बाद उत्तरकी ओर तीन-चार मील दूर कोई टुकड़ा मिल जाय तो ढूंढ़ देनेको मैंने उनसे कहा। इस समय आश्रम जहां है वह जमीन उन्होंने ढूंढ दी। उसका जेलके नजदीक होना मेरे लिए खास प्रलोभन था। सत्याग्रह-आश्रमवासीकी किस्मतमें जेल तो लिखा ही होता है, इस धारणाके कारण जेलका पड़ोस मुझे पसन्द आया। इतना तो मैं जानता था कि जेलके लिए सदा वही जगह पसन्द की

जाती है जहां आसपास स्वच्छ स्थान हो।

आठ दिनके भीतर ही जमीनका सौदा हो गया। जमीनपर एक भी पेड़ न था। नदीका किनारा और एकांत वहांका सबसे बड़ा आकर्षण था। हमने तंबूमें रहना तय किया। सोचा गया कि रसोईके लिए एक टीनका कामचलाऊ छप्पर डलवा लें और फिर धीरे-धीरे स्थायी मकान बनवाया जाय।

इस समय आश्रमकी आबादी बढ़ गई थी। छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष मिलाकर कोई चालीस आदमी थे। सभी एक ही चौकेमें खाते थे, यह सुभीता था। योजनाकी कल्पना मेरी थी। उसे कार्यरूप देनेका भार उठानेवाले तो नियमानुसार स्व० मगनलाल गांधी ही थे।

स्थायी मकानात बननेके पहलेकी अड़चनोंकी हद न थी। बरसातका मौसम सिरपर था। सामान सारा चार मील दूर शहरसे लाना पड़ता था। इस बंजर जमीनमें सांप आदि तो थे ही। उनमें बालकोंकी रक्षाकी जोखिम ऐसी-वैसी नहीं थी। हमारा नियम सर्पादिको न मारनेका था, पर उनके भयसे मुक्त तो हममेंसे कोई न था। आज भी नहीं है।

हिंसक जीवोंको न मारनेके नियमका यथाशक्ति पालन फिनिक्स, टाल्स्टाय-फार्म और साबरमती तीनों स्थानोंमें किया गया है। तीनों जगह बंजर जमीनमें बसना पड़ा है। कह सकते हैं कि तीनों जगह सर्पादिका उपद्रव काफी था, फिर भी आजतक एक भी जान हमें नहीं खोनी पड़ी। उसमें मेरे-जैसे श्रद्धालु तो ईश्वरका हाथ, उसकी कृपा ही देखते हैं। ईश्वर पक्षपात नहीं करता, मनुष्यके रोजमर्राके काममें दखल देनेको वह खाली नहीं बैठा है, ऐसी बेकारकी शंका किसीको न करनी चाहिए। इस अनुभवको दूसरी भाषामें रखना मुझे नहीं आता। लौकिक भाषामें, ईश्वरकी लीलाको देखते हुए भी मैं जानता हूं कि उसका कार्य अवर्णनीय है। पर यदि पामर मनुष्य वर्णन करता है तो उसके पास तो अपनी तोतली बोली ही होती है। सामान्य रीतिसे

सर्पादिको न मारते हुए भी समाजका पच्चीस वर्षतक बचे रहना इसे संयोगमात्र माननेके बजाय प्रभुकी दया मानना, अगर वहम हो तो वह वहम भी संग्रहणीय है।

जब मजदूरोंकी हड़ताल हुई तब आश्रमकी नींव पड़ रही थी। आश्रमकी प्रधान प्रवृत्ति बुनाई-कामकी थी। कताईकी तो अभी हम खोज ही नहीं कर पाये थे। इससे बुनाईघर पहले बनानेका निश्चय हुआ, अतः उसकी नींव डाली जा रही थी।

: २२ :

उपवास

मजदूरोंने पहले दो सप्ताहतक खूब हिम्मत दिखाई, शान्ति भी खूब रखी। रोजकी सभामें बड़ी संख्यामें आते भी रहे। मैं रोज उन्हें उनकी प्रतिज्ञाकी याद दिलाया करता था। वे रोज पुकार-पुकारकर कहते, "हम मर जायंगे, पर अपनी एक टेक कभी न छोड़ेंगे।"

पर अन्तमें वे ढीले पड़ते हुए मालूम हुए और कमजोर आदमी जैसे हिंसक होता है, वैसे जब वे हो गये, तो जो मिलमें जाते थे उनसे द्वेष करने लगे और मुझे डर लगा कि कहीं किसीपर जोर-जुल्म न कर बैठें। रोजकी सभामें आदमियोंकी हाजिरी घटने लगी। जो आते उनके चेहरेपर उदासी छाई रहती थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर डगमगाने लगे हैं। मैं चिंतित हुआ। ऐसे समय मेरा कर्त्तव्य क्या है, यह सोचने लगा। दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरोंकी हड़तालका मुझे अनुभव था। पर यह अनुभव नया था। जिस प्रतिज्ञाके करानेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका मैं रोज साक्षी बनता था वह प्रतिज्ञा कैसे टूटती ? इस विचारको अभिमान मानिये या उसे मजदूरोंके प्रति और सत्यके प्रति प्रेम मानिये।

सवेरेका पहर था। मैं सभामें मौजूद था। कुछ पता नहीं था कि मुझे क्या करना है। पर सभामें ही मेरे मुंहसे निकल गया,

"अगर मजदूर फिर तैयार न हुए और जबतक फैसला न हो तबतक हड़ताल निभा न सकें तो उस वक्त तक मुझे उपवास करना है।"

उपस्थित मजदूर हक्के-बक्के हो गये, अनसूयाबहनकी आंखोंसे आंसूकी धारा बह चली। मजदूर बोले उठे, "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आप उपवास नहीं करने पायंगे। हमें माफ कीजिए, हम टेक पालेंगे।" मैंने कहा, "तुम्हें उपवास करनेकी जरूरत नहीं। तुम अपनी प्रतिज्ञाका पालन करो, इतना ही काफी है। हमारे पास पैसे नहीं हैं। हमें मजदूरोंको भीख खिलाकर हड़ताल नहीं चलानी है। तुम कुछ मजदूरी करो और अपने रोजके रोटी चलानेभरको पैसे कमा लो तो हड़ताल चाहे जितने दिन चले तो भी तुम निश्चित रह सकते हो। मेरा उपवास भी फैसलेके पहले नही छूट सकता।"

वल्लभभाई उनके लिए म्यूनिसिपैलिटीमें काम ढूंढ रहे थे। पर वहां कुछ मिलनेवाला नही था। मगनलालने सुझाया कि आश्रमके बुनाईघरके भरावमें मिट्टी डालनी है। उसमें बहुत मजदूर लगाये जा सकते हैं। मजदूर इसे करनेको तैयार हो गये। अनसूयाबहनने पहली टोकरी उठाई और नदीसे बालूकी टोकरियां भर-भर लानेमें मजदूरोंका ठट्ट लग गया। यह दृश्य देखने लायक था। मजदूरोंमें नया बल आ गया। उन्हें पैसा चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक गये।

इस उपवासमें एक दोष था। मैं लिख चुका हूं कि मालिकोंके साथ मेरा मधुर संबंध था। इससे उन्हें उपवास स्पर्श किये बिना न रह सकता था। मैं जानता था कि सत्याग्रहीकी हैसियतसे मेरा उनके विरुद्ध उपवास करना उचित नहीं हो सकता। उनपर जो प्रभाव पड़े वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषोंके लिए नहीं था, मजदूरोंक दोषको लकर था। मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि था, इससे उनके दोषसे मैं दूषित होता था। मालिकोंसे तो मैं विनयमात्र कर सकता था। उनके मुकाबले उपवास करना, धरना देनेके समान है। फिर भी मैं यह

जानता था कि मेरे उपवासका उनपर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। पड़ा भी। पर अपना उपवास मैं रोक नहीं सकता था। ऐसा दोषमय उपवास करनेका अपना धर्म मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दिया।

मालिकोंको मैंने समझाया, "मेरे उपवासके कारण आपको अपने रास्तेसे हटनेकी जरा भी जरूरत नहीं।" उन्होंने मुझे कड़ुए, मीठे ताने भी दिये। ऐसा करनेका उन्हें हक था।

सेठ अंबालाल इस हड़तालके खिलाफ अटल रहनेमें अगुआ थे। उनकी दृढ़ता आश्चर्यजनक थी। उनकी निष्कपटता भी मुझे उतनी ही पसन्द आई। उनसे लड़ना मुझे प्रिय लगा। जहां उनके जैसे अगुआ विरोध पक्षमें थे वहां उपवासका उनपर पड़नेवाला अप्रत्यक्ष दबाव मुझे खला। इसके सिवा उनकी धर्मपत्नी श्रीसरलादेवीका मेरे प्रति सगी बहन-जैसा प्रेम था। मेरे उपवाससे उन्हें होनेवाली आकुलता मुझसे देखी नहीं जाती थी।

मेरे पहले उपवासमें तो अनसूयाबहन, अन्य बहुतेरे मित्र और मजदूर साथी हुए। उन्हें अधिक उपवास न करनेके लिए मैं मुश्किलसे समझा सका। इस प्रकार चारों ओर वातावरण प्रेममय बन गया। मालिक केवल दयावश समझौतेकी राह ढूंढ़ने लगे। अनसूयाबहनके यहां उनके मशविरे चलने लगे। श्री० आनंदशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। अन्तमें वह पंच चुने गये और हड़ताल टूटी। मुझे तीन ही उपवास करने पड़े। मालिकोंने मजदूरोंको मिठाई बांटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ। समझौतेका जल्सा हुआ जिसमें मिल-मालिक और उत्तरी विभागके कमिश्नर उपस्थित थे। कमिश्नरने मजदूरोंको सलाह दी थी, "तुम्हें हमेशा मि० गांधीका कहना करना चाहिए।" उन्हींके खिलाफ मुझे इस घटनाके बाद तुरन्त ही लड़ना पड़ा था। समय बदला, अत: वह भी बदल गये और खेड़ाके पाटीदारोंको मेरी सलाह न माननेको कहने लगे।

एक मजेदार और करुणाजनक घटनाका यहां उल्लेख उचित

जान पड़ता है। मालिकोंकी बनवाई हुई मिठाई बहुत ज्यादा थी और वह हजारों मजदूरोंमें कैसे बांटी जाय, यह सवाल खड़ा हो गया था। जिस पेड़की छायातले मजदूरोंने प्रतिज्ञा की थी वहीं उसे बांटना मुनासिब होगा और अन्यत्र हजारों मजदूरोंका इकट्ठा करना कठिन भी होगा, यह सोचकर पेड़के आसपासके खुले मैदान-में, बांटना तै पाया। अपने भोलेपनसे मैंने यह मान लिया था कि इक्कीस दिनतक नियमनमें रहे हुए मजदूर बिना प्रयत्नके, पांतमें खड़े होकर मिठाई ले लेंगे। बेसब्र होकर उसपर टूट न पड़ेंगे। पर मैदानमें बांटनेकी दो-तीन रीतियां आजमाई गई और बेकार साबित हुईं। दो-तीन मिनट तक चलता कि बंधी पांत टूट जाती। मजदूरोंके नेताओंने बड़ी कोशिश की, पर वह व्यर्थ गई। अन्तमें भीड़, शोर और लोगोंके टूट पड़नेसे कुछ मिठाई कुचली जाकर बरबाद हो गई। मैदानमें बांटना बन्द करना पड़ा और मुश्किलसे बची हुई मिठाईको बचाकर सेठ अंबालालके मिरजापुरवाले बंगलेपर पहुंचा सके। यह मिठाई दूसरे दिन बंगलेके मैदानमें ही बांटनी पड़ी।

इस घटनामें विद्यमान हास्यरस स्पष्ट है। 'एक टेक' के पेड़के पास मिठाई न बंट सकी इसका कारण ढूंढ़नेपर मालूम हुआ कि मिठाई बंटनेकी खबर पाकर अहमदाबादके भिखमंगे वहां आकर जुट गये और उन्होंने कतार तोड़कर मिठाई झपट लेनेकी कोशिश की। यह करुणरस था।

यह देश भुखमरीके रोगसे इतना पीड़ित है कि भिखमंगोंकी तादाद बढ़ती जा रही है और वे भोजनकी प्राप्तिके लिए साधारण मर्यादाका उल्लंघन कर जाते हैं। धनी लोग बिना विचारे ऐसे भिखमंगोंके लिए काम ढूंढ देनेके बजाय उन्हें भिक्षा देकर पालते हैं।

: २३ :

खेड़ामें सत्याग्रह

मजदूरोंकी हड़ताल समाप्त होनेके बाद मुझे दम मारनेकी फुरसत भी न मिली और तुरन्त खेड़ा जिलेके सत्याग्रहका काम हाथमें लेना पड़ा। खेड़ा जिलेमें अकालकी हालत होनेके कारण लगान माफ करानेको खेड़ाके पाटीदार बड़ी कोशिशें कर रहे थे। इस विषयमें श्री अमृतलाल ठक्करने जांच करके रिपोर्ट दी थी। मैं कोई भी पक्की सलाह देनेसे पहले कमिश्नरसे मिला। श्री मोहनलाल पंडया और श्री शंकरलाल परीख और श्री विट्ठलभाई पटेलके जरिये वे बड़ी कौंसिलमें आन्दोलन कर रहे थे। सरकारके पास डेपुटेशन भेजे गये थे।

इस समय मैं गुजरात सभाका अध्यक्ष था। सभाने कमिश्नर और गर्वनरको प्रार्थनापत्र भेजे, तार दिये, अपमान सहे। उनकी धमकियोंको सभाने पी लिया। अधिकारियोंका उस समयका ढंग आज तो हास्यजनक जान पड़ता है। उनका उन दिनोंका तुच्छता-भरा बरताव आज भी नामुमकिन-सा लगता है।

लोगोंकी मांग इतनी साफ और हल्की थी कि उसके लिए कोई लड़ाई लड़नेकी जरूरत ही न होनी चाहिए। ऐसा कानून था कि अगर फसल चार ही आना या इससे कम हो तो उस सालका लगान माफ हो जाना चाहिए, पर सरकारी अधिकारियोंकी कूत चार आनेसे ज्यादा की थी। लोगोंकी ओरसे यह साबित किया जा रहा था कि कूत चार आनेसे कमकी होनी चाहिए। पर सरकार क्यों मानने लगी? लोगोंकी ओरसे पंच चुने जानेकी मांग हुई। सरकारको वह असह्य लगी। जितनी विनय-प्रार्थना हो सकती थी, उतनी कर लेने और साथियोंसे मशविरा कर लेनेके बाद मैंने लोगोंको सत्याग्रह करनेकी सलाह दी।

साथियोंमें खेड़ा जिलेके सेवकोंके सिवा खासतौरसे श्री वल्लभभाई पटेल, श्री. शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन,

श्री इंदुलाल याज्ञिक, श्री महादेव देसाई वगैरा थे। वल्लभभाई अपनी खूब बढ़ती हुई वकालतकी बलि देकर आये थे। कहना चाहिए कि इसके बाद तो वह जमकर वकालत कर ही न पाये।

हमने नड़ियाद अनाथाश्रममें डेरा डाला। आनाथाश्रममें डेरा डालनेमें कोई विशेषता नहीं थी। नड़ियादमें ऐसा कोई दूसरा, जो इतने आदमियोंको अंटा सके, खाली मकान था ही नहीं। अन्तमें नीचे लिखे आशयकी प्रतिज्ञापर हस्ताक्षर लिये गए--

"हम जानते हैं कि हमारे गांवकी फसल चार आनेसे कम हुई है, इस वजहसे हमने लगानकी वसूली अगले सालतक मुल्तवी रखनेके लिए सरकारसे प्रार्थना की, फिर भी वह रोकी नहीं गई। इससे हम नीचे सही करनेवाले प्रतिज्ञा करते हैं कि हम सरकारका लगान, इस सालका पूरा या जो बाकी रह गया है, अदा नहीं करेंगे; पर उसे वसूल करनेमें सरकार जो कानूनी कार्रवाई करना चाहेगी वह करने देंगे और उससे होनेवाली तकलीफें बर्दाश्त करेंगे। हमारी जमीन जब्त की जायगी तो हम वह भी हो जाने देंगे। पर अपने हाथसे लगान देकर झूठे बनकर आत्मसम्मान न खोयेंगे। यदि सरकार दूसरी किश्तकी वसूली बाकीके सब स्थानों पर मुल्तवी कर दे तो हममें जो शक्तिमान होंगे, वे पूरा या बाकी लगान अदा करनेको तैयार हैं। हममेंसे जिनमें लगान अदा करनेका सामर्थ्य है, उनके लगान अदा न करनेका कारण यह है कि अगर समर्थ अदा कर दें तो असमर्थ घबराहटमें अपनी चाहे जिस चीजको बेचकर या कर्ज लेकर लगान अदा करेंगे और दु:ख भोगेंगे। हम मानते हैं कि ऐसी दशामें गरीबोंका बचाव करना शक्तिमानका फर्ज है।"

इस लड़ाईको मैं अधिक प्रकरण नहीं दे सकता। इससे अनेक मधुर स्मरण छोड़ देने पड़ेंगे। जो इस महत्वकी लड़ाईका गहरा अध्ययन करना चाहें उन्हें श्री. शंकरलाल परीखके लिखे 'खेड़ाकी लड़ाईका सविस्तार प्रामाणिक इतिहास' पढ़ जानेकी मेरी सिफारिश है।

: २४ :

'प्याजचोर'

चंपारन हिन्दुस्तानके ऐसे कोनेमें पड़ता है और वहांकी लड़ाई अखबारोंसे इस तरह अलग रखी जा सकी थी कि वहां बाहरसे देखनेवाले नहीं आते थे। खेड़ाकी लड़ाई अखबारोंमें आ चुकी थी। गुजरातियोंको इस नई चीजमें खासी दिलचस्पी हो रही थी। वे पैसा लुटानेको तैयार थे। सत्याग्रहकी लड़ाई पैसेसे नहीं चल सकती। उसे पैसेकी कम-से-कम जरूरत होती है, यह बात जल्दी उनकी समझमें नहीं आ रही थी। मना करते हुए भी बंबईके सेठोंने आवश्यकतासे अधिक पैसे दिये थे और लड़ाईके अन्तमें उसमेंसे कुछ रकम बच भी रही।

दूसरी ओर सत्याग्रही सेनाको भी सादगीका नया सबक सीखना था। यह तो नहीं कह सकता कि उन्होंने पूरा पाठ पढ़ लिया, पर अपनी रहन-सहनमें उन्होंने बहुत-कुछ सुधार कर लिया था।

पाटीदारोंके लिए भी इस तरहकी लड़ाई नई थी। गांव-गांव घूमकर उसका रहस्य समझाना पड़ता था। अधिकारी प्रजाके मालिक नहीं, बल्कि नौकर हैं। प्रजाके पैसेसे ही वे तनख्वाह पाते हैं, यह समझकर उनका भय दूर करना मुख्य काम था और निर्भय होते हुए भी उन्हें विनयका पालन सिखाना और उसकी आवश्यकताका कायल बनाना लगभग अशक्य-सा जान पड़ता था। अधिकारियोंका भय छोड़नेके बाद उनके हाथों हुए अपमानोंका बदला चुकानेका मन किसका नहीं होता है? पर सत्याग्रहीका अविनयी होना तो दूधमें जहर पड़नेके समान समझना चाहिए। पाटीदार विनयका पूरा पाठ नहीं पढ़ पाये थे, यह बात पीछे मैं अधिक समझ सका। अनुभवसे देखता हूं कि विनय सत्याग्रहका कठिन-से-कठिन अंश है। विनयके मानी यहां मानपूर्वक वचन बोलना मात्र ही नहीं है। विनयका अर्थ है विरोधीके प्रति भी मनमें

आदर रखना, सरल भाव, उसके हितकी रक्षा और तदनुसार व्यवहार।

आरम्भिक दिनोंमें लोगोंमें खूब हिम्मत दिखाई देती थी। शुरू-शुरूमें सरकारकी कारवाई भी नरम थी। पर ज्यों-ज्यों लोगोंकी दृढ़ता बढ़ती जान पड़ी त्यों-त्यों सरकारका भी ज्यादा कड़ा कदम उठानेका इरादा हुआ। कुर्की करनेवालोंनें लोगोंके जानवर बेच डाले, घरमेंसे चाहे जो चीजें ले गये। चौथाई जमीनका नोटिस निकला। किसी-किसी गांवकी सारी फसल कुर्क कर ली गई। इससे लोगोंमें घबराहट फैल गई। कितनोंने लगान अदा कर दिया। दूसरे लोग मनमें यह चाहने लगे कि अधिकारी हमारा कोई माल कुर्क करके लगान वसूल कर लें तो अच्छा है। कुछ मरते दमतक लड़नेवाले भी निकले। इस बीच शंकरलाल परीखकी जमीनका लगान उनकी जमीनपर रहनेवाले आदमीने अदा कर दिया। इससे हाहाकार मच गया। शंकरलाल परीखने वह जमीन जनताको दान करके अपने आदमीसे हुई चूकका प्रायश्चित किया। उनकी प्रतिष्ठाकी रक्षा हुई। दूसरोंके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया।

अनुचित प्रकारसे जब्त किये हुए एक खेतमें प्याजकी फसल तैयार थी। डरे हुए लोगोंमें हिम्मत लानेके लिए मैंने मोहनलाल पंड्याके नेतृत्वमें उसे उखाड़नेकी सलाह दी। मेरी दृष्टिमें इसमें कानूनका भंग नहीं होता था। मैने बताया कि ऐसा होता भी हो तो जरासे लगानके लिए सारी खड़ी फसलको जब्त कर लेना कानूनके अनुकूल होनेपर भी नीतिविरुद्ध है और खुली लूट है और इस प्रकार की हुई जब्तीका अनादर करना फर्ज है। लोगोंको यह साफ बता दिया गया था कि ऐसा करनेमें जेल जानेका या सजा पानेका खतरा है। मोहनलाल पंड्याको तो उसीकी जरूरत थी। सत्याग्रहसे अविरोधी किसी रीतिसे किसीके जेल गये बिना खेड़ाकी लड़ाई पूरी हो जाय, यह उन्हें नहीं रुच रहा था। उन्होंने इस खेतका प्याज खुदवानेका बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियोंने

उनका साथ दिया ।

सरकार उन्हें पकड़े बिना कैसे रहती ? मोहनलाल पंड्या और उनके साथी पकड़े गये । इससे लोगोंका उत्साह बढ़ गया। जब लोगोंके दिलोंसे जेल आदिका डर चला जाता है तब राजदंड लोगोंको दबानेके बजाय उनकी हिम्मत बढ़ानेका काम करता है। कचहरीमें लोगोंके दल-के-दल मुकदमा देखनेको उमड़ पड़े। पंड्या और उनके साथियोंको थोड़े-थोड़े दिनोंकी कैदकी सजा मिली। मैं मानता हूं कि अदालतका फैसला गल्तीसे भरा हुआ था। प्याज उखाड़नेका काम चोरीकी कानूनी व्याख्याके अन्दर नहीं आता था, पर अपील करनेकी ओर किसीका मन ही न जाता था।

जेल जानेवालोंको पहुंचाने जलूस गया और उस दिनसे मोहनलाल पंड्याने 'प्याज चोर' की सम्मानित पदवी लोगोंकी ओरसे पाई और आजतक उसका उपयोग कर रहे हैं।

इस लड़ाईका कैसे और कैसा अन्त हुआ, यह बताकर खेड़ा-प्रकरण समाप्त करूंगा।

: २५ :

खेड़ाकी लड़ाईका अंत

इस लड़ाईका अन्त विचित्र रीतिसे हुआ। यह बात साफ थी कि लोग थक चुके थे। जो दृढ़ थे उन्हें अन्ततक बरबाद होने देनेमें संकोच हो रहा था। मेरा झुकाव इस ओर हो रहा था कि निबटारेका कोई ऐसा रास्ता निकल आवे, जो सत्याग्रहीको फबता हो, तो उसे स्वीकार करना चाहिए। ऐसा अकल्पित उपाय सामने आ गया। नडियाद तालुकेके तहसीलदारने कहला भेजा कि अगर अच्छी स्थितिवाले पाटीदार लगान अदा कर दें तो गरीबोंका लगान मुल्तवी कर दिया जायगा। इस विषयमें मैंने लिखित स्वीकृति मांगी। वह मिल गई। तहसीलदार अपनी ही तहसील-की जिम्मेदारी ले सकता था, सारे जिलेकी जिम्मेदारी तो कलेक्टर

ही ले सकता है। अत: मैंने कलेक्टरसे पूछा। उनका उत्तर आया कि तहसीलदारने जैसा कहा है वैसा हुक्म तो निकल ही चुका है। मुझे ऐसी खबर नहीं थी, पर वैसा हुक्म निकलनेसे तो लोगोंकी प्रतिज्ञाका पालन मान लिया जा सकता था। प्रतिज्ञामें यही खास चीज थी, इससे इस हुक्मसे हमने संतोष माना।

फिर भी इस अन्तसे हम खुश न हो सके। सत्याग्रहकी लड़ाईके पीछे जो एक मिठास होती है, वह इसमें नहीं थी। कलेक्टर समझता था जैसे उसने कोई नई बात नहीं की है। गरीबोंको छूट देनेकी बात थी, पर वह शायद ही बच पाये। गरीब कौन है, यह कहनेका अधिकार जनता न आजमा सकी। जनतामें यह शक्ति नहीं रह गई थी,इसका मुझे दु:ख था। अन्तका उत्सव मनाया गया, पर वह मुझे इस दृष्टिसे फीका लगा।

सत्याग्रहका शुद्ध अन्त तब माना जाता है जब आरम्भकी अपेक्षा अन्तमें जनतामें अधिक तेज और शक्ति दिखाई दे। यह मैंने नहीं पाया।

इतनेपर भी इस लड़ाईके जो अदृश्य परिणाम हुए उनका लाभ तो आज भी देखा जा सकता है और उठाया जा रहा है। खेड़ाकी लड़ाईसे गुजरातके किसानोंकी जागृतिका, उनकी राजनैतिक शिक्षाका श्री गणेश हुआ।

विदुषी डा० बेसेंटकी 'होमरूल'के तेजस्वी आन्दोलनने उसका स्पर्श अवश्य किया था, लेकिन कृषक जीवनमें स्वयंसेवकोंका सच्चा प्रवेश तो कह सकते हैं कि इस लड़ाईसे ही हुआ। स्वयंसेवक पाटीदारोंके जीवनमें घुल मिल गए थे। उनको (स्वयंसेवकोंको) अपने क्षेत्रकी मर्यादा इस लड़ाईमें प्राप्त हुई, उनकी त्याग-शक्तिकी वृद्धि हुई। वल्लभभाईने अपने आपको इस लड़ाईमें पहचाना। यह एक ही कोई ऐसा-वैसा फल नहीं; यह हम गत वर्ष संकट-निवारणके समय और इस साल बारडोलीमें देख सके हैं। गुजरातके जन जीवनमें नवीन तेज आ गया है। नया उत्साह भर गया है। पाटीदारोंको अपनी शक्तिका जो ज्ञान हुआ, वह कभी

भूला नहीं। सब समझ गये कि प्रजाकी मुक्ति खुद उसीपर, उसकी त्याग-शक्तिपर अवलंबित है। सत्याग्रहने खेड़ाके द्वारा गुजरातमें जड़ जमा ली। यद्यपि मैं लड़ाईके अन्तसे खुश न हो सका, पर खेड़ाकी जनताको तो उत्साह था, क्योंकि उसने देख लिया था कि उसकी शक्तिके मानसे उसे सबकुछ मिल गया और आगेके लिए राज्यकी ओरसे मिलनेवाले कष्टोंके निवारणका मार्ग उसके हाथ लग गया। इतना ज्ञान उसके उत्साहके लिए काफी था।

पर खेड़ाकी जनता सत्याग्रहका स्वरूप पूरा नहीं समझ सकी थी। इस कारण उसे कैसे कड़ुए अनुभव हुए, इसकी चर्चा आगे करूंगा।

: २६ :

एकताकी रट

जिस समय खेड़ा-प्रकरण चल रहा था उस समय यूरोपका महायुद्ध भी जारी था। उसके सिलसिलेमें वाइसरायने दिल्लीमें नेताओंको आमन्त्रित किया था। मुझे उसमें उपस्थित होनेके लिए आग्रह किया गया था। मैं बता चुका हूं कि लार्ड चेम्सफोर्डके साथ मेरा मैत्री-संबंध था।

मैंने निमन्त्रण स्वीकार किया और दिल्ली गया। पर इस सभामें सम्मिलित होनेमें मुझे एक संकोच तो था ही। मुख्य कारण तो यह था कि इसमें अलीभाइयों, लोकमान्य तथा अन्य नेताओंको निमन्त्रित नही किया गया था। उस समय अलीभाई जेलमें थे। उनसे मै एक-दो बार ही मिला था। उनके बारेमें सुन बहुत-कुछ रखा था। उनकी सेवावृत्ति और उनकी बहादुरी-की तारीफ सभी लोग करते थे। हकीम (स्व० हकीम अजमल खां) साहबसे भी मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं हो पाया था। हां, उनकी बड़ाई स्व० आचार्य रुद्र और दीनबंधु एंड्रूजके मुंहसे भी बहुत सुनी थी। मुस्लिम लीगकी कलकत्तेकी बैठकके समय मैं शेब कुरशी और बारिस्टर ख्वाजासे मिला था। डा० अंसारी

और डा० अब्दुर्रहमानके साथ भी मिलने-जुलनेका संबंध जोड़ चुका था। भले मुसलमानोंकी सोहबतके मौके मैं ढूंढ़ता रहता था और जो पवित्र तथा देशभक्त माने जाते थे, उनसे जान-पहचान करने और उनकी भावना जाननेकी मुझे तीव्र इच्छा थी। इससे मुझे जहां वे अपने समाजमें ले जाना चाहते, वहां बिना किसी इन्कारके चला जाता था।

हिन्दू-मुसलमानमें सच्ची मित्रता नही है, यह तो मैं दक्षिण अफ्रीकामें ही समझ गया था। दोनोंका मनमुटाव मिटानेका एक भी मौका मैं हाथ से नहीं जाने देता था। झूठी खुशामद करके या आत्मसम्मान खोकर उन्हें या किसीको प्रसन्न करना मेरे स्वभावमें ही न था। पर वहीसे मैं समझता आया था कि मेरी अहिंसाकी परख और उसका विशाल प्रयोग इस एकताके सिलसिलेमें होनेवाला है। आज भी मेरी यह राय कायम है। मेरी परख ईश्वर प्रतिक्षण कर रहा है। मेरा प्रयोग तो चल ही रहा है।

ऐसे विचार लेकर मैं बंबई बन्दरपर उतरा था। अतः अलीभाइयोंसे मिलकर मुझे प्रसन्नता हुई। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारा परिचय होनेके बाद तुरन्त ही अलीभाइयोंको तो सरकारने जीते जी दफना दिया। मौलाना मोहम्मद अली इजाजत मिलनेपर मुझे लंबे-लंबे पत्र, बैतूल जेल या छिदवाड़ासे, लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलनेकी इजाजत सरकारसे मांगी थी। वह नहीं मिली।

अलीभाइयोंकी नजरबन्दीके बाद कलकत्ता मुस्लिमलीगकी बैठकमें मुझे मुसलमानभाई लिवा ले गए थे। वहां मुझसे बोलनेको कहा गया। मैंने कहा कि अलीभाइयोंको छुड़ाना मुसलमानोंका फर्ज है।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ कालेजमें भी ले गए थे। वहां मैंने मुसलमानोंको देशके लिए फकीरी लेनेको आह्वान किया।

अलीभाइयोंको छुड़ानेके लिए मैंने सरकारके साथ पत्र-व्यवहार चलाया। इस सिलसिलेमें इन भाइयोंकी खिलाफत-

संबंधी प्रवृत्तिका अध्ययन किया। मुसलमान मित्रोंसे चर्चा की। मैंने सोचा, अगर मैं मुसलमानोंका सच्चा दोस्त बनना चाहूं तो अली भाइयोंको छुड़ाने और खिलाफत के प्रश्नका न्यायानुकूल निबटारा होनेमें मुझे पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफतका प्रश्न मेरे लिए आसान था। उसके स्वतन्त्र गुण-दोष देखने नही थे। मुझे यह लगा कि इस विषयमें मुसलमानोंकी मांग नीति-विरुद्ध न हो तो मुझे उनकी मदद करनी चाहिए। धर्मके प्रश्नमें श्रद्धा सर्वोपरि होती है। सबकी श्रद्धा एक ही चीजमें एक-सां होती तो दुनियामें एक ही धर्म होता। खिलाफत-संबंधी मांग मुझे-नीति-विरुद्ध न जान पड़ी। इतना ही नही, बल्कि इसी मांगको ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्जने मंजूर किया था। अतः मुझे तो उनके वचनका पालन करवाने भरका ही प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दों में था कि मर्यादित गुण-दोष जांचनेका काम केवल अपनी अन्तरात्माको प्रसन्न करनेके लिए ही करना था।

खिलाफतके मसलेमें मैंने मुसलमानोंका साथ दिया, इसके लिए मित्रों और आलोचकोंने मुझे खरी-खरी सुनाई है। इन सब पर विचार करते हुए भी, जो राय मैंने कायम की और जो मदद दी, दिलाई उसके लिए मुझे पछतावा नहीं है। न उसमें मुझे कोई सुधार ही करना है। मुझे जान पड़ता है कि आज भी ऐसा सवाल उठे, तो मेरा व्यवहार वैसा ही होगा।

इस तरहके विचार लेकर मै दिल्ली गया। मुसलमानोंकी व्यथाकी चर्चा मुझे वाइसरायसे करनी ही थी। खिलाफतके सवालने अभी अपनी पूरी शक्ल नहीं ली थी।

दिल्ली पहुंचते ही दीनबंधु एण्ड्रूजने एक नैतिक प्रश्न खड़ा कर दिया। इसी बीच इटली और इंग्लैडके दरमियान गुप्त संधि होनेकी चर्चा जो अंग्रेजी अखबारोंमें हुई थी, उसकी बात कहकर दीनबंधुने मुझसे पूछा—यदि इस प्रकार गुप्त संधि इंग्लैड ने किसी शक्तिके साथ की हो तो आप इस सभामें सहायक रूप

में कैसे भाग ले सकते हैं ? मै इन संधियोंके बारेमें कुछ जानता न था। दीनबंधुके शब्द मेरे लिए काफी थे। यह कारण सामने रखकर मैंने लार्ड चेम्सफोर्डको लिखा कि मुझे सभामें शरीक होनेमें हिचक हो रही है। उन्होंने मुझे चर्चाके लिए बुलाया, उनके साथ और बादको मि० मेफीके साथ मेरी लंबी चर्चा हुई। उसका अंत यह हुआ कि मैंने सभामें सम्मिलित होना स्वीकार किया। वाइसरायकी दलील थोड़ेमें यह थी--"आप यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल जो कुछ करे उसकी वाइसरायको जानकारी होनी ही चाहिए ? ब्रिटिश सरकारसे कभी भूल-चूक होती ही नहीं, यह दावा मैं नहीं करता। कोई भी नहीं करता। पर अगर आप यह मानते हैं कि उसका अस्तित्व जगत्के लिए कल्याणकारी है, यदि आप यह मानते है कि उसके कार्योसे इस देशका समष्टिरूपेण लाभ हुआ है, तब क्या आप यह स्वीकार न करेंगे कि विपत्तिमें उसकी मदद करना हर नागरिकका फर्ज है ? गुप्त संधिके संबंधमें आपने अखबारोंमें जो कुछ देखा है, वही मैंने भी देखा है। इससे ज्यादा मै कुछ नहीं जानता, इसका मैं आपको विश्वास दिला सकता हू। अखबारोंमें कैसी-कैसी गप्पें आती हैं, यह तो आप जानते ही हैं। क्या अखबार में आई हुई एक उल्टी-सीधी बातपर आप राज्यका साथ ऐसे वक्तपर छोड़ सकते है ? लड़ाई खतम होनेके बाद आपको जितने नैतिक प्रश्न उठाने हों, उठा सकते हैं और जितनी बहस करना हो कर सकते है।

यह दलील नई नहीं थी। जिस मौकेपर और जिस रीतिसे वह पेश की गई उससे मुझे नई-सी लगी और मैंने सभामें जाना स्वीकार कर लिया। खिलाफतके बारेमें तै पाया कि मैं वाइसरायको पत्र लिखकर भेजू।

२७

रंगरूट-भरती

सभामें मै हाजिर हुआ । वाइसरायकी तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाही देकर सरकारकी मदद करनेके प्रस्तावका समर्थन करूं। मैने हिंदी—हिदुस्तानीमें बोलनेकी मांग की । वाइसरायने उसे मंजूर किया, पर साथ ही अंग्रेजीमें भी बोलनेको कहा । मुझे व्याख्यान तो देना ही नही था । मै जो बोला वह इतना ही था, "मुझे अपनी जिम्मेदारीका पूरा खयाल है और उस जिम्मेदारीको समझते हुए भी मैं इस प्रस्तावका समर्थन करता हूं ।"

हिंदुस्तानीमें बोलनेके लिए बहुतोंने मुझे धन्यवाद दिया । वे कहते थे कि वाइसरायकी सभामें इस जमानेमें हिदुस्तानीमें बोलनेकी यह पहली मिसाल है । धन्यवाद और पहला उदाहरण होनेकी बात मुझे चुभी । मैं शरमाया । अपने ही देशमें, देशसे संबंध रखनेवाले कामकी सभामें देशकी भाषाका बहिष्कार या उसकी अवगणना होना कितने दु:खकी बात है ! और मुझ-जैसा कोई हिंदुस्तानीमें एक या दो जुमले बोल दे तो इसमें धन्यवाद किस बातका ? यह प्रसंग हमारी गिरी हुई दशाकी सूचना देता है । सभामें कहे हुए वाक्यमें मेरे लिए तो बहुत वजन था । यह सभा और यह समर्थन ऐसा नहीं था कि मैं उसे भूल जाऊं। अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्लीमें ही खतम कर लेनी थी। वाइस-रायको पत्र लिखनेका काम मुझे आसान न जान पड़ा । सभामें जानेमें मेरी आनाकानी, उसके कारण , भविष्यकी आशाओं आदिका स्पष्टीकरण, अपने लिए सरकारके लिए और जनताके लिए, कर लेना मुझे आवश्यक जान पड़ा ।

मैने वाइसरायको जो पत्र लिखा उसमें लोकमान्य तिलक, अलीभाइयों आदि नेताओंकी अनुपस्थितिपर अपना खेद प्रकट किया, लोगोंकी राजनैतिक मांगका और युद्धसे उत्पन्न मुसलमानों-की मांगोंका उल्लेख किया । इस पत्रको छपानेकी मैने इजाजत

मांगी और वाइसरायने वह खुशीसे दे दी ।

यह पत्र शिमले भेजना था, क्योंकि सभा समाप्त होते ही वाइसराय शिमला पहुंच गये थे । डाकसे पत्र भेजनेमें देर होती थी । मेरी समझसे पत्र महत्त्वपूर्ण था । समय बचाना जरूरी था । चाहे जिसके हाथ पत्र भेजनेकी इच्छा नही थी । मुझे लगा कि पत्र किसी पवित्र मनुष्यकी मार्फत जाय तो अच्छा है । दीनबंधु और सुशील रुद्रने सज्जन रेवरेंड आयरलैंडका नाम सुझाया । उन्होंने पत्र पढ़नेपर उन्हें ठीक जंचे तो ले जाना स्वीकार किया । पत्र व्यक्तिगत तो था ही नही । उन्होंने पढ़ा, उन्हें रुचा और ले जानेको राजी हो गए । मैने सेकंड क्लासका भाड़ा देनेको कहा । पर उसे लेनेसे उन्होंने इन्कार किया और रातकी यात्रा होते हुए भी ड्योढ़ेका ही टिकट लिया । उनकी सादगी, सरलता और स्पष्टतापर मैं मोहित हो गया । इस प्रकार पवित्र हाथोंसे भेजे हुए पत्रका परिणाम मेरी दृष्टिसे अच्छा ही हुआ । मेरा रास्ता उससे साफ हो गया ।

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रंगरूट भरती करनेकी थी । मै यह याचना खेड़ामें न करता तो और कहां करता ? पहले अपने साथियोंको न्यौता न दूं तो और किसे दूं ? खेड़ा पहुंचते ही वल्लभभाई आदिके साथ मशविरा किया । उनमेंसे बहुतोंके गले तुरत यह बात नहीं उतरी । जिन्हें वह रुची, उन्हें कार्यकी सफलताके विषयमें शंका हुई । जिस वर्गमेंसे भरती करनी थी उस वर्गको सरकारके प्रति कोई प्रेम न था । सरकारी अधिकारियोंका जो कड़ुआ अनुभव हुआ था, वह अभी ताजा ही था । फिर भी काम शुरू करनेके पक्षमें सभी हो गये । आरंभ करते ही मेरी आंखें खुलीं । मेरा आशावाद भी कुछ ढीला पड़ गया । खेड़ाकी लड़ाईमें लोग अपनी गाड़ियां मुफ्त देते थे । जहां एक स्वयंसेवककी जरूरत होती वहां तीन-चार मिल जाते थे । अब पैसा देनेपर भी गाड़ी मिलना कठिन हो गया । पर हम यों निराश होनेवाले जीव नही थे । गाड़ीके बजाय पैदल यात्रा करना तै किया । रोज बीस-

मीलकी मंजिल तै करनी थी। जहां गाड़ी नहीं मिलती थी वहां खाना कहांसे मिलता ? मांगना भी उचित नही था। इससे यह तै पाया कि हरएक स्वयंसेवक अपने खानेका सामान अपने दफ्तरसे लेकर रवाना हो। मौसम गर्मीका था, इससे ओढ़नेके लिए कोई चीज साथ लेनेकी जरूरत नहीं थी।

जिस-जिस गांवमें हम जाते वहां सभा करते। लोग आते थे पर भरतीमें नाम तो मुश्किलसे एक या दो मिलते। "आप अहिंसावादी होकर कैसे हमें हथियार बांधनेको कहते हैं ?" सरकारने हिंदुस्तानकी क्या भलाई की है जो आप उसकी मदद करनेको कहते हैं ? ऐसे अनेक प्रकारके प्रश्न मेरे सामने रखे जाते।

यह सब होते हुए भी धीरे-धीरे सतत प्रयत्नका असर लोगोंपर होने लगा। नाम भी पहलेसे काफी मिलने लगे और हम सोचने लगे कि पहली टुकड़ी निकल पड़ी तो दूसरीके लिए रास्ता साफ हो जायगा। काफी रंगरूट मिल गए तो उनको कहां रखना होगा, आदिकी बातचीत मै कमिश्नरसे करने लगा था। कमिश्नर लोग जगह-जगह दिल्लीके नमूनेकी सभाएं करने लगे थे। वैसी सभा गुजरातमें भी हुई। उसमें मुझे और साथियोंको जानेका निमंत्रण था। यहां भी मैं उपस्थित हुआ था, पर यदि दिल्लीमें मैं कम फबा था तो मुझे जान पड़ा कि यहां मै उससे भी बहुत ही कम फब रहा हूं। जी-हजूरीके वातावरणमें मुझे चैन नहीं मिलता था। यहां मै जरा ज्यादा बोला था। मेरे बोलनेमें खुशामद-जैसी चीज तो थी ही नहीं, बल्कि दो कड़ुए बोले भी थे।

रंगरूट-भरतीके सिलसिलेमें मैंने एक पर्चा निकाला था। उसमें भरती होनेके निमत्रणमें एक दलील थी, जो कमिश्नरको चुभी थी। उसका सार यह था—"ब्रिटिश राज्यके बहुसंख्यक अपकृत्योंमें सारी प्रजाको शस्त्ररहित करनेके कानूनका इतिहास उसका काले-से-काला कारनामा माना जायगा। इस कानूनको रद्द कराना हो और शस्त्रका उपयोग सीखना हो तो यह सुनहरा

अवसर है। राज्यकी विपदामें मध्यमवर्ग स्वेच्छापूर्वक सहायता देगा तो अविश्वास दूर हो जायगा, और जिसे शस्त्र धारण करना होगा वह खुशीसे धारण कर सकेगा।" इसको लक्ष्य करके कमिश्नरको कहना पड़ा था कि आपमें और मुझमें मतभेद होते हुए भी सभामें आपकी उपस्थिति मुझे प्रिय है। मुझे भी अपने मतका समर्थन यथासंभव मधुर शब्दोंमें करना पड़ा था।

ऊपर जिस पत्रका जिक्र किया गया है उसका सार नीचे दिया जा रहा है—

युद्ध-परिषद्‌में उपस्थित होनेके बारेमें मुझे हिचकिचाहट थी; पर आपसे मिलनेके बाद वह दूर हो गई और उसका एक कारण यह जरूर था कि आपके लिए मेरे मनमें बड़ा आदर है। न आनेके कारणोंमें एक सबल कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, मिसेज बेसेंट और अलीभाइयोंको निमंत्रण नहीं था। इन्हें मैं जनताके बड़े शक्तिशाली नेता मानता हूं। मुझे तो जान पडता है कि उन्हें निमंत्रण न देनेमें सरकारने भारी भूल की है, और मैं आज भी कहता हूं कि जब प्रांतीय सभाएं की जायं तब उन्हें निमंत्रण दिया जाय। मेरा नम्र निवेदन है कि ऐसे प्रौढ़ नागरकोंकी, उनके साथ कैसा ही मतभेद क्यों न हो, कोई राज्य अवगणना नहीं करसकता। इस स्थितिमें मैं सभाकी कार्यकारिणी समितियोंमें उपस्थित न हो सका और सभामें प्रस्तावका समर्थन करके ही संतोष माना। सरकार मेरे सुझावको स्वीकार कर ले तो मैं तुरत अपने समर्थनको कार्यरूप देनेकी आशा रखता हूं।

जिस राज्यके भविष्यमें हम संपूर्ण रूपसे हिस्सेदार होनेकी आशा रखते हैं उसे उसके संकटकालमें पूरी मदद देना हमारा धर्म है पर मुझे यह तो कहना ही होगा कि इसके साथ यह उम्मीद लगी हुई है कि इस मददकी बदौलत हम अपने लक्ष्यतक जल्दी पहुंच सकेंगे। इससे लोगोंको यह मान लेनेका हक है कि जो सुधार तत्काल होनेकी आशा आपके भाषणमें दिलाई गई है उन सुधारोंमें कांग्रेस और मुस्लिम लीगकी मुख्य मांगोंका समावेश होगा।

मेरे वशकी बात होती तो मैं ऐसे मौकेपर होमरूल वगैराका नाम-तक न लेता बल्कि साम्राज्यके इस आड़े वक्तमें सारे शक्तिशाली हिन्दुस्तानियोंको उसकी रक्षामें चुपचाप बलिदान हो जानेको प्रेरित करता। इतना करनेसे ही हम साम्राज्यके बड़े-से-बड़े और आदरणीय हिस्सेदार बन जाते और रंगभेद तथा देशभेद मिट जाता।

पर शिक्षित समुदायने इससे कम प्रभावकारी मार्ग ग्रहण किया है। जन-समाजपर उसका असर ज्यादा है। मैं जबसे हिन्दुस्तानमें आया हूं तभीसे जनसमाजसे निकट संपर्क रखता रहा हूं। और मैं आपको बतलाना चाहता हूं कि होमरूलकी आकांक्षा उनमें भी घर कर गई है। होमरूलके बिना लोगोंको कभी संतोष नहीं होनेका। वे समझते हैं कि होमरूल पानेके लिए जितनी भी कुरबानी करनी पड़े कम होगी। इसलिए यद्यपि साम्राज्यके लिए जितने स्वयंसेवक दिय जा सकते हों उतने हमें देने चाहिए। लेकिन आर्थिक सहायता के बारेमें मैं ऐसा नहीं कह सकता। लोगोंकी स्थितिको जानकर मैं कह सकता हूं कि हिंदुस्तान जो मदद दे चुका है वह उसके बूतेस बाहरकी है। पर मैं इतना समझता हूं कि सभामें जिन्होंने प्रस्तावका समर्थन किया है उन्होंने मरते दमतक सहायता देनेका निश्चय किया है। पर हमारी स्थिति विषम है। हम कोई गद्दी या कोठीके हिस्सेदार नहीं हैं। हमारी मददकी नीव भविष्यकी आशापर खड़ी की गई है; और यह आशा क्या है इसे जरा खोलकर कहनेकी जरूरत जान पड़ती है। मैं सौदा करना नही चाहता हूं, पर मुझे इतना तो कहना ही होगा कि उस विषय में हमारे मनमें नैराश्य उत्पन्न हो जाय तो साम्राज्यके विषयमें आजतककी हमारी धारणा भ्रम मानी जायगी। आपने घरेलू झगड़े भूल जानेकी सलाह दी है। उसका मतलब अगर यह हो कि अत्याचार और अधिकारियोंके अपकृत्योंको हम चुपचाप सह लें तो यह नामुमकिन है। संघठित अत्याचारका सामना पूरे बलसे करना मैं धर्म मानता हूं। अतः

आपको अधिकारियोंको सुझाना चाहिए कि एक भी प्राणीकी वे अवगणना न करें और लोकमतका पहलेसे अधिक आदर करें। चंपारनमें सदियोंसे होते आनेवाले जुल्मका मुकाबला करनेमें ब्रिटिश न्यायकी सर्वश्रेष्ठता मैंने सिद्ध कर दिखाई है। खेड़ाकी जनताने देख लिया कि जब उसमें सत्यके लिए कष्ट-सहनेकी शक्ति है तो असली ताकत राज्य-शक्ति नहीं बल्कि लोकशक्ति है; और इससे जिस शासन-पद्धतिको वह शाप दे रही थी, उसके प्रति उसकी कटुता कम हो गई है। और जिस हकूमतने सविनय कानून-भंगको सहन कर लिया, वह हकूमत लोकमतकी नितांत अवहेलना करनेवाली नहीं हो सकती, इसका उन्हें विश्वास हो गया है। इसलिए मैं यह मानता हूं कि चंपारन और खेड़ामें मैंने जो काम किया ह वह इस लड़ाईमें मेरी मदद है। अपना इस तरहका काम बन्द कर देनेको अगर आप मुझसे कहें तो मैं मानूंगा कि आप मुझसे अपनी सांस बन्द करने को कह रहे हैं। यदि आत्मबल अर्थात् प्रेमबलको, शस्त्रबलके बदलेमें, लोकप्रिय बना देनेमें मुझे कामयाबी हो जाय तो मैं जानता हूं कि हिंदुस्तान सारे संसारकी त्यौरीको भी बरदाश्त कर सकता है। इससे हर वक्त यह दुःख सहन करनेकी सनातन नीति अपने जीवनमें ओतप्रोत करनेके लिए मैं अपनी आत्माको कसता रहूंगा और इस नीतिको स्वीकार करनेको दूसरोंको निमंत्रित करता रहूंगा। और यदि मैं किसी अन्य उद्योगमें योग देता हूं तो उसका हेतु भी केवल इसी नीतिकी बेजोड़ उत्तमता सिद्ध करना मात्र है।

अन्तमें मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि मुसलमानी राज्योंके बारेमें पक्का आश्वासन देनेके लिए ब्रिटिश मंत्रिमंडलको लिखें। आप जानते हैं कि इसके बारेमें हर मुसलमानको चिन्ता लगी रहती है। स्वयं हिन्दू होकर मैं उनकी भावनाके प्रति लापरवाह नहीं हो सकता। उनका दुःख तो हमारा ही दुःख है। इन मुसल-मानी राज्योंके हककी रक्षामें, उनके धर्मस्थानोंके विषयमें, उनकी भावनाका आदर करनेमें और हिन्दुस्तानकी होमरूल-संबंधी

मांगके स्वीकारमें साम्राज्यकी सलामती छिपी हुई है। इस पत्रके लिखनेका यह कारण है कि मैं अंग्रेजोंको प्यार करता हूं और जो वफादारी अंग्रेजमें है, वही वफादारी हरएक हिन्दुस्तानीमें जगाना चाहता हूं।

: २८ :

मृत्यु-शय्यापर

रंगरूट भरती करनेमें मेरा शरीर काफी छीज गया। उस वक्त मेरी खूराक खास तौरसे थी भुनी और कुटी हुई मूंगफली गुड़ मिलाकर, केले इत्यादि फल और दो-तीन नीबुओंका रस। मैं जानता था कि मूंगफली ज्यादा खानेसे नुकसान करती है। फिर भी वह ज्यादा खाई गई। इससे मामूली पेचिश हो गई। मुझे समय-समयपर आश्रममें आना तो पड़ता ही था। यह पेचिश मुझे परवा करनेलायक नहीं जान पड़ी। रातको आश्रममें पहुंचा। दवा इन दिनोंमें शायद ही करता था। मुझे विश्वास था कि एक वक्तका खाना छोड़ देनेसे पेचिश चली जायगी। दूसरे दिन सवेरे कुछ न खाया, इससे ऐंठन लगभग शांत हो गई थी। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास थोड़ा और करना चाहिए अथवा खाना ही हो तो फलके रस-जैसी कोई चीज लेनी चाहिए।

यह दिन किसी त्यौहारका था। मुझे याद है कि मैंने कस्तूरबाईसे कह दिया था कि मैं दोपहरको भी न खाऊंगा, पर उसने मुझे ललचाया और मैं लालचमें पड़ गया। इस वक्त मैं किसी भी पशुका दूध न लेता था। इससे घी-मट्ठेका भी त्याग था। अतः मुझसे कहा गया कि मेरे लिए तेलमें भुने गेहूंका दलिया पकाया गया है और साबुत मूंग मेरे लिए खासतौरसे रखे गए हैं। मैं स्वादवश पिघला। पिघलनेपर भी इच्छा थी कि कस्तूरबाईको खुश रखने भरको थोड़ा ही खाऊंगा। स्वाद भी लूंगा और शरीरकी रक्षा भी करूंगा। पर शैतान अपने मौकेकी

ताकमें बैठा था। मैं खाने बैठा और तनिक-सा खानेके बजाय पेट भरके खा लिया। स्वाद तो पूरा लिया, पर साथ ही यमराजको भी न्यौता दे दिया। खाए घंटा भी न बीता होगा कि पेटमें सख्त मरोड़ शुरू हो गई।

रातको नडियाद तो वापस जाना ही था। साबरमती स्टेशन तक पैदल गया। लेकिन यह सवा मीलका रास्ता काटना कठिन हो गया। अहमदाबाद स्टेशनसे वल्लभभाई साथ चलनेवाले थे। वह आये और उन्होंने मेरी पीड़ा भांप ली। फिर भी यह पीड़ा असह्य है, यह मैंने उन्हें या दूसरे साथियोंको न जानने दिया।

नडियाद पहुंचे। वहांसे अनाथाश्रमका रास्ता आधे मीलके अन्दर ही था, फिर भी वह दस मील-सा लगा। बड़ी कठिनाईसे वहां पहुचे। पर ऐंठन बढ़ती जाती थी। पाखानेकी हाजत पाव-पाव घंटेपर हो रही थी। अन्त में मैं हारा। अपनी असह्य वेदनाको प्रकट किया और खाट पकड़ी। आश्रमके आम पाखानेमें शौच जाया करता था, उसके बजाय बगलके कमरेमें कमोड रखवाया। शरम तो बहुत लगी, लेकिन लाचार हो गया। फूलचन्द बापूजी दौडकर कमोड ले आए। चितातुर होकर साथी मेरे आसपास इकट्ठे हो गए। उन्होंने प्रेमकी मुझपर वर्षा करदी, पर मेरी पीड़ाको वे कैसे बांट सकते थे? मेरे हठकी हद न थी। डाक्टर बुलवानेसे मैंने इंकार कर दिया। "दवा न लूंगा, किये हुए पापका दण्ड भोगूंगा।" साथियोंने यह सब मुह लटकाकर सहा। चौबीस घंटेमें तीसचालीस बार टट्टीकी हाजत हुई होगी। खाना तो मैंने बन्द ही कर दिया था और पहले दिनोंमें तो फलोंका रस भी न लिया। लेनेकी रुचि बिलकुल न थी।

जिस शरीरको मैं आजतक पत्थर-सा समझता था वह शरीर गारेके जैसा हो गया। बल टूट गया। डाक्टर कानूगा आये। उन्होंने दवा लेनेको समझाया। मैंने इंकार किया। तब उन्होंने इंजेक्शन देनेको कहा। मैंने इसस भी इंकार किया। इंजेक्शनके विषयमें मेरा उस समयका अज्ञान हास्यजनक था। मैं यही मानता

था कि पिचकारीमें तो किसी-न-किसी तरहकी लस (रक्तज औषध होगी। बादको मैंने समझा कि यह तो निर्दोष वानस्पतिक औषधकी पिचकारी थी। पर जब समझ आई तब अवसर बीत चुका था। आंवके दस्त जारी थे। शौचकी हाजत बार-बार हो रही थी। अधिक परिश्रमके कारण बुखार आ गया और बेहोशी हो गई। मित्र लोग अधिक घबराए। दूसरे डाक्टर भी आए, पर जो मरीज उनकी न माने उसके लिए वह क्या कर सकते थे?

सेठअंबालाल और उनकी धर्मपत्नी नडियाद आए। साथियोंसे मशविरा करके मुझे वे अपने मिर्जापुरके बंगलेमेंबड़े ही एहतियात-से ले गए। इतना तो मैं जरूर कह सकता हूं कि इस बीमारीमें जो निर्मल, निष्काम सेवा मैंने पाई उससे अधिक सेवा कोई नहीं पासकता। मन्द ज्वर रहने लगा। शरीर क्षीण हो चला। मैंने यह भी सोचा कि बीमारी काफी लम्बी होगी। यह भी हो सकता है कि मैं बिछौनेसे न उठ सकूं। अंबालाल सेठके बंगलेमें प्रेममें घिरा हुआ होनेपर भी मैं वेचैन हो गया और उनसे प्रार्थना की कि मुझे आश्रममें पहुंचा दीजिए। मेरा अतिशय आग्रह देखकर वे मुझे आश्रममें ले गए।

आश्रममें मै पीड़ा भोग ही रहा था कि इतनेमें वल्लभभाई खबर लाये कि जर्मनीकी पूरी हार हो गई और कमिश्नरने कहलाया है कि रंगरूट भरती करनेकी जरूरत अब नहीं है। अतः भरतीकी चिन्तासे मैं छुट्टी पा गया और इससे शान्ति हुई।

अब मैं जल-चिकित्सा करता था और इससे शरीर टिका हुआ था। पीड़ा चली गई थी, पर शरीर किसी तरह पनप नहीं रहा था। वैद्य मित्र और डाक्टर मित्र अनेक प्रकारकी सलाह देते थे, पर मै कोई दवा लनेको तैयार न हुआ। दो-तीन मित्रोंने सलाह दी कि दूध लेनमें बाधा हो तो मांसका शोरबा ले सकते हैं और इसके लिए आयुर्वेदसे प्रमाण पेश कर दिये कि औषधके रूपमें मांस आदि चाहे जो चीज ली जा सकती है। एकने अंडे

लेनेकी सलाह दी। पर उनमेंसे किसीकी सलाह मैं स्वीकार न कर सका। मेरा जवाब एक ही था।

खाद्याखाद्यका निर्णय मेरे लिए केवल शास्त्रोंके श्लोकोंपर आश्रित नहीं है बल्कि मेरे जीवनके साथ स्वतंत्र रीतिसे निर्मित हुआ है। चाहे जो खाकर और चाहे जिस इलाजसे जीनेका मुझे तनिक भी लोभ नहीं है। जिस धर्मका आचरण मैंने अपने पुत्रोंके लिए, स्त्रीके लिए और स्नेहियोंके लिए किया, उस धर्मका त्याग मैं अपने विषयमें कैसे कर सकता हूं।

इस प्रकार मेरी इस दीर्घकालीन और जीवनमें पहली इतनी बड़ी बीमारीमें मुझे धर्मनिरीक्षण करनेका, उसे परखनेका अलभ्य लाभ हुआ। एक रात तो मैंने जीनेकी आशा बिलकुल त्याग दी। मुझे जान पड़ा कि मौत पास ही है। श्रीमती अनसूयाबहनको खबर भेजी। वह आईं। वल्लभभाई आए। डाक्टर कानूगा आए। डाक्टर कानूगाने नाड़ी देखी और बोले—"मृत्युके कोई लक्षण तो मैं नहीं पा रहा हूं। नाड़ी साफ है। आपको सिर्फ कमजोरीके कारण मानसिक घबराहट है।" पर मेरा मन न माना। रात किसी तरह कटी। उस रातको शायद ही मेरी आंख लगी हो।

सवेरा हुआ। मृत्यु न आई। फिर भी जीनेकी आशा मैं उस समय न बांध सका। और मरण समीप है यह समझकर जितना हो सके उतना समय साथियोंसे गीता पढवाकर सुननेमें बिताने लगा। कुछ काम-काज करनेकी ताकत तो थी ही नहीं। इतनी शक्ति भी न थी कि कुछ पढ़ सकूं। किसीसे बात करनेकोभी जी न चाहता था। दो-चार वाक्य बोलनेसे ही दिमाग थक जाता था। इससे जीनेमें कोई आनन्द न था। जीनेके लिए जीना मुझे कभी रुचा ही नहीं। कुछ काम-काज किये बिना साथियोंकी सेवा लेकर क्षीण होते हुए शरीरको टिकाये रखना मुझे अति कष्ट-कर लगता था।

यों बैठकर मौतकी राह देख रहा था कि इतनेमें डाक्टर तलवलकर एक विचित्र व्यक्तिको ले आए। यह महाराष्ट्रीय

हैं। हिन्दुस्तानमें उनकी ख्याति नहीं है।

यह मैं उन्हें देखते ही समझ गया कि यह भी मेरी ही तरह सनकवाले है। यह अपना इलाज मुझपर आजमाने आये थे। उन्होंने डाक्टरीका अध्ययन ग्रेट मेडिकल कालेजमें किया था, पर डिगरी नही ली थी। पीछे मालूम हुआ कि वह ब्राह्मसमाजी है। उनका नाम केलकर है। बड़े स्वतन्त्र स्वभावके है। वह बरफके इलाजके बड़े हिमायती है। मेरी बीमारीकी बात सुनकर वह बरफका उपचार मुझपर आजमाने आये। तबसे हमने उन्हें 'आइस डाक्टर' का उपनाम दे रखा है। अपने मतका उन्हें जबरदस्त आग्रह है। उन्हें विश्वास है कि डिगरीवाले (उपाधिधारी) डाक्टरोंसे भी उन्होंने कुछ ज्यादा अच्छी चीजें खोज की है। अपना यह विश्वास वह मुझमें न भर सके, यह उनके और हम दोनोंके लिए दु:खकी बात बनी रही। मै एक हदतक उनके उपचारोंका कायल हूं। पर मेरा खयाल है कि कुछ नतीजे निकालनेमें उन्होंने जल्दबाजी की है।

पर उनकी खोजें सही हों या गलत, मैंने उन्हें अपने शरीर पर प्रयोग करने दिया। बाह्य उपचारोंसे अच्छा होना तो मुझे रुचता ही था, फिर यह उपचार तो बरफ यानी पानीका था। अत: उन्होंने मेरे सारे शरीर पर बरफ मलना शुरू किया। इससे जितना वह मानते है उतना लाभ यद्यपि मुझे नहीं हुआ, फिर भी रोज जो मै मौतकी बाट देख रहा था उसके बदले अबकुछ जीनेकी आशा बांधने लगा। कुछ उत्साह आया। मनके उत्साहके साथ शरीरमें भी उत्साहका अनुभव किया। खूराक कुछ बढ़ गई। दस-पांच मिनट रोज टहलने लगा। उन्होंने मेरे भोजनमें एक सुधार सुझाया--"यदि आप अंडोंका रस पियें तो आपको जितना उत्साह आया है उसकी अपेक्षा अधिक उत्साह आनेकी मै जिम्मेदारी लेता हूं; और अंडा दूधके समान ही निर्दोष पदार्थ है। यह मांस तो हरगिज नहीं है। हरएक अंडेमें बच्चा पैदा होता हो सो बात नहीं है। जिससे बच्चे नहीं पैदा होते उसे बांझ अंडे काममें लाये

जाते है, यह आपके सामने साबित कर सकता हू ।" पर ऐसे बांझ अंडे लेनेको भीमैं तैयार नही हुआ। फिर भी मेरी गाड़ी कुछ आगे बढ़ी और मै आसपासके कामोंमें थोड़ा-थोड़ा रस लेने लगा।

: २९ :

रौलट ऐक्ट और मेरा धर्मसंकट

मित्रोंकी इस सलाहसे कि माथेरान जानेसे शरीरमें जल्दी बल लौटेगा, मैं माथेरान गया। पर वहांका पानी भारी था। इसस मेरे-जैसे मरीजका रहना मुश्किल हो गया। आंवके कारण गुदाद्वार बहुत नरम हो गया था, और वहां दरारें पड़ जानेसे शौचमें बड़ा दर्द होता था, इसलिए कुछ भी खाते डर लगता था। एक हफ्तेमें माथेरानसे वापस आया। मेरी तबीयतकी देखभाल शंकरलालने अपने ऊपर ले ली। उन्होंने डाक्टर दलालकी सलाह लेनेका आग्रह किया। डाक्टर दलाल आए। उनकी तत्काल निर्णय करने की शक्तिने मुझे मोह लिया। वह बोले—

"जबतक आप दूध न लेंगे मैं आपके शरीरको भर नहीं सकता। उसे भरनेके लिए आपको दूध लेना चाहिए। और लोहे तथा संखियेके इंजेक्शन लेने चाहिए। इतना कीजिए तो आपक शरीरको फिर पुष्ट कर देनेकी मै गारंटी देता हूं।"

मैंने जवाब दिया—"इंजेक्शन दीजिए, लेकिन दूध न लूंगा।"

डाक्टर ने पूछा—"दूधके बारेमें आपकी क्या प्रतिज्ञा है ?"

"गाय-भैंसके फूंका लगाया जाता है, यह जाननेके बाद दूधस मुझे नफरत हो गई, और वह मनुष्यकी खूराक नहीं ह यह तो मैं सदा मानता रहा हूं। इससे मैंने दूधका त्याग कर दिया।"

"तब तो बकरीका दूध लिया जा सकता है।"—तत्काल कस्तूरबाई, जो मेरी खाटके पास ही खड़ी थीं, बोल उठी। डाक्टर बीचमें बोले—"आप बकरीका दूध लें तो भी मरा काम हो

जायगा।"

मैं हारा। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मुझमें जीनेका लोभ पैदा कर दिया और मैंने प्रतिज्ञाके अक्षरके पालनसे संतोषमात्र कर उसकी आत्माका हनन किया। दूधकी प्रतिज्ञा करते समय यद्यपि मेरे सामने गाय-भैंस ही थी, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्रकी मानी जानी चाहिए और जबतक मैं पशुके दूधमात्रको मनुष्यकी खूराकके रूपमें निषिद्ध मानता हूं तबतक मुझे उसके लेनेका अधिकार नहीं है, यह जानते हुए भी मैं बकरीका दूध लेनेको तैयार हो गया। सत्यके पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईके लिए जीनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको दाग लगा दिया।

मेरे इस कार्यका घाव अभी भरा नहीं है और बकरीका दूध छोड़नेके विषयमें मेरा चिन्तन तो जारी ही है। बकरीका दूध पीते हुए नित्य दुःख अनुभव करता हूं। पर सेवा करनेका अति सूक्ष्म मोह जो मेरे पीछे लगा हुआ है वह मुझे छोड़ता नही है। अहिंसाकी दृष्टिसे खुराकके अपने प्रयोग मुझे प्रिय है। उनमें मुझे आनन्द मिलता है, वह मेरा मन-बहलाव है। पर मुझे बकरीका-दूध लेना इस दृष्टिसे आज नहीं खलता है। वह मुझे सत्यकी दृष्टिसे खलता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अहिंसाको मैं जितना पहचान सका हूं उससे सत्यको अधिक पहचानता हूं। मेरा यह अनुभव है कि यदि सत्यको छोड़ दू तो अहिंसाकी कठिन गुत्थियोंको मैं कदापि नहीं सुलझा सकता। सत्यके पालनका अर्थ है, लिये हुए व्रतके शरीर और आत्माकी रक्षा; शब्दार्थ और भावार्थ दोनोंका पालन। यहां मैंने आत्माका—भावार्थका हनन किया, यह मुझे रोज चुभता है। यह जानते हुए भी, अपने व्रतके सिलसिलेमें मेरा धम क्या है यह मै नही जान सका। या यों कहिए कि उसके पालनकी हिम्मत मुझमें नहीं है। दोनों एक ही वस्तु है, क्योंकि शंकाके मूलमें श्रद्धाका अभाव होता है। "हे ईश्वर! मुझे तू श्रद्धा दे।"

बकरीके दूध शुरू करनेके कुछ दिनों बाद डा० दलालने

गुदाद्वारमें जो दरार थी उनपर शस्त्रक्रिया की और वह बहुत सफल सिद्ध हुई।

खाटसे उठनेकी कुछ आशा बांध रहा था और अखबार वगैरा पढ़ने लगा था। इतनेमें रौलट कमेटीकी रिपोर्ट मेरे हाथमें पड़ी। उसकी सिफारिशें पढ़कर मै चौक उठा। भाई उमर (सुभानी) और शंकरलालने सलाह दी कि इस विषयमें जोरदार कार्रवाई करना चाहिए। लगभग महीनेभर बाद मैं अहमदाबाद गया। वल्लभभाई प्राय: नित्य मुझे देखने आते थे। मैंने उनसे बातें की और कहा कि इस विषयमें कुछ होना चाहिए। "क्या होना चाहिए?" इसके जवाबमें मैंने कहा—"अगर थोड़ेसे आदमी भी इसकी प्रतिज्ञा लेनेवाले मिल जाय और कमेटीकी सिफारिशोंके मुताबिक कानून बन ही जाय तो हमें सत्याग्रह शुरू कर देना चाहिए। मै खाटपर पडा न होता तो अकेला भी जूझता और आशा करता कि दूसरे बाद में आ मिलेंगे। अपनी लाचार हालतमें अकेले जूझनेकी शक्ति मुझमें बिलकुल नही है।"

इस बातचीतके फलस्वरूप, मेरे साथ जिनसे मेरा काफी साबिका पड़ चुका था, ऐसे आदमियोंकी एक छोटी-सी बैठक करने का निश्चय हुआ। मुझे तो साफ दिखाई दे रहा था कि रौलट कमेटीको जो सबूत मिले थे उनके आधारपर जैसे कानूनकी सिफारिश उसने की है वैसे कानूनकी कतई जरूरत नही है। कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र वैसे कानूनको स्वीकार नही कर सकता; यह बात भी मेरे लिए उतनी ही स्पष्ट थी।

फिर सभा हुई। उसमे मुश्किलसे बीस आदमी बुलाये गए थे। मेरी स्मृतिके अनुसार वल्लभभाईके सिवा उसमें श्रीमती सरोजिनी नायडू, हार्निमैन, स्व० उमर सुभानी, शंकरलाल बैंकर, अनसूयाबहन आदि थे।

प्रतिज्ञा-पत्र बनाया गया और जहांतक मुझे याद है जो लोग वहां उपस्थित थे सबने उसपर दस्तखत किये। इस समय मैं अखबार नहीं चलाता था, पर समय-समयपर अखबारोंमें लिखा

करता था। मैंने वैसे ही लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकरने जोरका आन्दोलन चलाना शुरू किया। उनकी काम करने और संगठन करनेकी शक्तिका मुझे इस समय खूब अनुभव हुआ।

यह मुझे नामुमकिन मालूम हुआ कि कोई भी मौजूदा संस्था सत्याग्रहके समान नया शस्त्र उठा ले। इससे सत्याग्रह-सभाकी स्थापना हुई। उसमें मुख्य नाम बम्बईमें ही लिखे गए। उसका केंद्र भी बंबईमें ही रखा गया। प्रतिज्ञा पत्रपर खूब दस्तखत होने लगे और खेड़ाके युद्धकी भांति यहां भी परचे निकले और जगह-जगह सभाएं हुईं।

इस सभाका अध्यक्ष मैं बना था। मैंने देखा कि शिक्षितवर्ग और मेरे बीच अधिक मेल नहीं जम सकता। सभामें गुजराती भाषाके उपयोगके मेरे आग्रह और मेरी अन्य कुछ पद्धतियोंने उन्हें परेशानीमें डाल दिया। फिर भी मुझे यह स्वीकारना होगा कि बहुतोंने मेरी पद्धतिको निभा लेनेकी उदारता दिखाई। पर आरम्भमें ही मैंने देखा कि यह सभा अधिक दिन नहीं चल सकती। इसके सिवा सत्य और अहिंसाका मेरा जोर देना बहुतोंको अप्रिय हो गया। तो भी आरम्भमें तो यह नया काम बड़े जोर-शोरसे चला।

: ३० :

वह अद्भुत दृश्य!

रौलट-कमेटीकी रिपोर्टके खिलाफ एक ओरसे आंदोलन बढ़ता गया, दूसरी ओरसे सरकार कमेटीकी सिफारिशोंको अमलमें लानेको कृत-निश्चय होती गई। रौलट-बिल प्रकाशित हुआ। मैं एक ही बार बड़ी कौंसिलकी बैठकमें गया हूं। रौलट-बिलपर होनेवाली बहस सुनने गया। शास्त्रीजीने गरमागरम भाषण दिया, सरकारको चेतावनी दी। शास्त्रीजीका वचन-प्रवाह जब चल रहा था उस समय वाइसराय उनके मुंह की ओर ताक रहे थे। मुझे तो लगा कि इस भाषणका उनके मनपर असर हुआ

होगा। शास्त्रीजी भावावेगसे उफन रहे थे।

पर ऊंघतेको आदमी जगा सकता है, जागता ऊंघे तो उसके कानपर ढोल बजानेसे भी क्या होगा ? कौंसिलमें बिलोंपर विचारका नाटक तो होना ही चाहिए था। सरकारने यह किया, पर उसे जो काम करना था उसका निश्चय तो हो ही चुका था। अतः शास्त्रीजीकी चेतावनी बेकार गई।

मेरी तूतीकी आवाज तो उस नक्कारखानेमें सुनता ही कौन था। मैंने वाइसरायसे मिलकर बहुत आरजू-मिन्नत की, निजी पत्र लिखे, खुली चिट्ठियां लिखी। उसमें साफ बतला दिया कि सत्याग्रहके सिवा मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं है। पर सब जंगलका रोना साबित हुआ।

अभी बिल गजटमें नहीं आया था। मेरा शरीर तो कमजोर था, पर मैंने लंबी यात्राकी जोखिम उठाई। मुझमें ऊंचे स्वरमें बोलनेकी शक्ति नहीं आई थी। खड़े रहकर बोलनेकी शक्ति तो गई सो फिर आजतक न लौटी। खड़े-खड़े थोड़ी देर बोलनेसे सारा शरीर कांपने लगता और छाती तथा पेटमें बेचैनी होने लगती। पर मुझे ऐसा लगा कि मद्राससे आये हुए निमन्त्रणको मुझे स्वीकार करना ही चाहिए। दक्षिणके प्रान्त उस समय मुझे घर-जैसे लगते थे। दक्षिण अफ्रीकाके संबंधके कारण तमिल, तेलुगु आदि दक्षिण प्रान्तके लोगोंपर मैं अपना कुछ हक मानता आया हूं और वैसा माननेमें मुझे अपनी जरा-सी भी भूल अबतक नहीं जान पड़ी। निमन्त्रण स्व० कस्तूरी रंगा आयंगर की ओर से था। उस निमन्त्रणके पीछे राजगोपालाचार्य थे। यह मुझे मद्रास जानेपर मालूम हुआ। यह मेरा राजगोपालाचार्यसे पहला परिचय माना जा सकता है। मैं उन्हें शक्लसे इसी समयसे पहचानने लगा।

सार्वजनिक काममें अधिक योग देनेके विचारसे और श्रीकस्तूरी रंगा आयंगर इत्यादि मित्रोंके अनुरोधसे वह सेलम छोड़कर मद्रासमें वकालत शुरू करनेवाले थे। मैं उन्हींके यहां ठहराया गया था। मुझे दो दिन बाद ही पता चला कि मैं उनके

यहां ठहराया गया था। बंगला कस्तूरी रंगा आयंगरका होनेके कारण मैंने यह मान लिया था कि मैं उनका मेहमान हूं। महादेव देसाईने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य हमसे कतराते ही रहते थे, पर महादेवने उनको भलीभांति पहचान लिया था। महादेवने मुझे बताया—"आपको राजगोपालाचार्यसे परिचय कर लेना चाहिए।"

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज युद्धकी योजनाके बारेमें मशविरा करना था। सभाएं करनेके सिवा मुझे कोई दूसरी चीज सूझती ही न थी। रोलट बिल अगर कानून बन जाय तो उसका सविनय भंग कैसे किया जाय? उसके सविनय-भंगका मौका भी सरकार दे तभी मिल सकता है। और जिस कानूनका सविनय-भंग हो सकता है उसकी मर्यादाकी हद कहां रखी जाय। इसी तरहकी चर्चा होती थी।

श्री कस्तूरी रंगा आयंगरने नेताओंकी एक-छोटी सी बैठक भी की। उसमें खूब बहस हुई। उसमें श्री विजय-राघवाचार्य पूरा हिस्सा लेते थे। उन्होंने मुझे सूक्ष्म सूचनाएं लिखकर सत्याग्रहका शास्त्र लिख डालनेकी सलाह दी। मैंने निवेदन किया कि यह काम मेरे बूतके बाहर है।

यों खिचड़ी पक रही थी कि इसी बीच खबर मिली कि बिल बतौर कानूनके रूपमें गजटमें प्रकाशित हो गया। जिस दिन यह खबर मिली उसी रातको मैं विचार करते-करते सोया। भोरमें ही जग गया। अर्ध निद्रा रही होगी जब स्वप्नमें मुझे विचार सूझा। सवेरे ही मैंने राजगोपालाचार्यको बुलाया और बात की—"रातको स्वप्नावस्थामें मेरे मनमें यह विचार आया कि इस कानूनके जवाबमें हमें सारे देशमें हड़ताल करनेकी सलाह देनी चाहिए। सत्याग्रह आत्मशुद्धिका युद्ध है। यह धार्मिक युद्ध है। धर्मकार्य शुद्धिसे आरम्भ करना ठीक मालूम होता है। उस दिन सब उपवास करें और काम-काज बन्द रखें। मुसलमान भाई रोजेसे ज्यादा उपवास न रखेंगे, इसलिए उपवास चौबीस घंटेका

रखनेकी सलाह देनी चाहिए। इसमें सब प्रान्तवाले शामिल होंगे या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता। बम्बई, मद्रास, बिहार और सिंधकी तो मुझे आशा है ही। इतनी जगहोंमें ठीक तौरसे हड़ताल हो जाय तो हमें संतोष मानना चाहिए।"

यह सलाह राजगोपालाचार्यको बहुत पसन्द आई। उसके बाद वह दूसरे मित्रोंको बताई गई। सबने स्वागत किया। एक छोटी-सी नोटिस मैंने बना दी। पहले १९१९ के मार्चकी ३० तारीख रखी गई थी, फिर छठी अप्रैल कर दी गई। लोगोंको सूचना बहुत थोड़े दिन पहले ही दी गई थी। काम तुरन्त शुरू कर देनेकी जरूरत समझी जा रही थी। इससे तैयारीके लिए लंबी अवधिकी गुंजाइश ही न थी।

पर मालूम नहीं कैसे, सारा संगठन हो गया! सारे हिन्दुस्तान में—शहरमें और गांवोंमें—हड़ताल हुई। वह शानदार दृश्य था।

: ३१ :

वह हफ्ता !-१

दक्षिणमें थोड़ी यात्रा करके संभवत: चौथी अप्रैलको मैं बम्बई पहुंचा। श्री शंकरलाल बैंकरका तार आया था कि छठी तारीखकी हड़ताल मनानेके लिए आपको बम्बईमें मौजूद रहना चाहिए।

पर इसके पहले दिल्लीमें तो हड़ताल ३० मार्चको मना ली गई थी। दिल्लीमें स्व० श्रद्धानन्दजी और स्वर्गीय हकीम साहब अजमलखांकी दुहाई फिरती थी। छठी तारीखतक हड़तालकी अवधि बढ़ानेकी सूचना दिल्लीमें देरसे पहुंची थी। दिल्लीमें उस दिन जैसी हड़ताल हुई थी वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। जान पड़ा हिन्दू और मुसलमान एक दिल हो गए। श्रद्धानन्दजीको जामा मस्जिदमें आनेका निमन्त्रण दिया और वहां उन्हें भाषण करने दिया गया। यह सब अधिकारियोंकी बर्दाश्तके बाहर

था। रेलवे स्टेशनकी ओर जाते जलूसको पुलिसने रोका और गोलियां चलाई। कितने ही लोग जख्मी हुए कुछ जानसे मारे गए। दिल्लीमें दमनका दौर-दौरा हुआ। श्रद्धानन्दजीने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार दिया कि बम्बईमें छठी तारीख मनाकर तुरन्त दिल्ली पहुंचूंगा।

जो-कुछ दिल्ली में हुआ वही लाहौर और अमृतसरमें भी हुआ। अमृतसरसे डा० सत्यपाल और किचलूका साग्रह बुलाहट-का तार मिला था। इन दो भाइयोंको मैं उस वक्त बिल्कुल न जानता था। पर उन्हें भी लिख दिया कि दिल्ली होकर आऊंगा।

छठीको बम्बईमें सवेरेके समय हजारों आदमी चौपाटीपर स्नान करने गए और वहांसे ठाकुरद्वार जानेको जलूस निकला। उसमें स्त्रियां और बच्चे भी थे। जलूसमें मुसलमान भी अच्छी तादादमें शामिल हुए थे। इस जलूसमेंसे मुसलमानभाई हमें एक मस्जिदमें ले गए। वहां श्रीमती सरोजिनी देवीसे और मुझसे भाषण कराए। यहां श्री, विट्ठलदास जेराजाणीने स्वदेशी और हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी प्रतिज्ञा करानेका सुझाव पेश किया। मैंने ऐसी उतावली में प्रतिज्ञा करानेसे इन्कार किया। जितना हो रहा था उतनेसे संतोष करनेकी सलाह दी। प्रतिज्ञा करके तोड़ी नही जा सकती। स्वदेशीका अर्थ हमे समझना चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी जोखिमका खयाल हमे करना चाहिए इत्यादि बातें कही; और यह सूचना दी कि जिसका प्रतिज्ञा लेनेका विचार हो वह चाहे तो अगले दिन सवेरे चौपाटी के मैदानपर उपस्थित हो।

बंबईकी हड़ताल सपूर्ण थी।

यहां कानूनके सविनय-भंगकी तैयारी कर रखी गई थी। भंग हो सकनेवाली दो-तीन चीजें थीं। जो कानून रद्द किये जाने लायक थे और जो ऐसे थे कि जिनका भंग सब आसानीसे कर सकते थे, उनमेंसे एकका ही उपयोग करनेका निश्चय था। नमक-करका कानून सबको खलता था। उस करको रद्द कराने

के लिए बहुत कोशिशें हो रही थीं। अत: मैंने एक सुझाव यह रखा कि सब लोग बिना इजाजतके अपने घरमें नमक बनाएं। दूसरा सुझाव था सरकारकी जब्त की हुई पुस्तकोंको छपाने और बेचनेका। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थी 'हिन्द स्वराज' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तकोंका छपाना-बेचना सबसे आसान सविनय कानून-भंग जान पड़ा। इससे ये छपाई गई और शामको उपवास समाप्त होनेपर और चौपाटीकी विराट् सभाके विसर्जनके बाद बेचनेका इंतजाम हुआ।

शामको अनेक स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचने निकल पड़े। एक मोटरमें मैं निकला और दूसरीमें श्रीमती सरोजिनीनायडू निकलीं। जितनी प्रतियां छपाई गई थीं उतनी सब खप गई। इनकी जो कीमत मिलती वह लड़ाईके काममें ही खर्चकी जानेवाली थी। प्रत्येकका मूल्य चार आने रखा गया। पर मेरे हाथपर या सरोजिनी देवीके हाथपर शायद ही किसीने चार आने रखे होंगे। जो कुछ अपनी जेबमें था सब हवाले करके प्रतियां लेनेवाले बहुत निकल आये। कोई-कोई पांच और दसके नोट भी हमारे हाथ पर रख देते थे। पचास रुपयेके नोटतक एक प्रतिके लिए पानेका मुझे स्मरण है। लोगोंको बता दिया गया था कि खरीदारके लिए भी जेलका खतरा है। पर क्षणभरके लिए लोगोंने मनसे जेलका भय त्याग दिया था।

सातवीं तारीखको मालूम हुआ कि जिन किताबोंको बेचनेपर सरकारने प्रतिबन्ध लगाया था, वह सरकारकी दृष्टिमें बेची गई नहीं मानी जा सकतीं। जो पुस्तकें बिकीं वे तो उसकी दूसरी आवृत्ति मानी जायंगी। जब्तशुदा किताबोंमें उनकी गिनती नहीं हो सकती। सरकारकी ओरसे कहा गया कि इस नई आवृत्तिके छापने, बेचने, खरीदनेमें कोई अपराध हुआ नहीं माना जायगा। यह खबर सुनकर लोग निराश हुए।

इस तारीखको चौपाटीपर सवेरे स्वदेशी-व्रत और हिन्दू-मुस्लिम-एकताका व्रत लेनेके लिए लोगोंके एकत्र होनेकी बात

थी। विट्ठलदास जेराजाणीको यह पहला अनुभव हुआ कि हर सफेद चीज दूध नहीं है। लोग बहुत कम इकट्ठे हुए। इनमें दो-चार बहनोंके नाम मुझे याद आ रहे हैं। पुरुष भी थोड़े थे। मैंने व्रतका मसविदा बना रखा था। उसका अर्थ उपस्थित जनोंको खूब समझा दिया, तब व्रत लेने दिया। थोड़ी उपस्थितिसे मुझे अचरज नहीं हुआ, दु:ख भी नहीं हुआ। तूफानी काम और धीमे रचनात्मक कामके बीच जो भेद है वह और पहलेके प्रति लोगोंके पक्षपात और दूसरेसे अरुचिका अनुभव मैं तभीसे करता आया हूं।

पर इस विषयको अलग प्रकरण देना पड़ेगा।

सातकी रातको मै दिल्ली-अमृतसरके लिए रवाना हुआ। आठको मथुरा पहुंचनेपर कानमें भनक पड़ी कि शायद मुझे गिरफ्तार कर लें। मथुराके बाद एक स्टेशनपर गाड़ी रुकती थी। वहां आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मेरे पकड़े जानेके बारेमें पक्की खबर दी और कहा कि मेरी सेवाकी आवश्यकता हो तो मैं हाजिर हूं। मैंने धन्यवाद दिया और कहा कि आवश्यकता होनेपर आपसे सहायता लेना न भूलूंगा।

पलवल स्टेशन आनेके पहले ही पुलिस-अधिकारीने मेरे हाथपर हुक्मनामा रखा। आज्ञा इस प्रकारकी थी, "आपके पंजाबमें प्रवेश करनेसे अशांति बढ़नेका डर है, इससे आप पंजाबकी सरहद-में दाखिल न हों।" इस प्रकारका हुक्म था। पुलिस-अधिकारीने हुक्मनामा देकर मुझे उतर जानेको कहा। मैंने उतरनेसे इन्कार किया और कहा—"मैं अशांति बढ़ाने नहीं, बल्कि निमंत्रण पाकर अशांति घटाने के लिए जाना चाहता हूं। इसलिए मुझे खेद है कि मुझसे इस आज्ञाका पालन नहीं हो सकता।"

पलवल आया। महादेव मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर श्रद्धानन्दजीको खबर देने और लोगोंको शांत रखनेको कहा तथा बताया कि हुक्मको न मानकर जो सजा होगी उसे भुगतनेका मैंने निश्चय किया है; और सजा होनेपर भी लोगोंके शांत रहनेमें

ही हमारी जीत है, यह समझा दिया जाय।

पलवल स्टेशनपर मैं उतार लिया गया और पुलिसके हवाले कर दिया गया। दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दरजेके डिब्बेमें मै बिठाया गया और पुलिसदल साथ बैठा। मथुरा पहुंचनेपर मुझे पुलिस बारकमें ले गए। मेरा क्या होगा और मुझे कहां ले जाना है, कोई पुलिसका अधिकारी मुझे बता न सका। सवेरे चार बजे मुझे उठाया और बंबईकी ओर जानवाली माल-गाड़ीमें बिठा दिया गया। दोपहरको सवाई माधोपुर स्टेशनपर उतार दिया गया। वहां बंबईकी मेल ट्रेनमें लाहौरसे इंस्पेक्टर बोरिंग आए। उन्होंने मेरा चार्ज लिया।

अब मै पहले दरजेमे सवार कराया गया। साथ साहब बैठे। अबतक मै साधारण कैदी था, अब 'जेंटलमैन कैदी' समझा जाने लगा। साहबने सर माइकल ओडवायरका बखान शुरू किया। उन्हें मेरे खिलाफ तो कोई शिकायत नहीं है। लेकिन मेरे पंजाब मे जानेसे उन्हें अशांतिका पूरा भय है; इत्यादि, कहकर मुझे अपने आप लौट जाने और फिर पजाबकी सरहद पार न करनेका अनुरोध किया। मैंने उनसे कह दिया कि मुझसे इस आज्ञाका पालन न हो सकेगा और मै स्वेच्छासे वापस जानेको तैयार नही। अत: साहबने लाचार होकर कानूनी कार्रवाईकी बात कही। मैंने पूछा, "लेकिन यह तो कहिए कि मेरा करना क्या चाहते हैं?" बोले, "मुझे तो पता नही है। मुझे दूसरे हुक्मका इंतजार है। अभी तो मैं आपको बंबई ले जा रहा हूं।"

सूरत पहुंचनेपर किसी दूसरे अधिकारीने मेरा चार्ज लिया। राहमें मुझसे कहा—"आप मुक्त है, पर आपके लिए मरीन लाइन्स स्टेशनके पास गाड़ी खड़ी कराऊंगा और आप वहां उतर जायं तो ज्यादा अच्छा हो। कोलाबा स्टेशनपर बड़ी भीड़ होनेकी संभावना है।" "मैंने उससे कहा कि आपका कहना करनेमें मुझे प्रसन्नता है।" वह खुश हुआ और धन्यवाद दिया। मैं मरीन लाइन्सपर उतरा। वहां किसी परिचितकी घोड़ा-गाड़ी दिखाई

दी। वह मुझे रेवाशंकर झवेरीके घर उतार गए। उन्होंने मुझे खबर दी, "आपके पकड़े जानेकी खबर पाकर लोग क्रुद्ध हो गए हैं और पागलसे हो रहे हैं पायधुनीके पास दंगेका खतरा है। मजिस्ट्रेट और पुलिस वहां पहुंच गई है।"

मैं घर पहुंचा ही था कि उमर सुभानी और अनसूयाबहन मोटरमें आए और मुझे पायधुनी चलनेको कहा। "लोग अधीर हो गये हैं, उत्तेजित हो रहे हैं। हममेंसे किसीके किये शांत नही हो सकते। आपको देखेंगे तभी शांत होंगे।"

मैं मोटरमें बैठ गया। पायधूनी पहुंचते ही रास्तेमें भारी मजमा दिखाई दिया। लोग मुझे देखकर हर्षोन्मत्त हो गए। अब जलूस बना। 'वन्देमातरम्', 'अल्लाहो अकबर' के नारोंसे आकाश गूज उठा। पायधुनीपर घुड़सवार दिखाई दिये। ऊपरसे इंटोंकी वर्षा हो रही थी। मैं लोगोंसे शांत रहनेके लिए हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा था। जान पडा कि हम भी ईटोंकी इस बौछारसे न बच पायंगे।

अब्दुर्रहमान गलीमेंसे क्राफर्ड मारकेटकी ओर जाते हुए जुलूसको रोकनेके लिए घुड़सवारोंका दल सामनेसे आ पहुंचा। वे जुलूसको फोर्टकी ओर जानेसे रोकनेकी कोशिश कर रहे थे। लोग वहां समा नहीं रहे थे। मजमा पुलिसकी लाइनको चीरकर आगे बढ़ा। मेरी आवाज वहां सुनाइ न पड़ सकती थी। इसपर घुड़सवारदलके नायकने जलूसको तितर-बितर करनेका हुक्म दिया और भाला चमकाती हुई इस टुकड़ीने एकबारगी घोड़ोंको छोड़ दिया। मुझे डर लगा कि इनका भाला हमारा भी काम तमाम कर दे तो ताज्जुब नहीं। पर यह भय निराधार था। बगल होकर सब भाले बड़ी तेजीसे सनसनाते हुए दूर निकल जाते थे। लोगोंका मजमा बिखर गया। भगदड़ मची। कोई कुचला गया, कोई जखमी हुआ। घुड़सवारोंके निकलनेका रास्ता नहीं था। लोगोंके लिए आसपास बिखरनेका रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटें तो उधर भी हजारों ठसाठस भरे हुए थे। सारा दृश्य भयंकर

लगा। घुड़सवार और जनसमूह दोनों पागल-से लगे। घुड़सवार कुछ देखते नही थे, या देख नहीं सकते थे। वे तो टेढ़े होकर घोड़ोंको दौड़ा रहे थे। मैंने यह देखा कि जितने क्षण इन हजारोंके दलोंको चीरनेमें लगे उतनी देरतक वे कुछ देख ही न सकते थे।

लोग यों तितर-बितर किये और आगे जानेसे रोके गए। हमारा मोटरको आगे बढ़ने दिया गया। मैंने कमिश्नरके दफ्तरके सामने मोटर रुकवाई और उससे पुलिसके व्यवहारकी शिकायत करने उतरा।

: ३२ :

वह हफ्ता !-२

कमिश्नर ग्रिफिथके दफ्तरमें गया। उनकी सीढ़ीके पास जहां देखा वहीं हथियारबंद सैनिकोंको बैठे हुए पाया, मानो लड़ाईके लिए तैयार हो रहे हों। बरामदेमें भी हलचल मच रही थी। मैं खबर कराके आफिस मे पैठा तो कमिश्नरके पास मि० बोरिगको बैठ पाया। मैने जो दृश्य देखा था वह कमिश्नरको बताया। उन्होंने संक्षेपमें जवाब दिया—"मुझे जुलूसको फोर्टकी तरफ नहीं जाने देना था। वहां जाने पर उपद्रव हुए बिना न रहता। और मैंने देखा कि लोग समझानेसे लौटनेवाले नही है, इसलिए घड़सवारोंकी भीड़को दाबकर धकेलनेका हुक्म देनेके सिवा दूसरा उपाय नहीं था।"

मैंने कहा, "पर उसका नतीजा तो आप जानते थे। लोग घोड़ोंसे कुचले जानेसे नहीं बच सकते थ। मेरा तो खयाल ह कि घुड़सवार-दल भेजनेकी जरूरत ही नहीं थी।" साहब बोले—"इसका पता आपको नहीं हो सकता। लोगोंपर आपकी शिक्षाका असर कैसा हुआ है, इसका पता हम पुलिसवालोंको आपसे ज्यादा ह। हम पहलेसे कड़ी कार्रवाई न करें तो ज्यादा नुकसान हो सकता है। मै आपको बतलाता हूं कि लोग आपके काबूमें भी रहनवाले नहीं हैं। कानूनके तोड़नेकी बात वे झट समझ

लेंगे, लेकिन शांतिकी बात समझना उनके बूतेके बाहर है। आपकी नीयत अच्छी है, पर उसे लोग नहीं समझ पाते। वे तो अपने स्वभावका अनुसरण करेंगे।"

मैंने जवाब दिया—"पर मुझमें और आपमें यही तो भेद है। लोग स्वभावत: लड़ाके नहीं, बल्कि शांतिप्रिय हैं।"

हममें बहस होने लगी।

अंतमें साहब बोले—"अच्छा कहिए, अब यदि लोग आपकी शिक्षा नहीं समझ पाये हैं इसका आपको इतमीनान हो जाय तो आप क्या करेंगे?"

मैंने जवाब दिया—"मुझपर यह साबित हो जाय तो इस आंदोलनको मैं स्थगित रखूंगा।"

"स्थगित रखनेके क्या मानी? आपने तो मि० बोरिंगसे कहा है कि आप मुक्त हो जायं तो तुरन्त वापस पंजाब जाना चाहते हैं!

"हां, मेरा इरादा तो वापसी ट्रेनसे वापस जानेका था, पर आज तो यह हो नहीं सकता।"

"आप धीरज रखेंगे तो आपको और बहुत-सी बातें मालूम होंगी। आपको पता है कि अहमदाबादमें क्या हो रहा है, अमृतसरमें में क्या हुआ है। लोग सर्वत्र पागल-से हो रहे हैं। मुझे भी पूरा पता नहीं है। कितनी ही जगह तार तोड़ दिये गए हैं। मैं तो आपसे कहता हूं कि इस सारे तूफानकी जवाबदेही आपके सिर है।"

मैंने कहा, "मेरी जवाबदेही जहां होगी वहां मैं ओढ़नेसे इंकार नहीं करूंगा। अहमदाबादमें लोग कुछ भी करें तो मुझे आश्चर्य और दु:ख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ नहीं जानता। वहां तो मैं कभी गया ही नहीं। वहां मुझे कोइ जानता भी नही। पर मैं इतना जानता हूं कि पंजाबकी सरकारने मुझे वहां जानेसे न रोका होता तो मैं शांतिरक्षामें बहुत हाथ बंटा सकता था। मुझे रोककर तो सरकारने लोगोंको चिढ़ाया है।"

इस प्रकार बातें होती रहीं। हमारे मतका मेल मिलनेवाला

नहीं था। चौपाटीपर सभा करने और लोगोंको शांति रखनेको समझानेका विचार बताकर मैं चला आया।

चौपाटीपर सभा हुई। मैंने लोगोंको शांति और सत्याग्रहकी मर्यादाके बारेमें समझाया और बतलाया—"सत्याग्रह सचाईका खेल है। लोग शांति न रखेंगे तो सत्याग्रहका युद्ध मेरे चलाए कभी न चल सकेगा।" अहमदाबादसे श्रीमती अनसूया बहनको भी खबर मिल चुकी थी कि वहां भी दंगा हुआ है। किसीने अफवाह उड़ा दी थी कि वह भी पकड़ी गई हैं। इससे मजदूर पागल हो उठे थे। उन्होंने हड़ताल की और उपद्रव भी मचाया था, और एक सिपाहीका खून भी हो गया था।

मैं अहमदाबाद गया। मुझे पता चला कि नडियादके पास रेलकी पटरी उखाड़नेकी कोशिश भी हुई थी। वीरमगांवमें एक सरकारी कर्मचारी का कत्ल कर दिया गया था। अहमदाबाद पहुंचा तो वहां मार्शलला (सैनिक शासन) जारी था। लोगोंमें दहशत फैल रही थी। लोगोंने जैसा किया वैसा पाया और ब्याज भी पाया।

स्टेशनपर मुझे कमिश्नर मि० प्रेटके पास ले जानेको आदमी मौजूद थे। मैं उनके पास गया। वह खूब गुस्सेमें थे। मैंने शांतिसे उन्हें उत्तर दिया। हत्याओंके लिए दुःख प्रकट किया। मार्शल-लाकी अनावश्यकता भी बताई और कहा कि फिरसे शांति स्थापित होनेके लिए जो कुछ करना जरूरी हो उसे करनेको तैयार हूं। मैंने सार्वजनिक सभा करनेकी इजाजत मांगी। वह सभा आश्रमकी जमीनपर करनेकी इच्छा बताई। यह राय उन्हें पसंद आई। जहांतक मुझे याद है मैंने १३ अप्रैल रविवारको सभा की। मार्शल-ला भी उसी दिन या दूसरे दिन समाप्त हुआ। इस सभामें मैंने लोगोंको उनका कसूर बतलानेकी कोशिश की। मैंने तीन दिनका उपवास प्रायश्चित्तरूपमें किया और लोगोंको एक दिनका उपवास करनेकी सलाह दी। जो हत्या इत्यादिमें शरीक रहे हों उन्हें अपना अपराध स्वीकार कर लेनेकी सलाह दी।

मुझे अपना फर्ज साफ दिखाई दिया। जिन मजदूरों आदिके बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैने सेवा की थी और जिनमें मै भले व्यवहारकी आशा रखता था, उन्होंने हुल्लड़में हिस्सा लिया, यह मुझे असह्य लगा और इनके दोषका मैंने अपने-आपको भागी माना।

जैसे लोगोंको अपराध स्वीकार कर लेनेकी सलाह मैंने दी वैसे ही सरकारसे उसे माफ कर देनेको कहा, पर मेरी बात दोनोंमेंसे एकने भी नहीं सुनी। न लोगोंने अपना कसूर कबूल किया, न सरकारने उन्हें माफ किया।

स्व० रमणभाई आदि नागरिकोंने आकर मुझसे सत्याग्रह स्थगित रखनेकी अपील की। मुझसे अपील करनेकी जरूरत ही नही रह गई थी। जबतक लोग शांतिका पाठ न पढ़ लें तबतक सत्याग्रह स्थगित रखनेका निश्चय मै कर ही चुका था। इससे वे खुश हुए।

कुछ मित्र नाराज भी हुए। व सोचते थे कि यदि मैं सर्वत्र शांतिकी आशा रखू और यह सत्याग्रहकी शर्त हो तो बड़े पैमानेपर सत्याग्रह कभी चल ही नही सकता। मैने अपना मतभेद जताया। जिन लोगोंमें काम किया गया हो, जिनके द्वारा सत्याग्रह करनेकी आशा रखी जाती हो, वे अगर शांति न रखें तो निःसन्देह सत्याग्रह नही चल सकता। मेरी दलील थी कि इतनी मर्यादित शांति-रक्षा-की शक्ति सत्याग्रही नेताओंको प्राप्त करनी ही चाहिए। आज भी अपने इन विचारोंको बदल नहीं सका।

: ३३ :

'पहाड़-जैसी भूल'

अहमदाबादकी सभाके बाद तुरत मैं नडियाद गया। 'पहाड़-जैसी भूल' के नामसे जो शब्दप्रयोग इतना प्रसिद्ध हो गया है, वह मैंने पहले नहीं किया। अहमदाबादमें ही मुझे अपनी भूल

दिखाई देने लगी थी। पर नडियादमें वहांकी स्थितिका विचार करते हुए, खेड़ा जिलेके बहुतेरे आदमियोंके गिरफ्तार हो जानेकी बात सुनकर, जिस सभामें मै हुई घटनाओंपर भाषण कर रहा था, वहीं यकायक मेरे मनने कहा कि खेड़ा जिलेके तथा ऐसे दूसरे लोगोंको कानूनका सविनयभग करनेके लिए आवाहन करनेमें मैंने जल्दीबाजी करनेकी गलती की थी और वह भूल मुझे पहाड़-जैसी जान पड़ी।

इस स्वीकारोक्तिके कारण मेरा काफी मजाक उड़ाया गया, फिर भी अपनी गलती स्वीकार करनेके लिए मुझे कभी पछतावा नहीं हुआ। मैंने सदा यह माना है कि दूसरोंके गज-समान दोषोंको हम रज-समान करके देखें; और अपने राई-जैसे लगनेवाले दोषोंको पर्वतके समान देखना सीखें, तभी हमें अपने और पराये दोषोंका सही अंदाजा हो सकेगा। मैंने यह भी माना है कि इस साधारण नियमका पालन सत्याग्रही होनेके अभिलाषीको बहुत अधिक सूक्ष्मतासे करना चाहिए। अब इसपर विचार करें कि वह पहाड़-सी लगने वाली भूल थी क्या। कानूनका सविनय-भंग उन्हीं आदमियोंसे हो सकता है जिन्होंने कानूनका विनय-पूर्वक स्वेच्छासे पालन किया हो। अधिकांशमें तो हम कानूनोंका पालन उनसे मिलनेवाली सजाके डरसे करते हैं। इसके सिवा यह बात एस कानूनोंपर खासतौरसे घटित होती है, जिनमें नीति-अनीतिका सवाल नहीं होता। कानून हो या न हो, पर अच्छे माने जानेवाले आदमी यकायक चोरी न करेंगे; फिर भी रातको बाइसिकिलमें रोशनी रखनेके नियमसे बचनेपर अच्छे आदमीको भी ग्लानि नहीं होती और ऐसे नियमका पालन करनेकी सलाह कोई दे तो उसका पालन करनेको भले आदमी भी झटपट तैयार नहीं होंगे। पर जब वह बात कानूनमें आ जाती है और उसके भंगमें दंडित होनेका डर होता है, तब दंडसे कष्टके बचनेके लिए वे अंधेरा होनेपर रोशनी जलायेंगे। नियमका ऐसा पालन स्वेच्छासे किया हुआ पालन नहीं माना जा सकता।

पर सत्याग्रही तो समाजके कानूनोंका आदर सोचसमझकर, खुशीसे और धर्म मानकर करेगा। इस प्रकार जिसने समाजके नियमोंका इच्छापूर्वक पालन किया है उसीको समाजके नियमोंकी नीति-अनीतिका भेद करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। और उसे कुछ अवस्थाओंमें अमुक नियमविशेषका भंग करनेका अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार लोगोंके प्राप्त करनेके पहले उन्हें मैंने सविनय कानून-भंगका आह्वान किया। अपनी यह भूल मुझे पहाड़-जैसी लगी और खेड़ा जिलेमें प्रवेश करनेपर मुझे वहांके आंदोलनकी याद आई और मेरे मनने कहा कि मैंने खुले खतरेको नहीं देखा। मुझे लगा कि लोग सविनय-भंग करनेके योग्य बनें, इसके पहले उसके गंभीर रहस्यका उन्हें ज्ञान होना चाहिए। जिन्होंने कानूनोंको रोज जानकर तोड़ा हो, जो गुप्तरीतिसे अनेक बार कानूनों का भंग करते हों। वे यकायक सविनय-भंगको कैसे समझ सकते है? उसकी मर्यादाका पालन कैसे कर सकते हैं?

यह आदर्श स्थिति हजारों या लाखों आदमी नहीं प्राप्त कर सकते, यह बात तो सहज ही समझमें आ सकती है। पर ऐसा हो तो सविनय भंग करानेके पहले लोगोंको ज्ञान देनेवाला और उन्हें प्रतिक्षण रास्ता दिखानेवाला शुद्ध स्वयंसेवकोंका दल पैदा होना चाहिए और ऐसे दलको सविनयभंगका और उसकी मर्यादाका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।

ऐसे विचारोंको लेकर मैं बम्बई पहुँचा ओर सत्याग्रह सभाके द्वारा सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका दल बनाया। उसके द्वारा लोगोंमें सविनय-भंगके तत्त्व समझानेकी शिक्षाका श्रीगणेश किया। वह तत्त्व समझानेवाले परचे प्रकाशित किये।

यह काम चला तो जरूर, पर मैंने देखा कि उसमें मैं बहुत रस पैदा नहीं कर सका। स्वयंसेवकोंकी बाढ़ नही आई। यह नहीं कह सकते कि जो भरती हुए उन सभीने नियमित तालीम ली। भरतीमें नाम लिखानेवाले भी, ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए

बजाय दृढ़ होनेके फिसलने लगे। मैंने समझा कि सविनय-भंगकी गाड़ी जितना मैंने सोचा था उससे ज्यादा धीमी चालसे चलेगी।

: ३४ :

'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

एक ओर तो यह शांतिरक्षाका आंदोलन--उसकी चाल कितनी ही धीमी क्यों न हो--चल रहा था और दूसरी ओर सरकारकी दमन-नीति पूरे जोरसे चल रही थी। पंजाबमें उसके प्रभावका साक्षात्कार हुआ। वहां फौजी कानून यानी नादिरशाही शुरू हुई। नेता पकड़े गए। खास अदालतें, अदालतें नहीं थी, बल्कि एक गवर्नरका हुक्म बजानेका साधन बनी हुई थीं। उन्होंने बिना सबूत और शहादतके सजाएं दी। फौजी सिपाहियोंने बेकसूर आदमियोंको कीड़की तरह पेटके बल रेंगाया। इसके सामने जालियांवाला बागका कत्ले-आम तो मेरी दृष्टिमें किसी गिनतीमे नहीं था। यद्यपि जनताका और दुनियाका ध्यान तो इस नरमेधने ही खींचा था।

पंजाबमें चाहे जैसे भी प्रवेश हो करनेके लिए मुझपर जोर डाला गया। मैंने वाइसरायको पत्र लिखा, तार दिया, पर इजाजत न मिली। बिना इजाजतके जाऊं तो अंदर तो जा नहीं सकता था, किन्तु केवल सविनय कानून-भंग करनेका ही संतोष प्राप्त कर सकता था। इस धर्मसंकटमें मेरा कर्त्तव्य क्या है यह विकट प्रश्न मेरे सामने खड़ा हुआ। मुझे लगा कि मैं मनाहीकी आज्ञाका उल्लंघन करके प्रवेश करूं तो यह सविनय कानून-भंग नहीं माना जायगा। शांतिकी जो प्रतीति मैं चाहता था वह अभी मुझे नहीं हुई थी। पंजाबकी नादिरशाहीने लोगोंको अधिक उत्तेजित कर दिया था। ऐसे समय मेरा कानून-भंग करना मुझे जलती आगमें घी डालना जान पड़ा और मैंने सहसा पंजाबमें

प्रवेश करनेकी सलाहको मंजूर नहीं किया । यह निर्णय मेरे लिए कड़वा था, रोज पंजाबसे अन्यायके समाचार आते थे और रोज मुझे उन्हें सुनना और दांत पीसकर रह जाना पड़ता।

इतनेमें मि० हार्नीमैनको, जिन्होंने 'क्रानिकल'को एक प्रचंड शक्ति बना दिया था, जनताको बेखबर रखकर सरकार चुरा ले गई। इस चोरीमें जो गंदगी थी उसकी बदबू मुझे अबतक आया करती है । मैं जानता हूं कि मि० हार्नीमैन अराजकता नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह-समितिकी सलाह के बिना पंजाब-सरकारका हुक्म तोड़ा, यह उन्हें नहीं रुचा था। सविनय कानून-भंगको मुल्तवी रखनेमें उनकी पूरी सम्मति थी। उसे मुल्तवी रखनेका इरादा मैं जाहिर करूं, इसके पहले ही मुल्तवी रखनेकी सलाह देनेवाला उनका पत्र मेरे नाम रवाना हो चुका था और वह मेरा इरादा जाहिर हो चुकने पर मिला। इसका कारण अहमदाबाद और बंबईके बीचका फासला था। अतः उनके देशनिकालेसे मुझे जितना आश्चर्य हुआ उतना ही दुःख भी।

इस घटनाके कारण 'क्रानिकल'के व्यवस्थापकोंने उसके चलानेका भार मुझपर डाला । मि० बरेलवी तो थे ही, इसलिए मुझे अधिक कुछ करना-कराना नहीं रहता था, फिर भी मेरे स्वभावके अनुसार मेरे लिए यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी हो गई थी।

पर मुझे वह जिम्मेदारी ज्यादा दिन न उठानी पड़ी। सरकारकी मेहरबानीसे 'क्रानिकल' बंद हो गया।

जो 'क्रानिकल'की व्यवस्थामें कर्ताधर्ता थे वही --उमर सुभानी और शंकरलाल बैंकर--'यंग इंडिया'की व्यवस्थापर भी देख-रेख रखते थे। इन दोनोंने मुझे 'यंग इंडिया'की जिम्मेदारी लेनेकी सलाह दी। 'क्रानिकल'के अभावकी थोड़ी-बहुत पूर्ति होनेके खयालसे 'यंग इंडिया'को हफ्तेमें एक बारके बजाय दो बार निकालना उन्हें और मुझे ठीक लगा । लोगोंको सत्याग्रहका रहस्य समझानेका मुझे चाव था। पंजाबके बारेमें मैं और कुछ न

सही तो उचित आलोचना तो कर सकता था और उसके पीछे सत्याग्रहका बल विद्यमान है, इसका पता तो सरकारको था ही। इससे इन मित्रोंकी सलाह मैंने स्वीकार कर ली।

पर अंग्रेजीके द्वारा जनताको सत्याग्रहकी तालीम कैसे दी जा सकती है ? गुजरात मेरे कार्यका मुख्य क्षेत्र था। भाई इंदुलाल याज्ञिक इस समय इसी मंडलीमें थे। उनके हाथ में मासिक 'नवजीवन' था। उसका खर्च भी उक्त मित्र पूरा करते थे। यह पत्र भाई इंदुलाल और उन दोस्तोंने मुझे सौंप दिया और भाई इंदुलालने उसमें काम करना भी स्वीकार किया। इस मासिक को हमने साप्ताहिक कर दिया।

इस बीच 'क्रानिकल' सजीव हो गया। अत: 'यंग इंडिया' फिर साप्ताहिक हो गया और मेरी सलाहपर उसे अहमदाबाद ले गए। दो अखबारोंके अलग-अलग स्थानोंमेंसे चलनेमें खर्च ज्यादा पड़ता था और मुझे अधिक कठिनाई होती थी। 'नव-जीवन' तो अहमदाबादसे ही निकलता था। ऐसे अखबारोंके लिए निजका छापाखाना होना चाहिए, इसका तो मुझे 'इंडियन ओपीनियन' के मामलेमें ही अनुभव हो गया था। इसके सिवा यहांके उस समयके अखबारोंके कानून भी ऐसे थे कि मुझे जो विचार प्रकट करने थे उन्हें व्यापार-दृष्टिसे चलनेवाले छापेखाने-वाले छापनेमें हिचकते थे। यह भी अपना प्रेस करनेका प्रबल कारण था और वह अहमदाबादमें ही आसानीसे हो सकता था। इसलिए 'यंग इंडिया' को अहमदाबाद ले गए।

इन अखबारोंके जरिये मैंने सत्याग्रहकी शिक्षा जनताको यथाशक्ति देना आरंभ किया। पहले दोनों अखबारोंकी थोड़ी ही प्रतियां छपा करती थीं, सो बढ़ते-बढ़ते ४०,००० के आसपास पहुंच गई थीं। 'नवजीवन'के ग्राहक एकबारगी बढ़े, पर 'यंग इंडिया'के धीरे-धीरे बढे। मेरे जेल जानेके बाद इस ज्वारमें भाटा आया और आज दोनोंकी ग्राहक-संख्या आठ हजारसे नीचे चली गई है।

इन अखबारोंमें विज्ञापन न लेनेका मेरा आग्रह आरंभसे ही था। मेरा खयाल है कि इससे कोई हानि नहीं हुई और अखबारोंकी विचार-स्वतन्त्रताकी रक्षामें इस प्रथाने बहुत मदद दी है।

इन अखबारोंके द्वारा मै शांति पा सका; क्योंकि यद्यपि तुरत मैं सविनय कानून-भंगका आरंभ न कर सका, पर मै अपने विचार स्वतंत्रतासे प्रकट कर सका। जो सलाह-सुझावके लिए मेरी ओर देख रहे थे उन्हें आश्वासन दे सका और मेरा खयाल है कि दोनों अखबारोंने आड़े वक्तपर जनताकी अच्छी सेवा की और फौजी कानूनके जुल्मको हलका करनेमें हिस्सा लिया।

: ३५ :

पंजाबमें

पंजाबमें जो कुछ हुआ उसके लिए सर माइकल ओडवायरने मुझे गुनाहगार ठहराया था,तो वहांके कोई-कोई नौजवान मार्शल-लाके लिए भी मुझे अपराधी ठहराते न हिचकते थे। इन गुस्सोंमें भरे हुए नौजवानोंकी यह दलील थी कि मैंने सविनय कानून-भंगको मुल्तवी न कर दिया होता तो जालियांवाला बागका कत्लेआम कभी न हुआ होता, न फौजी कानून ही जारी हुआ होता। किसी-किसीने धमकी भी दी थी कि पंजाबमें कदम रखा तो गोलीका निशाना बनाए बिना न रहेंगे।

पर मुझे तो अपना कदम इतना सही मालूम होता था कि समझदार आदमियोंको गलतफहमी होनेकी गुंजाइश ही न थी। पंजाबमें जानेको मैं अधीर हो रहा था। मैंने पंजाब कभी देखा न था, पर अपनी आंखोंसे जो कुछ देख सकूं वह देखनेकी तीव्र इच्छा थी, और मुझे बुलानेवाले डा० सत्यपाल, डा० किचलू, पं० रामभज दत्त चौधरीको देखना चाहता था। वे जेलमें थे, पर मुझे पूरा विश्वास था कि सरकार उन्हें जेल में बहुत दिन नहीं रख सकती। बंबई जब-जब जाता तब-तब बहुत-से पंजाबी भाई

आकर मिलते थे। उन्हें मैं प्रोत्साहन देता था, जिसे पाकर वह प्रसन्न होते थे। मैं इस समय आत्मविश्वाससे भरा हुआ था।

पर मेरा जाना टलता जाता था। वाइसरायसे हर बार यही जवाब मिलता--"अभी देर है ।"

इस बीच हंटर-कमेटी आई। उसे सैनिक शासनके दिनोंमें पंजाबके अधिकारियोंके कारनामेके बारेमें जांच करनी थी। दीनबंधु एंड्रूज वहां पहुंच गए थे। उनके पत्रोंमें वहांकी स्थितिका हृदयद्रावक वर्णन होता था। उनसे प्रकट होता था कि अखबारोंमें जितना छपा था, उससे भी मार्शल लाका जुल्म ज्यादा था। उनमें मेरे पंजाब पहुंचनेका आग्रह होता था। दूसरी ओरसे मालवीयजीके भी तार आ रहे थे कि तुम्हें तुरत पंजाब पहुँचना चाहिए। इसलिए मैंने फिर वाइसरायको तार दिया। जवाब आया--"फलां तारीखको आप जा सकते है।" मुझे तारीख ठीक याद नही है, पर बहुत करके वह सत्रहवी अक्तूबर थी।

मैने लाहौर पहुंचकर जो दृश्य देखा वह कभी भुलाया नही जा सकता। स्टेशनपर आदमियोंकी भारी भीड़ जमा हो गई थी, मानो अनेक वर्षोके वियोगके बाद कोई प्रियजन आता हो और उससे मिलनेको सग-संबंधी आये हों। उसी प्रकार लोग हर्षोन्मत्त हो गए थे।

पंडित रामभज दत्त चौधरीके यहां मै ठहराया गया। श्रीसरलादेवी चौधरानीपर, जिन्हें मै पहलेसे जानता था, मेरी पहुनाईका भार था। 'भार' इसलिए कहता हूं कि उस समय भी जहां मै उतरता था वहां मकानमालिकोंका मकान धर्मशाला-सा हो जाता था।

पंजाबमें मैंने देखा कि बहुत-से पंजाबी नेताओंके जेलमें होनेके कारण मुख्य नेताओंका स्थान पंडित मालवीयजी, पंडित मोतीलाल-जी और स्वामी श्रद्धानन्दजीने ले रखा था। मालवीयजी और श्रद्धानन्दजीके संपर्कमें तो अच्छी तरह आ चुका था, पर पंडित मोतीलालजीके निकट संपर्कमें तो लाहौरमें ही आया।

इन नेताओं और उन स्थानिक नेताओंने जिन्हें जेल जानेका सम्मान नहीं मिला था, मुझे तुरत अपना लिया। मैं कहीं अजनबी-सा न लगा।

हंटर-कमेटीके सामने शहादत न देनेका निश्चय हम सबने एकमतसे किया। इसके सब कारण उसी वक्त बता दिये गये थे। इसलिए यहां उन्हें नहीं गिनाता। मैं आज भी मानता हूं कि ये कारण सबल थे और कमेटीका बहिष्कार उचित था।

पर यह निश्चय हुआ कि यदि कमेटीका बहिष्कार हो तो जनताकी ओरसे अर्थात् महासभाकी ओरसे एक कमेटी होनी चाहिए। पंडित मालवीयजीने मुझे, पंडित मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरंजन दास, श्री अब्बास तैयबजी और श्री जयकरको इस कमेटीमें रखा। हम जांचके लिए अलग-अलग बंट गए। इस कमेटीकी व्यवस्थाका भार सहज ही मुझपर आ पड़ा था और अधिक-से-अधिक गांवोंकी जांचका काम मेरे हिस्सेमें आनेसे मुझे पंजाब और पंजाबके गांवोंके देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

इस जांचके बीच पंजाबकी स्त्रियोंसे तो मै इस तरह मिला मानो मैं युगोंसे उन्हें जानता-पहचानता हूं। जहां जाता वहां उनकी मंडलियां मुझसे मिलतीं और मेरे सामने अपने काते हुए सूतका ढेर लगा देती। इस जांचके सिलसिलेमें मैंने अनायास देखा कि पंजाब खादीका महान् क्षेत्र हो सकता है।

लोगोंपर हुए जुल्मोंकी जांच करते हुए ज्यों-ज्यों मैं गहराई में उतरता गया त्यों-त्यों सरकारी अराजकता, अधिकारियोंकी नादिरशाही, उनकी मनमानी—घरजानीकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य और दु:ख होने लगा। जिस पजाबसे सरकारको अधिक-से-अधिक सिपाही मिलते है, वहांके लोग कैसे इतना बड़ा जुल्म सहन कर सके, यह मुझे उस समय अचरजकी बात जान पड़ी और आज भी लगती है!

इस कमेटीकी रिपोर्ट तैयार करनेका काम भी मुझे सौंपा गया था। पंजाबमें कैसे-कैसे जुल्म हुए, यह जिन्हें जानना हो, उन्हें

यह रिपोर्ट जरूर पढ़नी चाहिए। इस रिपोर्टके संबंधमें इतना कह सकता हूं कि इसमें जान-बूझकर एक स्थानपर भी अत्युक्ति नहीं की गई है। जो बात दी गई है उसके लिए उसीमें सबूत रख दिया गया है। इस रिपोर्टमें जितने सबूत दिये गए हें उनसे बहुत अधिक कमेटीके पास मौजूद थे। जिसके विषयमें जराभी शक था, एसी एक भी बात इस रिपोर्टमें नहीं दी गई। इस प्रकार केवल सत्यको ही सामने रखकर लिखी हुई रिपोर्टसे पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी हुकूमतको कायम रखनेके लिए किस हदतक जा सकता है, कैसे-कैसे अमानुषिक काम कर सकता है। इस रिपोर्ट की एक भी बात जहांतक मुझे मालूम है, गलत नही साबित हुई।

: ३६ :

खिलाफतके बदले गोरक्षा ?

पंजाबके हत्याकांडको अब थोड़ी देरके लिए हम छोड़ दे।

पंजाबकी डायरशाहीकी जांच महासभाकी ओरसे जारी थी। इतनेमें एक सार्वजनिक निमंत्रण मेरे हाथ में आया। उसमें स्व० हकीम साहब और भाई आसफअलीके नाम थे। श्रद्धानंदजी सभामें उपस्थित रहनेवाले हैं, इसका भी जिक्र था। मुझे खयाल तो ऐसा है कि वह उपसभापति थे। यह निमंत्रण था दिल्लीमें खिलाफत-संबंधी उत्पन्न हुई परिस्थितिका विचार करनेवाली और संधिके उत्सवमें शामिल होना चाहिए या नहीं इसका निर्णय करनेके लिए होनेवाली हिन्दू-मुसलमानोंकी संयुक्त सभामें उपस्थित होनेका। मुझे ऐसा याद है कि यह सभा नवंबर महीनेमें होनेको थी।

इस निमंत्रण-पत्रमें यह लिखा था कि इस सभामें खिलाफत-के मसलेपर ही नहीं, बल्कि गोरक्षाके प्रश्नपर भी विचार होगा और गोरक्षा साधनेका यह सुंदर अवसर है। मुझे वह वाक्य चुभा। इस निमन्त्रण-पत्रका उत्तर देते हुए मैंने लिखा कि

उपस्थित होनेकी कोशिश करूंगा और साथ ही यह भी लिखा कि खिलाफत और गोरक्षाको साथ मिलाकर उन्हें परस्पर सौदेका सवाल नहीं बनाना चाहिए। हर-एकपर उसके गुण-दोषकी दृष्टिसे विचार होना चाहिए। सभामें मैं हाजिर हुआ। उसमें उपस्थिति अच्छी थी। पर बादको जैसे हजारोंकी भीड़ हुआ करती थी वह दृश्य यहां नहीं था। इस सभामें श्रद्धानंदजी उपस्थित थे। उनके साथ मैंने उपर्युक्त विषयपर बातचीत की। उन्हें मेरी दलील पसन्द आई और सभामें उसे पेश करनेका काम उन्होंने मुझीपर रखा। मैंने हकीम साहबके साथ भी बात कर ली थी। मेरी दलील यह थी कि दोनों प्रश्नोंपर उनके गुण-दोषकी दृष्टिसे विचार होना चाहिए। यदि खिलाफतके प्रश्नमें तथ्य हो, उसमें सरकारकी ओरसे अन्याय होता हो तो हिन्दुओंको मुसलमानोंका साथ देना चाहिए और इसके साथ गोरक्षाको जोड़ना नहीं चाहिए। हिन्दू अगर ऐसी कोई शर्त करें तो वह उन्हें शोभा न देगा। मुसलमान खिलाफत में मिलनेवाली मददके बदलेमें गोवध बंद करें तो वह उन्हें भी शोभा न देगा।

पड़ोसी और एक ही धरतीके होनेके कारण हिंदुओंकी भावनाका आदर करनेके लिए वे स्वतंत्र रीतिसे गोवध बंद करें तो यह उनके लिए शोभाकी बात होगी। यह उनका फर्ज है, और यह सवाल अलग है। जो यह फर्ज हो और वे फर्ज समझें तो हिन्दू खिलाफतमें मदद दें या न दें, तो भी मुसलमानोंका गोवध बंद करना वाजिब है। इस प्रकार दोनों प्रश्नोंपर स्वतंत्र रीतिसे विचार करना चाहिए। और इस सभामें तो सिर्फ खिलाफतके प्रश्नपर ही विचार होना उचित है। यों मैंने अपनी दलील पेश की। सभाको वह पसंद आई। गोरक्षाके सवाल की सभामें चर्चा नहीं हुई। पर मौलाना अब्दुल बारी साहबने तो कहा भी—"खिलाफतमें हिन्दुओंकी मदद हो या न हो, हम एक मुल्कके हैं, इसलिए मुसलमानोंको हिन्दुओंकी भावनाका लिहाज करके गोवध बंद कर देना चाहिए।" एक बार तो ऐसा ही लगा कि

मुसलमान सचमुच ही गोबध बंद करेंगे ।

कुछ लोगोंने यह सुझाव रखा कि पंजाबके सवालको भी खिलाफतके साथ मिला लिया जाय। मैंने इसका विरोध किया। मेरी दलील यह थी कि पंजाबका प्रश्न स्थानीय है, पंजाबके दु:खके कारण हम साम्राज्यसे संबंध रखनेवाले संधिके उत्सवसे अलग नहीं रह सकते। खिलाफतके सवालके साथ पंजाबको मिला लेनेसे हमपर नासमझीका दोष लगाया जा सकेगा। यह राय सबको पसंद आई।

इस सभामें मौलाना हसरत मोहानी भी थे। उनसे मेरा परिचय तो हो ही चुका था, पर वह कैसे योद्धा हैं इसका अनुभव मुझे यहीं हुआ। हममें मतभेद यहींसे आरंभ हुआ, जो अनेक बातोंमें अन्त तक बना रहा।

अनेक प्रस्तावोंमेंसे एक प्रस्ताव यह था कि हिंदू-मुसलमान सब स्वदेशी व्रतका पालन करें और उसके लिए विदेशी वस्त्रका बहिष्कार करें। खादीका पुनर्जन्म अभी नहीं हुआ था। यह प्रस्ताव हसरत साहबके गले नहीं उतरता था। उन्हें तो ब्रिटिश साम्राज्य यदि खिलाफतके मामलोंमें इंसाफ न करे तो उससे वैर चुकाना था। इससे उन्होंने ब्रिटिश मालमात्रका यथासंभव बहिष्कार करनेका सुझाव रखा। मैंने ब्रिटिश वस्तुमात्रके बहिष्कारकी अशक्यता और अयोग्यताके विषयमें अपनी दलीलें पेश कीं, जो आज सर्वविदित है। मैंने अपनी अहिंसावृत्तिका भी प्रतिपादन किया। मैंने देखा कि सभापर मेरी दलीलोंका गहरा असर हुआ। हसरत मोहानीकी दलीलें सुनकर लोग ऐसा हर्षनाद करते थे कि मुझे जान पड़ा कि इस नक्कारखानेमें मेरी तूतीकी आवाज कौन सुनेगा। पर मुझे अपने कर्त्तव्यसे नहीं चूकना चाहिए, न अपना भाव छिपाना चाहिए, यह सोचकर मैं बोलने उठा। लोगोंने मेरा भाषण खूब ध्यानसे सुना। मंचपर तो मुझे पूरा समर्थन प्राप्त हुआ और मेरे समर्थनमें एकके बाद एक भाषण होने लगे। नेताओंने देख लिया कि ब्रिटिश मालके बहिष्कारके

प्रस्तावसे एक भी मतलब सधनेवाला नहीं था। जग-हंसाई अलबत्ता काफी होती। सारी सभामें मुश्किलसे कोई ऐसा आदमी दिखाई देता जिसके बदनपर कोई-न-कोई विदेशी वस्तु न हो। जिस बातके करनेमें सभामें उपस्थित लोग भी असमर्थ थे उस बातके करनेके प्रस्तावसे लाभके बदले हानि ही होगी, यह बात बहुतोंकी समझमें आ गई।

मौलाना हसरतने अपने भाषणमें कहा, "हमें तो आपके विदेशी वस्त्रके बहिष्कारसे संतोष होनेवाला नही है। कब हम अपनी जरूरतभरका कपड़ा बना पायंगे और कब विदेशी वस्त्रका बहिष्कार होगा? हमें तो कोई ऐसी चीज चाहिए जिसका अंग्रेजोंपर तुरत असर हो। अपना बहिष्कार भी रखिए, पर इससे ज्यादा जल्दी काम करनेवाली कोई चीज आपको बतानी चाहिए।" मैंने सोचा कि विदेशी वस्त्रके बहिष्कारके अतिरिक्त कोई दूसरी और नई चीज मुझे बतानी चाहिए। विदेशी वस्त्रका बहिष्कार फौरन नहीं हो सकता, यह मुझे उस समय तो साफ दिखाई दिया। खादी अपनी जरूरतभरके लिए पूरी पैदा कर लेनेकी शक्ति, हम चाहें तो, हममें है, यह बात पीछेसे मुझे दिखाई दी। उसका पता उस वक्त मुझे न था। अकेली मिलका भरोसा करनेसे वह वक्तपर दगा दगी। यह मै उस वक्त भी जानता था। मौलाना साहबने अपना भाषण पूरा किया, उस वक्त मैं जवाब देनको तैयार हो रहा था।

मुझे उर्दू-हिंदी शब्द तो न सूझा। ऐसी खास मुसलमानोंकी सभामें युक्तिप्रधान भाषण करनेका यह मेरा पहला अनुभव था। कलकत्तेमें मुस्लिम-लीगमें मै बोला था सो चंद-मिनिटोंके लिए; हृदयको स्पर्श करनेवाला ही भाषण था। पर यहां मुझे विरुद्ध मतवाले समाजको समझाना था। पर मैंने संकोच छोड़ दिया था। दिल्लीके मुसलमानोंके सामने मुझे शुद्ध उर्दूमें लच्छेदार भाषण नहीं करना था, बल्कि अपना अभिप्राय मुझे टूटी-फूटी हिंदीमें समझा देना था। यह काम मै मजेसे कर पाया। हिन्दी-उर्दू ही

राष्ट्रभाषा बन सकती है इसकी यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी। मैंने अंग्रेजीमें भाषण किया होता तो मेरी गाड़ी आगे नहीं सरकती और मौलाना साहबने जो चुनौती दी थी उसे देनेका मौका न आया होता और आता तो मुझे जवाब न सूझता।

उर्दू या गुजराती शब्द हाथ न लगनेसे मैं शरमाया, पर जवाब तो दिया ही। मुझे 'नान-कोआपरेशन'[1] शब्द सूझा। मौलाना साहब जब भाषण कर रहे थे उस वक्त मेरे मनमें यह भाव उठ रहा था कि वह स्वयं बहुत मामलोंमें जिस सरकारका साथ दे रहे हैं उस सरकारके विरोधकी बात करना बेकार है। मैंने सोचा कि जब हमें तलवारसे विरोध नहीं करना है तो साथ न देना ही सच्चा विरोध होगा। और मैंने 'नान-कोआपरेशन' शब्दका प्रथम प्रयोग इस सभामें ही किया। अपने भाषणमें उसके समर्थनमें मैंने अपनी दलीलें दीं। उस समय इस शब्दमें क्या-क्या समा सकता है इसकी कल्पना मुझे नहीं थी। इससे मैं ब्यौरेमें न उतर सका। मुझे तो इतना ही कहनेकी याद है—"मुसलमान भाइयोंने एक दूसरा भी महत्वपूर्ण निश्चय किया है। ईश्वर न करे, पर शायद यदि सुलहकी शर्त उनके खिलाफ जायं तो वे सरकारकी सहायता करना बंद कर देंगे। मुझे यह प्रजाका अधिकार जान पड़ता है। सरकारी उपाधियां धारण करने या सरकारी नौकरियां करनेको हम मजबूर नहीं हैं। जब सरकारके हाथों खिलाफत-जैसे अति महत्त्वके मजहबी मसलेके मामलेमें हमें नुकसान पहुंचता है तब हम उसकी मदद कैसे कर सकते है ? इसलिए खिलाफत का फैसला अगर हमारे खिलाफ हुआ तो हमें हक होगा कि हम उसकी मददसे अपना हाथ खींच लें।"

पर इसके बाद इस वस्तुका प्रचार होनेमें कई महीने बीत। यह शब्द कुछ महीनोंतक तो इस सभामें ही गड़ा रहा। एक महीने बाद अमृतसरमें कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो वहां मैंने असहयोग-के प्रस्ताव का समर्थन किया। उस वक्त मैं तो यही आशा

[1] असहयोग।

रखता था कि हिन्दू-मुसलमानोंके लिए असहयोगका अवसर न आयगा।

: ३७ :

अमृतसरकी कांग्रेस

मार्शल-लाके जमानेमें जिन सैकड़ों निर्दोष पंजाबियोंको नामकी अदालतोंने नामके सबूत-शहादतपर छोटी-बडी मुद्दतोंके लिए जेलमें ठूंस दिया था, पंजाबकी सरकार उन्हें रख न सकी। इस ज्वलंत अन्यायके विरुद्ध ऐसी जबर्दस्त आवाज चारों ओरसे उठी कि सरकारके लिए इन कैदियोंको ज्यादा दिन जेलमें रखना नामुमकिन हो गया। अत: कांग्रेसके अधिवेशनके पहले ही बहुत-से कैदी छूट गए। लाला हरकिशनलाल वगैरा सब नेता छूट गए और कांग्रेस-अधिवेशनके दरमियान अलीभाई भी छूटकर आ गए। इससे लोगोंके हर्षकी सीमा न रही। पडित मोतीलाल नेहरू, जिन्होंने अपनी वकालतको लात मारकर पजाबमें डेरा डाला था, कांग्रेसके सभापति थे। स्वामी श्रद्धानंदजी स्वागत-समितिके अध्यक्ष थे।

आजतक कांग्रेसमें मेरा हिस्सा हिंदीमें छोटा-सा भाषण करके हिंदीकी वकालत करना और उपनिवेशवासी हिन्दुस्तानियो-का सवाल पेश करना भर होता था। अमृतसरमें मुझे इससे कुछ अधिक करना होगा यह मैंने नहीं सोचा था, पर जैसा मेरे बारेमें पहले हो चुका है वैसे ही जिम्मेदारी यकायक मुझपर आ पड़ी।

सम्राट्की नई सुधारसबंधी घोषणा निकल चुकी थी। वह ऐसी तो थी ही नहीं कि मुझे पूरा सतोष दे सके। औरोंको तो पसंद ही न आई थी। पर उस वक्त मैंने मान लिया कि उक्त घोषणामें सूचित सुधार त्रुटियोंसे भरे हुए होनेपर भी स्वीकार कर लेने लायक है। सम्राट्की घोषणामें मैं लार्ड सिंहका हाथ पाता था। उसकी भाषामें उस कालकी मेरी आंखें आशाकी झलक देख रही थीं, पर अनुभवी लोकमान्य, चित्तरंजनदास इत्यादि योद्धा

सिर हिलाते थे। भारतभूषण मालवीयजी मध्यस्थ थे।

मेरा डेरा उन्होंने अपनी ही कोठरीमें रखा था। उनकी सादगीकी झलक मुझे काशी-विश्वविद्यालयके शिलान्यासके समय मिल चुकी थी। पर इस वक्त तो उन्होंने अपने कमरेमें ही मुझे टिकाया था, इससे उनकी सारी दिनचर्या मुझे देखनेका अवसर मिला और मुझे उससे सानंदाश्चर्य हुआ। उनका कमरा क्या था, गरीबोंकी धर्मशाला थी। उसमें कहीं रास्ता नहीं बच गया था; जहां-तहां लोग पड़े हुए थे। न वहां कोई खाली जगह थी, न एकांत। चाहे जो आदमी, चाहे जिस समय आता और उनका चाहे जितना वक्त लेता। इस दरबेके एक कोनेमें मेरा दरबार यानी चारपाई थी।

पर मुझे यह प्रकरण मालवीयजीकी रहन-सहनके वर्णनको नहीं देना है, अत: अपने विषयपर आना चाहिए।

इस स्थितिमें मलवीयजीके साथ रोज बातचीत होती थी। वह मुझे सबका पक्ष, बड़ा भाई जैसे छोटेको समझाता है वैसे प्रेम पूर्वक समझाते थे। सुधार-संबंधी प्रस्तावमें भाग लेना मुझे अपना कर्त्तव्य जान पड़ा।

पंजाब-कांग्रेसकी रिपोर्टके उत्तरदायित्वमें मेरा हिस्सा था। पंजाबके बारेमें सरकारसे काम लेना था। खिलाफतका मसला तो था ही। यह भी मैंने मान रखा था कि मांटेग्यू हिन्दुस्तानको धोखा नहीं देने देंगे। कैदियोंके—और उनमें भी अलीभाइयोंके—छुटकारेको मैंने शुभ लक्षण माना था। अत: प्रस्ताव सुधारोंकी स्वीकृतिका होना चाहिए। चित्तरंजनदासका दृढ़ मत था कि सुधारोंको बिलकुल असंतोषजनक और अधूरा मानकर ठुकरा देना चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे। पर देशबंधु जो प्रस्ताव पसंद करें उसकी ओर अपना वजन डालनेका उन्होंने निश्चय कर रखा था।

ऐसे पुराने पके और कसे हुए सर्वमान्य लोकनायकोंसे मेरा मतभेद मुझे असह्य लगा। दूसरी ओर मेरा अंतर्नाद स्पष्ट था।

मैंने कांग्रेसकी बैठकसे भागनेकी कोशिश की। पंडित मोतीलाल नेहरू और मालवीयजीको अपना विचार बताया। मुझे अनुपस्थित रहने देनेसे सब काम बन जायगा। और मैं महान् नेताओंके साथ मतभेद प्रकट करनेके संकटसे बच जाऊंगा।

यह विचार इन दोनों बुजुर्गोको नहीं जंचा। लाला हरकिशनलालके कानमें बात पड़ते ही उन्होंने कहा—"यह कभी हो ही नहीं सकता। पंजाबियोंको भारी आघात पहुंचेगा।" लोकमान्य और देशबंधुके साथ मशविरा किया। मि० जिनासे मिला। किसी तरह राह नही निकल पाती थी। अपनी वेदना मैंने मालवीयजीके सामने रखी—"समझौतेके लक्षण मुझे नहीं दिखाई देते। मुझे अपना प्रस्ताव पेश करना ही पड़े तो अंतमें मत तो लिये ही जायंगे। पर यहां मत लिये जानेकी व्यवस्था मैं नहीं देखता। अबतक हम भारी सभामें हाथ उठवाते आए हैं। हाथ उठाते समय दर्शकों और प्रतिनिधियोंमें भेद नहीं रहता। ऐसी विशाल सभामें मतगणनाकी व्यवस्था हमारे पास नहीं होती, अतः मुझे अपने प्रस्तावपर मत लिवाने हों तो भी इसका सुभीता नहीं है।"

लाला हरकिशनलालने वह सुभीता संतोषजनक रीतिसे कर देनेका जिम्मा लिया। उन्होंने कहा—"मत लेनेके दिन दर्शकोंको न आने दिया जायगा, केवल प्रतिनिधि ही आवेंगे। और उनके मत गिनवा देनेका जिम्मा मेरा है। पर आप कांग्रेसकी बैठकमें अनुपस्थित रहें यह नहीं हो सकता।"

अंतको मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव तैयार किया। बड़े संकोचसे मैंने उसे पेश करना स्वीकार किया। मि० जिन्ना और मालवीयजी समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख रहा था कि यद्यपि मतभेद में कहीं कटुता नहीं थी, भाषणोंमें भी दलीलोंके सिवा और कुछ न होता था, फिर भी सभा मतभेदमात्र सहन नहीं कर सकती थी और नेताओंके मतभेदसे दु:ख होता था। सभाको तो एक मत चाहिए था।

जब भाषण चल रहे थे उस समय भी मंचपर मतभेद मिटानेकी

कोशिशें हो रही थीं। एक-दूसरेके बीच पुरजे आ-जा रहे थे। मालवीयजी तो, चाहे जैसे भी हो, समझौता करानेके लिए यत्न कर रहे थे। इतनेमें जयरामदासने मेरे हाथपर अपना सुझाव रखा और बड़े मधुर शब्दोंमें मत देनेके संकटसे प्रतिनिधियोंको उबार लेनेकी मुझसे प्रार्थना की। मुझे उनका सुझाव पसंद आया। मालवीयजीकी नजर तो चारों ओर आशाकी खोजमें फिर हीरही थी। मैंने कहा—"यह संशोधन दोनों पक्षोंको पसंद आने लायक जान पड़ता है।" लोकमान्यको मैंने उसे दिखाया। उन्होंने कहा—"दासको पसंद आ जाय तो मुझे कोई एतराज नहीं है।" देशबंधु पिघले। उन्होंने विपिनचंद्र पालकी ओर देखा। मालवीय-जीको पूरी आशा बंध गई। उन्होंने पुरजा हाथसे छीन लिया। देशबंधुके मुंहसे 'हां' का शब्द पूरा नहीं निकल पाया था कि वह बोल उठे—"सज्जनो! आपको सुनकर खुशी होगी कि समझौता हो गया।" फिर क्या चाहिए? तालियोंकी गड़गड़ाहटसे मंडप गूंज उठा और लोगोंके चेहरेपर जो गंभीरता छा रही थी, उसके बदले खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव क्या था, इसकी चर्चाकी यहां जरूरत नहीं है। यह प्रस्ताव कैसे हुआ, इतना ही इस प्रसंगमें बतलाना मेरे इन प्रयोगोंका विषय है!

समझौतेने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

: ३८ :

महासभामें प्रवेश

कांग्रेसमें मुझे हिस्सा लेना पड़ा, इसे मैं अपना महासभामें प्रवश नहीं मानता। उसक पहलेकी महासभाओंकी बैठकोंमें जो मैं गया वह केवल निष्ठाक निदर्शनस्वरूप था। छोटे-से-छोटे सिपाहीके कामके सिवा मेरा कोई वहां दूसरा काम भी हो सकता है, दूसरी सभाओंमें मुझे ऐसा आभास नहीं हुआ, न ऐसी इच्छा

ही हुई।

अमृतसरके अनुभवने बतलाया कि मेरी शक्तिका उपयोग महासभाके लिए है। पंजाब-जांच-कमेटीके कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबंधु वगैराको खुशी हुई थी, यह मैं देख सका था। इससे मुझे उन्होंने अपनी बैठकों और मशविरोंमें बुलाया। इतना तो मैंने देख लिया था कि विषयनिर्धारिणी समितिका असली काम ऐसी बैठकोंमें ही होता था और ऐसे मशविरोंमें वे लोग होते थे जिनपर नेताओंका विशेष विश्वास या आधार होता था या फिर चाहे जैसा बहाना बनाकर घुस जानेवाले होते थे।

अगले सालके लिए किए जानेवाले दो कामोंमें मुझे दिलचस्पी थी, क्योंकि उनमें मेरी कुछ पैठ थी।

एक था जलियांवालाबागके कत्लेआमका स्मारक। इसके बारेमें महासभाने बड़ी शानके साथ प्रस्ताव पास किया था। उसके लिए कोई पांच लाख रुपएका चंदा करना था। उसमें ट्रस्टियोंमें मेरा नाम था। देशमें जनकार्यके लिए भीख मांगनेकी बड़ी शक्ति रखनेवालोंमें प्रथम पद मालवीयजीका था और है। मै जानता था कि मेरा दरजा उनसे बहुत नीचे नहीं रहेगा। अपनी यह शक्ति मैंने दक्षिण अफ्रीकामें देख ली थी। राजा-महाराजाओं-पर जादू करके लाखों ले लेनेकी शक्ति मुझमें नही थी, आज भी नही है। इस विषयमें मालवीयजीके साथ प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला मैंने किसीको पाया ही नही। जलियांवाला बागके काममें उन लोगोंसे पैसा नहीं मांगा जा सकता, यह मै जानता था। अतः इस स्मारकके लिए चंदा एकत्र करनेका भार मुख्यतः मुझपर ही पड़ेगा, यह मैं रक्षकका पद स्वीकारते समय समझ गया था। हुआ भी यही। इस स्मारकके लिए बंबईके उदार नागरिकोंने दिल खोलकर पैसा दिया और आज जनताके पास उसके लिए जितना चाहिए उतना पैसा है। पर इस हिन्दू, मुसलमान और सिक्खोंके मिश्रित रक्तसे पावन हुई भूमिपर किस तरहका स्मारक

बनाया जाय अर्थात् पड़े हुए पैसोंका क्या उपयोग किया जाय यह एक टेढ़ा सवाल हो गया है: क्योंकि तीनोंके बीच या कहिए, दोके बीच, दोस्तीके बजाय आज दुश्मनी होनेका भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति मुंशीका काम करनेकी थी, जिसका उपयोग महासभा कर सकती थी। लंबी मुद्दतके अभ्याससे, कहां कैसे किन और कितने थोड़े शब्दोंमें अविनयरहित भाषामें लिख लेना मैं जानता हूं, नेताओंको यह बात मालूम हो गई थी। महासभाका उस समय जो विधान था वह गोखलेकी दी हुई पूंजी थी। उन्होंने कुछ नियम बना दिए थे। उनके सहारे महासभाका काम चलता था। वे नियम कैसे गढ़े गए, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुंहसे सुना था। पर अब महासभाका काम उतने ही नियमोंसे नहीं चल सकता, यह सभी समझ रहे थे। उसका विधान बनानेकी चर्चा हर साल उठती थी। पर महासभाके पास ऐसी व्यवस्था ही नहीं थी जिससे पूरे बरसभर उसका काम चलता रहे या कोई आगेकी बात सोचे। उसके तीन मंत्री होते थे, पर वास्तवमें कार्यवाहक मंत्री तो एक ही रहता था। एक मंत्री दफ्तर चलाए या भविष्यका विचार करे अथवा भूतकालमें उठाई हुई महासभाकी जिम्मेदारियोंको चलते बरसमें पूरा करे? अतः यह प्रश्न इस साल सबकी दृष्टिसे बहुत आवश्यक हो गया। जिस महासभामें हजारोंकी भीड़ होती हो, उसमें राष्ट्रका काम कैसे हो सकता? प्रतिनिधियोंकी संख्याकी कोई हद न थी। हर सूबेसे चाहे जितने प्रतिनिधि आ सकते थे। चाहे जो प्रतिनिधि हो सकता था। इससे कुछ व्यवस्था होनेकी आवश्यकता सबको दिखाई दी। विधान बनानेका भार मैंने अपने ऊपर लिया। मेरी एक शर्त थी। जनतापर दो नेताओंका काबू मैं देख रहा था। इससे मैंने मांग की कि उनके प्रतिनिधि मेरे साथ रहें। वे खुद इतमीनानसे बैठकर विधान बनानेका काम नहीं कर सकते, यह मैं समझता था। इससे लोकमान्य और देशबंधुसे उनके विश्वासके दो नाम मांगे। मैंने यह सलाह दी कि इनके सिवा विधान-

समितिमें कोई न होना चाहिए। यह सूचना स्वीकृत हुई। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबंधुने श्री आई० बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति मिलकर एक दिन भी नहीं बैठी। फिर भी हमने अपना काम एक मतसे पूरा किया। हमने पत्र-व्यवहारसे अपना काम चला लिया। इस विधानके विषयमें मुझे थोड़ा अभिमान है। मैं मानता हूं कि इसका अनुसरण करते हुए काम किया जाय तो आज हमारा बेड़ा पार है। यह तो जब होगा तब होगा, पर मेरा खयाल है कि यह जिम्मेदारी लेकर मैंने महासभामें सच्चे अर्थमें प्रवेश किया।

: ३९ :

खादीका जन्म

सन् १९०८ ई० तक मैंने चरखा या करघा देखा हो, इसकी याद मुझे नहीं। फिर भी 'हिन्द-स्वराज' में चरखेके जरिए हिन्दुस्तानकी कंगाली मिट सकती है, यह बात मैंने मानी है, और जिस उपायसे भुखमरी भाग सकती हो उस उपायसे स्वराज्य भी मिलेगा, यह तो सभी समझ सकते हैं। सन् १९१५ में जब दक्षिण अफ्रीकासे देश लौटा तब भी मैंने चरखके दर्शन नहीं किए थे। आश्रम खोलनेपर करघा बैठाया। करघा बैठानेमें भी मुझे बड़ी कठिनाई पड़ी। हम सब अनाड़ी थे। अतः करघा मंगा लेनमात्रसे तो वह चल नहीं सकता था। हम सब कलम चलानवाले या बनिज-व्यौपारके जानकार इकट्ठे हुए थे। कोई कारीगर नहीं था। अतः करघा लानेके बाद बुनाईका काम सिखानेवालेकी जरूरत थी। काठियावाड़ और पालनपुरसे करघ मिले और एक सिखानेवाला आया। उसने अपना हुनर नहीं बताया। पर मगनलाल गांधी हाथमें लिय हुए कामको झट छोड़ देनेवाले नहीं थे। उनके हाथमें कारीगरी तो थी ही। अतः उन्होंन बुनाईके हुनरको पूरा-पूरा जान लिया और आश्रममें एकके

बाद एक इस प्रकार नए बुनकर तैयार हो गए।

हमें तो अपने कपड़े खुद तैयार करके पहनने थे। इससे मिलका कपड़ा पहनना बंद कर दिया और आश्रमवासियोंने हाथ-करघेमें देशी मिलके सूतसे बना हुआ कपड़ा पहननेका निश्चय किया। इस व्रतको निभानेमें बहुत-कुछ सीखनेको मिला। हिन्दुस्तानके बुनकरोंके जीवन, आमदनी, सूत मिलनेमें होनेवाली कठिनाइयां, उसमें वे कैसे ठगे जाते हैं इसका, और अंतमें वे दिन-दिन कैसे कर्जदार होते जा रहे हैं, इस सबका पता चला। हम तुरत खुद अपना सारा कपड़ा बुन लें ऐसी स्थिति तो नहीं ही थी। इससे बाहरके बुनकरोंसे अपनी आवश्यकताभरका कपड़ा हमें बनवा लेना था; क्योंकि देशी मिलके सूतका हाथका बना हुआ कपड़ा बुनकरोंसे जल्दी मिलनेवाला नहीं था। बुनकर अच्छा कपड़ा तो सारा-का-सारा विलायती सूतका ही बुनते थे, क्योंकि हमारे यहांकी मिलें महीन सूत नहीं कातती थीं। आज भी महीन सूत तो वे कम ही कातती हैं। बहुत महीन तो कात ही नहीं सकतीं। बड़ी कठिनाइयोंसे कुछ बुनकर मिले, जिन्होंने देशी सूतका कपड़ा बुनकर ला देनेकी कृपा की। इन बुनकरोंको, देशी सूतका बुना हुआ सारा कपड़ा खरीद लेनेकी, आश्रमकी ओरसे गारंटी देनी पड़ी थी। इस प्रकार खास तौरसे तैयार कराया हुआ कपड़ा हमने पहना और मित्रोंमें उसका प्रचार किया। हमतो कातनेवाली मिलोंके बिना कौड़ी-पैसेके दलाल बन गए। मिलोंके बारेमें जानकारी होनेपर उनकी व्यवस्था और उनकी विवशताका पता चला। मैंने देखा कि मिलोंका ध्येय खुद कातकर खुद बुनना था। व करघोंकी इच्छापूर्वक सहायक नहीं थी बल्कि अनिच्छा से थीं।

यह सब देखकर हम हाथसे कातनेको अधीर हो गए। हमने देखा कि जबतक हम हाथसे न कातें हमारी पराधीनता बनी रहेगी। हमें यह नहीं जान पड़ा कि मिलोंके एजेंट बनकर हम कोई देश-सेवा कर रहे हैं।

पर न चरखा मिलता था, न चरखा कातनेवाला। कुकड़ियां भरनेके चरखे तो हमारे पास थे, पर उनपर काता जा सकता है इसका तो खयाल ही न था। एक बार कालीदास वकील एक बहनको खोजकर लाए। उन्होंने कहा कि यह कातकर दिखाएंगी। उसके साथ एक ऐसे आश्रमवासीको कर दिया जो नए कामोंके सीख लेनेमें बड़े होशियार थे। पर हुनर हाथ न लगा।

दिन बीत रहे थे। मैं बेताब हो गया। आश्रममें आनेवाले हर ऐसे आदमीसे जो इस विषयमें कुछ बता सकता हो, मै पूछा करता। पर कताईका इजारा तो स्त्रियोंका ही था। अत: कोने-अंतरेमें पड़ी हुई कताई जाननेवाली स्त्री तो स्त्रीको ही मिल सकती थी।

सन् १९१७ में गुजराती भाई मुझे भड़ोंच शिक्षा-परिषद्में घसीट ले गए थे। वहां महासाहसी विधवा गंगाबाई मुझे मिलीं। वह बहुत-पढ़ी-लिखी नहीं थीं, पर उनमें हिम्मत और समझदारी, शिक्षित बहनोंमें आमतौरसे जितनी होती है उससे ज्यादा थी। उन्होंने अपने जीवनमेंसे अस्पृश्यताकी जड़ खोद डाली थी; और वह बेधड़क अत्यंजोंमें मिलती और उनकी सेवा करती थीं। उनके पास पैसा था, पर निजकी आवश्यकताएं कम ही थीं। शरीर कसा हुआ था और चाहे जहां भी अकेले जानेमें उन्हें तनिक भी हिचक न होती थी। घोड़ेकी सवारी करनेको भी तैयार रहती थी। इन बहनका विशेष परिचय गोधराकी परिषद्में प्राप्त हुआ। अपनी व्यथा मैंने उनके सामने रखी और दमयंती जैसे नलकी तलाशमें भटकी थी वैसे चरखेकी खोजमें भटकनेकी प्रतिज्ञा करके उन्होंने मेरा भार हल्का कर दिया।

: ४० :

मिला

गुजरातमें खूब भटकनेके बाद गायकवाड़के बीजापुरमें गंगाबहनको चरखा मिला। बहुतेरे कुटुंबोंके पास चरखा था और उसे उठाकर उन्होंने टांडपर धर दिया था। पर यदि उनका सूत कोई ले ले और उन्हें पूनी दी जाय तो वे कातनेको तैयार थे। गंगाबहनने मुझे यह सूचना दी और मेरी खुशीकी हद न रही। पूनी पहुंचानेका काम कठिन लगा। स्व० उमर सुभानीसे बातें करनेपर उन्होंने अपनी मिलसे पूनी भेजनेका जिम्मा लिया, मैंने वे पूनियां गंगाबहनको भेजी और सूत इतनी तेजीसे कतने लगा कि मैं थक गया।

भाई उमर सुभानीकी उदारता बहुत बड़ी थी, फिर भी उसकी हद थी। पूनियां दाम देकर लेनेका निश्चय करनेमें मुझे संकोच हुआ। इसके सिवा मिलकी पूनियां लेकर सूत कतवानेमें मुझे भारी दोष दिखाई दिया। अगर मिलकी पूनियां लेते हैं तो फिर सूत लेनेमें क्या दोष है? हमारे पुरखोंके पास मिलकी पूनियां कहां थीं। वे कैसे पूनियां तैयार करते थे? पूनियां बनानेवालेकी तलाशके लिए मैंने गंगाबहनसे कहा। उन्होंने इसका जिम्मा लिया। एक धुनिया ढूंढ निकाला। उसे ३५ रुपया या उससे कुछ अधिक मासिक वेतनपर रखा। पूनी बनाना लड़कोंको सिखलाया। मैंने रूईकी भिक्षा मांगी। भाई यशवंतप्रसाद देसाईने रुईकी गांठें देनेका भार लिया। गंगाबहनने कामको एकबारगी बढ़ाया। बुनकर लाकर बसाए और कता हुआ सूत बुनवाना शुरू किया। बीजापुरकी खादीका नाम हो गया।

दूसरी ओर आश्रममें अब चरखेका प्रवेश होनेमें देर न लगी। मगनलाल गांधीकी शोध-शक्तिने चरखेमें सुधार किए और चरखे तथा तकुए आश्रममें बने। आश्रमकी खादीके पहले थानकी लागत गज पीछे सत्रह आने आई। मैंने दोस्तोंसे मोटी कमजोर सूतकी

खादीके दाम सत्रह आने गज लिये, जो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक दिए।

बंबईमें मैं खाटपर पड़ा था, पर सबसे पूछता रहता। वहां दो कातनेवाली बहनें मिलीं। उन्हें एक सेर सूतका एक रुपया दिया। मैं खादी-शास्त्रमें अभी निपट अनाड़ी था। मुझे तो हाथ-कता सूत चाहिए था; कत्तिनें चाहिए थीं। गंगाबहन जिस दरसे दाम देती थी उससे तुलना करनेपर मालूम हुआ कि मै ठगा जा रहा हूं। बहनें कम लेनेको तैयार न थीं, इससे उन्हें छोड़ देना पड़ा। पर उनका उपयोग था। उन्होंने श्री अवंतिकाबाई, श्री रमीबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैंकरकी माताजीको और श्री वसुमती बहनको कातना सिखा दिया और मेरे कमरेमें चरखा गूजने लगा। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इस यंत्रने मुझ मरीजको अच्छे होनेमें मदद दी। यह सही है कि यह मानसिक स्थिति है। पर मनका हिस्सा मनुष्यको चंगा करनेमें कौन कम है? चरखेको मैंने भी हाथ लगाया। इसस आगे मैं इस समय न जा सका।

यहां हाथकी पूनियां कहांसे आएं? श्री रेवाशंकर झवेरीके बंगलेके पाससे रोज तांत बजाता हुआ एक धुनिया जाया करता था। उसे मैंने बुलाया। वह गद्दोंके लिए रुई धुना करता था। उसने पूनियां तैयार कर देना मंजूर किया। उजरत ऊंची दरसे मांगी, जो मैंने दी। इस प्रकार तैयार हुआ सूत मैंने वैष्णवोंके हाथ ठाकुरजीकी मालाके लिए दाम लेकर बेचा। भाई शिवजीने बंबईमें चरखा-क्लास खोला। इन प्रयोगोंमें पैसा काफी खर्च हुआ। श्रद्धालु देशभक्तोंने पैसे दिए और मैंने खर्च किए। मेरा नम्र मत है कि यह खर्च बेकार नहीं गया। उससे हमने बहुत सीखा। मर्यादाका माप मिल गया।

अब मैं शुद्ध खादीमय होनेको अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिलके कपड़की थी। जो खादी बीजापुरमें और आश्रममें तैयार होती थी वह बहुत मोटी और ३० इंच पनहेकी थी। मैंने

गंगाबहनको चेतावनी दी कि यदि ४५ इंच पनहेकी खादीकी धोती एक महीनेके अंदर न लादी तो मुझे मोटी खादीका जांघिया पहनकर निर्वाह करना होगा। वह बेचारी घबरा गईं। अवधि कम जान पड़ी, पर हिम्मत न हारीं। महीनेभरके अंदर पचास इंचकी धोती-का जोड़ा लाकर मेरे सामने रख दिया और मेरा दारिद्र्य टाला।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठी गांवसे अंत्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहनको आश्रममें लाए और उनसे बड़े पनहेकी खादी बनवाई। खादी-प्रचारमें इस दंपतिका हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने गुजरात और गुजरात के बाहर हाथका सूत बुननेकी कला दूसरोंको सिखाई है। यह निरक्षर पर संस्कारवान् बहन जब करघी चलाती है तब उसमें इतनी लीन हो जाती है कि इधर-उधर देखने या किसीसे बात करनेकी फुरसत अपने पास नहीं रखती।

: ४१ :

एक संवाद

जिस समय स्वदेशी के नामसे प्रसिद्ध यह आंदोलन आरंभ हुआ उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरी खासी आलोचना होने लगी। भाई उमर सुभानी खुद होशियार मिल-मालिक थे, इससे वह अपने ज्ञानका लाभ तो मुझे देते ही थे, दूसरोंकी राय भी मुझे बता दिया करते थे। उनमेंसे एककी दलीलका असर उनपर हुआ और मुझे उनके पास ले चलनेकी बात कही। मैंने उनकी सलाहका स्वागत किया। हम उनके पास गए। उन्होंने बातचीत-का सिलसिला यों शुरू किया—

"आपका स्वदेशी आंदोलन पहला ही नहीं है, यह तो आप जानते हैं न ?"

मैंने जवाब दिया—"जी हां।"

"आप जानते हैं कि बंगभंगके समय स्वदेशी आंदोलनने खूब

जोर पकड़ा था। उसका हम मिलवालोंने खूब फायदा उठाया और कपड़ेके दाम बढ़ा दिए। कुछ न करने लायक बातें भी कीं।"

"मैंने यह बात सुनी है और सुनकर दुखी हुआ हूं।"

"आपका दु:ख मैं समझता हूं, पर उसके लिए कारण नहीं है। हम कुछ परोपकारके लिए रोजगार नहीं करते। हमें तो पैसा कमाना है। अपने हिस्सेदारोंको जवाब देना है। चीजके दाम उसकी मांगपर अवलंबित होते हैं। इस नियमके विरुद्ध कौन जा सकता है? बंगालियोंको जानना चाहिए था कि उनके आंदोलनोंसे स्वदेशी वस्त्रके दाम बढ़ेंगे ही।"

"ये बेचारे मेरी तरह सहज विश्वासी हैं, इससे उन्होंने मान लिया कि मिल-मालिक एकबारगी स्वार्थी नहीं बन जायेंगे, धोखा तो नहीं ही देंगे। स्वदेशीके नामसे विदेशी कपड़ा तो नहीं ही बेचेंगे।"

"आप यह मानते हैं यह मैं जानता था; इसीसे मैंने आपको चेतानेकी बात सोची। और यहां आनेका कष्ट दिया, जिससे आप भोले बंगालियोंकी तरह धोखेमें न रह जायं।" यह कहकर सेठजीने अपने यहां बुनी जानेवाली चीजोंके नमूने लानेका इशारा किया। पहला नमूना रद्दी रूईमें से बने हुए कंबलका था। उसे लेकर उन्होंने कहा—"देखिए, यह माल हमने नया बनाया है। इसकी अच्छी खपत है। रद्दीसे बना है, इसलिए सस्ता तो पड़ता ही है। इस मालको हम ठेठ उत्तर तक पहुंचाते हैं। हमारे एजेंट चारों ओर फैले हुए हैं, इसलिए आप देख लें कि हमें आप-जैसे एजेंटोंकी जरूरत नहीं रहती। सच तो यह है कि जहां आप-जैसोंकी आवाजतक नहीं पहुंचती, वहां हमारा माल और हमारे एजेंट पहुंचते हैं। फिर आपको जानना चाहिए कि हिन्दुस्तानको जितना माल चाहिए उतना माल हम पैदा करते भी नहीं। इस कारण स्वदेशी का सवाल खास तौरसे उत्पादनका है। जब हम अपनी जरूरतभरका कपड़ा बनाने लगेंगे और जब अच्छा माल बनाने लगेंगे तब विदेशी कपड़ेकी आमद अपने आप बंद हो जायगी।

इससे मेरी सलाह तो आपको यह है कि आप अपना स्वदेशी आंदोलन जिस तरह चला रहे हैं उस तरह न चलाएं। और नई मिलें खोलनेकी तरफ ध्यान दें। अपने यहां स्वदेशी माल खपाने के आंदोलन की जरूरत नहीं है, बल्कि पैदा करनेकी है।"

मैंने कहा—"तो अगर मैं इसी कामको कर रहा होऊं तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न ?"

"यह कैसे ? आप अगर मिल खोलनेकी कोशिश कर रहे हों तो आप धन्यवाद के पात्र है"

"यह तो मै नहीं कर रहा हूं, पर चरखेके काममें लगा हुआ हूं।"

"यह क्या चीज है ?"

मैंने चरखकी बात कह सुनाई और कहा—"आपके विचारों-से मैं मिलता जा रहा हूं। मुझे मिलोंकी एजेंसी नहीं करनी चाहिए। इससे फायदेके बदले नुकसान ही है। मिलोंका माल कुछ पड़ा नहीं रहता। मुझे तो पैदा करनेमें और जो तैयार हो या उसे खपानेमें लगना चाहिए। इस समय तो मै पैदा करनेमेंही लगा हुआ हूं। इस प्रकारकी स्वदेशीमें मेरी श्रद्धा है, क्योंकि उसके द्वारा हिन्दुस्तानके भूखों मरनेवालों, अर्ध-बेकार स्त्रियोंको काम दिया जा सकता है। जो वह कातें उस सूतको बुनवाना और वह खादी लोगों को पहनाना यह मेरी भावना है और मेरा आंदोलन है। चरखे का आन्दोलन कहांतक सफल होगा यह तो मैं नहीं जानता। अभी तो सिर्फ उसका आरंभकाल है। पर मुझे उसमें पूरा विश्वास है। कुछ भी हो, उसमें नुकसान तो है ही नहीं। हिन्दुस्तानमें पैदा होनेवाले कपड़ेमें जितनी वृद्धि इस आंदोलनसे हो उतना फायदा ही है। अत: इस प्रयत्नमें आप जो कहते है वह दोष तो नहीं ही है।"

"जो आप इस रीतिसे आंदोलन चलाते हों तो मुझे कुछ कहना नहीं है। इस युगमें चरखा चल सकता है या नहीं, यह अलग बात है। मैं तो आपकी सफलता ही मनाता हूं।"

: ४२ :

असहयोगका प्रवाह

खादीकी तरक्की इसके बाद कैसी हुई, इसका वर्णन इन प्रकरणोंमें नहीं किया जा सकता। वे चीजें जनताके सामने कैसे आईं यह बता देनेके बाद उनके इतिहासमें उतरना इन प्रकरणोंका क्षेत्र नहीं है। उतरा जाय तो उन विषयोंकी अलग पुस्तक बन जाय। सत्यकी खोज करते हुए कुछ चीजें मेरे जीवनमें एकके बाद एक अपने-आप कैसे आती गई, इतना ही बताना यहां अभीष्ट है।

इसलिए मान सकता हूं कि असहयोगके बारेमें थोड़ा कहनेका समय आ गया जान पड़ता है। अलीभाइयोंका खिलाफतके बारेमें जबरदस्त आंदोलन तो चल ही रहा था। स्व० मौलाना अब्दुल बारी आदि उल्माओंके साथ इस विषयमें खूब चर्चा हुई। मुसलमान शांतिका, अहिंसाका किस हदतक पालन कर सकते हैं ? इस विषयमें विवेचनाएं हुईं और अंतमें तै पाया कि एक खास हदतक नीतिके रूपमें इतना पालन करनेमें रुकावट नहीं है। और एक बार अहिंसाकी प्रतिज्ञा ली हो तो उसका पालन उनका फर्ज है। अंतमें असहयोगका प्रस्ताव खिलाफत-कांफ्रेंसमें रखा गया है और वह बड़े बहस-मुबाहिसेके बाद पास हुआ। मुझे याद है कि इलाहाबादमें एक बार इसके लिए रातभर सभा चलती रही। हकीम साहबको शांतिमय असहयोगकी शक्यतामें शंका थी, पर शंका दूर हो जानेके बाद वह उसमें शामिल हुए और उनकी मदद अमूल्य सिद्ध हुई।

उसके बाद गुजरातमें प्रांतिक परिषद् हुई। उसमें मैंने असहयोगका प्रस्ताव उपस्थित किया। उसका विरोध करनेवाले पहली दलील यह देते थे कि जबतक महासभा अहसयोगका निश्चय न करे तबतक प्रांतिक परिषदोंको प्रस्ताव पास करनेका अधिकार नहीं है। मैंने सुझाया कि प्रांतिक परिषदें पीछे कदम नहीं हटा सकतीं। आगे पैर बढ़ानेका सब मातहत संस्थाओंका अधिकार

है। यही नहीं, हिम्मत हो तो यह उनका फर्ज है। इससे मुख्य संस्थाकी शोभा बढ़ती है। प्रस्तावके गुण-दोषपर भी काफी और मधुर चर्चा हुई। मतोंकी गिनती हुई और जबरदस्त बहुमतसे असहयोगका प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्तावको पास करानेमें अब्बास तैयबजी तथा वल्लभभाईका बड़ा हिस्सा था। अब्बाससाहब अध्यक्ष थे और उनका झुकाव असहयोगके प्रस्तावकी ओर ही था।

भारतीय कांग्रेस-कमेटीने इस प्रश्नका विचार करनेको महासभाकी खास बैठक कलकत्तामें १९२० के सितम्बरमें करनेका निश्चय किया। उसकी तैयारी बहुत बड़े पैमानेपर हुई। लाला लाजपतराय अध्यक्ष चुने गए। 'खिलाफत स्पेशल' और, 'कांग्रेस स्पेशल' बंबईसे छूटी। कलकत्तेमें प्रतिनिधियों और दर्शकोंका बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ था।

मौलाना शौकतअलीके अनुरोधसे मैंने असहयोगके प्रस्ताव-का मसविदा रेलगाड़ीमें तैयार किया। अबतक मेरे मसविदोंमें 'शांतिमय' शब्द बहुत करके नहीं आता था। अपने भाषणोंमें मैं इस शब्दका व्यवहार करता था। केवल मुसलमान भाइयोंकी सभाओंमें 'शांतिमय' शब्दसे अपना अभिप्राय मैं समझा नहीं पाता था। इससे मौलाना अबुल कलाम आजादसे मैंने दूसरा शब्द मांगा। उन्होंने 'बाअमन' शब्द बताया और असहयोगके लिए 'तरके मवालात' शब्द दिया।

इस प्रकार अभी गुजरातीमें, हिन्दीमें, हिन्दुस्तानीमें असहयोग-की भाषा मेरे दिमागमें तैयार हो रही थी कि महासभाके लिए प्रस्ताव बनानेका काम उपर्युक्त रूपसे मुझपर आ पड़ा। उसमें 'शांतिमय' शब्द छूट गया। मैंने प्रस्ताव बनाकर ट्रेनमें ही मौलाना शौकतअलीको दे दिया। रातको खयाल आया कि मुख्य शब्द 'शांतिमय' तो छूट गया है। मैंने महादेवको दौड़ाया और कहलाया कि 'शांतिमय' शब्द छपनेमें बढ़ा दिया जाय। मुझे ऐसा खयाल है कि यह शब्द बढ़ानेके पहले प्रस्ताव छप चुका था।

विषय-समितिकी बैठक उसी रातको थी, उसमें वह शब्द बादको मुझे बढ़वाना पड़ा था। मैंने देखा कि यदि मैंने प्रस्ताव लेकर तैयार न कर दिया होता तो बड़ी कठिनाई पड़ती।

मेरी स्थिति दयनीय थी। कौन विरोध करेगा और कौन प्रस्तावको पसंद करेगा, इसका मुझे पता नहीं था। लालाजीके झुकावके बारेमें मैं कुछ जानता नहीं था। तपेतपाये योद्धा कलकत्ते में उपस्थित हुए थे। विदुषी ऐनीबेसेंट, पंडित मालवीयजी, विजय राघवाचार्य, पंडित मोतीलाल जी, देशबंधु आदि उनमें थे।

मेरे प्रस्तावमें खिलाफत और पंजाबके अन्यायके लिए ही असहयोग करनेकी बात थी। श्री विजय राघवाचार्य को यह न रुचा। वह कहते थे—"अगर असहयोग करना ही है तो किसी खास अन्यायके लिए क्यों? स्वराज्यका अभाव बड़े-से-बड़ा अन्याय है और उसके लिए असहयोग करना चाहिए।" मोतीलालजी भी इसे बढ़वाना चाहते थे। मैंने तुरत ही यह सुझाव स्वीकार कर लिया और स्वराज्यकी मांग भी प्रस्तावमें शामिल कर ली। विस्तृत, गंभीर और कुछ तीखी बहसके बाद असहयोग-का प्रस्ताव पास हुआ।

मोतीलाल जी उसमें पहले शामिल हुए। मेरे साथ हुई उनकी मीठी बहस मुझे अब भी याद है। कुछ शब्दोंके अदल-बदल का उनका सुझाव मैंने स्वीकार कर लिया था। देशबंधुको मनानेका जिम्मा उन्होंने लिया। देशबंधुका हृदय असहयोगकी ओर था, पर उनकी बुद्धि यह कहती थी कि असहयोग जनतासे चल न सकेगा। देशबंधु और लालाजी असहयोगमें पूरी तरहसे नागपुरमें शामिल हुए। इस विशेष अधिवेशनके समय मुझे लोक-मान्यकी अनुपस्थिति बहुत खल रही थी। मरा आज भी यह मत है कि वह जीते होते तो कलकत्तेके मौकेका स्वागत करते। पर ऐसा न होता और वह विरोध भी करते तो भी वह मुझे पसंद आता। मैं उनसे कुछ सीखता। उनके साथ मेरे मतभेद हमेशा रहते थे, पर वे सब मीठे होते थे। हममें निकट संबंध था,

यह मुझे उन्होंने सदा मानने दिया था। यह लिखते समय उनके अवसानका चित्र मेरी आंखोंके सामने आ जाता है। मध्यरात्रिमें मुझे उनके अवसानका टेलीफोन मेरे साथी पटवर्धनने किया था। उसी समय साथियोंके सामने मेरे मुंहसे यह उद्‌गार निकला था —"मेरे पास बड़ा सहारा था, जो आज टूट गया।" इस समय असहयोगका आंदोलन जोरोंपर चल रहा था। उनसे उत्साह और प्रेरणा पानेकी मैं आशा रखता था। अंतमें जब असहयोगने पूरी शक्ल पकड़ी तब उनका रुख क्या होता, यह तो भगवान् जानें, पर इतना मैं जानता हूं कि राष्ट्रके इतिहासकी इस नाजुक घड़ीमें सबको उनका अभाव खल रहा था।

४३

नागपुरमें

महासभाके विशेष अधिवेशनमें पास हुए असहयोगके प्रस्तावको नागपुरमें होनेवाले वार्षिक अधिवेशनमें बहाल रखना था। जैसे कलकत्तेमें वैसे नागपुर में भी असंख्य मनुष्य इकट्ठे हुए थे। अभी प्रतिनिधियोंकी संख्या नियत नहीं हो पाई थी। अतः जहांतक मुझे याद है चौदह हजार प्रतिनिधि उपस्थित हुए थे। लालाजीके आग्रहसे विद्यालय-विषयक प्रस्तावमें एक छोटा-सा परिवर्तन मैंने स्वीकार कर लिया था। देशबंधुने भी थोड़ा-सा फेरफार कराया और अंतमें शांतिमय असहयोगका प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे पास हुआ।

इसी अधिवेशनमें महासभाके विधानका प्रस्ताव पास करना था। यह विधान मैंने विशेष अधिवेशनमें पेश तो कर ही दिया था। इससे वह प्रकाशित हो चुका था और उसपर चर्चा भी हो चुकी थी। श्री विजय राघवाचार्य इस अधिवेशनके सभापति थे। विधानमें विषय-विचारिणी समितिने एक ही महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। मैंने तो प्रतिनिधियोंकी संख्या १५०० रखी

थी। मेरी समझसे यह कार्य अविचारमूलक था। इतने वर्षोंके अनुभवके बाद भी मुझे यही जान पड़ता है। अधिक प्रतिनिधियोंसे अधिक अच्छा काम होता है अथवा लोकतन्त्रके तत्त्वका अधिक पालन होता है, इस खयालको मैं विशुद्ध भ्रम मानता हूं। पंद्रह सौ प्रतिनिधि यदि उदार मनके, जनाधिकाररक्षक और सच्चे हों तो छह हजार स्वयं नियुक्त और निरंकुश प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा लोकतंत्रकी अधिक अच्छी रक्षा कर सकते हैं। लोकतंत्रकी रक्षाके लिए जनतामें स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और ऐक्यकी भावना और अच्छे तथा सच्चे ही प्रतिनिधियोंको चुननेका आग्रह होना चाहिए। पर संख्याके मोहमें पड़ी हुई विषय-विचारिणी-समितिको तो छह हजारसे भी अधिक प्रतिनिधि चाहिए थे। अतः छह हजार पर किसी तरह समझौता हुआ।

महासभामें स्वराज्यके ध्येयपर बहस हुई थी। विधानकी धारामें साम्राज्यके भीतर अथवा बाहर जैसे मिले वैसे स्वराज्य प्राप्त करनेकी बात थी। महासभामें एक पक्ष ऐसा भी था जो कहता था कि साम्राज्यमें रहकर स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए। इस पक्षका समर्थन पं० मालवीयजी और मि० जिनाने किया। पर उन्हें अधिक मत न मिले। शांति और सत्यरूप साधनों द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त करना है, यह विधानकी धारा थी। इस शर्तका भी विरोध किया गया। पर महासभाने उसे न माना और सारा विधान महासभामें सुंदर बहस होनेके बाद पास हुआ। मेरा मत है कि इस विधान पर सचाईसे और उत्साहसे लोगोंने अमल किया होता तो उससे जनताको बड़ी शिक्षा मिली होती और उसके आचरणमें स्वराज्यकी कुंजी थी। पर यह विषय यहां प्रस्तुत नहीं है।

इसी अधिवेशनमें हिन्दू-मुस्लिम-एकता अस्पृश्यता और खादीके विषयमें भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए और तबसे अस्पृश्यता दूर करनेका भार महासभाके हिन्दू सदस्योंने उठा रखा है। और खादी द्वारा महासभाने अपना संबंध हिन्दुस्तानके अस्थिपंजरोंके

साथ जोड़ा है। खिलाफतके मसलेके सिलसिलेमें असहयोगकी घोषणा ही हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्यको साधनेके लिए महासभाका महान् प्रयास था।

: ४४ :

पूर्णाहुति

पर अब इन प्रकरणोंके समाप्त करनेका समय आ गया है।

इसके बादका मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया कि शायद ही कोई चीज ऐसी है जिसे जनता न जानती हो। फिर सन् १९२१ से मैं महासभाके नेताओंके साथ इतना अधिक घुल-मिल गया हूं कि एक भी प्रसंगका वर्णन नेताओंके संबंधकी चर्चा किए बिना मैं यथार्थ रूपमें नहीं कर सकता। यह संबन्ध अभी ताजा है। श्रद्धानंदजी, देशबंधु, लालाजी, और हकीम साहब आज हमारे बीच नहीं हैं। पर हमारे सौभाग्यसे दूसरे बहुत नेता अभी विद्यमान हैं। महासभाके परिवर्तनके बादका इतिहास अभी तैयार हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग महासभाके द्वारा हुए हैं। अत. उन प्रयोगोंके वर्णनमें नेताओंके संबंधकी चर्चा अनिवार्य है। शिष्टताके नाते भी फिलहाल तो मै उसे नहीं ही कर सकता। फिर अभी चलनेवाले प्रयोगोंके विषयमें मेरे निर्णय निश्चयात्मक नही गिने जा सकते। अत: इन प्रकरणोंको तत्काल तो बंद कर देना ही मुझे कर्त्तव्य जान पड़ता है। यह कहूं तो भी गलत न होगा कि मेरी कलम ही अब आगे बढ़नेसे इंकार करती है।

पाठकोंसे विदा लेते हुए मुझे क्लेश हो रहा है। मेरे प्रयोगोंका मेरे निकट बड़ा मूल्य है। उनका मैं यथार्थ वर्णन कर सका हूं या यह नहीं मैं नहीं जानता। यथार्थ वर्णनमें मैंने अपनी ओरसे कोर-कसर नहीं रखी है। सत्यको मैंने जैसा देखा है, जिस मार्गसे देखा है, उसे बतानेका मैंने सतत् प्रयत्न किया है; क्योंकि मैंने यह आशा रखी है कि उससे पाठकोंके मनमें सत्य और अहिंसाके विषयमें अधिक आस्था उत्पन्न होगी।

सत्यसे भिन्न किसी परमेश्वरके होनेका अनुभव मुझे नहीं हुआ है। सत्यमय होनेके लिए अहिंसा ही एकमात्र मार्ग है। यह बात इन प्रकरणोंके पन्ने-पन्नेसे प्रकट न हुई हो तो इस प्रयत्नको व्यर्थ मानूंगा। प्रयत्न भले ही व्यर्थ हो, पर वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है। इससे मेरी सत्यकी झांकी हजारों सूर्योंके इकट्ठा करनेपरभी जिस सत्यरूपी सूर्यके तेजका पूरा अनुमान नहीं हो सकता, उस सूर्यके एक किरणमात्रका दर्शनरूप ही है। इसका संपूर्ण दर्शन अहिंसाके बिना अशक्य है, इतना तो मैं अपने आजतकके प्रयोगोंके अंतमें अवश्य कह सकता हूं।

ऐसे व्यापक सत्यनारायणके साक्षात्कारके लिए जीवमात्रके प्रति आत्मवत् प्रेम होनेकी परम आवश्यकता है और उसकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य जीवनके एक भी क्षेत्रके बाहर नहीं रह सकता। इसीसे सत्यकी मेरी पूजा मुझे राजनीतिमें घसीट ल गई है। जो कहता है कि धर्मका राजनीतिसे संबंध नहीं है वह धर्मको जानता नहीं है, यह कहनेमें मुझे संकोच नहीं है। यह कहनेमें कोई अविनय नहीं करता।

आत्मशुद्धिके बिना जीवनमात्रके साथ एकता नहीं सध सकती। आत्मशुद्धिके बिना अहिंसा धर्मका पालन सर्वथा अशक्य है। अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन करनेमें असमर्थ है। अतः जीवन-पथके सब क्षेत्रोंमें शुद्धिकी आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टिके बीच ऐसा निकट संबंध है कि एककी शुद्धि अनेककी शुद्धिके बराबर हो जाती है, और व्यक्तिगत प्रयत्न करनेकी शक्ति सत्यनारायणने सबको जन्मसे ही दे रखी है।

पर शुद्धिका मार्ग विकट है, इसका मैं तो प्रतिक्षण अनुभव करता हूं। शुद्ध होनेके मानी हैं, मन, वचन और कायासे निर्विकार होना राग-द्वेषादिसे रहित होना। इस निर्विकारताको प्राप्त करनेका प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं उस स्थितितक अभी

पहुंचा नहीं हूं, इससे लोगोंकी स्तुति मुझे भुलावेमें नहीं डाल सकती। यह स्तुति अक्सर मुझे चुभती है। मनके विकारोंको जीतना जगतको शस्त्र-युद्धसे जीतनेकी अपेक्षा भी मुझे कठिन लगता है। हिन्दुस्तानमें आनेके बाद भी मैंने अपने अंतरमें छिपे हुए विकारोंकोदेखा है। देखकर शरमाया हूं, पर हिम्मत नहीं हारी है। सत्यके प्रयोग करनेमें मैंने रस लूटा है। आज भी लूट रहा हूं। पर मैं जानता हूं कि मुझे अभी विकट रास्ता तै करना है। उसके लिए मुझे शून्यवत् बनना है। मनुष्य जबतक स्वेच्छासे अपनेको सबसे पीछे न रखे--सबस छोटा न माने तबतक उसकी मुक्ति नहीं है। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है और इस नम्रताके बिना मुक्ति किसी कालमें भी नहीं है, यह अनुभव-सिद्ध बात है। इन नम्रताकी प्रार्थना करते हुए, उसमें जगत्की प्रार्थनाकी याचना करते हुए, इस समय तो इन प्रकरणोंको समाप्त करता हूं।